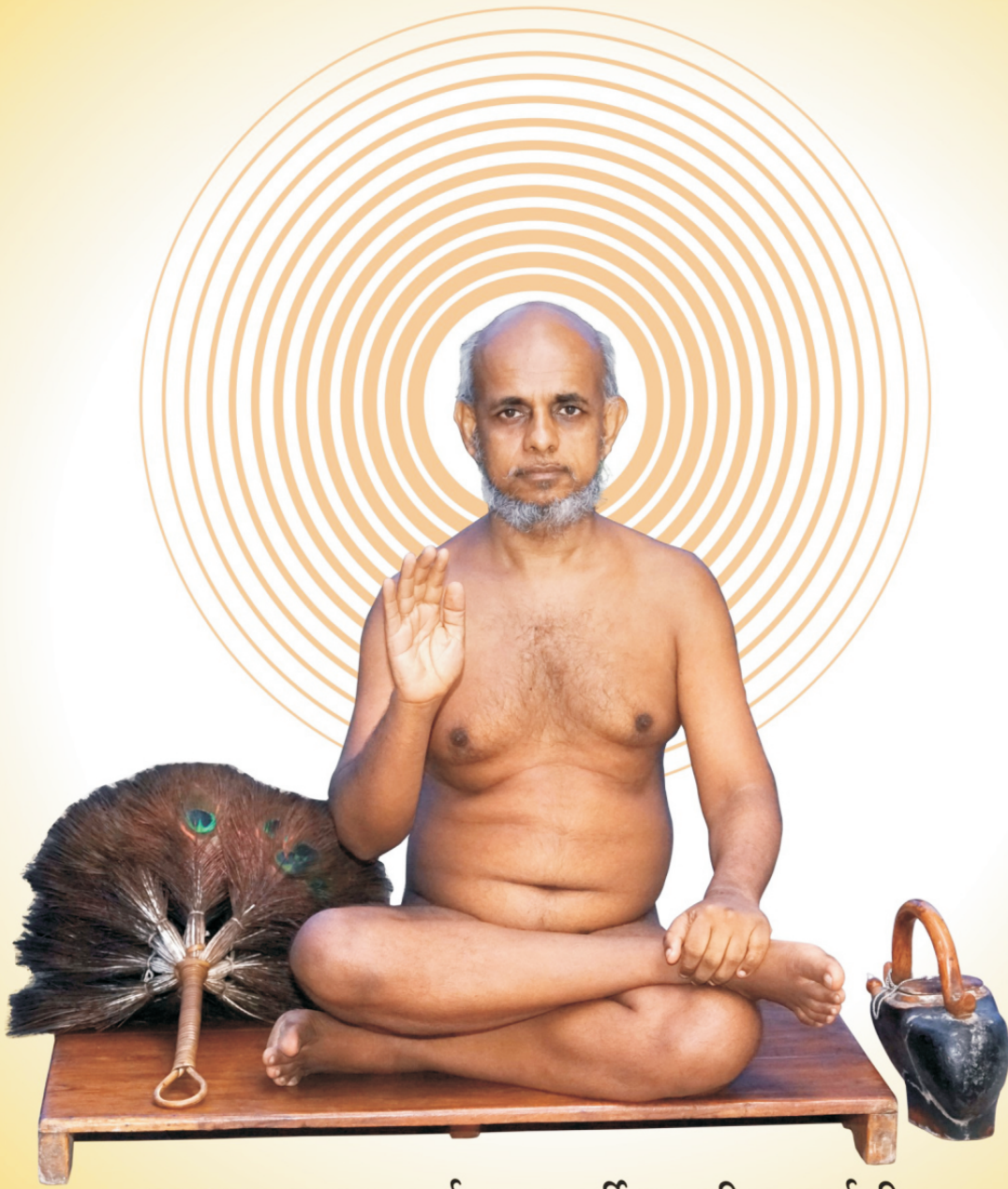




परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री
सुविधिसागर जी महाराज

के
50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर
सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित
जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)



नीतिवाक्यामृतम्

भाग 1

ग्रन्थकार
आचार्यश्री सोमदेव जी महाराज



अनुवादक
श्यामसुन्दर जी शास्त्री



प्रकाशक
आचार्य ज्ञानसागर वागर्श विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राजस्थान)

(परम्परानायक)



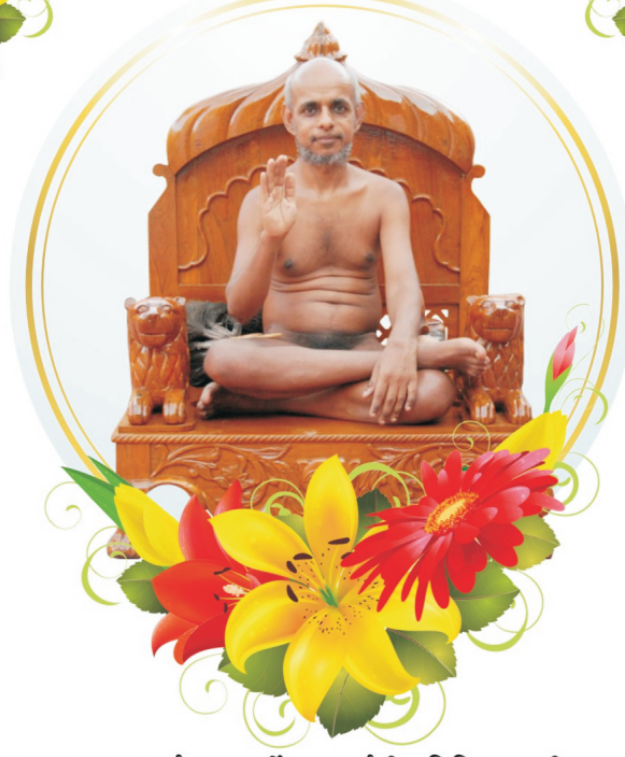
परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

(द्वितीय पट्टाधीश)



परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें। मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐

श्रीमत्सोमदेवसूत्रि-विरचितम्

नीतिवाक्याभूत

(हिन्दी अनुवाद-प्रस्तावना प्रभृति-अलंकृत)



—: अनुवादक :—

पं. सुन्दरलाल शारंगी

जैनन्याय-प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ

—: प्रकाशक/प्रकाशन :—

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.)

श्री १००८ दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र
नारेली-अजमेर (राज.)

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ



卐



46

46

4

LC

١٤

1.5

16

16

15

25

51

34

3.

31

6

1

सम्पादकीय 

(प्रथम संस्करण से साभार)

श्रीमत्सोमदेवसूरि के 'यशस्तिलकचम्पू' व प्रस्तुत ग्रन्थरत्न के अध्ययन-मनन से हमारी मनोभूमि में उनकी बहुश्रुत, सार्वभौम व अगाध विद्वत्ता के प्रति गाढ़ श्रद्धा का बीज अङ्कुरित एवं पल्लवित हुआ। अभिप्राय यह है कि हम श्रुतवाङ्मय की पवित्रतम सेवा, आचार्य के प्रति गाढ़ श्रद्धा एवं समाज राष्ट्र के नैतिक जीवन स्तर को उच्चतम बनाने की सद्यभावना से प्रेरित होकर अपनी विचारधारा का परिणाम स्वरूप यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के कर-कमलों में भेंट कर रहे हैं। इस क्लिष्ट ग्रन्थ की उलझी हुई गुत्थियों के सुलझाने में हमें इसकी महत्वपूर्ण संस्कृत टीका का तथा भाषानुवाद को पल्लवित विस्तृतरूप देने में यशस्तिलकचम्पू, आदिपुराणा, कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, चरक संहिता-आदि ग्रन्थों तथा संस्कृत टीकाकार के उद्धरणों का आधार मिला। इसकी संस्कृत टीका में वर्तमान गर्ग आदि नीतिकारों के उद्धरण जिन स्थानों में अशुद्ध, त्रुटित व अधूरे मुद्रित थे, उन्हें संशोधित, परिवर्तित करके उनका हिन्दी अनुवाद किया है, परन्तु विस्तारभय से कुछ छोड़ दिया गया है।

संशोधन एवं उसमें उपयोगी प्रतियां

इसका संशोधन एक मुद्रित मूल प्रति, एक सरस्वती भवन आराक्री ह. लि. सं. टी. प्रति तथा तीन ह. लि. मूल प्रतियों, (१ दि., जैन पंचायती मन्दिर मस्जिद खजूर दिल्ली 2-3 भाण्डार गवर्न. लाईब्रेरी पूना से प्राप्त) के आधार से किया गया है। अर्थात् हमने मुद्रित सं. टीका पुस्तक से अन्य प्रतियों में वर्तमान अधिक पाठ व पाठान्तर को कतिपय स्थलों में शामिल और कुछ स्थलों में टिप्पणी में उल्लिखित चिन्हित करके उसका अनुवाद भी कर दिया है।

જાન્યાર્ય વ ઉત્તરેશ્વરીય

इसके सातवें त्रयी समुद्देश के पहले सूत्र के, वेदा, का अर्थ हमने आहर्दशन को अपेक्षा से प्रथमानुयोग-आदि चार वेद बता करके उसके समर्थक आर्ष प्रमाण भी टिप्पणी में दिये हैं, परन्तु यह नैतिक ग्रन्थ सार्वभौम दृष्टिकोण से लिखा गया है, अतः यह अर्थ भी उपयुक्त मालूम होता है कि वैदिक संस्कृति के आधार चार वेद हैं, १ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद व ४ अथर्ववेद । क्योंकि अहर्दशनानुयायी श्रुति (वेद) व स्मृति ग्रन्थों का उतना अंश प्रमाण मानते हैं, जिसमें उनके सम्यक्तव व चारित्र की क्षति नहीं होती। इस ग्रन्थ का





卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐



संस्कृत टीकाकार राजनैतिक विषय का प्रकाण्ड व बहुश्रुत विद्वान था, क्योंकि उसने सोमदेव सूरि के प्रायः सभी सिद्धान्त भारतीय व प्राचीन नीतिकारों के उद्धरणों द्वारा अभिव्यक्त किये हैं, परन्तु आहर्हर्शन से संबन्धित कतिपय विषयों का उसने भ्रान्त अर्थ किया है और कतिपय विषयों में तो स्वरूचि से नये सूत्र रचकर मूलग्रन्थ में घुसेड़ने की निरर्थक चेष्टा की है। जैसे विद्यावृद्ध समुद्देश के 22 से 24 व 26 वां सूत्र। इनमें गृहस्थ वानप्रस्थ व यतियों के भेद व लक्षण किये हैं, जिग्र आहर्हर्शन से समन्वय नहीं होता। उक्त सूत्र किसी भी मु. व ह. लि. मूल प्रतियों में नहीं पाये जाते, प्रत्युत ग्रन्थकार ने यशस्तिलक चम्पू में उनका निरसन (खंडन) भी किया है, जिसका टिप्पणी में उल्लेख है। इस ग्रन्थ में सभी नैतिक विषयों का विवेचन है, केवल धर्म का ही नहीं, अतः पाठकवृन्द इसका मधुर अमृतपान नैतिक दृष्टिकोण से करते हुए अनुगृहीत करें।

ॐ आम्

प्रकृत श्रुत-सेवा का सत्कार्य निम्नलिखित सज्जनों के साहाय्य से सुसम्पन्न हुआ है, अतः उनके प्रति हम कृतज्ञता एवं आभार प्रदर्शन करते हैं । श्रीमान् पूज्य गुरुवर्य 105 श्री शुक्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य, श्री के. भूजबली, शास्त्री, आरा, पूना गवर्न. लायब्रेरी के प्रबन्धक व वहाँ से प्रति मंगाने में सहयोग देने वाले श्री बा. नेमिचन्द्र जी वकील तथा श्री बा. विशालचन्द्रजी बी. ए. एल एल. बी. ऑनरेरी मजिस्ट्रेट सहारनपुर , पत्र द्वारा अनुवाद की सामग्री प्रदर्शन करने वाले श्री. श्रद्धेय. प. नाथुरामजी प्रेमी बम्बई, श्री ला. बाबूराम जी दिल्ली, उचित सलाह देने वाले पं. श्री दरबारीलालजी न्यायाचार्य दिल्ली, श्री पं. चन्द्रमौलजी शास्त्री प्रचारक अनाथाश्रम दिल्ली, श्री पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, श्री प्रूत राजेन्द्रकुमार जी शास्त्री न्यायतीर्थ महामन्त्री दि. जैन संघ मथुरा, मेरी अनुपस्थिति में प्रूफ संशोधन करने वाले व उसमें सहयोग देने वाले श्री पं. अजितकुमार जी शास्त्री, दिल्ली एवं वर्णी संघ को दिल्ली लाने वाले, शास्त्र मर्मज्ञ व विद्वानों के प्रति सहानुभूति रखने वाले एवं हमें बहुत समय तक स्थान आदि की सुविधाएँ देकर अनुगृहीत करने वाले श्री धर्म. बा. राजकिशनजी व उनके सुपुत्ररत्न श्री बा. प्रेमचन्द्र जी दरियांगज दिल्ली श्री चिन्तामणि देवी कलकत्ता एवं श्री दा. सिधैंई कुन्दनलालजी सागर आदि ग्राहक महानुभाव एवं श्री धर्म बा. इन्द्रचन्द्र जी लील्हा कलकत्ता-आदि ।

दरियागंज दिल्ली

९ नवम्बर १९५०

दीपमालिका-पथं

सुन्दरलाल शास्त्री

प्राचीन न्याय काव्यतोर्थ



卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐





卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐



प्रकाशकीय

चिरंतन काल से भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्त्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोन्मुखी होने से बचाया है। इस देश से एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे। इस प्रणावान बहूलमूख्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यों का महान योगदान रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्यानादि कार्य सम्पादित किये गये। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अनुशीलनादि में अनेक जैन-अजैन विद्वान भी अग्रणी हुए। फलतः इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकाराच्छादित मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये। इन गहनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है। विद्वानों के शोध-अनुसंधान-अनुशीलन कार्यों को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाएँ उदित भी हुई, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्वानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य-विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ/अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी हो तो सोधार्थियों को बहुपरिश्रमोपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं। और भी अनेक बाधाएँ/समस्याएँ जैन ग्रन्थों के शोध-अनुसन्धान-प्रकाशन के मार्ग में हैं, अतः समस्याओं के समाधान के साथ-साथ विविध संस्थाओं-उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महसूस की जा रही थी।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र. भूलामल शास्त्री (आ. ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है । महाकवि ने चार-चार महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया । यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा से हुआ । इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परोन्नायक सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यर्थाथ उद्घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू. मुनिपुंगव श्री सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ । राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत/संगोष्ठी सागानेर



ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ





卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐



में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयोजित हुई व इसी सुअवसर पर दि. जैन समाज, अजमेर ने आ. श्री ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चार्तुमास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की। पू. गुनि श्री सान्धिय में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने, शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाङ्मय सहित सकल जैन विद्या पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन-प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आवे। इसके अनन्त मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर (राज.) में मुनिश्री के संय सन्धि में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्धसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वत् गोष्ठी में उक्त कार्यों के संयोजनार्थ डॉ. रमेशचन्द्र जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्यावर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यों हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पू. मुनिश्री के मंगल आशिष से दिनांक 18.3.95 को त्रैलोक्य महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसिथाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर. के. मार्बल्स किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुष्पराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया ।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय का व्यापक मूल्यांकन-समीक्षा-अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है। केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों की विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के प्रथम मास में ही निम्न पुस्तकें प्रकाशित की-



卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐





卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐



卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐

प्रथम पुष्प - इतिहास के पन्ने -

द्वितीय पुष्प . हित सम्पादक -

तृतीय पुष्प - तीर्थ प्रवर्तक -

चतुर्थ पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा -

पंचम पुष्प - अञ्जना पवनंजयनाटकम् -

षष्ठम पुष्प - जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप -

सप्तम पुष्प - बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समीक्षा

अष्टम पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा -

नवम पुष्प - आदि ब्रह्मा ऋषभदेव -

दशम पुष्प - मानव धर्म -

एकादशं पुष्प - नीतिवाक्यामृत -

आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित

आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित

सुनिश्री सधासागरजो महाराज के प्रवचनों का संकलन

डॉ. श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन

डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित

-डॉ. रमेशचन्द्र जैन, ब्रिजनौर

डॉ. श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन

बैस्टर चम्पतगुप्त जैन

पं. भूरामलजी शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागरजी)

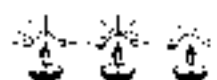
श्रीमत्सोमदेवसुरि विरचित यह ग्रंथ प्रकाशित

किया जा रहा है। इस ग्रंथ में आचार्य महाराज ने राजा एवं राज्य व्यवस्था समाज एवं समाज व्यवस्था अर्थ एवं अर्थ व्यवस्था जीवन एवं जीवन व्यवस्था आदि जीवनोपयोगी जीवन चर्चा का वर्णन नीतिवाक्यों की विद्या में उपदेशित किया है। इस ग्रंथ का स्वाध्याय राष्ट्र समाज परिवार एवं स्वजीवन को सुदृढ़ बनाने वाला है। इस ग्रंथ का प्रकाशन पूर्व में पं. सुन्दरलाल शास्त्री, देहली ने बहुत ही परिश्रम के साथ किया गया था।

वर्तमान में यह ग्रंथ अप्राप्त है । देश समाज एवं वर्तमान जीवन के लिए इस ग्रंथ की महत्त उपयोगिता को देखते हुये यथावत पुनः प्रकाशित करके भव्य जीवों के करकमलों में स्वाध्याय हेतु समर्पित किया जा रहा है ।

अन्त में मैं पूर्व प्रकाशन, प्रकाशक एवं अनुवादक का आभार प्रदर्शित करता हूँ ।

अरुणकुमार शास्त्री
ब्यावर



卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐



卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐

विषयानुक्रमिका

पृष्ठ-संख्या

विषय

१ से ४२ पृष्ठ तक

१—धर्म-समुद्देश

मङ्गलाचरण, धर्मका अर्थ (आत्मिक धर्मका विस्तृत विवेचन), अधर्म (भिष्यात्वप्रभृति) का दुष्परिणाम, धर्मप्राप्तिके उपाय, आगम-साहाय्य, उसकी सत्यता, चंचलचित्त तथा कर्तव्य-विमुखकी हानि, पात्र-दान, तप, संयम एवं धर्म, विद्या व धनसंबन्धसे लाभ तथा धार्मिक अनुत्साहसे हानि आलसियोंके मनोरथ, धर्म-पराङ्मुखता, स्वतः धार्मिक प्रवृत्ति व उसमें विघ्न, पापप्रवृत्तिकी सुलभता, पाप-निषेध, ठगोंके कार्य, कुसंग, परस्त्री-सेवन व पापका दुष्परिणाम एवं धर्म-काम पुरुषार्थको छोड़कर केवल धर्म-सेवन करनेवालेकी आलोचना, विवेकीका कर्तव्य, अभ्यासका दुष्परिणाम, पूर्वजन्ममें किये हुए धर्म-अधर्मका प्रबल व अकाट्य बुक्तियों द्वारा समर्थन तथा भाग्य ।

४३-४७

२ अर्थ-समुद्देश

धनका लक्षण, धनिक होनेका उपाय तथा धनके विनाशक कारण ।

४८-५७

३ काम-समुद्देश

कामका लक्षण, सुख-प्राप्तिका उपाय, केवल एक पुरुषार्थके सेवनसे हानि, विविध कष्ट-सहन पूर्वक धन संधयसे हानि, सत्पत्तिकी सार्थकता, इन्द्रियोंको काममें न करनेसे हानि, ईश्वर-व्रज्यका स्वरूप व उपाय, कामी, स्त्रीमें आसक्त पुरुष, नीति-विरुद्ध कामके दोष, एक कालीन धर्म-आदि तीनों पुरुषार्थोंमेंसे जिसका सेवन लाभदायक है एवं जिस समय अर्थपुरुषार्थ मुख्य है ।

५८-६२

४ अरिषड्वर्ग-समुद्देश

अम्बरज्ज शत्रुजो (काम-आदि) के नाम लक्षण-आदि

६२-१००

५ विद्यावृद्ध-समुद्देश

राजाका लक्षण, कर्तव्य, राज्यका स्वरूप, वर्ण-आश्रमके भेद, कर्तव्य, उपकुर्वाणक, नैष्ठिक तथा कृतपद ब्रह्मचारियोंका स्वरूप सच्चा पुत्र, पुत्र-शून्यकी क्षति, शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-भक्ति और लोक सेवा न करनेसे हानि, नैष्ठिक ब्रह्मचारीका साहाय्य, गृहस्थ व उसके नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान, जीनेतर गृहस्थ, वानप्रस्थ और यतियोंका स्वरूप व भेद, राज्यका मूल, उसकी श्रीवृद्धिके उपाय, विनय, राज्य-क्षतिके कारण, राजनैतिक ज्ञान और पराक्रमी राजा, बुद्धिमान, केवल पराक्रमका परिणाम, नैतिक ज्ञानके सद्भाव-असद्भावसे लाभ-हानि, मूर्ख-दुष्ट राजा तथा राज-पुत्रको राज्यका अर्नाधिकार और हानि, तथा राज्यपदके योग्य पुरुषद्रव्य,

६२-८४

गुणशून्य व अयोग्य पुरुषमें राज्यपदकी अयोग्यता, गुणालङ्कृत पुरुष, बुद्धिके गुण-लक्षण, विद्याओंका स्वरूप, आन्वीक्षिकी-आदि राजविद्याओंके भेद, उनके अध्ययनसे लाभ, 'मान्नीक्षिकी' में अन्य नीतिकारोंकी मान्यता, उसकी समीक्षा (तथ्यनिर्णय), आन्वीक्षिकी आदिका प्रयोजन, जनपर मान्यताएँ, जैन सिद्धान्तके अनुसार उनके लोक प्रचार पर ऐतिहासिक विमर्श ।

८४-१३

विद्याध्ययन व विद्या-शुद्ध पुरुषोंकी संगति न करनेका दुष्परिणाम, शिष्ट पुरुषोंकी संगतिका माहात्म्य, राजगुरुओंके सदगुण, शिष्टोंकी विनयसे लाभ, राज-माहात्म्य, दुष्टसे विद्या-प्राप्तिका निषेध, शिष्यप्रकृति, कुत्रोत्त और सच्चरित्र शिष्टोंका प्रभाव, इठी राजा एवं राजाके प्रति कर्त्तव्य

६ आन्वीक्षिकी-समुद्देश

१०१-११८

अध्यात्मयोग (धर्मध्यान), उसमें उपयोगी पार्थिवी-आदि धारणाओंका स्वरूप-लाभ, आत्मा के क्रोडास्थान, आत्म-स्वरूप, उसका पुनर्जन्म, मन, इन्द्रिय, विषय, ज्ञान एवं सुखका लक्षण, सुख भी जिस समय दुःख समझा जाता है, सांसारिक सुखके कारण और उनका लक्षण, दुःखका स्वरूप, दुःख भी जिस स्थितिमें सुख होता है, दुःखोंके भेद, उनके लक्षण, दोनों लोकोंमें दुःखी-पुरुष ४१०
इच्छाका स्वरूप, दोष-शुद्धिका उपाय, उत्साह, प्रयत्न और संस्कारका लक्षण, पुनर्जन्म साधक संस्कार और शरीरका लक्षण, नास्तिक दर्शनका स्वरूप व फल, मनुष्य-कर्त्तव्यमें सर्वथा निर्दोषताका अभाव, अधिक दया व शान्तिसे लौकिक हानि, राजकर्त्तव्य (दृष्टान्तप्रह), निन्दाका पात्र, पराक्रम-हीन पुरुषकी क्षति, धर्म-प्रतिष्ठा, दुष्ट-निग्रह न करनेसे हानि, राज्यपदका परिणाम, खलमैत्री एवं मित्रियों पर विश्वास करनेका कटुकफल ४११-४१८

७ त्रेयी-समुद्देश

११९-१३८

त्रेयी विद्याका स्वरूप, उससे लाभ, धर्मग्रन्थोंका वेदमें अन्तर्भाव, ब्राह्मण-आदि तीन वर्णोंके समान कर्त्तव्य, द्विजातिका स्वरूप, ब्राह्मण और क्षत्रियोंके कर्त्तव्य, श्रृंगेण राजाद्वारा अपने युवराज वीर पुत्र श्रीधर्मा (चन्द्रमस तीर्थह्वरकी पूर्वपर्याय) के प्रति दिया हुआ क्षात्र धर्मका नैतिक सदुपदेश, वैश्य व शूद्र-कर्त्तव्य, प्रशस्त शूद्रोंका लक्षण, व उनमें ईश्वरोपासना-आदिकी पात्रता, ब्राह्मण-आदि चारों वर्णोंका समान धर्म तथा साधारण-विशेषधर्मका विश्लेषण ४१९-४२६
साधुओंका कर्त्तव्य, उससे च्युत होने पर शुद्धिका उपाय, अर्भीष्टदेवकी प्रतिष्ठा, श्रद्धा-हीनकी ईश्वरोपासनासे हानि, कर्त्तव्य-च्युतकी शुद्धि, धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थकी प्राप्तिका उपाय, कर्त्तव्य-च्युत राजाकी कड़ी आलोचना, कर्त्तव्य-च्युत प्रजाके प्रति राज-कर्त्तव्य, प्रजा-पालनसे लाभ, अन्य मतोंके तपस्वियों द्वारा राज-सन्मान, इष्ट-अनिष्टका निर्णय, मनुष्य-कर्त्तव्य (विनय) सदृष्टान्त-ब्राह्मण-आदिकी प्रकृति, उनकी क्रोध-शान्तिका उपाय, वर्णिकोंकी श्रीवृद्धि-आदि ४३८-४३८

८ वार्ता-समुद्देश

१३९-१४८

वार्ता विद्या, उससे राजकीय लाभ, सांसारिक सुखके कारण, फसलके समय धान्य-संग्रह न करने, आमदनीके बिना केवल खर्च करनेसे तथा राजाकी धनलिप्तामें हानि, गोरक्षा, विदेशसे माल आनेमें प्रतिबन्धका कारण, व्यापार-क्षतिके कारण, व्यापारियोंकी गोल-माछीकी देखरेख, राष्ट्रके फलक, उनके निर्मूलनका उपाय, अन्न संग्रह द्वारा अकाल उत्पन्न करनेवाले व्यापारियोंमें राष्ट्रकी हानि एवं उनकी कड़ी आलोचना, तथा शरीर-रक्षार्थ मनुष्य-कर्त्तव्य व दृष्टान्त ४३९-४४८

९ दंडनीति-समुद्देश

१४९-१५८

दंड-माहात्म्य व स्वरूप, अपराध-निर्णय, दंडनीतिका उद्देश्य, श्रद्धालु-वैधी वंश और राजाकी कड़ी आलोचना, राजाद्वारा अमात धन, मनुचित दंडविधानका दुष्परिणाम १४९-१५८

आहार्यबुद्धि-युक्त राजाका स्वरूप एवं उसका दृष्टान्तों द्वारा समर्थन, प्रधानमंत्रोंके सदगुण, इनके सद्भाव-असद्भावसे लाभ-हानि, मंत्रपूर्वक आरम्भ किये हुए बाह्यगुण्य (सन्धि-विग्रहादि) की सफलता, मंत्र-लाभ, मंत्रके अङ्ग, मन्त्रो-कर्तव्य व मन्त्रणाके विषयमें विचार-धारा (मन्त्रके अयोग्यस्थान, मन्त्र ज्ञाननेके साधन, उसे गुप्त रखनेकी अवधि-आदि) १५३-१६६

मन्त्रियोंका शत्रु, स्वयं करने योग्य कार्यको दूसरों द्वारा करनेसे हानि, स्वामीकी उन्नति-अवनतिकी लेख पर असर, मन्त्रणाकालीन मन्त्रो-कर्तव्य, मन्त्र-प्रयोजन सदृष्टान्त, जिस प्रकारका मन्त्री राजाका शत्रु है, मन्त्रियोंके कर्तव्य, उनपर राजकीय स्थितिका प्रभाव, उनकी असफलतामें बाधक कारण, मन्त्रियोंकी बातके सहलङ्घनसे राजकीय हानि, मन्त्रणा-माहात्म्य, पराक्रम-शून्यकी हानि, नैतिक-प्रवृत्तिसे लाभ, दित-प्राप्ति और अदित-परिहारका उपाय, मनुष्य-कर्तव्य (कर्तव्यमें विलम्ब न करना), मन्त्रियोंकी संख्या सम्बन्धी विचार-धारा, ईद्योंलु, बहुसंख्यक स्वच्छद मंत्रियोंसे हानि, १७८-१७८ राजा व मनुष्य-कर्तव्य, मन्त्रियोंकी नियुक्तिमें सैद्धान्तिक तथ्य विचार, बहुसंख्यक मूर्ख मन्त्रिमण्डलसे हानि, बहु सहायकोंसे लाभ, अकेले मन्त्रोंसे कार्यकी असिद्धि, आपत्तिकालमें सहायकोंकी दुर्लभता सदृष्टान्त, सहायकोंकी प्रधानता, उन्हें धन देनेसे लाभ, कार्यपुरुषोंका स्वरूप, मूर्खमें मन्त्रणाकी अधिकार हीनता-आदि, मूर्ख मन्त्रोंसे काय-सिद्धिमें असफलता, उसकी समर्थक दृष्टान्त माता, शास्त्रज्ञान-शून्य मन्त्री नैतिक-विमुखता तथा सम्पत्ति-प्राप्तिका साधन १७६-१८५

वज्रमुखका स्वभाव, मूर्ख मन्त्रीको राजपभार सौंपनेसे हानि, कर्तव्य-च्युतके शास्त्रज्ञानकी निष्फलता, गुणहीनकी आलोचना, मन्त्रीके सहस्यका कारण, मन्त्रणाके अयोग्य व्यक्ति, मन्त्रियोंकी प्रकृति, गव्वे करने वाले पदार्थ, अधिकारीका लक्षण, धन-सम्पत्ति राजमन्त्रीसे हानि, पुरुषोंकी प्रकृति, निर्दोषोंकी दुष्ण लगानेसे हानि, मित्रताके अयोग्य पुरुष सदृष्टान्त, स्नेह-नाराका कारण, शत्रुओंके कार्य, काम-देगरी हानि सदृष्टान्त, मनुष्यकी धनलिप्सा, लोभ, जितेन्द्रिय-प्रशंसा, संतोषीका कार्यारम्भ, महामूर्ख व अवमपुरुषका कार्य, भय-शङ्काका त्यागकरके कर्तव्यमें प्रवृत्ति-मार्ग १८६-१९४

महापुरुषोंके गुण, मृदता व प्रियवचनोंसे लाभ, गुप्त रहस्यके प्रकाशकी अवधि, महापुरुषोंके वचन, लोच प्रकृति वाला मनुष्य और महापुरुषोंका स्वरूप, कार्य-सिद्धि न होने देनेवाला दोष, कुलीन पुरुष का स्वरूप, अन्ध-बुरी वस्तु सदृष्टान्त, अत्यन्त क्रोध, विचार-शून्यता, परस्परकी गुप्त बात प्रकट करनेसे हानि, शत्रुओं पर विश्वास करना, चंचलचित्त व स्वतन्त्र पुरुष-आदि १९५-२००

हीनशक्तिकी बलिष्ठ शत्रुसे युद्ध करनेका कटुफल, आपत्ति कालीन राजधर्म सदृष्टान्त, अभिमानमें हानि, शत्रु-विनाशके उपायोंके ज्ञानसे लाभ सदृष्टान्त, नैतिककर्तव्य सदृष्टान्त, निरर्थक बाणों बालने, मूर्ख व जिद्दीको उपदेश देने और नैतिक प्रवृत्ति-शून्य उन्नतिसे चित, कुतन्त्र सबकोंकी हानि, वीरतम अपराधियोंकी मृत्युदंड देनेसे लाभ, बुद्धराजकर्मचारियोंकी भयङ्करता और उनको बरा करनेका तरीका, राजाका मंत्री-आदि प्रकृतिके साथ वर्तव्य, प्रकृतिके कुपित होनेसे हानि, अवध्य अधिकारियोंके प्रति राजकर्तव्य, कथा गोष्ठीके अयोग्य पुरुष, उनसे कथा-गोष्ठी करनेका कटुफल, कोधीके प्रति कर्तव्य, कोधीके समझ जानेसे हानि तथा जिसका गृहमें प्रवेश निष्फल है। २०१-२०६

११ पुरोहित-समुद्देश

२१०-२२१

पुरोहित (राज-गुरु) का लक्षण या गुण, मंत्री-पुरोहितके प्रति राज-कर्तव्य, आपत्तियोंका स्वरूप व भेद, राजपुत्रकी शिक्षा, गुरु-सेवाके साधन, विनय, और त्रिशाध्यासका फल, शिष्य-कर्तव्य, माता-पितासे प्रतिकूलवर्ती पुत्रकी कड़ी आलोचना, पुत्रकर्तव्य, गुरु, गुरुपत्नी, गुरुपुत्र और सहपाठीके प्रति शिष्यका वर्तव्य, शिष्य-कर्तव्य, अतिथियोंसे गुप्त रखने योग्य बात, परगृहमें प्रविष्ट हुए पुरुषोंकी प्रवृत्ति, महापुरुषका लक्षण दूसरोंके कार्य साधनमें लोक-प्रकर्षित, राज-कर्मचारीकी प्रकृति, धनिक कृपणोंके गुण-गानसे हानि

२१०-२१७

राज-कर्मचारियोंमें पक्षपात-शून्य समदृष्टि, दरिद्रसे धन ग्रहण, असमर्थसे अपना प्रयोजन कहना, हठी, कर्तव्य-ज्ञान-शून्य व विचार-शून्यको नैतिक उपदेश देने और नीचके उपकार करनेकी निरर्थकता, मूर्खको समझानेमें परिश्रम करने, पीठ पीछे उपकार करने और बिना मौकेकी बात कहनेकी निष्फलता, उपकारको प्रकट करनेसे हानि, उपकार करनेमें असमर्थ पुरुषको प्रसन्न करना, गुण दोषका निश्चय किये बिना अनुग्रह व निमग्न करना-आदिकी निष्फलता, झूठी बहा-दुरी बताने वालोंकी और कृपणके धनकी कड़ी आलोचना एवं उदारकी प्रशंसा, ईर्ष्यालु गुरु, पिता, मित्र, तथा स्वामीकी कड़ी आलोचना

२१८-२२१

१२ सेनापति-समुद्देश—

२२२-२२३

(सेनापतिके गुण-दोष-आदि)

१३ दूत-समुद्देश—

२२४-२३०

दूतका लक्षण, गुण, भेद, दूत-कर्तव्य, निरर्थक विलम्बसे हानि, दूतोंसे सुरक्षा सहृष्टान्त, शत्रु द्वारा भेजे हुए लेख और उपहारके विषयमें राजकर्तव्य सहृष्टान्त, दूतके प्रति राजाका वर्तव्य, दूत-लक्षण एवं उसके वचनोंको सुनना, शत्रुका रहस्य जाननेके लिये दूतके प्रति राजाका कर्तव्य एवं शत्रु-भूत राजाके पास भेजे हुए लेखके विषयमें विजिगीषुका कर्तव्य

१४ चार-समुद्देश

२३१-२३६

गुप्तचरोंका लक्षण, गुण, वेतन व फल, उनके वचनों पर विश्वास, गुप्तचर-रहितकी हानि सहृष्टान्त, गुप्तचरोंके भेद और लक्षण

१५ विचार-समुद्देश

२३६-२४१

विचार पूर्वक कर्तव्यमें प्रवृत्ति विचार व प्रत्यक्षका लक्षण, ज्ञान मात्रसे प्रवृत्ति-निवृत्ति न करना, विचारज्ञका लक्षण, बिना विचारे कार्य करनेसे हानि, राउय, प्राप्तिके चिन्ह, अनुमानका लक्षण-फल, भविष्यता प्रदर्शक चिन्ह, बुद्धिका असर, आगम व आप्तका स्वरूप, निरर्थक वाणी, वचनोंकी महत्ता, कृपणके धनकी कड़ी आलोचना और जन साधारणकी प्रवृत्ति

१६ व्यसन-समुद्देश

२४२-२४८

व्यसनका लक्षण, भेद, सहज व्यसनोंसे निवृत्तिके उपाय, शिष्ट पुरुषका लक्षण, कृत्रिम व्यसनोंसे निवृत्ति, निजस्त्रीमें आसक्ति, मद्यपान, मृगया, दूत और पैशुन्य-आदि १८ प्रकारके व्यसनोंका स्वरूप व हानि ।

१७ स्वामि-समुद्देश

२४६-२६५

राजाका लक्षण, अमात्य-आदि प्रकृतिका स्वरूप, असत्य व धोखा देनेसे हानि, लोकप्रिय पुण्य, इच्छुष्ट दाता, प्रत्युपकारसे लाभ व सक्ता परोपकार, प्रत्युपकार शून्यकी कटु आलोचना, स्वामीकी निरर्थक प्रसन्नता, जुद्ध अधिकारियों वाले राजाकी हानि, कृतघ्नता, मूर्खता, लोभ और आकाशसे हानि, उरसाहीके गुण, अन्याय तथा तेजस्वीचारका दुष्परिणाम, देशवर्षका फल व राजकीय आकाशका इल्लज्जन न करना राज-कर्तव्य (अपराधानुरूप दंड विधान), आकाशशून्य राजाकी कटु आलोचना और मनुष्यकर्तव्य (सजा पाये हुए व्यक्तिका पक्ष न लेना) एवं पररहस्य २४६-२५५

अपरीक्षित वेप व वर्ताव, राजकीय कोप व पापका दुष्प्रभाव, राजाद्वारा किये हुए तिरस्कार व सम्मानका असर, राजकर्तव्य (प्रजा कार्यकी देखरेख-आदि) एवं अधिकारियोंकी अनुचित-जीविका, राजकर्तव्य (रिश्तत स्रोतोंसे प्रजाकी रक्षा), रिश्ततसे क्षति, बलात्कारपूर्वक प्रजासे धन ग्रहण करने वाले राजा व प्रजाको हानि, राजकीय, अन्यायकी सदृष्टान्त कड़ी आलोचना, मनुष्य जिसका सेवक है, शत्रुकी लघुता, विद्याका माहात्म्य, लोकव्यवहार-पटुता, बुद्धिके पारदर्शी एवं कर्तव्यका बोध न कराने वालोंकी आलोचना। २५६-२६५

१८ अमात्य-समुद्देश—

२६५-२८१

सचिव-माहात्म्य, उसके बिना कार्यकी असिद्धि, लक्षण, सचिव-कर्तव्य, आय-व्यय, स्वामी, उन्न-लक्षण, मन्त्री-दोष, योग्य अयोग्य अधिकारी, अयोग्योंसे हानि, बन्धु सम्बन्धके भेद, लक्षण, अधिकारी, अर्धसचिव आदि होनेके अयोग्य व्यक्ति एवं क्षति २६५-२७२
अधिकारियोंकी उन्नति, अयोग्योंसे कष्ट, उन पर विश्वास करनेसे हानि, सम्पत्ति-शाली अधिकारियोंका असर, अमात्य-दोष, राजतंत्र (मन्त्री आदि) की नियुक्ति, उनको स्वयं देख रेख, अधिकार, राजतंत्र, नीवी-लक्षण, आय व्ययकी शुद्धि एवं उसके विवादमें राज-कर्तव्य २७४-२८७
रिश्त-सम्बन्धी संचित धनके ग्रहण करनेका उपाय, अधिकारियोंको धन व प्रतिष्ठा-प्राप्ति, नियुक्ति, कार्य सिद्धिमें उपयोगी गुण व उसका समर्थन, अधिकारीका कर्तव्य, राज-कर्तव्य (अचानक मिले हुए धनमें और अधिक मुनाफाखोर व्यापारियोंके प्रति), अधिकारियोंकी फूटसे और धनाढ्य अधिकारियोंसे राजकीय लाभ, संग्रहके योग्य मुख्य वस्तु व धान्यसंरक्षणका माहात्म्य आदि—

१९ जनपद-समुद्देश—

२८२-२८८

देशकी नाममाला, व्याख्या व गुण दोष, बहु शत्रिय और आक्रमणवाले प्रान्तोंसे हानि, परदेशमें प्राप्त हुए स्वदेश-वासीके प्रति राजकर्तव्य, शुल्क स्थानोंके अन्यायसे क्षति, कठची धान्य-फलक कटाने और पकी हुई में से सेना निकालनेका दुष्परिणाम, प्रजा पीड़ित करनेसे हानि, एवं पहिलेसे देख-सुक्त प्रजाके प्रति राजकर्तव्य, मर्यादा उल्लङ्घनसे हानि, प्रजाकी रक्षा, न्याय-युक्त शुल्कस्थानोंसे लाभ, सेना व राजकोषकी वृद्धिके कारण, विद्वानों व ब्राह्मणोंके देने योग्य भूमि, भूमि दान और तालाब-दान आदिमें विशेषता अथवा आद-विवादके उग्रान्त न्यायोचित निर्णय

२० दुर्ग-समुद्देश

२८६-२९२

दुर्ग शब्दार्थ, भेद, दुर्ग-विभूति (गुण), दुर्ग शून्य देशसे हानि, शत्रुके दुर्गको नष्ट करनेका उपाय व राजकर्तव्य (दुर्गके बारेमें)

२१ कोश-समुद्देश

२६२-२६६

कोश शब्दार्थ, गुण, राजकर्तव्य, क्षीणकोश राजाका भविष्य, कोश-माहात्म्य व उसमें हीन राजाके दुष्कृत्य, विजयश्रीका स्वामी, निधनकी आलाचना, कुलीन होते परभी सेवा अयोग्य पुरुष, धन-माहात्म्य, कुलीनता, बड़पनकी क्षीण एवं खाली खजानेकी वृद्धि का उपाय

२२ बल-समुद्देश

२६६-३०२

बल शब्दार्थ, प्रधान सैन्य, हाथी-माहात्म्य, उनकी युद्धोपयोगी प्रधान शक्ति, अशिक्षित हाथियोंसे हानि, हाथियोंके गुण, घोड़ोंकी सेना, उसका तथा उत्तम जातीय घोड़ोंका माहात्म्य, रथ, सैन्यका माहात्म्य, वत्साही सैन्य व उसके गुण, औत्साहिक सैन्यके प्रति विजिगोष कर्तव्य, प्रधान सैन्य-माहात्म्य, सेवकोंको दिये हुए सम्मानका प्रभाव, सैन्य, विरक्ति, उसकी देख देख न करनेका दुष्प्रभाव, दूसरों द्वारा न कराने योग्य कार्य, धन-वेतन न मिलने परभी सेवकोंका कर्तव्य, कृपण राजाके विषयमें दृष्टान्त, कटु आलोचना-योग्य स्वामी व विचारशून्य राजाकी क्षति

२३ मित्र-समुद्देश

३०२-३०५

मित्र-लक्षण, भेद, गुण, दोष, मित्रता-विध्वंसक कार्य, निष्कपट मैत्रीका उज्ज्वल दृष्टान्त, उसका आदर्श व प्रत्युपकारकी सोदाहरण दुर्लभता

२४ राजरक्षा-समुद्देश

३०५-३२३

राजकीय रक्षाका परिणाम व उपाय, स्वामी-हीन प्रकृति (अमात्य-आदि) की हानि आयु शून्य पुरुष द्वारा किये हुए प्रयत्नोंकी निष्फलता, राज-कर्तव्य (आत्मरक्षा), स्त्री-सुखार्थ लोक प्रवृत्ति, जिसका धन संपन्न निष्फल है, स्त्रियोंकी प्रकृति, सुन्दर स्त्रीकी प्राप्तिका उपाय, स्त्रियोंकी रक्षा उन्हें अनुकूल रखनेका उपाय, पतिकर्तव्य (विवाहित पुरुष स्त्रियोंके प्रति), स्त्री-सेवनका समय, अतृप्तलीन उपेक्षासे हानि, स्त्रीरक्षा, उनके प्रतिवृत्त होनेके कारण, उनकी प्रकृति, दूरीपन, स्त्रीरक्षाका उद्देश्य, वेश्यासेवनका त्याग, राजाको स्त्री-गृहमें प्रविष्ट होनेका निषेध, उनके विषयमें राज-कर्तव्य, स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंके अनर्थ, उनका हितहानि, स्त्री-माहात्म्य, उनकी सीमित स्वाधीनता, उनमें अति आसक्ति आदिका कटु फल, पतिव्रता-माहात्म्य तथा मनुष्य-कर्तव्य । ३०५-३१३

वेश्या गमनके दुष्परिणाम, प्रकृति, कुतर्क कुतुम्बियोंके पापणका कुफल, शारीरिक मीन्दर्य, कुतुम्बियोंका संरक्षण, स्वामीकी आज्ञा पालन, वैर विरोध करने वाले शक्तिशाली पुरुषों व कुतुम्बियोंका बशोकरण, कुतर्कता करनेका दुष्परिणाम, अकुलीन माता-पिताका सन्तान पर कुप्रभाव एवं उत्तम पुत्र-प्राप्तिका उपाय, निरोगी व दीर्घजीवी मन्तान होनेका कारण, राज्य व दीक्षाके अयोग्य पुरुष, अज्ञानीको राज्याधिकारकी सीमा, विनयका प्रभाव, पुरुषोंकी विनय व अभिमानका अशुद्धा-वृत्ति असर, पितासे द्रोह न करने वाले राजकुमार, उन्हें माता पिताकी भक्तिकी शिक्षा, माता पिताके अनादरसे हानि, उससे प्राप्त राज्यकी निरर्थकता, पुत्र-कर्तव्य पितृ-भक्ति दुषित राज्यलक्ष्मी, निरर्थक कार्यसे हानि, राज्य योग्य उत्तराधिकारी तथा अपराधीकी पहिचान । ३१४-३२३

२५ दिवसानुष्ठान-समुद्देश

३२३-३३५

नित्यकर्तव्य, यथेष्ट व अयोग्य कालोत्तर निद्रासे लाभ-हानि, शीघ्र-मल-मूत्रादिके वेग रोकनेसे

आचरण, पुत्र, ज्ञान, सौजन्य, सम्पत्ति एवं उपकार तथा नियुक्तिके अयोग्य व्यक्ति, दानकी हुई वस्तुमें निःस्पृहता, सत्-कर्तव्य, सत्कार, धर्म (दान पुण्य प्रभृति) प्रकाशित न करना, दोष-शुद्धिका उपाय, धनार्जन संबंधी कष्टकी सार्थकता, नीच पुरुषोंका स्वरूप, बन्ध चरित्र-युक्त व्यक्ति, पीड़ा जनक कार्य तथा पंचमहापातकी । ३४६-३४९

प्रयोजन वश नीचपुरुषका संसर्ग, स्वार्थीकी प्रकृति, गृहदासीके साथ अनुराग करने व वेश्या संघर्षसे हानि, दुराचारियोंकी चित्तवृत्ति, एक स्त्रीसे लाभ, परस्त्री व वेश्या सेवनका त्याग, सुखके कारण, लोभ व याचनासे हानि, दारिद्र्य दोष, धनाढ्यकी प्रशंसा, जलकी पवित्रता, उत्सव, पर्व, तिथि, तीर्थयात्रा, तथा पारिवर्त्यका अलङ्कार, चातुर्य व लोक व्यवहार-पटुता, सज्जनता व धीरताका स्वरूप, भाग्यशाली पुरुष, सभाकी जघन्यता, हृदयहीनके अनुरागकी निष्फलता, निम्न स्वामी, वचनोंकी अपेक्षा लेखमें सत्यता, विश्वास न करने लायक लेख, तत्काल अनिष्ट करने वाले पाप, बलिष्ठके साथ लड़ाई करनेसे तथा बलवानका आश्रय पाकर उससे उद्वेगता करने से हानि, प्रवाससे होने वाला कष्ट तथा उसकी निवृत्तिका उपाय ३५२-३५७

२८-विवाद-समुद्देश

३५८-३६६

राजाका स्वरूप, उसकी निष्पक्ष समदृष्टिका प्रभाव, विधान परिषत्के अधिकारियों या सभासदोंका स्वरूप एकजीकयुटिय कौन्सिल या पार्लियामेन्टके अधिकारियोंकी अयोग्यता, न्यायाधीश की पक्षपात दृष्टिसे होने वाली हानि, वाद विवादमें पराजित हुए व्यक्तिके लक्षण, अयोग्य सभासदों के काम, वाद विवादमें प्रमाण, और उन प्रमाणोंको असत्य साबित करने वाले कारण-कलाप, वेश्या व जुआरी द्वारा कही हुई बातको भी प्रमाण माननेका अवसर, विवादकी निष्पक्षता, धरोहर सम्बन्धी विवादका निर्णय, गवाहीकी सार्थकता, शपथके योग्य अपराधी व उसका निर्णय होने पर दंड विधान, शपथके अयोग्य अपराधी व उनको शुद्धिका उपाय, मुद्दईके स्टाम्प वगैरह लेख और साक्षीके संदिग्ध होने पर फैसला देनेका तरीका, न्यायाधीशके दिना निर्णयकी निरर्थकता, ग्राम व नगर सम्बन्धी मुकद्दमा, राजकीय निर्णय व उसकी अवहेलना करनेवाले को कड़ी सजा । ३५८-३६२
दुष्ट-निग्रह, सरलतासे हानि, धर्माध्यक्षका राजसभा कालीन कर्तव्य, कलहके बीज व प्राणोंके साथ आर्थिक क्षतिका कारण, वाद विवादमें माझग आदि के योग्य शपथ, क्षणिक चीजें, वेश्या-त्याग, परिग्रहसे हानि, सदृष्टान्त, मूर्खका आमह एवं उसके प्रति विवेकीका कर्तव्य-मादि ३६३-३६६

२९-षाड्गुण्य-समुद्देश

३६७-३८६

शम व उद्योगका परिणाम, लक्षण, भाग्य-पुरुषार्थ, धर्म-परिणाम व धार्मिक राजाकी प्रशंसा, राज कर्तव्य (वदासीन प्रभृति राजमंडलकी देखरेख), वदासीन, मध्यस्थ, विजिगीषु-कर्तव्य, शत्रुओंके भेद, शत्रुता और मित्रताका कारण, मंत्रशक्ति, प्रभु शक्ति और उत्साह शक्तिके लक्षण, मंत्रशक्ति-माहात्म्य व दृष्टान्तमाला एवं शक्ति त्रयसे क्याप्त विजिगीषुकी श्रेष्ठता, इनसे रहितकी जघन्यता आदि तथा षाड्गुण्य (संधि-विग्रह-आदि) का लक्षण-आदि ३६७-३७५

शक्तिहीन व अस्थिरके आश्रयसे हानि, स्वाभिमानकी कर्तव्य, प्रयोजनवश विजिगीषु-कर्तव्य, राजकीय कार्यमें विलम्बका निषेध, द्वैधीभाव, दोनों बलिष्ठ विजिगीषुओंके मध्यवर्ती शत्रु, सोमाधिपतिके

प्रति विजिगीषु-कर्तव्य, शत्रु को भूमि फल (धान्यादि उपज) और भूमि देनेसे लाभ-हानि, चक्रवर्ती होनेका कारण, वीरतासे लाभ, साम-आदि चार उपाय, साम नीतिका भेद पूर्वक लक्षण, दान, भेद और दंडनीतिका स्वरूप, शत्रुके यहाँसे आये हुए दूतके प्रति राज-कर्तव्य और उसका दृष्टान्त, शत्रुके निकट सम्बन्धोंके गृह प्रवेशसे हानि, उत्तम लाभ, भूमि लाभकी श्रेष्ठता, मैत्री-भावकी प्राप्ति हुए शत्रुके प्रति कर्तव्य, विजिगीषुकी निन्दाका कारण, शत्रु-चेष्टा जाननेका उपाय, शत्रु निग्रहके उपरान्त विजिगीषुका कर्तव्य, प्रतिद्वन्द्वी पर विश्वास करनेके साधन, शत्रु पर बढ़ाई न करनेका अवसर, विजिगीषुका सर्वोत्तम लाभ, अपराधियोंके अनुग्रह-निग्रहसे हानि-लाभ, नैतिक व्यक्तिका सभा कर्तव्य, अमेसर होनेसे हानि, सभाके दोष, गृहमें आये हुए धनके बारेमें, धनार्जनका उपाय, दंड नीतिका निर्णय, प्रशस्त भूमि, राजसी वृत्तिवाले या पर प्रणय राजाका स्वरूप, आज्ञा पालनके योग्य स्वामी, मोक्ष-दूषित धन तथा धन प्राप्तिके भेद

३७६-३८४

३० युद्ध-समुद्देश

३८६-४०५

मंत्री व मित्रके दूषण, भूमि रक्षार्थ विजिगीषुकी नैतिक व पराक्रम शक्ति, शस्त्र युद्धका मौका, बुद्धि-युद्ध की सोदाहरण सफलता, माहात्म्य, डरपोक, अतिक्रोध, युद्ध कालीन राज-कर्तव्य, भाग्य-माहात्म्य, बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रान्त राज कर्तव्य, आग्यकी अनुकूलता, सार-भसार सैन्यसे लाभ-हानि, युद्धार्थ राज प्रस्थान, प्रतिग्रह स्वरूप, सप्रतिग्रह सैन्यसे लाभ, युद्धकालीन गृह भूमि, जल माहात्म्य, शक्तिशालीके साथ युद्ध करनेसे हानि, राज-कर्तव्य (सामनीति व दृष्टान्त) एवं मूलका कार्य दृष्टान्त ।

३८३-३९१

प्रशस्त व्यय, त्याग-माहात्म्य, बलिष्ठ शत्रुको धन न देनेका दुष्परिणाम, उसे धन देनेका परीका, शत्रु द्वारा आक्रान्त राजकीय-स्थिति दृष्टान्त, स्थान-भ्रष्ट राजा, समाप्त-माहात्म्य, दंड लाभ्य शत्रु दृष्टान्त, शक्ति और प्रताप-हीन शत्रु दृष्टान्त, शत्रुकी बिकनी-चुपकी बातोंमें जानेका निषेध, नीतिशास्त्र स्वरूप, अकेले विजिगीषुको युद्ध करने तथा अपरोक्षित शत्रु-भूमिमें जाने जानेका निषेध, युद्ध और उसके पूर्व कालीन राजकर्तव्य, विजयश्री प्राप्त कराने वाला मंत्र, शत्रुके कुटुम्बियोंको अपने पक्षमें मिलाना, शत्रु द्वारा शत्रुके नाशका परिणाम व दृष्टान्त व अपराधी शत्रुके प्रति राजनीति व दृष्टान्त

३९१-३९६

विजय प्राप्तिका उपाय, शक्तिशाली विजिगीषुका कर्तव्य और उसकी वृत्ति, सन्धि करने लायक शत्रु, पराक्रम करने वाला तेज, लघु व शक्तिशाली विजिगीषुका बलिष्ठसे युद्ध करनेका परिणाम व दृष्टान्त, पराजित शत्रुके प्रति राज-नीति, शूरवीर शत्रुके सम्मानका दुष्परिणाम, समान और अधिक शक्तिशालीके साथ युद्ध करनेसे हानि, धर्म, लोभ व असुर विजयी राजाका स्वरूप, असुर विजयीके आश्रयसे हानि, भेष्ठ पुरुषके सन्निधानसे लाभ, निहत्थे शत्रु पर शस्त्र-प्रहारकी कड़ी आलोचना, युद्ध भूमिसे भागने वाले शत्रुओंके प्रति राजनीति तथा शत्रुभूत राजाओंकी भंग्य बन्दीभूत राजाओंसे भेंट

३९६-३९९

मनुष्य मात्रकी बुद्धि-रूप नदीका बहाव, उत्तम पुरुषोंके वचनोंकी प्रतिष्ठा, सत्-असत् पुरुषोंके व्यवहार का तथा लोकमें प्रतिष्ठाका साधन, नैतिक वाणीका माहात्म्य, मिथ्या वचनोंका दुष्परिणाम, विश्वास-घात व विश्वासघातीकी कटु आलोचना, झूठी शपथका दुष्परिणाम, सैन्यकी व्यूह रचना, उसकी

स्थिरताका समय, युद्धशिक्षा, शत्रु के नगरमें प्रविष्ट होनेका अवसर, कूटयुद्ध और तृष्णीयुद्धका स्वरूप, अकेले सेनाध्यक्षसे हानि, अण्णा राजा, चोरतासे लाभ, युद्धसे विमुखकी हानि, युद्धार्थ प्रस्थित राजा व पर्वतनिवासी गुप्तचरोंका कर्तव्य, सेनाके योग्य स्थान, अयोग्यसे हानि व राज-कर्त्तव्य ३६६-४०४

३१ विवाह-समुद्देश—

४०६-४१०

कामसेवनकी योग्यताका समय, विवाहका परिणाम, लक्षण, ब्राह्म और दैव-आदि चार विवाहों के स्वरूप, उनकी श्रेष्ठता, गान्धर्व-आदि विवाहोंके लक्षण और उनकी उत्तमता आदि, कन्याके दूषण, पाणिग्रहण-शिथिलताका खोटा असर, नया बधूकी प्रचण्डताका कारण, उसके द्वारा तिरस्कार और द्वेष-पात्र पुरुष एवं उसके द्वारा प्राप्त होनेयोग्य प्रणय (प्रेम), विवाहके योग्य गुण, उनके न होनेसे हानि कन्या के विषयमें, पुनर्विवाहमें स्मृतिकारोंका अभिमत, विवाह संबंध, स्त्रीसे लाभ, गृह-स्वरूप कुलबधूकी रक्षा, वश्याओंका त्याग और उनके कुलागत कार्य । ४०६-४१०

३२ प्रकीर्णक-समुद्देश—

४११-४२४

प्रकीर्णक व राजाका लक्षण, विरक्त-अनुरक्तके चिन्ह, काव्यके गुण-दोष, कवियोंके भेद, कवि होने से लाभ, संगीत (गीत, नृत्य तथा वाद्य) गुण, महापुरुष, निम्न गृहस्थ, तात्कालिक सुखाभिलाषियोंके कार्य, दान-विचार, कर्जा देने के कटु फल व उसको लेने वालेके स्नेहादिको अवधि, सत्यासत्य निर्यय, पापियोंके दुष्कर्म, भाग्याधीन वस्तुएं, रतिकालीन पुरुष-वचनोंकी भीमांसा, दाम्पत्य प्रेमकी अवधि, युद्धमें पराजयका कारण, स्त्रीको सुखी रखनेसे लाभ, लौकिक विनय-तत्परताकी सोमा, अनिष्ट प्रतीकार, स्त्रियोंके प्रति मनुष्य कर्त्तव्य, साधारण व्यक्तिसे भी प्रयोजन, लेख व युद्ध ४११-४१७

स्वामी व दाताका स्वरूप, राजा, परदेश, बन्धुहीन तथा दरिद्रके विषयमें, निकट विनाश वालेकी युद्ध, पुण्यवान, भाग्यकी अनुकूलता, कर्मचांडाल, पत्नीके भेद, दाय भागके निबन्ध, अतिपरिचय, सेवकके अपराधका दुष्परिणाम, महत्ताका दूषण, रतिक्रिया-मंत्र साधन व आहारमें प्रवृत्त हुए पुरुषके प्रति मनुष्य कर्त्तव्य, पशुओंके प्रति वर्ताव, मतवाले हाथी पर आरोहण व अत्यधिक अरब (घोड़ा) कीड़ासे हानि, अण्ण न चुकाने वाले की आलोचना, अत्यधिक व्यभि-प्रस्त शरीरकी भीमांसा, साधुजीवन युक्त महापुरुष, लक्ष्मी-भीमांसा, राजाओंका प्रेम पात्र व नीच पुरुष— ४१७-४२२

मनुष्यकी महत्ता, महापुरुषोंकी आदर्श प्रकृति, सत् असत् संगका असर, प्रयोजनार्थीका कर्त्तव्य धनाढ्यके प्रति निर्धन-कर्त्तव्य, सत्पुरुषकी सेवाका परिणाम, प्रयोजनार्थीको दोष-दृष्टि न रखनेका संकेत, चित्त प्रसन्न करने वाली वस्तुएं, राजाके प्रति मनुष्य कर्त्तव्य, विचार पूर्वक कार्य न करने व अण्ण बाकी रखने से हानि, नये सेवककी प्रकृति, प्रतिष्ठा निर्वाह, निर्धन अवस्थामें चढ़ारना, प्रयोजनार्थीका कार्य तथा पृथक् किये हुए सेवकका कर्त्तव्य— ४२२-४२४

३३—ग्रन्थकार प्रशस्ति, अन्त्यमंगल तथा आत्म-परिचय

४२६-४२७

प्राक्कथन

श्रीमत्सोमदेवसूत्रि-कृत 'नोतिशाक्यमृत' वि० की ग्यारहवीं शताब्दी का रचा हुआ है। इस समय राजनीति कालानुसार परिपक्वावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। यह साधारण धारणा कि 'प्राचीन युग में राजनीति को कोई स्थान नहीं था और न विद्वानों की इसमें अभिरुचि ही थी' कोई बजनदार उक्ति प्रतीत नहीं होती। निस्सन्देह हमारा देश धर्मप्रधान रहा है और इवलिये इतिहास के आदिमाल से जो भी क्रान्तियाँ समाज में हुईं वे धार्मिक रूपमें धर्मावरणमें तथा धार्मिक मंचसे ही हुईं, उनके संचालक भी धार्मिक नेता के रूप में ही हमारे सन्मुख आये और क्रान्तियों में फलीभूत होने पर उनकी देवताओं की भाँति पूजा भी हुई। यदि प्राचीन क्रान्तिकारियों को धार्मिक चरमे से न देख कर शुद्ध लौकिक दृष्टि से देखें तो यह तथ्य साफ दिखाई देने लगेगा और फिर राम कृष्ण बुद्ध महावीर व शङ्कराचार्य आदि सब हमें समाजके क्रान्तिकारीके रूपमें ही देखने लगेगे उसी प्रकार जिसप्रकार कि आज महात्मा गांधी जवाहरलाल व सुभाषचन्द्र बोस आदि दिखाई देते हैं। किन्तु जिस समय उनका यहो एग संभव था उस समय लोक नेताओं को चाहे वे समाज के किसी भी पहलू को छूएँ ऋषियों की उपाधियोंसे विभूषित किया जाता था। यह उनकी विद्वत्ता का सही सम्मान था, क्योंकि कि उस समय जनता-जनार्दन में सेवा का जितना मूल्य था। उतना अर्थ संचय का नहीं। अर्थ विद्या के चरणों में झोटता था बड़े से बड़ा धनवान विद्वान क चरणस्पर्श कर अपना कल्याण समझता था, ऐसे ही ऋषि मुनियों में उस समय भारत के विद्वान मिलते थे, जिनकी एक एक कृति अनुपम, अलौकिक तथा मौलिक रचना-युक्त होती थी।

राजनीतिसमाज-शास्त्र का ही अंग सदैव से रहा है और आज भी इसे समाजशास्त्र (Sociology) से सम्बन्धित माना जाता है। अतः यदि समाज-व्यवस्था के आदि युग में शुद्धराजनीति का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं, किन्तु राजनीति पर चर्चा ही नहीं हुई हो, विद्वानों ने इस पर कोई विचार ही नहीं किया हो, सो बात नहीं है। जब से मानव एक समाज रूप में सामूहिक जीवन बिताना आरम्भ किया, तभी से प्रत्येक व्यक्ति और समाज के बीच कर्त्तव्यों पर चर्चा होनी लगी तथा जब से राज्य कायम हुए तभी से 'राजन्' के अधिकार तथा कर्त्तव्यों पर विवेचना शुरू हो गई, ऐसा प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है। 'राजन्' शब्द का प्रयोग राज्यों के गठन के साथ साथ ही आरंभ हुआ मालूम होता है। इतिहास के धुंधले युग से जिसकी जानकारी के लिये हमारे पास आज भी उपयुक्त सामग्री नहीं है, हम 'राजन्' शब्द का प्रयोग देखते हैं। किन्तु हमारे पास आज इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं, कि हमारे देश में राजतंत्र के समानान्तर गणराज्य भी बहुत प्राचीन काल से हैं। इसी सन् से सैकड़ों वर्ष पूर्व भी हम को अपने देश में छोटे छोटे गणराज्य मिलते हैं। चूनान के आक्रान्ता सिकन्दर के भारत आरोहण के समय भी पंजाब में ही माल्लिक, सुद्रक आदि कई गणराज्य

थे। लिच्छिवी राज्य स्वयं एक गणराज्य था किन्तु उस समय के गणराज्य और आज के गणतंत्र में कुछ भेद समझना चाहिये।

उस समय के गणराज्यों में अवश्य राजा नहीं होता था, परन्तु राज्यशासन राज्य के मुखियोंओं द्वारा होता था। आज की भांति वार्षिकताधिकार की प्रणाली से चुने हुए शासनकर्त्ताओं के बारे में कोई प्रमाण नहीं मिलता। ये गणराज्य संख्या में उस समय भी कम थे और छोटे छोटे थे। समय युद्ध और संघर्ष का था। आर्यजानि छोटे-से राज्यों की अपेक्षा बड़े-से संगठित राज्य स्थापित करने की चिन्ता में थी, यह राष्ट्र हित के लिये ही था। सिकन्दर के समकालीन भारतीय राजनीतिज्ञ आर्य चाणक्य ने जब गणराज्यों में शिक्षितता देखी, तो उसने स्वीकार किया कि 'यह जमाना गणराज्यों का नहीं है बल्कि भारतमें एक संगठित राजकी स्थापना होनी चाहिये, और उनकी प्रेरणासे उत्तरी भारत के गणराज्य चन्द्रगुप्तमौर्य द्वारा समाप्त कर दिये गये। और एक विशाल साम्राज्य तो स्थापना की गई। उनके बाद एकतन्त्र राज्य ही दिखाई देने लगे। यद्यपि कुछ गणराज्य ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में मिलते हैं।

एकतन्त्र राज्य-स्थापना से यदि यह हम समझने लें कि 'राजा' को मनमाने अधिकार थे और वह परमात्मा का 'प्रतिनिधि' माना जाता था तो हमारी बड़ी भूल होगी। जिस काल का हम विवेचन कर रहे हैं उस समय 'राजन्' के अधिकार तथा कर्त्तव्य नियत थे। इन कर्त्तव्यों का पालन न करने पर वह राज्यच्युत किया जा सकता था। और राजा का चुनाव योग्यता की कसौटी पर कसा जाता था। हम गुप्त राज्य के अंत तक 'राजन्' का बहुत निखरा हुआ रूप मिलता है। और एक तरह से 'जनतंत्र' प्रणाली का साक्षात्कार होता है।

श्री० चौधरी ने भारतीय इतिहास की भूमिका में उस युग के शासनतन्त्र के विषय में लिखा है—“इस समय (ई० की पहली शताब्दी) में सरकारें लोकतन्त्रीय व सुसंगठित थीं। यह सही है कि उस समय राजा तथा मंत्रियों के नियन्त्रण रखने के लिये कोई केन्द्रीय धारा सभा (पार्लियामेंट) नहीं थी। किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कुछ समय से शासनतंत्र का विकेन्द्रीयकरण बहुत कुछ हो चुका था। और केन्द्र का बहुत सा काम प्रान्तीय शासन द्वारा होता था। प्रान्तों में केन्द्रीय अफसरों पर लोक सभाओं द्वारा नियन्त्रण रक्खा जाता था और सरकारी भूमि तक भी बिना लोक सभाओं की स्वीकृति के बेची नहीं जा सकती थी। ग्राम शासन एक दम लोकतन्त्रीय था, जहाँ शासन की सारी व्यवस्था ग्राम पंचायतों द्वारा होती थी।

केन्द्रीय शासनतंत्र पर नियंत्रण करने के लिये भी आर्यचाणक्य के अनुसार 'अनपद सभाएँ' होती थी और राजा को इनके मत का आदर करना पड़ता था। “आर्थिक संकट के समय समाहर्ता प्रयोजन वतलाकर पौरजनपद से धन मांगे। राजा पौरजनपद से वाचना करे।”

नियम-निर्माण के लिये धारासभाओं का यदि कोई प्रमाण नहीं मिलता तो इससे यह नहीं समझना चाहिये कि राजा जो नियम चाहे रेश्छटा से बना वे। यद्यपि आज के समान लोकतन्त्रीय धारासभाएँ नहीं थी, तथापि नियम-निर्माण का अधिकार राजा के हाथ में नहीं था। समाजिकवस्था, धार्मिकव्यवस्था तथा राजकीय व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त तब ठपे हुए, निःस्वार्थी तथा लोककल्याण-कर्ता विद्वान् अधि-

धर्मियों द्वारा निर्दिष्ट होते थे, जिनके व्यवहारांश किसी को शंका ही न हो पाती थी। और उन सिद्धान्तों या नियमों का पालन राजा सहित नारे समाज को करना पड़ता था। शंका का स्थान इसलिये नहीं रहता था कि ऋषिमुनि विद्वानों की आप्तवाणी से कबल वही आदेश निकलते थे, जो देश काज के अनुसार एक प्रकार से समाज की आज्ञा होती थी।

राजनीतिज्ञ महाराज मनु की मनुस्मृति ऐसा अतिप्राचीन ग्रन्थ है जिसमें राजा तथा प्रजा के कर्तव्य एवं अधिकारों का निरूपण है और जिसे आज भी हजारों वर्षों के बाद भी आप्तवाणी समझा जाता है इसके अतिरिक्त ऋषिप्रवर शुकाचार्य आदि अन्य ऋषियों ने भी अपने २ ग्रन्थों में समाज-व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। इनके सिद्धान्तों को एक प्रकार से लिखित रूप में भारतीय जनधर्म कहा जा सकता है। इन स्मृतियों द्वारा निरूपित नियमों के उल्लङ्घन का साहस शक्तिशाली से शक्तिशाली राजा को भी नहीं हो पाता था। अतः राजा पर इस प्रकार का नियंत्रण किसी भी आधुनिक लोकसभा से अधिक काम करने वाला था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें 'विदेहराज जनक' राजा दशरथ, भगवान् राम' आदिके उदाहरणों से मिलता है जिनका आदेश आना नभ कुछ त्यागकर जनता-जनार्दन की सेवा के लिये राजमुकुट धारण करना था।

भारत का राजा भगवान् का प्रतिनिधि बनकर प्रजा पर सममान अत्याचार करनेवाला राजा नहीं था। हमारा आदेश तो राजापि था। राजा होने हुए भी त्यागोच्छ्रि, जिसकी क्षारी वृत्तियां एकही क्षिति में रहती थीं, कि उसकी प्रजा अधिक से अधिक सुख व समृद्ध कैसे हो इसलिये राजा के लिये विद्या 'प्रजापालक' आदि सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग किया गया, किन्तु उसकी शक्ति ऐसी अतिरिक्त कभी नहीं होने दी कि वह प्रजा पर अत्याचार कर सके। आचार्य कीटिल्य ने राजा के लिये भी दण्ड का व्यवस्था की है।

यह लिखता है — निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देने पर राजा को उस दण्ड से तीस गुना दण्ड दिया जाय और यह दण्ड का धन जल में खदे दोकर वरुणदेवता के नाम से ब्राह्मणों को दे दिया जाय। ऐसा करने से ठाक दण्ड देने के कारण उत्पन्न हुआ राजा का पाप शुद्ध हो जाता है। (का० अ० ४-१२)

आज जनतंत्रवाद तथा साम्यवाद का युग है। साम्यवाद का आधारभूत सिद्धान्त आर्थिक समा-न्ता है। उसका प्राथमिक तथा अन्तिम लक्ष्य रोटी केवल राटी है। जनतंत्रवाद (आधुनिक) का आधारभूत सिद्धान्त है 'राज्यसत्ता में जनता का हाथ' दोनों ही भौतिक सुख के चरम में जनता का सुख देखते हैं यही आज के जीवन का चरम लक्ष्य है, किन्तु भारतीय परम्परा इसके विरुद्ध है। भारत ने— विशेषकर ऋषियों द्वारा नियन्त्रित भारत ने— कभी भी आर्थिक तथा भौतिक सिद्धि को चरम लक्ष्य नहीं माना। ऋषियों ने सर्वत्र सन्तोष, अवरिग्रह तथा परहित का पाठ पढ़ाया। ऐसे आर्थिक संकट काल में जैसा आज विश्वमें है संतोष की व्यवस्था के पूर्णरूप से अस्मत्त होने का एकमात्र कारण यह है कि इन कालों में वह पल, वह प्रभाव, वह कर्तव्यभावना नहीं है जो स्मृतिकागों की वाणी में थी और तब आर्थिक संकट जैसी समस्या विकट रूप धारण नहीं करता था। कोई आर्थिक संकट या अराजक पड़ने पर राजा तथा नृप पड़ले व्यक्ति होते थे जो दल-धैर्य लेकर स्वतः की निकल पड़ते थे। राजा जनक तथा अश्वमेध का प्रजा-कण्ट

निष्ठा में हल बैल साधना लोक प्रसिद्ध है। अभी अभी हमारे नेता राष्ट्रपति श्री राजगोपालाचार्य ने हल-बैल संभाषण एक प्रकार से आज से सहस्रों वर्ष पूर्व राज्य-धर्म का ही साक्षात् कराया था। किसी भी स्मृतिकार ने राजा की जनता से अलग करने तथा बहुत उच्च शक्ति समझने की व्यवस्था नहीं की। यदि राजाओं के सम्मान की चर्चा भी हुई है तो वे ऐसे राजा हैं जिनके गुण किसी भी साधु तपस्वी से कम नहीं हैं। राजा के जितने गुण, कर्तव्य, जितना त्याग, जनकोप का जितना सदुपयोग व जितना आदर्श रहन-सहन प्राचीन भारतीय विधानों में चाहा गया था, आज तो वह सपने की बात भी लगती है। ऐसे ही आदर्श राम-राज्य का स्वप्न तो 'बापू' देखते थे। ऐसी ही आदर्श, मधुर राजनैतिक कल्पनाओं के भूले में तो 'बापू' भूलते भूलते चल बसे। आज की विश्व राजनीति तथा भारतीय परंपरा में सबसे बड़ा भेद है कि भारतीय परंपरा राजनीति चारित्रिक आदर्श तथा सात्विकता को अपेक्षा करती है जबकि विश्व, मिकेवेली के सिद्धान्तों (भूठ, धोखा, और दगा) को Fact (सत्य) या Diplomacy (राजनीति) कहकर राजनैतिक महत्त्व देता है। महाभारतकार व्यास ने कौरव-पांडव युद्ध में अधिक से अधिक संकटभरी परिस्थिति में होते हुए भी धर्मराज युधिष्ठिर को धर्म-संकट में डाल दिया, जब कि उनसे यह कहा गया कि वे सिर्फ इतना कह दें कि 'अश्वत्थामा मारा गया'। इस आचरण की आज के राजनैतिक प्रचार विभाग से तुलना करें, तो आकाश-पाताल का अन्तर मालूम होता है। आज तो 'Everything is fair in love and war' का सिद्धान्त ही प्रत्येक राज्य का धर्म सा हो गया है। यही नहीं, प्रत्येक देश करोड़ों हथियों का व्यवय केवल इसीलिये सहन करता है कि उसका देश विश्व की प्रचार दौड़ में पीछे न रह जाय। चाणक्य ने भी प्रचार की आवश्यकता का अनुभव किया था और उसने गुप्त-चर विभाग को राज्य का एक आवश्यक अंग माना था। इससे पूर्व के शासकों ने इस कार्य को इतना महत्त्व नहीं दिया मालूम होता है। बाद में समय के अनुसार राजतंत्र का रूप बिगड़ा और राजा का वह आदर्श न रह पाया जिसकी कल्पना स्मृतिकारों ने की थी और इसीलिये राजतंत्र सर्वत्र घृणा की वस्तु बन गया। यूरोप में तो इसके प्रति इतनी घृणा बढ़ी कि कई राजाओं की अपना सर तक देना पड़ा और उन के बाद आधुनिक जनतंत्र को आँधों बढ़ी उसका प्रसार भी हुआ, ग्लून की नदियाँ भी बहनी, लेकिन जनता में सुख व सन्तोष आज भी नहीं है। अनेकों प्रणालियों के प्रयोग हुए और हो रहे हैं किन्तु कोई नुस्खा राम-बाण सिद्ध नहीं हुआ। कारण यह है कि—

“ददं कुञ्ज और है दवा कुञ्ज और। दुर्ब दिल का मात्रा कुञ्ज और” रोग के निशान में राजनीतिकों की भूल मालूम पड़ती है। विश्व की अशांति के निराकरण का कुञ्ज आभास 'बापू' के निदान में मिलता है जो सौ फी सदी भारतीय नुस्खा है। प्रस्तुत शास्त्र अवश्य मार्ग प्रदर्शन करेगा, क्योंकि यह भारतीय ऋषि की आप्तवाणी है। इसी दृष्टि से अनुवादक महोदय के परिश्रम को भेय है और उनकी बहुभूत विद्वत्ता तथा प्रचुरज्ञान का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, कि अनुवाद में मूलग्रन्थकार की आत्मा व्योकी स्वी बनी हुई है। आशा है कि विश्व के सत्ताधारो राजनीतिक पुराने आचार्यों की आप्तवाणी से कुछ लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे।

लाहौर

भाद्र शु० ७ वि० २००७

गंगाप्रसाद सिंहल

एम० ए०

प्रस्तावना ।

नीतिवाक्यामृत और आचार्य श्रीमत्सोमदेवसूरि ।

ग्रन्थ परिचय ।

'नीतिवाक्यामृत' संस्कृत वाङ्मय-बल्लरीका अनुपम व अतिशय सुगन्धित समत है । इसके रच-
यिता आचार्यमवर श्रीमत्सोमदेवसूरि हैं, जो कि उच्चकोटि के दार्शनिक, महाकवि, धर्माचार्य व राज-
नीतिक बहुभुत प्रकाण्ड विद्वान थे । इनका समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी का प्रथम पाद है ।

इस विशाल ग्रन्थरत्न में मानवीय जीवन-स्तर को ऊँचे उठाने वाली धर्मनीति, अर्थनीति, समाज-
नीति व विशेषरूप से विशुद्ध राजनीतिका विशद व ललित विवेचन है । अर्थात् मानव संसार को अपनी
मर््यादामें स्थिर रखने वाले राज्य शासन एवं इसे पल्लवित, संवर्द्धित एवं सुरक्षित रखने वाले राजनैतिक
कार्यों का इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्भीर विचार किया गया है, अतः ग्रन्थन किये हुए नीति समुद्र
को इस सारभूत मुवा- (अमृत) पान से हमारे पाठक अवश्य सन्तुष्ट एवं आर्हादित होंगे । संस्कृत
गद्यमय व सूत्र पद्धति में लिखे हुये इस विशाल ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम व अरिषड्वर्ग-प्रभृति नाम
वाले ३२ समुद्देश-अध्याय हैं, एवं प्रत्येक समुद्देश में 'यतोऽभ्युदयतिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ १ ॥
'अधर्मः पुनरेवद्विपरीतफलः' ॥२॥ इत्यादि क्रम से ५०, ११, १७, ७, आदि सब मिलाकर १५५० सूत्र
हैं तथा समुद्देशों के नामों के अनुसार विषय निरूपित हैं ।

ऐसे महत्वपूर्ण संस्कृत नैतिक ग्रन्थ रत्न का हिन्दी में अनुवादित होना स्वाधीनता-प्राप्त भारतीय
बच्चुओं के लिये विशेष उपयोगी था, अतः समाज व राष्ट्र के नैतिक जीवन पुष्प को विकसित करनेके
उद्देश्य से मैं ६ वर्ष की कठोर माधना के पश्चात् इसका अभूतपूर्व, सरल, विस्तृत ललित एवं भावपूर्ण
हिन्दी अनुवाद ४२५ पृष्ठों में पाठक पाठिकाओं को भेंट कर सका हूँ ।

प्राचीन राजनैतिक साहित्य—

राजनैतिक ग्रन्थों में से 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' जिसे ३२०० वर्ष पहिले मौर्यवंशज सम्राट चन्द्र-
गुप्त के लिये आर्थ चाणक्य ने बनाया था, राजनैतिक तत्त्वों से ओतप्रोत है । मन्दवंशका मूलोच्छेद
करके उसके सिंहासन पर चन्द्रगुप्तको आरूढ़ कराने वाले आर्थ चाणक्य बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे, उनकी
राजनैतिक बहुभुत विद्वत्ता का प्रदर्शक यह 'अर्थशास्त्र' है । चाणक्यके पश्चात्-कालीन एक और प्राचीन
कामन्दक का 'नीतिसार' ग्रन्थ उपलब्ध है । यह श्लोकबद्ध है, इसमें भी राजनैतिक तत्त्वों का अच्छा
विवरण है ।

कामन्दक के 'नीतिमार्ग' के बाद हमारी धारणा के अनुसार यह 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ ही ऐसा बनाया गया है, जो कि उक्त दोनों ग्रन्थों की श्रेणी में रक्खा जा सकता है, क्योंकि इसमें मुख्य राजनैतिक सिद्धान्तों का लज्जित निरूपण किया गया है।

नीतिवाक्यामृत की संस्कृत टीका में उल्लिखित वृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज व गर्ग आदि नीतिकारों के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि आचार्य श्रीसोमदेवसूरि के समस्त तत्कालीन समस्त नैतिक साहित्य उपलब्ध था और उससे वे आर्यवाणक्य के समान परिचित थे तथापि नये अनुभव व नये ऋत्यों का सम्मिश्रण किये जाने से इसमें ग्रन्थकार की स्वतंत्र प्रतिभा व मौजिदगी प्रत्येक स्थान में प्रस्तुति हुई प्रतीत होती है।

ग्रन्थकर्ता का परिचय—

नीतिवाक्यामृत के रचयिता आचार्य प्रवर श्रीमत्सोमदेव सूरि हैं, जो कि वि० सम्प्रदाय में प्रसिद्ध व प्रामाणिक चार संघों में से देवसंघ के आचार्य थे। नीतिवाक्यामृत की गद्यप्रशस्ति व यशस्तिलक की गद्य प्रशस्ति से विदित होता है, कि सोमदेवसूरि के गुरु का नाम नेमिदेव व वादागुरु का नाम यशोदेव था एवं ये महेश्वरदेव भट्टारक के अनुज थे। उक्त तीनों महात्माओं (यशोदेव नेमिदेव व महेश्वरदेव एवं सोमदेव की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक साधना (उनकी रचना, शिक्षाक्षेत्र प्रभृति) उपलब्ध न होने से हम कुछ निगोच न कर सके। प्रस्तुत ग्रन्थकार के गुरु प्रकाशक दार्शनिक थे, क्योंकि उन्होंने ६३ या ६५ वादियों को परास्त कर विजयश्री प्राप्त की थी। इसी प्रकार महेश्वरदेव भट्टारक की 'वादीन्द्रकालानल' उपाधि उनकी दिग्विजयिनी दार्शनिक विद्वत्ता प्रकट करती है।

ग्रन्थकार की दार्शनिक विद्वत्ता—

श्री सोमदेवसूरि अपने गुरु व अनुज के सहश उद्भूत दार्शनिक विद्वान् थे क्योंकि उन्होंने अपने यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य के प्रारम्भ में कहा है कि 'मेरी बुद्धिरूपी गायने आत्मन्म तर्करूपी शुष्क घास खाया, उसी से संतानों के पुण्य से अब यह काव्यरूपी दुग्ध उत्पन्न हो रहा है'। इसी से यह बात प्रमाणित होती है कि ग्रन्थकर्ता के जीवनका बहुभाग दर्शनशास्त्र के अभ्यासमें व्यतीत हुआ था। इसी प्रकार 'स्यादावाचलसिंह' 'वादी पंचानन' व 'तार्किक चक्रवर्ती' उपाधियां उनकी दार्शनिक प्रतिभा की प्रतीक हैं।

सोमदेवसूरिका महाकवित्व, धर्माचार्यत्व एवं राजनीतिज्ञता—

श्री सोमदेवसूरि द्वारा विरचित 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य उनके महाकवित्व का अवलम्ब प्रमाण है। इसमें महाकाव्य के समान प्रसाद, माधुर्य व ओज ये तीनों गुण वर्तमान हैं, इसका मैंने मातृसंस्था (स्था० म० काशी०) में अध्ययन व भजन किया है, यह कहा जाय, महाकवित्व गद्य पद्यात्मक संस्कृत काव्य ग्रन्थ है, इसका गद्य भाग काव्यरूपी से भी क्लिष्ट है। यह सुभाषित व नीति रत्नों का आकाश है। इसमें ज्ञान की विशाल निधि संग्रह की गई है। माघ काव्य के समान इसके पद लेने पर संस्कृत भाषाका कोई नया शब्द अवशिष्ट नहीं रहता। इसमें कुछ शब्द ऐसे हैं जो कि वर्तमान कोशग्रन्थों में नहीं पाये जाते। व्यवहार-पटुता व विषयव्युत्पत्ति कराने में यह ग्रन्थ अपूर्व है। इसके सिवाय

सोमदेवसूरिके 'वाक्लोल पयोनिधि' 'कविपञ्च कुञ्जर' एवं 'मद्यपय-दिवाकर' आदि विशेषण
इनके महाकविरव के प्रदर्शक हैं एवं यशस्तिलकचम्पू के अन्तिम दो आश्वास, जिनमें उपासकाध्ययन
भावकाचार का विशद विवेचन किया गया है, एवं जिसके बहुभाग का मैंने नीतिवाक्यामृत के धर्म
समुद्देश में हिन्दी अनुवाद भी किया है, उससे पाठक स्वयं उनकी धार्मिक बहुश्रुत-विद्वत्ता का अनुभव
कर लेंगे। मेरी समझ में स्वामी समस्त भद्राचार्य के रत्नकरगङ्गाधराचार के बाद भावकों का आचार-
शास्त्र अभी तक ऐसी श्रद्धावद्ध व्याख्यापूर्वक ऐसी उत्तमता के साथ किसी विद्वान द्वारा नहीं लिखा
गया। इसी प्रकार सोमदेव सूरि की राजनीतिज्ञता राजनैतिक सिद्धान्तों से ओत प्रोत इस नीति-वाक्या-
मृत से एवं यशस्तिलक के दूरे आश्वास द्वारा जो कि राजनैतिक तत्त्वों से भरा हुआ है, प्रमाणित होती है।

अभी तक जैनाचार्यों व विद्वानों में से सोमदेव सूरि के लिखाय किसी भी विद्वान् व आचार्य ने
'राजनीति' विषय पर शास्त्र रचना नहीं की, अतः यह 'नीतिवाक्यामृत' जैन बाहुमय में अद्वितीय है।

प्रस्तुत आचार्य श्री की रन्धरचना—

नीतिवाक्यामृत की 'प्रशस्ति' एवं 'दान पात्र' से विदित होता है कि सोमदेवसूरि ने १—नीति
वाक्यामृत, २—यशस्तिलकचम्पू, ३ युक्तिचिन्तामणि (न्याय ग्रन्थ), ४—त्रिबर्गमहेन्द्रमातलिसंज्ञल्प,
स्वाङ्गबोधनिपात् एवं अनेक सुभाषित इस प्रकार ६ ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से शुरू के दो ग्रन्थ—
(नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक) उपलब्ध हैं, बाकी के ग्रन्थों का अभी तक कोई पता नहीं। नीतिवा-
क्यामृत की प्रशस्तिमें आचार्यश्री ने उक्त ग्रन्थों का उल्लेख किया है, अतः नीतिवाक्यामृत ही अन्तिम रचना
अवश्य ही थी।

विशाल अध्ययन एवं विचारों की उदारता—

नीतिवाक्यामृत व यशस्तिलक के रचने पर अध्ययन से विदित होता है कि सोमदेवसूरि का अध्य-
यन केवल जैन बाहुमय में ही सीमित नहीं था, परन्तु उन्होंने उपलब्ध समस्त न्याय, व्याकरण, काव्य,
नीति-आदि समस्त विषयों पर अपना अधिकार जमा रक्खा था, उनमें सार्वभौम विद्वत्ता थी। यशस्तिल-
क के अन्तिम दो आश्वास उनकी जैन धर्म पर गाढ़ भद्रा के प्रदर्शक हैं, तथापि उन्होंने ज्ञान के मार्ग
को सर्वसाधारण द्वारा उपादेय बताकर उसे संकीर्ण नहीं किया था। वे व्याकरण, न्याय दर्शनशास्त्र
(जैन, बौद्ध, कपिल, कण्वर चार्वाक व शक्यसिद्धान्त), कलाएँ छन्द व अलङ्कारशास्त्र की तीर्थमार्ग
सर्वसाधारण समझते थे। x

समय व स्थान—

यशस्तिलक की प्रशस्ति में लिखा है, कि चैत्र शु० १३, शक सवत् ८८१ (विक्रम संवत् १०१६)
को जिस समय श्री कृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल व चेर आदि राजाओं को जीतकर मेळपाटी
नामक सेना शिविर में थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त वरिग की—जो बालुक्यवंशीय

x वाक्युक्तिः कलारद्वन्दोश्चकाराः समयागमाः । सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्गं दत्तं रक्षताः । यशस्तिलक पृथं

श्लोक ० ।

अरिकेसरी के प्रथम पुत्र थे—राजधानी गंगाधारामें यह काव्य समाप्त हुआ और नीतिवाक्यामृत यशस्तिलक से भी पीछे बना है, क्योंकि नीतिवाक्यामृत की प्रशस्तिमें ग्रन्थ-रुतों ने अपने को 'यशस्तिलक' महाकाव्यका कर्ता प्रकट किया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे यशस्तिलक को समाप्त कर चुके थे।

दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) राष्ट्रकूट या राठोर वंश के महाराजा थे और इनका नाम अकाजवर्ष था। ये अमोचवर्ष तृतीय के पुत्र थे। इनका राज्य काल कम से कम शक संवत् ८६७ से ८६४ (वि० सं० १००२ से १०२६) तक प्रायः निश्चित किया है। ये दक्षिण के सार्वभौम और बड़े प्रतापी राजा थे। इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे। कृष्णराज ने—जैसा कि सोमदेवसूरिके यशस्तिलक की प्रशस्ति में लिखा है—भिहल, चोल पांड्य और केर राजाओं को युद्ध में परास्त किया था। इसके समय में शान्तिपुराण का कर्ता कनकौ भाषा का सुप्रसिद्ध जैन कवि 'पात्र' हुआ है, जो कृष्णराजदेव द्वारा 'उभय भाषा कवि चक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया गया था।

राष्ट्रकूटों द्वारा दक्षिणके चालुक्यवंशका सार्वभौमत्व अपहरण किये जाने के कारण वह निष्प्रभ होगया था। अतः जबतक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे, तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक राजा बनकर रहे, अतः अरिकेसरीका पुत्र 'वर्दिग' ऐसा ही एक सामन्त राजा था, जिसकी गंगाधारा नामक राजधानीमें यशस्तिलककी रचना समाप्त हुई है। अरिकेसरी के समकालीन कनकौ भाषा का सर्वश्रेष्ठ जैन कवि 'पम्प' हुआ है, जिसकी रचना से मुख होकर अरिकेसरी ने उसे धर्मपुर नामका गाँव पारितोषिक में दिया था। उसके बनाये हुए दो ग्रन्थ १ 'आदिपुराणचम्पू' और २ 'विक्रमाजुर्नामजय' उक्त ग्रन्थ शक सं० ८६३ (वि० सं० ९६८) में—यशस्तिलक से १८ वर्ष पहिले—समाप्त हुआ है। इसकी रचना के समय अरिकेसरी राज्य करता था, तब उसके १८ वर्षवाद—अर्थात् यशस्तिलक की रचना के समय उसका पुत्र सामन्त 'वर्दिग' राज्य करता होगा, यह प्रमाणित होता है। अतः नीतिवाक्यामृत चालुक्य वंशीय अरिकेसरी के पुत्र सामन्त वर्दिग की प्रेरणा से बनाया गया था, यह निर्णीत है।

उपसंहार-ऐतिहासिक तथीन अनुसन्धान व चिन्तन-आदि पुष्कल परिश्रम व समयाश्रित होते हैं, अतः हम उक्त प्रस्तावना में ग्रन्थ व ग्रन्थकता के विषय में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संक्षिप्त प्रकाश डाल सके हैं, आशा है कि सहृदय पाठक इसे इसी दृष्टि से पढ़ेंगे। इति राम ॥

C/o रा० सा० सेठ लोलाराम नथमल,
लाइनू (भारवाड़) }
आश्व शु० ६ वि० सं० २००७

—सुन्दरलाल शास्त्री
सम्पादक

उक्त प्रस्तावना में आचार्य श्री की गणपतरामक प्रशस्ति के सिवाय श्री० अद्वैत विद्वद्गुरु पं० नाथूराम जी प्रेमी के 'जैवसाहित्य और इतिहास' का भी आभार लिया है, अतः हम अद्वैतप्रेमी जी के अ.भारी हैं —अनुवादक



श्रीमन्मन्त्रभद्राय नमः

श्रीमन्सामदेवसुत्रिचरित्र

नीतिवाक्यामृत

का

हिन्दी अनुवाद

१. धर्मसमुद्देश

ॐ नमः शिवाय

❀ ग्रन्थकारका मङ्गलाचरण ❀

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम् ।

श्रीमदेवं मुनि तन्वा नीतिवाक्यामृतं मुने ॥१॥

अर्थ:—अश्वकीर्तिमान्, चन्द्रमाकेसदृश कान्तियुक्त, अन्तरङ्गलक्ष्मी (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप आत्मिकलक्ष्मी) और बहिरङ्गलक्ष्मी (समबभारणविभूति आदि) से अलङ्कृत, सोमवंश (चन्द्रवंश) में उत्पन्न होनेवाले और त्रिकालवर्ती अनन्तमानन्त पदार्थोंको हस्तमें रखे हुए शौचलेकी तरह प्रत्यक्ष जाननेवाले (सर्वज्ञ) ऐसे श्रीचन्द्रवंश तीर्थङ्करको नमस्कार करके मैं नीतिवाक्यामृत शास्त्रका प्रतिपादन करता हूँ ।

१ चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्नि) में वर्तमान जनता जिसके द्वारा अपने अपने पदाचारों (सत्कर्तव्यों) में स्थापित की जाती है उसे "नीति" कहते हैं अथवा विजयलक्ष्मी के इन्दुक राजा को जो धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों में संयोग करावे उसे "नीति" कहते हैं । उस नीति को प्रतिपादन करनेवाले अमृततुल्य वाक्यसमूह इस शास्त्र में विद्यमान हैं इसलिये इसे "नीतिवाक्यामृत" कहते हैं ।

अथवा इस शास्त्र के अमृततुल्य वाक्यसमूह विजयलक्ष्मी चाहनेवाले राजाकी आनेक राजनैतिक विषयों (मान्य, विषय, पान और आसन आदि) में उत्पन्न हुई सन्देशों का संग्रह करनेवाले हैं । इसलिये इसे "नीतिवाक्यामृत" कहते हैं । [नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृष्ठ २ में]

* अनुवादकका मङ्गलाचरण *

ओ है मोक्षमार्गका नेता, अरु रागादिक जेता है ।

जिसके पूर्णज्ञान-दर्पण में, जग प्रतिभासित होता है ॥१॥

जिसने कर्मशत्रुविध्वंसक, नीतिमार्ग दर्शाया है ।

उस श्रीआदिदेवको भजने, शत शत शीश सुकाया है ॥२॥

अथ राज्यका महत्त्व बताते हैं :—

धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः ।

अर्थ:—मैं उस राज्यको आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ जो प्रजाको धर्म, अर्थ, और काम इन तीन पुण्यार्थोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ है।

अथ धर्मका लक्षण बताते हैं:—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥१॥

अर्थ:—जिन सत्कर्तव्योंके अनुष्ठानसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते हैं । समन्त-महाचार्य ने भी कहा है कि जो प्राणियोंको सांसारिक दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष) में धारण करता है उसे धर्म कहते हैं ।

आचार्य श्रीसोमदेवसूरिने यशस्तिलकचम्पूमें षष्ठ आश्रयससे लेकर अष्टम आश्रयसपर्यन्त इस विषय की विशद व्याख्या की है । उपयुक्त होनेके कारण उमे यहाँ सूत्रसे लिखते हैं :—

जिससे मनुष्यों को भौतिक-सांसारिक एवं पारमार्थिक (मोक्ष) सुख की प्राप्ति होती है उसे आगम के विद्वान् धर्माचार्यों ने धर्म कहा है ॥१॥

उसका स्वरूप प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है —अर्थात् मोक्षके साधन सम्यग्दर्शन आदिमें प्रवृत्ति करना और संसारके कारण मिथ्यादर्शन आदिसे निवृत्त होना—इनका त्याग करना यही धर्मका स्वरूप है । यह गृहस्थधर्म और मुनिधर्मके भेदसे दो प्रकारका है ॥२॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनोंकी प्राप्ति मोक्षका मार्ग है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र्य और मिथ्यातप ये संसारके कारण हैं ॥३॥

युक्तिसे सिद्ध पदार्थों (जीवादि मात तत्वों) का यथार्थ अद्धान करना सम्यग्दर्शन है एवं उक्त तत्वों का मदेह, भ्रान्ति और अनभ्यवसायरहित यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है ॥४॥

और कर्मबंधके कारण हिंसा, भूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापक्रियाओंका त्याग करना सम्यक्चारित्र्य है ॥५॥

अथ उक्त तीनोंमें से केवल सम्यग्दर्शन आदि मोक्षप्राप्तिका उपाय नहीं है इसे बताते हैं ।

समुच्च प्राणियोंको केवल तत्त्वार्थोंकी भट्ठा (सम्यग्दर्शन) मोक्षप्राप्तिमें समर्थ नहीं है। क्या भूयस् मनु-
ष्य मात्रसे ऊपरफल पक जाने हैं ? अर्थात् नहीं एकल ।

भावार्थः—जिस प्रकार भूयस् मनुष्यकी इच्छा मात्रसे ऊपरफल नहीं पकते; किन्तु प्रयत्नसे पकते हैं।
इसीप्रकार तत्त्वार्थोंकी भट्ठामात्रसे मुक्ति नहीं होती; किन्तु सम्यक्चारित्ररूप प्रयत्नसे साध्य है ॥६॥

इसीप्रकार ज्ञानमात्रसे पदार्थोंका निश्चय हो जाता है; परन्तु अभिलषित वस्तु (मोक्ष) की प्राप्ति
हो सकती; अन्यथा “यह जल है” ऐसा ज्ञानमात्र होने पर प्यासकी शान्ति हानी चाहिये ॥७॥

इसीप्रकार केवल चारित्रसे मुक्ति नहीं होती; जैसे कि जन्मसे अन्या पुरुष अनाग आदिकें वृत्तोंके
द्वारा भी जाने तो क्या उसे द्वायाको छोड़कर अनार आदि फल प्राप्त हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो
सकते। इसी प्रकार जीवादि सात तत्वोंके यथार्थज्ञानके बिना केवल आचरण मात्रसे मुक्तिभीकी प्राप्ति
हो सकती ॥८॥

केवल पुरुषको ज्ञान होने पर भी चारित्र (गमन) के बिना वह अभिलषित स्थानमें नहीं पहुँच
सकता। एवं अन्या पुरुष ज्ञानके बिना केवल गमनादिरूप क्रिया करके भी अभिलषित स्थानमें प्राप्त नहीं
हो सकता और भट्ठाहीन पुरुषकी क्रिया और ज्ञान निष्फल होते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और
सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी प्राप्तिसे मुक्ति होती है ॥९॥

सम्यग्दर्शनसे मनुष्यको स्वर्गलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञानसे उसकी कीर्तिकौमुदीका प्रसार
होता है और सम्यक्चारित्रसे उसकी इन्द्रादि द्वारा पूजा होती है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-
चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥१०॥

जो आत्मारूपी पारा अनादिकालसे मिथ्यात्वादिरूप कुधानुओंके सम्बन्धमें अशुद्ध हो रहा है
उसे विशुद्ध करनेके लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अनुरा साधन हैं—अर्थात् इसे
विशुद्ध करनेके लिये सम्यक्चारित्र अग्नि है और सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यग्दर्शन (चित्तकी विशुद्धि)
पूरसौषधि (नीबूके रसमें घुटा हुआ मिश्रण) है—अर्थात् इन तीनोंकी प्राप्तिसे यह आत्मारूपी पारा
विशुद्ध होकर सामारिक समस्त व्याधियोंको ध्वंस करने और मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥११॥

मनुष्यको सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये अपने चित्तको विशुद्ध बनाना चाहिये। ज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्तिके
लिये शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये एवं सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये शारीरिक कष्ट सहन करके
हिंसा, भूट, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाप क्रियाओंका त्याग करना चाहिये एवं न्यायमें मंचित
अपराधोंको पात्रदान आदि शुभ कार्योंमें लगाना चाहिये ॥१२॥

जब सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं :—

आप्त—सत्यार्थ ईश्वर आगम और मोक्षोपयोगी जीवादि भ्राम तत्वोंका लोकमुद्धता आदि २४

दोषोंसे रहित और निःशङ्कित आदि आठ अंगोंसहित जैसाका तैसा—यथार्थ अज्ञान करना सम्यग्दर्शन है जो कि प्रशम (क्रोधादि कषायोंकी मंदता) और संवेग (संसारसे भय करना) आदि विशुद्ध परिणामरूप चिह्नोंसे जाना जाता है* ॥१॥

अब आपका स्वरूप कहते हैं :—

आपके स्वरूपको जाननेमें प्रवीण शास्त्रकारोंने कहा है कि जो सर्वज्ञ, सर्वलोकका ईश्वर—संसारका दुःखसमुद्रसे उद्धार करने वाला; लुब्धा और लुषा आदि १८ दोषोंसे रहित (वीतरागी) एवं समस्त प्राणियोंको मोक्षमार्गका प्रत्यक्ष उपदेश देनेवाला है उन ऋषभादि तीर्थङ्करोंको आप (सच्चा ईश्वर) कहते हैं* ॥२॥

अब आगमका स्वरूप और भेद कहते हैं :—

जो शास्त्र मनुष्यको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमें प्रवृत्ति करानेमें समर्थ हो तथा हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का ज्ञान कराकर त्रिकालवर्ती पदार्थोंका यथार्थबोध करानेमें प्रवीण हो उसे आगम कहते हैं* ॥३॥

जिस प्रकार लोकमें माता और पिताकी शुद्धि (पितृशुद्धि) होने पर उनके पुत्रमें शुद्धि देखी जाती है उसी प्रकार आपकी विशुद्धि (वीतरागता और सर्वज्ञता आदि) होने पर ही उसके कहे हुए आगममें विशुद्धता—प्रामाणिकता होती है अतः जो तीर्थङ्करों द्वारा निरूपण किया गया हो उसे आगम कहा है* ॥४॥

(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग ।

धार्मिक पुरुष जिससे अपने सिद्धान्तको भलीभाँति जानता है उस पुराण (२४ तीर्थङ्कर आदि ६३ शालाकाके पूज्य महापुरुषोंका चरित्रग्रन्थ) तथा किमी एक पूज्यपुरुषके चरित्रग्रन्थको प्रथमानुयोग कहते हैं ॥१॥

जिसमें अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकका तथा नरक और तिर्यङ्च आदि चारों गतियोंका वर्णन किया गया है उसे करणानुयोग कहते हैं ॥२॥

“मेरा यह सदाचार (अहिंसा और सत्य आदि व्रत) है और उसकी रक्षा का क्रमिकविधान यह है” इस प्रकार चरित्रनिष्ठ आत्मा चरणानुयोगके आश्रित होती है ।

१, २, देखो यशस्तिलक भा० ५० पृ० २७४ । ३, देखो यशस्तिलक भा० ६ पृ० २७६ ।

४—देखो यशस्तिलक भा० ६ पृ० २७८ ।

जीव, अजीव, धर्म अधर्म, बन्ध और मोक्षतत्त्वका यथार्थज्ञान होता द्रव्यानुयोगशास्त्रका फल है^१ ॥३॥
सब पदार्थोंका निरूपण करते हैं:—

जीव, अजीव, लोक (चतुर्गतिरूपसंसार) बन्ध तथा उमके कारण—मिथ्यात्व आदि मोक्ष और उसके कारण (संघर और निजरा) ये पदार्थ आगममें निरूपण किये गये हैं ॥४॥

उक्त आप्त, आगम और पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान करना सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्ज्ञानका निरूपण करते हैं:—

जो वस्तुके समस्तस्वरूपको जैसाका तैसा, हीनाधिकता-रहित तथा संशय, विपर्यय और आत्मव्यवसायरूप मिथ्याज्ञानसे रहित निश्चय करता है एवं जो मनुष्योंका तीसरा दिव्यनेत्र है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं^२ ॥५॥

वह सम्यग्ज्ञान पवित्र मनवाले मनुष्यको हितकारक और अहितकारक पदार्थोंका दिग्दर्शन कराता है । वह हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें कारण होता है इसलिये वह जन्मसे अन्ये पुरुष को लाठी के समान है^३ ॥६॥

मतिज्ञान (इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान) देखे हुए पदार्थोंमें उत्पन्न होता है । श्रुतज्ञान देखे हुए तथा बिना देखे हुए (अतीन्द्रिय सूक्ष्म धर्माधर्मादि) पदार्थोंमें भी उत्पन्न होता है । अतएव यदि मनुष्योंका चित्त ईर्ष्याभावसे दूषित नहीं है तो उन्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कठिन नहीं है^४ ॥७॥

बाधा रहित वस्तुमें भी जो बुद्धि विपरीत हो जाती है उसमें ज्ञाताका ही दोष है वस्तुका नहीं । जैसे मन्ददृष्टि मनुष्यको एक चन्द्रमामें जो दो चन्द्रमाका भ्रम होता है वह उसदृष्टि का ही दोष है चन्द्रमाका नहीं^५ ॥८॥

जिस मनुष्यमें सम्यग्दर्शन नहीं है उसका शास्त्रज्ञान केवल उसके मुखकी खुजलीको दूर करता है—अर्थात् वाद-विवाद करनेमें ही समर्थ होना है; क्योंकि उसमें आत्मदृष्टि नहीं होती । एवं जिसमें ज्ञान नहीं है उसका चरित्र धारण करना विधवा स्त्रीके आभूषण धारण करने के समान निरर्थक है^६ ॥९॥

जो दूध जमा देनेसे दही हो चुका है, वह फिर दूध नहीं हो सकता उसी प्रकार जो आत्मा तत्त्वज्ञानसे विशुद्ध हो चुकी है वह पुनः पापोंसे लिप्त नहीं होती^७ ॥१०॥

शरीर अत्यन्त मलिन है और आत्मा अत्यन्त विशुद्ध है इसलिये विवेकी मनुष्यको इसे शरीरसे दूधक और नित्य चित्तधन करना चाहिए^८ ॥११॥

जिसकी घाणी व्याकरण, साहित्य, इतिहास और आगमोंको पढ़कर विशुद्ध नहीं हुई एवं जिसने नीतिशास्त्रोंको पढ़कर अपनी बुद्धिको परिष्कृत और विशुद्ध नहीं बनाया वह केवल दूसरोंके सहारे रहकर बसेरा उठाना है और अन्येके समान है^९ ॥१२॥

१, २, ३, ४, ५, ६, देखो यशस्तिलक आ० ६ पृष्ठ ३२५ ।

७, ८, ९, देखो यशस्तिलक आ० ८ पृष्ठ ३६६ ।

१० देखो यशस्तिलक आ० ६ पृष्ठ २७६ ।

अथ सम्यक्चारित्रका कथन किया जाता है :—

हिंसादि पापोंसे निवृत्त होना सम्यक्चारित्र है उसके २ भेद हैं ।

(१) एकदेश (अणुव्रत) (२) सर्वदेश (महाव्रत)

प्रकृतमें आवकोंके एकदेशचारित्रका निरूपण करते हैं :—

आवकोंका एकदेशचारित्र दो प्रकारका है :—(१) मूलगुण (२) उन्नरगुण । मूलगुण ८ होते हैं ।

मद्य (शराब), मांस और मधुका त्याग तथा पांच उद्गस्वरक्तोंके भक्षणका त्याग करना ये शास्त्रोंमें गृहस्थोंके ८ मूलगुण कहे गये हैं ॥१॥

अथ मद्यत्यागका विवेचन करते हैं :—

मद्य पीनेसे शराबीके समस्त काम और कोधादि दोष उत्पन्न होते हैं और उसकी बुद्धि पर अज्ञानका परदा पड़ जाता है एवं यह मद्यपान समस्त पापोंमें अग्रिम—प्रधान है ॥२॥

इससे हित और अहितका विवेक नष्ट होजाता है इसलिये शराबी लोग संसार स्वीं जंगलमें भटकाते बाले कौन-कौनसे पाप नहीं करते ? अर्थात् सभी प्रकारके पाप करते हैं ॥३॥

शराब पीनेसे यदुवंशी राजा लोग और जुआ खेलनेसे पांडव लोग नष्ट हुए यह कथानक समस्त लोकमें प्रसिद्ध है ॥४॥

महुआ, गुड़ और पानीके मिश्रणसे बनाई हुई शराबमें निश्चयसे अनेक जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं तथा शरावरूप होजाते हैं । पश्चात् वह शराब मद्य पाकर शरावियोंके मनको मूर्च्छित कर देती है ॥५॥

शराबकी एक धिन्तुमें इतनी जीवराशि वर्तमान है कि यदि उसके जीव स्थूल होकर मंचार करने लगे तो निस्सन्देह समस्त लोकको पूर्ण कर सकते हैं ॥६॥

मद्यपान शराबीके मनको मूर्च्छित करता है और दुर्गतिको कारण है : इसलिये सज्जन पुरुषोंको इसका सदैव त्याग कर देना चाहिये ॥७॥

अथ दूसरा मूलगुण (मांसत्याग) का कथन करते हैं :—

सज्जन पुरुष स्वभावसे अपवित्र, दुर्गन्धित, प्राणिहिंसायुक्त और दुर्गतिके कारण मांसको किस प्रकार भक्षण कर सकते हैं ? नहीं कर सकते ॥८॥

जिसका मांस मैं यहाँ खाता हूँ वह मुझे भी जन्मान्तरमें अवश्य ही खायगा "एसा मांस" शब्दका अर्थ विद्वानोंने कहा है ॥९॥

जो लोग अहिंसाधर्मके माहात्म्यसे लोकमें सुखसामग्रीका उपभोग करते हैं तथापि वे उससे द्वेष करते हैं यह उनका बड़ा अज्ञान है। क्योंकि कौन बुद्धिमान पुरुष इच्छित वस्तुको देनेवाले कल्पवृक्षसे द्वेष करता है? अर्थात् नहीं करता ॥२॥

यदि बुद्धिमान पुरुष थोड़ाभा क्लेश उठाकर अपने लिये अच्छी तरह सुखी देखना चाहता है तो उसको कहे गये हैं कि जिस प्रकारके व्यवहार (मारना विश्वासघात करना आदि) वह अपने लिये बुरा समझता है वैसे व्यवहार दूसरोंके साथ न करे ॥३॥

जो किसीकी पुरुष दूसरोंका उपघात (हिंसा) न करके अपनी सुखसामग्रीका उपभोग करना चाहता है वह इस लोकमें सुख भोगता हुआ जन्मान्तरमें भी सुखी होता है ॥४॥

जिस प्रकार समस्त प्राणियोंको अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार दूसरोंको भी अपना जीवन प्यारा है। अतः बुद्धिमान पुरुषको जीवहिंसा छोड़ देनी चाहिये ॥५॥

बुद्धिमान पुरुष शराबी और मांसभक्षी मनुष्योंके गृहोंमें भोजन और पान न करे एवं उसके साथ संसर्ग (सलाह) भी न करे ॥६॥

जो मनुष्य अव्यक्तियों—(मांस आदिका त्याग न करने वाले) से भोजनादि कार्योंमें संसर्ग रखता है उसकी इसलोकमें निन्दा होती है और परलोकमें भी उसे कटुफल भागने पड़ते हैं ॥७॥

अग्नी पुरुषोंको मशक वगैरह चमड़ेकी चीजोंमें रक्खाहुआ पानी, चमड़ेकी कुपियोंमें रक्खा हुआ धी और तेलका भी उपयोग करना सदाके लिये छोड़ देना चाहिये। एवं वह अग्नी कन्याओंसे विवाह आदि संसर्ग न करे ॥८॥

आत्मकल्याणके इच्छुक मनुष्योंको बौद्ध, सांख्य और चार्वाक आदिकी युक्तिशून्य मान्यता पर ध्यान न देने हुए सदाके लिये मांसभक्षणका त्याग करना चाहिये ॥९॥

निरक्षयसे एक क्षुद्रमन्त्र जोकि स्वयंभूरमण नामके समुद्रमें महामन्त्रके कर्णविलम्बमें उत्पन्न हुआ था वह मांसभक्षण रूप आतन्ध्यासे नरकमें उत्पन्न हुआ।

अब मधु और पाँच उद्म्बर फलोंका त्याग बताते हैं:—

सज्जन पुरुष, गर्भाशयमें स्थित शुक्र और शोणितके मस्मिभण्डके तुल्य आकृतिवाले मधुको, जो कि शहदकी मक्खियों तथा उनके छोटे-छोटे बच्चोंके घातसे उत्पन्न होता है; किस प्रकार सेवन करते हैं? नहीं कर सकते ॥१०॥

जिमके मध्यभागमें छोटे-छोटे मक्खियोंके बच्चे भित्तिभित्ति रहे हैं ऐसे शहदके छत्तेमें वर्तमान मक्खियोंके अण्डोंके खंडोंसे युक्त मधु बहेलियों और चिड़ीमारोंके लिये प्राणोंके समान प्रिय कैसे हो गया? यह आश्चर्यकी बात है ॥११॥

पीपल, गुलर, पाकड़, बड़ और उमर इन पाँच उद्म्बर फलोंमें स्थूल व्रस जीव उबते हुए दिखाई

१ उक्त कथानक यशस्तिलक से जानना चाहिये।

२ देखो यशस्तिलक आ० ७।

देते हैं तथा अनेक सूक्ष्म जीव भी आगमप्रमाणसे मिट्ट पाये जाते हैं; इसलिए तैलिकपूरुष इनका याचना-जन त्याग करे ॥३॥

अब आठवेंके उत्तरगुणोंका निर्देश करते हैं :-

५ अंगुष्ठव्रत (अहिंसा, मत्स्य, अन्धोर्ध्व, जलचर्य और परिग्रहपरिमाणव्रत), ३ गुणव्रत (द्विग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदंडव्रत) और ४ शिवाव्रत (मासाधिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और पात्रदान) ये आठवेंके १२ उत्तरगुण हैं ॥१॥

उनमें हिंसा, भूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंके एकदश त्यागका अंगुष्ठव्रत कहते हैं ॥२॥

प्रशस्त कार्यों (अहिंसा आदि) में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त कार्यों (हिंसा आदि) का त्याग करना उसे व्रत कहा गया है ॥३॥

हिंसा, भूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापक्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेसे इस लोकमें भयानक दुःख और परलोकमें दुर्गतिके दुःख भोगने पड़ते हैं ॥४॥

अब अहिंसाव्रतका कथन करते हैं :-

काम और क्रोधादि कपायोंके वश होकर प्राणियोंके प्राणोंका शान करना या उन्हें मानसिक पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। इसके विपरीत रागद्वेष और मोह आदि कपायोंका त्यागकर प्राणियोंकी रक्षा करना और यत्नाचाररूप प्रवृत्ति करना अहिंसा है ॥५॥

जो मनुष्य देवताओंकी पूजा, अतिथिस्वत्कार, पितृकर्म एवं उद्घाटन और माय्या आदिके मन्त्रोंके लिये तथा औषधिक संघनमें और मयोंमें बचनेके लिये किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता उसका यह अहिंसाताम्र अंगुष्ठव्रत है ॥६॥

दयालु पुरुष आमन, शय्या, मार्ग, अन्न और जो कुछ भी दुम्बर पदार्थ है उन्हें संघन करना दुष्कर्म भी बिना देय्य शोधे संघन न करे ॥७॥

गृहके कार्य (कूटना और पीसना आदि) देवभाज करके कराने चाहिये और समस्त नग्न पदार्थ (दूध, घी, नेल और जलादि) कपड़ेमें छानकर उपयोगमें लाने चाहिये ॥८॥

त्रिवेकी मनुष्य अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिये और सत्तगुणोंकी विशुद्धिके लिये इस लोक और परलोकमें दुःखदेनेवाले रात्रिभोजनका त्याग करे ॥९॥

व्रती पुरुष अनेक जीवोंकी यौनि अचार, पत्तों वाली शाक, चुणा हुआ अन्न, पुष्प, मूल और चंद पीपल आदि उद्भय फलोंका संघन न करे एवं जमराशिमें व्याघ्र (ओल आदि) का भक्षण न करे ॥१०॥

कोई भी पदार्थ चाहे वह अमिश्र हो या मिश्र यदि वह अपने योग्य काल और पवित्र क्षेत्रकी मर्यादाको छोड़ चुका है तो वह अर्भक्य है ॥११॥

जो व्यक्ति बहुत आरम्भ और परिग्रह रखता है, दूसरों को धोखा देता है और दुराचारी है वह अहिंसक (दयालु) किस प्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥१३॥

शास्त्रकारोंने पुण्यको प्रकाशरूप और पापको अन्धकाररूप माना है इससे जिसके हृदयमें दयारूपी सूर्यका प्रकाश हो रहा है उसमें अन्धकाररूपपाप क्या रह सकता है ? नहीं रह सकता ॥१४॥

अहिंसाधर्मके माहात्म्यसे मनुष्य दीर्घजीवी, भाग्यशाली, धनाढ्य, सुन्दर और यशस्वी होता है ॥१५॥

अब सत्याणुवक्ता^१ निरूपण करते हैं :—

सत्यवादी मनुष्य प्रयोजनसे अधिक बोलना, दूसरोंके दोषोंको कहना और असभ्य वचनोंका बोलना छोड़कर सदा उच्चकुलको प्रगट करनेवाले प्रिय, हितकारक और परिमाणयुक्त वचन बोले ॥१॥

ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिये जिससे दूसरे प्राणियोंको और उसे भयानक आपत्तियोंका सामना करना पड़े ॥२॥

सत्यवादीको सौम्यप्रकृतियुक्त, सदाचारी, हितैषी, प्रियवादी, परोपकारी और दयालु होना चाहिये ॥३॥

मंत्रभेद (दूसरोंके निश्चित अभिप्रायको प्रकाशित करना) परनिन्दा, चुगलीकरना, भूटे दस्तावेज आदि किताना और भूठी गवाहीदेना इन दुर्गुणोंको छोड़ना चाहिये क्योंकि इससे सत्यव्रत नष्ट होता है ॥४॥

जिस वाणीसे गुरु आदि प्रसूदित होते हैं वह मिथ्या होनेपर भी मिथ्या (झूठी) नहीं समझी जानी ॥५॥

सत्यवादी आत्मप्रशंसा और परनिन्दाका त्यागकर दूसरोंके विद्यमान गुणोंका घात न करता हुआ अपने अधिमान गुणोंको न कहे ॥६॥

क्योंकि परनिन्दा और आत्मश्लाघामे मनुष्यको नीचगोत्र और उसका त्याग करनेसे उच्चगोत्रका बंध होता है ॥७॥

जो व्यक्ति दूसरोंके साथ सद्व्यवहार करता है उसे स्वयं वैसा ही व्यवहार प्राप्त होता है; अतएव नीतिक मनुष्यको प्राणीमात्रके साथ कभीभी दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये ॥८॥

जो मनुष्य दूसरे प्राणियोंमें अज्ञानांधकारका प्रसार करते हैं वे स्वयं अपनी धमनियोंमें उसके प्रवाह का सिंचन करते हैं ॥९॥

लोकमें प्राणियोंके चित्तरूपी वस्त्र जब दोषरूपी जलसे व्याप्त होते हैं तब गुरु (वजनदार-पापी) हो जाते हैं । परन्तु जब वे गुणरूपी गर्मीसे युक्त होते हैं तब लघु (सूक्ष्म-पुण्यशाली) हो जाते हैं ॥१०॥

सत्यवादी पुरुषको सत्यके प्रभावसे वचनसिद्धि प्राप्त होती है एवं उसकी वाणी मान्य होती है ॥११॥

जो मनुष्य अपनी इच्छा, ईर्ष्या, क्रोध और हर्षादिकके कारण भूठ बोलता है वह इस लोकमें जिहान्छेदन आदिके दुःख और परलोकमें दुर्गतिके दुःखोंको प्राप्त होता है ॥१२॥

नीति और धर्मसे विरुद्ध मार्गमें प्रवृत्त हुए मनुष्यको इसलोकमें अमिट अपकीर्ति और परलोकमें चिरकालीन दुर्गतिके दुःख होते हैं ॥१३॥

वसुराजाने पर्वतनामक व्यक्तिसे साथ जलताके समस्त वायव्यभाषण किया था इससे वह भयङ्कर अग्नि और भयसे व्याप्त नरक भूमिको प्राप्त हुआ ॥१४॥

इति सध्यागुप्तनिरूपणम्

अथ अचौर्यागुप्तका^१ निरूपण करते हैं ।

सर्वसाधारणके उपयोगमें आनेवाले जल और मृण्य वगैरह पदार्थोंको छोड़कर काम और क्रोधादि कषाययश दूसरोंके धन को बिना दिया हुआ ग्रहण करना चोरी है ॥१५॥

कुटुम्बियोंकी मृत्यु हो जानेपर उनका धन बिना दिया हुआ भी ग्राह्य है । इसके विपरीत जो लोग जीवित कुटुम्बियोंके धनको लोभयश बिना दिया हुआ ग्रहण करते हैं उनका अचौर्यागुप्त नष्ट हो जाता है ॥१६॥

स्वजाना और स्वानिका धन राजाको छोड़कर अन्यका नहीं हो सकता; क्योंकि लोकमें जिस धनका कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा ही समझा जाता है ॥१७॥

मनुष्योंका स्वयं कमायाहुआ धनभी त्रय मंदिर्य (यह मेरा है, अधवा दूसरेका है ? इस प्रकार मंदेह-युक्त) हो जाता है तब उसको दूसरोंका समझना चाहिये । अतः अचौर्यागुप्ती पुरुषको अपने कुटुम्बके धन को छोड़कर दूसरेके धनको बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१८॥

इसी प्रकार उसे मन्दिर, जल, वन और पहाड़ आदिमें पड़े हुए दूसरोंके धनको ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१९॥

नापने और तोलनेके बाँटोंको कमती या बढ़ती रखना, चोरी करनेका उपाय बताना, चोरोंके द्वारा लाई हुई वस्तुका ग्रहण करना और लड़ाई भगाड़ाकरके धनका संभलकरना इनमें अचौर्यागुप्त नष्ट होता है ॥२०॥

जिनका अचौर्यागुप्त विशुद्ध है उन्हें रत्न, रत्नाङ्ग, श्रीरत्न, और रत्नजडित वस्त्रादिविभूतियां बिना चित्तवन किये प्राप्त होती हैं ॥२१॥

जो लोग मृषणासे मलिनबुद्धियुक्त होकर दूसरोंकी चोरी करते हैं उन्हें ऐहिक और पारलौकिक फल होने हैं ॥ ८ ॥

इति अचौर्यागुप्तनिरूपणम्

अथ ब्रह्मचर्यागुप्तका^१ कथनकरते हैं :—

अपनी श्रीकं छोड़कर दूसरी समस्त स्त्रियोंमें माता, बहिन और पुत्रीकी बुद्धि होना ब्रह्मचर्यागुप्त है ॥२२॥

ब्रह्मचर्यागुप्तकी रक्षाकी जानेपर अहिंसा और सत्य आदि गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं इसलिये इसे अध्यात्मविद्याविशारदोंने ब्रह्मचर्य कहा है ॥२३॥

ब्रह्मचारीको कामोद्दीपक चरित्र, रस, और कामोद्दीपक शास्त्रों (काममूत्र प्रभृति) से अपनी आत्मामें कामविकारकी उत्पत्ति नहीं होनी देनी चाहिये ॥२४॥

जिस प्रकार इधन करनेयोग्य द्रव्यों (घी और धूप आदि) से अग्नि सन्तुष्ट नहीं होती एवं बहुत जलसे समुद्र सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार यह पुरुष भी मांमारिक भोगों (स्त्री आदि) से सन्तुष्ट नहीं होता ॥ ९ ॥

श्री आग्नि पंचेन्द्रियोंके विषय विषफलके समान तत्कालमें पुरुषोंको भोजन मान्त्रम पड़ने हैं परन्तु अन्न में विषस्वरूपी फलोंको देते हैं; इसलिये सज्जनोंकी इनमें क्यों आनन्द नहीं चाहिये ? अथान नहीं होनी चाहिये ॥२॥

अनन्तकीर्णको धारण करनेवाला यह मनुष्य अत्यन्त कामसेवनमें नष्ट हो जाता है ॥३॥

अबतक यह कामरूपी अग्नि मनुष्य के चित्तरूपी ईंधनमें प्रदीप्त होती है तबतक उसमें स्वाध्याय, ध्यान और धार्मिक क्रियाएँ किस प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं ? नहीं हो सकती ॥४॥

इसलिये कामतत्परताको छोड़कर न्यायप्राप्त भोगोंको भोजनके समान शारीरिक दाहकी शान्तिके हेतु और छोटे ध्यानको नष्ट करनेके लिये सेवन करना चाहिये ॥५॥

परस्त्रीके यहाँ आनन्द जाना, कामसेवनके निश्चित अङ्गोंको छोड़कर दूसरे अङ्गोंमें क्रीड़ा करना, दूसरोंका विवाह करना, कामसेवनमें तीक्ष्णालसा रखना और विदित्व ये पाँच ब्रह्मचर्यको नष्ट करते हैं ॥६॥

कामरूपी अग्निसे व्याप्त और परस्त्रीमें अतृप्त व्यक्तियोंको इसलोकमें तत्कालीन और परलोकमें भी भयानक विषसियाँ भोगनी पड़ती हैं ॥७॥

ब्रह्मचर्यके प्रभावसे आश्चर्यजनक पेश्वर्य, उदारता, दारता, धैर्य, मौन्दर्य और विशिष्टशक्ति आदि गुण प्राप्त होते हैं ॥८॥

॥ इति ब्रह्मचर्यानुष्ठाननिरूपणम् ॥

अब परिग्रहपरिमाणानुव्रतकारक कथन किया जाता है :—

बाह्य तथा आन्तरिक वस्तुओंमें “यह मेरी है” इस प्रकारकी मूर्च्छा करना परिग्रह है उनमें मनुष्यको अपनी चित्तवृत्ति संकुचित—सीमित करनी चाहिये ॥९॥

सेन, धान्य, धन, गृह, कुल्य (ताँबा आदि धातु), शय्या, आमन, विपद, वतुष्यद (पशु) और बाँध, ये दशप्रकारके बाह्य परिग्रह हैं ॥१०॥

मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुँवेद, नपुंसकवेद, हान्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ यह १४ प्रकारका अन्तरङ्ग परिग्रह है ॥११॥

जो लोग धनके लिये अपनी बुद्धिको प्रेरित करते हैं उनके मनोरथ निष्फल होते हैं; क्योंकि निगर्थक कार्योंमें प्रवृत्त हुई बुद्धि फलार्थी पुरुषोंकी कामनाका पूर्ण करनेवाली नहीं होती ॥१२॥

अबकि माध उत्पन्न हुआ यह शरीर भी नित्य रहनेवाला नहीं है तब महापुरुषोंकी धन, वस्त्र और स्त्रियोंमें नित्य रहनेकी भ्रष्टा क्यों करनी चाहिये ? अर्थात् नहीं करनी चाहिये ॥१३॥

जो मनुष्य दानपुण्यादिधर्मके लिये और न्यायप्राप्त भोगोंके भोगनेके लिये धन नहीं कमाता वह धनार्थ होकरके भी दरिद्र है, मनुष्य होकरके भी अधमकोटिका मनुष्य है ॥१४॥

जो लोग प्राप्त धनमें अभिमान नहीं करते तथा धनकी प्राप्तिमें बाधका नहीं करते वे दोनों लोकोंमें सज्जनोंके भ्राता होते हैं ॥१५॥

जिनका मन बाह्य और आन्तर परिस्रहोंमें मृच्छांगहित है वे अगण्य पुण्यराशिसे युक्त होकर सर्वत्र सुख प्राप्त करते हैं ॥६॥

जो उदार मनुष्य सत्याश्रितोंको दान देता हुआ धनसंचय करता है वह अपने साथ परलोकमें धनको ले जाता है; इससे लोभियोंमें महालोभी है ॥१०॥

जो लोभवश परिमाण किये हुए धनसे अधिक धन संचय करता है उसका यह व्रत नष्ट हो जाता है ॥११॥

जो मनुष्य उक्त दोनों प्रकारके परिग्रहोंमें लालसा नहीं रखते वे क्षणभरमें स्वर्ग और मोक्षलक्ष्मीके केशपाश पकड़नेमें या उसके पार्श्वभागमें रहनेको समर्थ होते हैं ॥१२॥

धनकी अधिक आकांक्षा रखनेवालोंका मन अवश्य ही पापोंका संचय करता हुआ उन्हें संसाररूपी भँवरों में फँसा देता है ॥१३॥

॥ इति परिग्रहपरमाणागुप्तव्रतनिरूपणम् ॥

अब ३ गुणव्रतोंका निरूपण करते हैं :—

गृहस्थव्रतियोंके दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत सज्जनोंने निर्दिष्ट किये हैं ॥१४॥

गुणव्रती श्रावक "दशों दिशाओंमेंसे अमुक दिशामें और समस्त देशोंमेंसे प्रतिनियत देशमें ही मेरा गमन होगा" ऐसा क्रमशः दिग्व्रत और देशव्रतमें नियम करता है ॥१५॥

इस प्रकार दिशा और देशका नियम करनेवालेका चित्त अर्थात् बाहिरके पदार्थोंमें हिंसा, लोभ और उपभोग आदिका त्याग होनेके कारण कायमें ही जाता है ॥१६॥

उक्त व्रतकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनेवाले व्रती श्रावकको परलोकमें आज्ञा और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ॥१७॥ अब अनर्थदंडव्रतका निरूपण करते हैं :—

मयूर, मुर्गा, बाज, बिलाव, सर्प, नौला, विष, काँटे, शस्त्र, अग्नि, चाबूक, जाल और रस्सी इन हिंसक प्राणियोंके पालनेका और कष्टदायक जीवोंके रखनेका पापयुक्त उपदेश देना, छोटा ध्यान करना, हिसाप्रधान क्रीड़ा करना, निरर्थक कार्य करना, दूसरोंको कष्ट देना, चुगली करना, शोक करना और दूसरोंको रुलाना एवं इसी प्रकारके दूसरे कार्य जो कि प्राणियोंका बध, बंधन और संरोध करनेवाले हैं उनका करना, कपायोंकी वृद्धि करनेसे अनर्थदंड कहा गया है ॥१-२-३॥

अपने आचारको उत्तम बनानेकी बुद्धियुक्त देशव्रती श्रावक निर्दयी जीवोंका पालन न करे एवं परशु और कृपाण आदि हिंसाके उपकरणोंको न देवे ॥१४॥

व्रती श्रावक इसके साहाय्यसे अवश्य ही समस्त प्राणियोंकी मित्रता और उनके स्वामित्वको प्राप्त होता है ॥१५॥

छोटा उपदेश देकर दूसरोंको धोखा देना, निरर्थक आरंभ और प्राणिहिसामें प्रवृत्ति करना, चोड़ों आदि पर अधिक चोभा लादना और अधिक कष्ट देना ये पाँच कार्य अनर्थदंडव्रतको नष्ट करते हैं ॥१६॥

॥ इति गुणव्रतनिरूपणम् ॥

१, २ यशस्तिलकके आधार ने ।

अब चार शिक्षाव्रतोंका निरूपण करते हैं :—

१. सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगनियम और पात्रदान यह चार प्रकारका शिक्षाव्रत है ॥१॥

आत्माकी उन्नति चाहने वाले श्रावकोंको ईश्वर भक्तिका उपदेश "समय" कहलाता है एवं उसमें विचारित कियाकाण्ड (प्रस्तावना और पुराकर्म आदि) को शास्त्रकारोंने "सामायिक" कहा है ॥२॥

लोकमें साक्षात् ईश्वर—तीर्थङ्करके न होने पर भी उसकी मूर्तिकी पूजा पुण्यबंधके लिये होती है।

क्या मूर्तिकी सर्पके बिपकी मारण शक्तिको नष्ट नहीं करती ? अवश्य करती है ॥३॥

जो व्यक्ति देवपूजा और साधुओंकी सेवा न करके गृहस्थ होता हुआ भोजन करता है वह उत्कृष्ट आत्मार्थकारका भक्षण करता है ॥४॥

अब प्रोषधोपवासका निरूपण करते हैं :—

प्रत्येक मासमें वर्तमान दो अष्टमी और दो चतुर्दशी पर्वोंको "प्रोषध" कहते हैं। अती श्रावकोंको उनमें देवपूजा और उपवास आदि व्रतोंका पालन करके अपनी धार्मिक उन्नति करनी चाहिये ॥५॥

उपवासके दिन उसे स्नान, गंध, अंगस्नकार, वस्त्राभूषण और स्त्रीमें आसक्ति न करके समस्त बाधकियोंका त्यागकर चरित्र पालन करनेमें तत्पर रहना चाहिये ॥६॥

क्योंकि जो पुरुष बहुत आरम्भमें प्रवृत्ति करता है उसका कायक्लेश दायीके स्नानकी तरह निष्कल है ॥७॥

कायक्लेश (उपवासादि) के बिना आत्माकी विशुद्धि नहीं होती। क्या लोकमें सुवर्णपाषाणकी विशुद्धिके लिये अग्निको छोड़कर अन्य कोई साधन है ? अर्थात् नहीं है ॥८॥

जो पुण्यशाली पुरुष अपने चित्तको चरित्रपालन द्वारा पवित्र बनाता है उसने अपने कर कमलोंमें विष्णुमण्डिर स्नान प्राप्त कर लिया और दुःस्वरूपी वृद्धको जलानेके लिये दावानल अग्नि प्राप्त करली ॥९॥

अब भोगोपभोगपरिमाणव्रतका ॐ निर्देश करते हैं :—

जो भस्म आदि पदार्थ एकबार भोगा जाता है उसे भोग और जो वस्त्र और स्त्री आदि पदार्थ बार-बार सेवन किये जाते हैं उन्हें उपभोग कहते हैं ॥१०॥

धार्मिक मनुष्यको अपने चित्तकी दृष्टिआकी निवृत्तिके लिये उनका परिमाण करना चाहिये और प्राप्त और योग्य भोगोपभोगसामग्रीके सेवनका नियम समयकी मर्यादासे कर लेना चाहिये ॥११॥

यावज्जीवन और परिमितकालपर्यन्त त्यागको क्रमसे यम और नियम कहते हैं ॥१२॥

इसव्रतको पालनकरनेवाले पुरुषको इसलोकमें लक्ष्मी और परलोकमें स्वर्गश्री प्राप्त होती है और परब्रह्म मुक्तिश्री भी दूर नहीं रहती ॥१३॥

पात्रदानका निरूपण, इसी धर्मसमुद्देशके १० वें सूत्रमें किया जावेगा।

॥ इति शिक्षाव्रतनिरूपणम् ॥

अब ३म सूत्रका युक्तिपूर्वक उपसंहार करते हैं :—

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ५० कारिका २४५-२४६) में आचार्यश्री विश्वानन्दि लिखते हैं कि जिन प्रकार अवरके निदान—प्रतिनियतकारणों (वात, पित्त और कफकी विषमता आदि) का ध्वंस उसको नष्ट करने वाली औषधिके सेवनसे होजाता है उसीप्रकार सुमुचु प्राणीमें भी सांसारिक व्याधियोंके कारणों (मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम) का ध्वंस भी उनकी औषधिके सेवनसे—अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी सामर्थ्यसे होजाता है। ऐसा होनेसे कोई आत्मा समस्त दुःखोंकी निवृत्तिकर मोक्षप्राप्त कर लेता है। इसलिये जिन सत्कर्तव्यों (उक्त सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) के अनुष्ठानसे मनुष्यको स्वर्गश्री और मुक्तिश्रीकी प्राप्ति होती है उसे धर्म कहा गया है ॥ १ ॥

अब अधर्मका निर्देश करते हैं :—

अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥२॥

अर्थ :—जो दुष्कर्म (मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम—मद्यपानादि) प्राणियोंको स्वर्ग और मोक्षमें विपरीत फल—नरक और तिर्यङ्चगतिके भयानक दुःख उत्पन्न करते हैं उन्हें अधर्म कहा है। नारदने भी उक्त बातका समर्थन किया है :—

कौलों (नास्तिकों) ने मद्यपान, मांसभक्षण और परस्त्रीसेवन आदि दुष्कर्मोंको धर्म माना है; परन्तु उनसे प्राणियोंको नरकोंके भयानक दुःख होते हैं अतएव विवेकियोंको उनसे दूर रहना चाहिये ॥१॥ विशद विवेचन :—

शास्त्रकारोंने मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयमरूप असत्प्रवृत्तिको समस्त दुःखोंका मूलकारण बताया है और वही अधर्म है; अतः उससे निवृत्त होनेके लिये उक्त मिथ्यात्वादिका क्रमशः विवेचन किया जाता है।

(१) मिथ्यात्वका निरूपण :—

आप्त, आगम और मोक्षोपयोगी तत्वोंमें अज्ञान न करना सो मिथ्यात्व है। अथवा आचार्य श्री यशस्तिलक*में लिखते हैं—जिन रागी, द्वेषी, मोही और अज्ञानी व्यक्तियोंमें सत्यार्थ ईश्वर होने योग्य सद्गुण (सर्वज्ञता और वीतरागता आदि) नहीं हैं उनको देव—ईश्वर मानना तथा मद्यपान

१ तथा च नारद :—

मद्यमांसाशनार्सगैर्यो धर्मः कौलसम्मतः ।

केवलं नरकायैव न स कार्यो विवेकिभिः ॥१॥

१ देखो रत्नकरण्ड श्लोक ३ ।

२ अदेवे देवताभुजिमन्ते मतभाननाम् ।

अतस्ते तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१॥

तथानि यदि मूढत्वं न त्यजेत् कोऽपि सर्वथा ।

मिथ्यात्वेनानुमात्योऽशौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥२॥

—परास्तिकके भोमदेवमणिः ।

और मोक्षमार्ग आदि दुराचारोंको सदाचार समझना एवं प्रतीतिवाधित तत्वोंको मोक्षोपयोगी तत्व समझना यही मिथ्यात्व है विवेकीको इसका त्याग करना चाहिये ॥१॥

तथापि जो इस मृदुताको नहीं छोड़ता वह मिथ्यादृष्टि है उसे अपना सर्वनाश करना चाहिये ॥२॥

कदाहरणार्थ :—नदी और तालाब आदिमें धर्म समझकर स्नान करता, पत्थरोंके ढेर लगानेमें धर्म मानना, पहाड़से गिरने तथा अग्निमें जलमरनेमें धर्म मानना, राग, द्वेष और मोहयुक्त देवताओंकी ऐहिक धनपुत्रादिकी चाहसे उपासना करना, संसारमें घुमानेवाले दम्भी और पाण्डित्यियोंका सत्कार करना, प्रदूषणके समय सूर्य और चन्द्रमा आदिकी पूजाके निमित्तसे स्नान करना, गौको अनेक देवताओंका निवास समझकर पूजना तथा उसके मूत्रको पीना, हाथी घोड़ा और रथादिककी पूजा करना, और पृथ्वी, यक्ष, राक्षस और पहाड़ोंकी पूजा करना इसे मिथ्यात्व समझना चाहिये । जो व्यक्ति उक्त मिथ्यात्वमें प्रवृत्त होता है वह दोनों लोकोंके सुखोंसे वञ्चित रहकर अपना सर्वनाश करता है ।

(२) अज्ञानका कथन :—

अहिंसाधर्मका निरूपणकरनेवाले आगमग्रन्थों (प्रथमानुयोग और करणानुयोगादि) तथा कलाकर्म और चरित्रको दूषित न करनेवाले लोकोपयोगी कलाओंके समर्थक शास्त्रोंको छोड़कर महापान और मोक्षमार्गादि असत्यधर्मोंके समर्थक शास्त्रोंका पढ़ना और सुनना आदि अज्ञान है उसे महाभयानक दुःखोंका कारण समझकर त्याग करना चाहिये ।

(१) असंयमका निरूपण :—

हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, यह असंयम है और यह प्राणीको इस लोक तथा परलोकमें दुःख देनेवाला है । इसके ३ भेद हैं—(१) मानसिक, (२) वाचनिक और कायिक ।

(१) मानसिक असंयम :—

अपनी विद्वत्ता, पूजा, बुद्धि, जाति और शक्त आदिका अभिमान करना, दूसरोंके गुणों या सम्पत्ति आदिकी बढ़ती देखकर उनसे ईर्ष्या करना और दूसरोंका बुरा चिंतन करना आदि मानसिक (मनसे पैदा होनेवाला) असंयम है ।

(२) वाचनिक असंयम :—

दूसरोंके मर्मको भेदन करनेवाले, असत्य, असभ्य और अप्रिय (कठोर) वचन बोलना या आत्मसे विरुद्ध प्रलाप करना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और जुगली करना आदि वाचनिक (वचनसे पैदा होनेवाला) असंयम है ।

(३) कायिक असंयम :—

प्राणियोंकी हिंसा करना, कुशील, चोरी और जुआ खेलना आदिको कायिक असंयम कहते हैं । एवं शास्त्रकारोंने हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप, प्रमाद (कुशल क्रियाओंमें

अनादर) निर्देयता, लूणायुद्धि और इन्द्रियोंकी इच्छानुकूल प्रवृत्तिको असंयम कहा है^१ ।

निष्कर्ष :—विवेकी पुरुषको उक्तप्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयमका त्यागकर, नैतिक कर्तव्य पालन करना चाहिये ॥२॥

अथ धर्मप्राप्तिके उपायोंको बताते हैं :—

आत्मवत् परत्र कुशलवृत्तिचिन्तनं शक्तिस्त्यागतपत्नी च धर्माधिगमोपायाः ॥३॥

अर्थ :—अपने समान दूसरे प्राणियोंका हितचिन्तन करना, शक्तिपूर्वक पात्रोंको दान देना और शक्तिपूर्वक तपश्चर्या (समस्त इन्द्रियों तथा मनकी लालसाको रोकना) करना ये धर्मप्राप्तिके उपाय हैं—इनके अनुष्ठान करनेसे विवेकी मनुष्यका जीवन आदर्श और धार्मिक होजाता है ॥३॥

नीतिकार शुक्रने^२ लिखा है कि विवेकी मनुष्यको अपने धनके अनुसार दान करना चाहिये जिससे उसके कुटुम्बको पीड़ा न होने पावे ॥१॥

जो मूर्ख मनुष्य कुटुम्बको पीड़ा पहुँचाकर शक्तिसे बाहर दान करता है उसे धर्म नहीं कहा जाय-कता किन्तु वह पाप है; क्योंकि उससे दान करने वालेको अपना देश छोड़ना पड़ता है ॥२॥

यथाशक्ति तप करनेके विषयमें गुरु नामका विद्वान् लिखता है कि 'जो मनुष्य अपने शरीरका कष्ट पहुँचाकर अर्तोंका पालन करता है उसकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं होती इसलिये उसे आत्म-सन्तोषके अनुकूल तपश्चर्या करनी चाहिये'^३ ॥३॥

१ अत्रतित्वं प्रमादित्वं निर्देयत्वमनृमता ।

इन्द्रियेभ्यस्तुल्यनिर्देयं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥१॥

—यशस्तिलक आ० ६ ।

उक्तं च यतः शुक्रेण :—

२—आत्मवित्तानुसारेण त्यागः कार्यो विवेकिना ।

कृतेन येन नो पीडा कुटुम्बस्य प्रजायते ॥१॥

कुटुम्बं पीडयित्वा तु यो धर्मं कुस्ते कुधीः ।

न च धर्मो हि पापं तद्देशत्यागाद्य केवलं ॥२॥

३—तथा च गुरुः—

३—शरीरं पीडयित्वा तु यो व्रतानि समाचरेत् ।

न तस्य प्रीयते चात्मा तत्तुष्ट्यास्य आचरेत् ॥१॥

सर्वोत्तम सत्कर्तव्यका विवरण करते हैं :—

सर्वसत्त्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमं चरणम् ॥४॥

अर्थः—समस्त प्राणियों में समताभाव रखना—उनकी रक्षा करना यह सभी सत्कर्तव्यों में सर्वोत्तम सत्कर्तव्य है। शास्त्रकारोंने लिखा है कि संसार में जितने भी दान, शील, जप और तप आदि पुण्य कार्य हैं उन सबमें समता (अहिंसा—प्राणिरक्षा) का स्थान सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि दयारूपी नदीके किनारे अन्य सर्वधर्म (दान और शील आदि) तृण और घासकी तरह उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसके सूख जाने पर अन्य धर्म किसप्रकार सुरक्षित रह सकते हैं? नहीं रह सकते।

यशस्तिलक में^१ लिखा है कि जीवदयाको एक ओर रक्खा जावे और धर्मके सभी अवान्तर भेदोंको दूसरी ओर स्थापित किया जावे, उनमें खेतीके फलकी अपेक्षा चिन्तामणिरत्नके फलकी तरह जीवदया का ही विशेष फल होगा। जिसप्रकार चिन्तामणिरत्न मनमें चिन्तन किये हुए अभिलषित पदार्थ की प्रेम्में समर्थ होनेके कारण खेतीके फल (धान्यादि) की अपेक्षा पुष्कल फल देता है उसीप्रकार अहिंसा धर्म भी अन्य धर्मके अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा विशेष फल (स्वर्गभी और मुक्तिभी के सुख) देता है ॥४॥

पुर्न में भी कहा जा चुका है कि अहिंसा धर्मके प्रभावसे मनुष्य दीर्घजीवी, भाग्यशाली, लक्ष्मीवान् और कीर्तिमान् होता है^२ ॥२॥

नीतिवाक्यामृतकी पुरुषको सबसे पहले पूर्वोक्त भानसिक, वाचनिक और कायिक असंयम—अशुभ प्रवृत्तिको त्यागकर अहिंसा व्रत धारण करना चाहिये पश्चात् उसे दान और पूजा आदि पुण्यकार्य करना चाहिये^३ ॥३॥

नीतिकार नारदने^४ भी कहा है कि 'शिष्टपुरुषों को जूँ, खटमल, डाँम, मच्छर आदि जीवोंकी भी रक्षायें की तरह रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि प्राणिरक्षा-सर्वश्रेष्ठ है, इसके त्याग करनेसे वैरभाव का संचार होता है' ॥१॥

निष्कर्षः—उक्त प्रमाणोंसे प्राणि-रक्षा सर्वश्रेष्ठ है; अतः नैतिक पुरुषको उसमें प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥४॥

अब निर्दयी पुरुषोंकी क्रियाएँ निष्फल होती हैं इसे बताते हैं :—

न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ॥५॥

अर्थः—प्राणियोंकी हिंसा करने वाले—निर्दयी पुरुषों की कोई भी पुण्यक्रिया कल्याणों को उत्पन्न

१ दयानदीमहातीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कराः ।

तस्यां शोषमुपेतायां क्रियन्नन्दन्ति ते चिरम् ॥३॥—संश्लेष

२, ३, ४, देखो यशस्तिलक उ० पृ० ३३७ ।

४ तथा च नारदः—

पूकाम्बुण्डंशन्यमि पल्यानि पुत्रवत् ।

एतदानरणं श्रेष्ठं यस्यागो वैरसम्भवः ॥५॥

नहीं करती—निर्दयी पुरुष कितनीभी शुभ-क्रियाएँ करते हों तथापि उनसे उनका कल्याण नहीं हो सकता ॥५॥

नीतिकार व्यासने^१ भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'जो व्यक्ति निरपराध प्राणियों का वध करता है वह निर्दयी है उसकी पुण्य क्रिया निष्फल होती है और उसकी आपत्तियाँ बढ़ती रहती हैं' ॥१॥

निष्कर्षः—अतः सुखाभिलाषी पुरुष कदापि जीवहिंसा में प्रवृत्ति न करे ॥५॥

अथ दयालु पुरुषोंका कथन करते हैं :—

परत्राजिषांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते ॥ ६ ॥

अर्थ.—दूसरे प्राणियोंकी रक्षा करने वाले (दयालु) पुरुषोंका चित्त व्रतरहित होकरके भी स्वर्गके सुखोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है—जो धार्मिक पुरुष प्राणियों की रक्षा करने में तत्पर रहते हैं वे दूसरे व्रत और नियम इत्यादि न भी पालते हों तो भी उन्हें स्वर्गके लोभके सुख प्राप्त होते हैं ॥६॥

यशस्तिलक के चतुर्थे आश्यासमें भी आचार्य श्री लिखते हैं कि जो राजा दीर्घायु, शक्ति और आरोग्यता चाहता है उसे श्वयं जीवहिंसा न करनी चाहिये और राज्य में प्रचलित जीवहिंसा को रोकना चाहिये ॥१॥

क्योंकि एक पुरुष सुमेरुपर्वततुल्य-विपुल सुवर्णराशिका या समस्त पृथ्वीका दान कर देता है परन्तु यदि कोई दूसरा व्यक्ति एक प्राणीके जीवनकी रक्षा करता है तो इस जीव रक्षाके सामने उस महादान की तुलना नहीं हो सकती—अर्थात् अभयदान (जीवरक्षा) करनेवालेको विशेष फल मिलेगा ॥२॥

जिस प्रकार लोग अपने शरीरको दुःख नहीं देना चाहते उसी प्रकार यदि दूसरोंको भी दुःख देनेकी इच्छा न करें तो उन्हें कभी किसी प्रकारका कष्ट नहीं होसकता ॥३॥

व्यासने^२ भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'जिनका चित्त दूसरों के घात करनेमें प्रवृत्त नहीं होता वे (दयालु पुरुष) दूसरे व्रतोंसे शुभ्य होनेपर भी स्वर्गके सुखोंको प्राप्त करते हैं' ॥१॥

निष्कर्षः—अतः सुखाभिलाषी शिष्टपुरुष सदा प्राणिरक्षा में प्रवृत्ति करे ॥६॥

अथ शक्तिसे बाहर दान करनेका फल बताते हैं :—

स खलु त्यागो देशत्यागाय यस्मिन् कृते भवत्यात्मनो दौःस्थित्यम् ॥७॥

अर्थ :—जिस दानके करनेसे दाताके समस्त कुटुम्बीजन द्रिष्ट होकर दुःखी होजाते हैं वह दान उसको देश त्याग करानेके लिये है ।

१ तथा च व्यासः—

अशिसकानि भूतानि यो दिनस्ति स निर्दयः ।

नस्य कर्मक्रिया ध्वर्था वद्धन्ते वापदः सदा ॥१॥

२ तथा च व्यासः—

येषां परविनाशाय नात्र चित्तं प्रवर्तते ।

अव्रता वपि ते भव्याः स्वर्गं यान्ति दयान्विताः ॥१॥

आचार्यः—जो मनुष्य अपनी आमदनी आदि पर ध्यान न देकर शक्तिको उल्लङ्घन करके दान प्रवृत्ति प्रवृत्त होता है उसका दान जघन्य कोटिका समझना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे वह अणुमें बँट जाता है और उसका कुटुम्ब भी दुःखी होजाता है पुनः कुछ कालके पश्चात् उसे अपना देश छोड़ना पड़ता है । अतएव धिक्को पुरुषको अपनी आमदनीके अनुसार यथाशक्ति दानधर्ममें प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥७॥

नीतिकार शुकने भी लिखा है कि 'जो व्यक्ति अपनी आमदनीसे अधिक दान करता है उसके कुटुम्बी कर्जामें कैसकर दुःखी होजाते हैं और अन्तमें वह दाना भी कर्ज आदिके भयसे उस देशको छोड़कर दूसरे देशमें चला जाता है ॥१॥

अभिमतगति आचार्यने सुभाषितरत्नमंदोहमें लिखा है कि जिनमनमें श्रद्धा रखनेवाला भव्य पुरुष शत्रुओं का नाश करनेके उद्देश्यसे पात्र-दान करता है उसके प्रभावसे वह स्वर्गमें देवाङ्गनाओंका स्वामी बनके साथ भोग भोगता है, पुनः वहाँमें चय करके उत्तम कुलमें मनोज्ञशरीर प्राप्तकरके जैनधर्म आदि कर्म शत्रुओंका नाशकर मोक्षसुखको प्राप्त होता है ॥१॥

लिखते हैं—उक्त प्रमाणमें पात्रदानका अनुपम और अचिन्त्य माहात्म्य होनेपर भी नैतिक पुरुषको अपनी आमदनीके अनुसार यथाशक्ति पात्रदानमें प्रवृत्ति करनी चाहिये जिससे उसके कुटुम्बी कष्ट न पड़े और उसके चित्तमें भी किसी प्रकारकी आकुलता न हो ॥७॥

दरिद्रसे याचना करने वाले (भिक्षुक) के विषयमें लिखते हैं :—

स स्वत्वर्थी परिपन्थी यः परस्य दौःस्थित्यं जानन्नप्यभिलषत्यर्थम् ॥८॥

आचार्यः—जो याचक दूसरेकी दरिद्रताको जानता हुआ भी उससे याचना करता है—अपने लिये भोजन माँगता है वह उसका निश्चयसे शत्रु है; क्योंकि उस याचकसे उस दरिद्र दानाको पीछा होती है इसलिये वह भिक्षुक उस दरिद्र व्यक्तिका शत्रु हुआ ।

निष्कर्षः—अतः याचकका कर्तव्य है कि जब वह दूसरेकी दरिद्रताका निश्चय करने तो उससे कदापि याचना न करे ॥८॥

बृहस्पति नामके विद्वान्ने भी सूत्रकारके अभिप्रायको व्यक्त किया है कि 'जो भिक्षुक दाताकी

१ तथा च शुकः—

(५) आगतेरधिकं त्यागं यः कुर्यात् तत्सुतादयः ।

दुःस्थिताः स्युः शत्रुप्रस्ताः सोऽपि देशान्तरं गच्छेत् ॥१॥

२ तथा च बृहस्पतिः—

असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते ।

शत्रुः स तस्य शत्रुर्हि, यदानीं दुःखश्चायच्छ्रुतिः ? ॥२॥

[नोटः—इस श्लोकका चतुर्थचरण विलकुल अगुद है, हमने उसकी निम्नप्रकार नवीन रचना करके संशोधित और परिवर्तित करते हुए अर्थसंगति टीककी है ।] अनुवादकः—

असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते ।

शत्रुः स तस्य शत्रुर्हि यद्दुःखेन प्रयच्छति ॥१॥

संशोधित और परिवर्तित ।

हरिद्वृत्ताको जान करके भी लोभके कारण उससे अविद्यमान धनादिककी याचना करता है वह उसका शत्रु है; क्योंकि वह बेचारा कष्ट भोगकर उसे कुछ दे देता है' ॥१॥

अथ शक्ति के अनुसार व्रत नियम करने का निर्देश करते हैं:—

तद्व्रतमाचरितव्यं यत्र न संशयतुलामारोहतः शरीरमनसी ॥६॥

अर्थ:—नैतिक पुरुष को ऐसे व्रत नियम करने चाहिये जिनमें उसके शरीर और मन क्लेशित न हो ।

चारायण^१ नामके विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो मनुष्य शरीर की सामर्थ्य का विचार न करके व्रत वा नियम करता है उसका मन संक्लेशित होता है पुनः वह पश्चात्ताप करने लगता है और इसमें उसे व्रतका शुभ फल नहीं मिलता' ॥१॥

विशदत्रिमर्शः—शास्त्रकारोंने^२ व्रतके निम्नप्रकार दो लक्षण किये हैं । न्यायप्राप्त भोगोपभोग मामग्री का कुछ कालकी मर्यादासे त्याग करना व्रत है तथा असत् (नीतिविरुद्ध) कार्यों (हिंसा, मूँठ, चोरी और कुशीलादि) से निवृत्त होना और अहिंसा तथा सत्य आदि शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति करना व्रत कहा गया है ।

प्रकरणमें नैतिक व्यक्तिको असत् कार्यों (मद्यपान, मांसभक्षण, और परकलत्र सेवन आदि) का जीवन पर्यन्तके लिये त्याग करना चाहिये एवं शुक्ल कार्य (अहिंसा, सत्य और परोपकार आदि पुण्यकर्म) में प्रवृत्ति करनी चाहिये । तथा न्यायप्राप्त सेवन करनेके योग्य इष्टमामग्रीका त्यागभी अपनी शारीरिक शक्तिके अनुसार करना चाहिये ताकि उसे मानसिक खेदके कारण पश्चात्ताप न करना पड़े ॥६॥

अथ त्याग-दानधर्म का माहात्म्य वृत्तते हैं:—

ऐहिकामुन्निकफलार्थमर्थव्ययस्त्यागः ॥१०॥

अर्थ.—इसलोक और परलोक संबंधी सुखोंकी प्राप्तिके लिये पात्रोंको धनादिकका देना त्यागधर्म है ।

अर्थात् दाताको जिस दानसे ऐहिक (इसलोकसंबंधी-कीर्ति, सन्मान, और कौटुम्बिक श्रीवृद्धि आदि) और पारलौकिक (परलोकसंबंधी स्वर्ग-आदि) सुख प्राप्त हों उसे दान-त्यागधर्म कहा है ।

अभिप्राय यह है कि दान पात्रको देना चाहिये परन्तु जो व्यसनी पुरुष व्यसनोमें कैसकर अपने धन को बर्बाद करते हैं वह दान नहीं है किन्तु धनका नाशही है ।

१ तथा च चारायण :—

अशक्त्या यः शरीरस्य व्रतं नियमनेव वा ।

करोत्यात्तो भवेत् पश्चात् पश्चात्तापान् कलच्युतिः ॥१॥

२ संकलपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते ।

प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥१॥

उपस्थितक आ० ७ ।

‘चाराण’ नामके विद्वान्ने कहा है कि ‘नम्रतायुक्त धूर्तपुरुष, पहलवान, खोटाबैद्य, जुआरी, शठ, चतुर्कार करने वाले चारण (भाट) और चोरोंको जो धन दिया जाता है वह निष्फल है ।’

प्रमाण विशदविवेचनः—

शास्त्रकारोंने^१ लिखा है कि प्राणियोंका मन उत्पन्न होने परभी यदि तप, दान और ईश्वरादि की भक्ति (शून्य) से शून्य है तो वह कोठीमें रखे हुए धान्यादिकके बीजके समान स्वर्ग एवं मोक्षरूप उत्तम फलोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। भावार्थः—जिस प्रकार धान्यादिकके बीज केवल कोठी में भरे हुए रखे जायें तो वे धान्यके अंकुरों को उत्पन्न नहीं कर सकते, परन्तु जब उन्हें खेत में बोया जावेगा और खाद्य पानी आदि सामग्री मिलेगी तभी वे धान्यादिकके अंकुरोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं उसी प्रकार मनुष्योंका प्रशस्त मन भी जब तप, दान और ईश्वरभक्तिसे युक्त होगा तभी वह स्वर्गादिके उत्तमसुखोंको उत्पन्न कर सकता है, अन्यथा नहीं ।

आचार्य श्री यशस्तिलकमें लिखते हैं कि विद्वानोंने अभय, आहार, औषधि और ज्ञानदानके भेद के अनुसार दान पात्रोंमें भक्तिपूर्वक यथाशक्ति देनेका विधान बताया है^२ ॥१॥

तथा अथ प्रत्येक दान का फल भी बताते हैं कि अभयदान (प्राणियों की रक्षाकरना) से दाता को शरीर, आहारदानसे सांसारिक भोगोपभोग सामग्री, औषधिदानसे निरोगी शरीर और विद्यादान से ज्ञानकोजैसीपद प्राप्त होता है^३ ॥२॥

सबसे पहले विवेकी पुरुषको सदा समस्त प्राणियोंको अभयदान देना चाहिये—अर्थात् उसे समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि अभयदानसे शून्य व्यक्ति परलोकमें कल्याणकी कामनासे कितनी भी शुभ क्रियाएँ (जप और तप प्रभृति) क्यों न करे परन्तु वे सब निष्फल होती हैं^४ ॥३॥

समस्त दानोंमें अभयदान श्रेष्ठ है इसलिये जो इसे देता है, वह दूसरे दान करता हो या न भी करता हो तथापि उसे उत्तम फल मिलता है^५ ॥४॥

जो व्यक्ति अभयदान देता है उसने समस्त आगम को पढ़ लिया और सर्वोत्कृष्ट तपश्चर्या कर ली तथा समस्त दान कर लिये ॥५॥

निष्कर्षः—नैतिक पुरुषको ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिये पात्रदान में प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥१०॥

१ तथा च चाराणः—

धूर्तं वंदिनि मरुले च कुर्वेद्ये कैतवे शठे ।

चतुर्चारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलं ॥१॥

२ यशस्तिलक आ० ८ से ।

३, ४, ५, ६, यशस्तिलक आ० ८ से ।

अथ अपात्र को दान देनेकी निष्फलता बताते हैं:—

भस्मनि हुतमिवापात्रेध्वर्थव्ययः ॥११॥

अर्थ:—अपात्र—(नीति और धर्मसे शून्य) व्यक्तिको दान देना भस्म (राख) में हवन करनेके समान निष्फल है ॥११॥

नारद विद्वान्^१ लिखता है कि 'छोटा नौकर, बाहन, शास्त्र, तपस्वी, ब्राह्मण और खोटा स्वामी इनमें धन खर्च करना भस्ममें हवन करनेके समान निष्फल है।'

यशस्तिलक में लिखा है कि विद्वानों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य से शून्य पुरुष को अपात्र कहा है उसमें दिया हुआ अन्न घनैरह्का दान ऊपर जमीनमें बीज बोनेके समान निष्फल है ॥११॥

पात्रमें दिया गया अन्नादिका दान श्रावकोंकी पुण्य वृद्धि का कारण होता है, क्योंकि बादलोंका पानी सीपमें ही मोती होता है ॥१२॥

जिनके मन मिथ्यात्वसे दूषित हैं और जो हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाप क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं उनको दान देनेसे पाप बन्धही होता है जिस प्रकार सापको दूध पिलानेसे विष हो जाता है ॥१३॥

अथवा यदि श्रावक दयालुतासे उन्हें कुछ देता है तो अन्न दे देना चाहिये परन्तु अपने गृहमें भोजन नहीं कराना चाहिये ॥१४॥

क्योंकि उनका सम्मानादि करनेसे श्रावक का सम्यग्दर्शन दूषित होता है; जिस प्रकार स्वच्छ पानी भी बिपैले वर्तनमें प्राप्त होनेसे बिपैला होजाता है ॥१५॥

निष्कर्ष :—इसलिये अपात्रोंको दान देना निरर्थक है ॥११॥

अथ पात्रोंके भेद बताते हैं:—

पात्रं च त्रिविधं धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रं चेति ॥१२॥

अर्थ:—पात्रों (दान देने योग्य) के ३ भेद हैं।

धर्मपात्र, कार्यपात्र और कामपात्र।

(१) धर्मपात्र^२:—जो बहुश्रुत विद्वान् प्रबल और निर्दोष युक्तियोंके द्वारा समीचीन धर्मका व्याख्यान करते हैं और माताके समान कल्याण करनेवाली शिक्षाका उपदेश देते हैं उन्हें साधुपुरुषोंने धर्मपात्र कहा है ॥११॥

१ तथा च नारद :—

कुमृत्ये च कुयाने च कुशास्त्रे कुतस्त्विनि ।

कुविप्रे कुलिने नाये व्ययो भस्मकृतं यथा ॥१॥

२ देखो नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ० ११ ।

(२) कार्यपात्र^१ :—स्वामीके अनुकूल चलनेवाले, प्रतिभाशाली, चतुर और कर्तव्यमें निपुण सेवकोंको कार्यपात्र कहा गया है ॥२॥

(३) कामपात्र^२ :—इन्द्रियजन्म सुखका अनुभव करनेवाले मनुष्योंका मत जिसके शरीरके स्पर्शसे सुख होता है वही उपभोगके योग्य कामनीय कामिनीको विद्वानोंने कामपात्र कहा है ॥३॥

(४) वशिष्ठने^३ कहा है कि दाताको धर्मयाग स्वर्गके मुख्य, कार्यपात्र लौकिक प्रयोजनोंकी सिद्धि और (अपनी स्त्री) दोनों लोकोंके मुख देता है ॥४॥

विशदविषेचन :—इन्हीं आचार्यश्रीने यशस्तिलकमें^४ पात्रोंके पांच भेद बताये हैं जो विशेष-
ज्ञान हैं ।

संन्यासी (जैन सिद्धान्तका विद्वान् चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि), श्रावक (प्रतिभारूप चरित्रधर्मको पालन वाला ब्रह्मी श्रावक), साधु (मुनिराज), आचार्य और जैनशासनकी प्रभावना करनेवाला विद्वान् इस प्रकार पाँच प्रकारके पात्र विद्वानों ने माने हैं ॥१॥

उक्त पाँचों पात्रोंको दान देनेका विधान किया गया है, परन्तु विस्तारके भयसे हम लिखना नहीं चाहते ।

इस विषयमें दूसरोंका मत संग्रह करते हैं :—

‘एवं कीर्तिपात्रमपीति केचित् ॥१३॥

अर्थ :—कुछ नोतिकारोंने उक्त पात्रोंके सिवाय कीर्तिपात्र (जिसको दान देनेपर दाताकी संसारमें कीर्ति हो) को भी दान देने योग्य पात्र बताया है ॥१३॥

[नोट :— यह सूत्र नीति० की संस्कृत टीका पुस्तकमें नहीं है किन्तु मु० मू० पुस्तकसे संग्रह किया गया है]

अब जिन कारणोंसे मनुष्यकी कीर्ति दूषित होती है उसे बताकर कीर्तिके कारणका निर्देश करते हैं :—

किं तथा कीर्त्या या आश्रितान्ध विभर्ति, प्रतिकृणद्धि वा धर्मं भागीस्थी-श्री-पर्वतवद्भावा-
नामन्यदेव प्रसिद्धेः कारणं न पुनस्त्यागः यतो न खलु गृहीतारो व्यापिनः सनातनाश्च ॥१४॥

अर्थ :—मनुष्यकी उस कीर्तिसे क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं है—वह निन्द्य है, जो अपने आश्रितों—अधीनमें रहनेवाले कुटुम्बियों तथा सेवकजनोंका पालन नहीं करती और धर्मको सेकती है—नष्ट करती है । आशय यह है कि जो मनुष्य अपने अधीनरहने वालोंका पालन पोषण

१, २ देखो नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृष्ठ ११, १२ ।

३ तथा च वशिष्ठ :—

स्वर्गाय धर्मयात्रं च कार्यपात्रमिदं स्मृतं ।

कामयात्रं निजं कान्ता लोकद्वयप्रदायकं ॥१॥

४ देखो यशस्तिलक ध्या० ८ पृ० ४०३ ।

तथा धर्मकी रक्षा नहीं करता और ऊपरी नीति-विरुद्ध बातोंमें धनकी बर्बादी करके कीर्तिभाजन बनता है उसकी वह कीर्ति निन्द्य समझनी चाहिये—अर्थात् वह अपकीर्ति है। संसारमें गंगा, लक्ष्मी और पार्वती (पर्वतसम्बन्धी स्थानविशेष) की तरह पदार्थोंकी प्रसिद्धिका कारण दूसरा ही है सामान्य त्याग नहीं; क्योंकि दान लेनेवाले पात्र लोग अल्पान्त प्रसिद्ध और सदा रहने वाले नहीं होते।

भावार्थ :—मूर्ख और कुकर्मी नास्तिक लोग अपने अधीन रहनेवालोंको कष्ट देकर और स्वयं मद्यपान और परस्त्रीसेवन-आदि कुकृत्योंमें फँसकर धर्मको जलाञ्जलि देकर जो कीर्ति प्राप्त करते हैं उनकी वह कीर्ति अपकीर्ति समझनी चाहिये।

विदुर^१ नामके विद्वान्ने भी लिखा है कि 'मूर्खलोग अपने अधीनोंको सताकर धर्मको दूर छोड़कर जो कीर्ति प्राप्त करते हैं उनकी उस अधिक कीर्तिसे भी क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं' ॥१॥

'जुआरी और शराबी लोग जिसकी प्रशंसा करते हों एवं व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जिसकी प्रशंसा करती हों उसकी कीर्ति अपकीर्ति ही समझनी चाहिये ॥२॥

सूत्रकी उक्त दृष्टान्तमालाका समर्थन :—

लोकमें गंगा, लक्ष्मी और पर्वतका प्रदेश साधारणत्याग (कमशः निर्मलजल देना, धनादिक देना और पान्थोंको विश्राम आदि देना) से प्रसिद्ध नहीं हैं किन्तु उस त्यागके साथ^२ उनमें आभितोंकी रक्षा और पवित्रताके कारण धार्मिक उन्नतिमें सहायकपन पाया जाता है; इसलिये वे प्रसिद्ध हैं। उसी प्रकार मनुष्य भी जब अपने अधीनोंका पालन और धार्मिक प्रगति करता हुआ दान धर्ममें प्रवृत्ति करता है तब वह वस्तुतः कीर्तिभाजन होता है। सामान्य त्यागसे मनुष्यकी कीर्ति नहीं होती; क्योंकि दान लेने वाले पात्र विशेषप्रसिद्ध और चिरस्थायी नहीं होते।

अतएव नैतिक और विवेकी मनुष्यको चन्द्रवन्निर्मल कीर्ति प्राप्त करनेके लिये पात्रदानके साथ^२ अपने अधीनोंकी रक्षा करते हुए धार्मिक प्रगति करनी चाहिये ॥१४॥

अथ कृपणके धनकी आलोचना करते हैं :—

स खलु कस्यापि माभूदर्थो यत्रासंविभागः शरणागतानाम् ॥१५॥

अर्थ :—जिस धनके द्वारा शरणमें आये हुए आभितोंका भरण पोषण नहीं किया जाता वह कृपणका धन व्यर्थ है ॥१५॥

१ तथा च विदुर :—

आभितान् पीडयित्वा च धर्मं त्यक्त्वा सुदूरतः ।

या कीर्तिः क्रियते मूढैः किं तथापि प्रभूतया ॥१॥

कैतवा यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति मद्यपाः ।

यं प्रशंसन्ति बन्धवो कीर्तिः साकीर्तिरुपिष्यी ॥२॥

‘वैशम्पदेय नामके विद्वान्ने’ भी उक्त बातका समर्थन किया है कि ‘उस लोभीकी सम्पत्तिसे क्या भोग है ? जिसे वह अपनी स्त्रीके समान केवल स्वयं भोगता है तथा जिसकी सम्पत्ति वेश्याके समान वेश्यावृत्तियों या वान्धोंके द्वारा नहीं भोगी जाती ॥१॥’

इसका उपयोग बताकर नैतिक व्यक्तिको अधिक लोभ करना उचित नहीं है इसका कथन करते हैं :—

॥१॥ अथैष संदिभागः स्वयमुपभोगश्चार्थस्य हि द्वे फले, नास्त्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य ॥१६॥

अर्थ :—सम्पत्तिके दो ही फल हैं । (१) पात्रोंको दान देना और (२) स्वयं उपभोग करना ।

लुब्धको निरन्तर लोभ करना उचित नहीं ॥१६॥

‘वैशम्पदेय’ विद्वान्ने कहा है ‘कि ब्राह्मण भी लोभके वश होकर समुद्र पार करता है और हिंसा का मायापण आदि पापोंमें प्रवृत्ति करता है इसलिये अधिक मात्रामें लोभ नहीं करना चाहिये ॥१॥’

‘सुभाषितरत्नभाण्डागार’में लिखा है कि कृपण (लोभी) और कृपाण (तलवार) इसमें केवल “आ” की मात्रा ही भेद है अर्थात् कृपण शब्दके “प” में ह्रस्व “अ” है और “कृपाण” शब्दके “पा” में दीर्घ “आ” विद्यमान है बाकी सर्व धर्म समान हैं; क्योंकि कृपण अपने धनको मुष्टि में रखता है और कृपाण दूसरी मुट्ठीमें धारणकी जाती है ।

कृपण अपने कोप (खजाने) में बैठा रहता है और तलवार भी कोप (भ्यान) में रक्खी जाती है । कृपण मलिन (कालेरंगकी) होती है और तलवार भी मलिन (कालेरंगकी) होती है । इसलिये “कृपण” और “कृपाण” में केवल मात्राका ही भेद है अन्य सर्व धर्म समान हैं ।

अर्थ :—जिसप्रकार तलवार घातक है वसी प्रकार लोभीका धन भी धार्मिक कार्योंमें न लगानेसे घातक है; क्योंकि उससे उसे सुख नहीं मिलता उल्टे दुर्मतिके दुःख होते हैं ॥१॥

नैतिक व्यक्तिके सत्कर्तव्यका निर्देश करते हैं :—

॥१॥ दानप्रियवचनाभ्यामन्यस्य हि सन्तोषोत्पादनमौचित्यम् ॥१७॥

अर्थ :—दान और प्रिय वचनोंके द्वारा दूसरोंको सन्तुष्ट करना यह नैतिक मनुष्यका उचित कर्तव्य है ॥१७॥

१ तथा च वैशम्पदेव :—

किं तथा क्रियते लक्ष्म्या या वधूरेव केवला ।

या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥१॥

२ तथा च गुरु :—

लोभात् समुद्रतरणं लोभात् पारनिषेवणं ।

ब्राह्मणोऽपि करोत्यथ तस्मात् न नातिकारयेत् ॥१॥

३ सुभाषितरत्नभाण्डागारे च :—

रत्नतरनिषेदमुष्टेः कोपनिषण्णस्य सहजमलिनस्य ।

कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥१॥

४ यह वृक्ष संस्कृत टीका पुस्तकमें नहीं है, सु० मू० पुस्तकमें संकलन किया गया है ।

अब सच्चे लोभीकी प्रशंसा करते हैं :—

स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यथम् ॥१८॥

अर्थ :—जो मनुष्य सज्जनोंको दान देकर अपने साथ परलोकमें धन लेजाता है, वही निश्चयमें सच्चा लोभी है ।

भावार्थ :—धनका लोभी लोभी नहीं है किन्तु जो उदार है उसे सच्चा लोभी कहा गया है; क्योंकि पात्रदानके प्रभावसे उसकी सम्पत्ति अक्षय होकर उसे जन्मान्तर—स्वर्गादिमें अक्षय होकर मिल जाती है ॥१८॥

वर्ग^१ नामके विद्वान्ने भी कहा है कि 'इसलोकमें दाताके द्वारा दिया गया पात्रदान अक्षय होजाता है जिससे उसके सभी दूसरे जन्मोंमें उसके पास रहता है ॥१९॥'

अब याचकको दूसरी जगह भिक्षा मिलनेमें जिसप्रकार विघ्न होता है उसे बताते हैं :—

अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभस्यान्तरायः ॥१६॥^२

अर्थ :—जो व्यक्ति याचकको कुछ नहीं देता केवल उससे भीठे वचन बोलता है वह उसे दूसरे स्थानमें भिक्षा मिलनेमें विघ्न उपस्थित करता है; क्योंकि वह बेचारा उनके आश्वामनमें फँसकर दूसरी जगह भिक्षा लेने नहीं जासकता ॥१६॥

वर्ग^३ नामके विद्वान्ने भी लिखा है कि 'जो मनुष्य याचकको कुछ नहीं देता और स्पष्ट मनाई करके उसे छोड़ देता है, यद्यपि उससमय याचककी आपात भंग होजाती है परन्तु भविष्यमें उसे दुःख नहीं होता ॥१७॥'

अब दरिद्र की स्थितिका वर्णन करते हैं :—

सदैव दुःस्थितानां का नाम बन्धुः ॥२०॥

अर्थ :—सदा दरिद्र रहनेवाले पुरुषोंका लोकमें कौन बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ :—जो लोग कृषि और व्यापार आदि साधनोंसे धन संचय नहीं करते और मदा आलस्यमें पड़े रहने से दरिद्र रहते हैं उनकी लोकमें कोई सहायता नहीं करता ॥२०॥

जैमिनि^४ नाम के विद्वान्ने लिखा है कि 'दरिद्र व्यक्ति यदि किसी गृहस्थके मकान पर उपकार करनेकी

१ तथा च वर्गः :—

दत्तं पात्रेऽथ यदार्जं जायते चाक्षयं हि तत् ।

जन्मान्तरेषु सर्वेषु दातुश्चैवोपतिष्ठते ॥१९॥

२ मु० मू० पुस्तकमें "अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभान्तरायः" ऐसा पाठ है ।

३ तथा च वर्गः :—

प्रत्याख्यानमदाता ना याचकाय करोति यः ।

तन्क्षणान्चैव तस्याशा दृग् स्थान्नैव दुःखदा ॥१७॥

४ तथा च जैमिनि :—

उपकृतुं मपि प्राप्तं निःस्वं दृष्ट्वा स्वमन्दिरे ।

गुप्तं करोति चात्मनं गृही याचकशङ्कया ॥१८॥

जाता है तो वह उसे आता हुआ देखकर "कहीं यह मुझसे कुछ माँग ने लेवे" इस आशङ्कामें जाता है ॥१॥

याचकका रूपनिरूपण करने हैं :—

माया ॥ १ ॥ सित्वभयममानात् को नाम नोद्विजेत् ॥२१॥

अर्थ :—सदा माँगनेवाले याचकने कौन नहीं डर जाता ? सभी डर जाते हैं ॥२१॥

श्याम नामके विद्वानने भी लिखा है कि 'कोई भी मनुष्य चाहे वह याचकका मित्र या वैधु ही हो सदा माँगनेवाले से दुखी होजाता है। उदाहरणमें गाय भी अधिक दूध पीनेवाले बछड़ेसे अपने बाल बाल मार देती है ॥१॥'

इन्द्रियका स्वरूप बताते हैं :—

माया ॥ २ ॥ इन्द्रियमनसोनियमानुष्ठानं तपः ॥२२॥

अर्थ :—पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) और मनको बशमें करना या मनकी इन लालसाओंको रोकना तप है ॥२२॥

आचार्य भी यशस्तिलकमें लिखते हैं कि जो मनुष्य कायक्लेशरूप तप करता है, संघोंका जाप जपना, शिवलिंगोंको नमस्कार करता है परन्तु यदि उसके चित्तमें सांसारिक विषयभोगोंकी लालसा लगी हो तो वह तपस्वी नहीं कहा जासकता और न उसे इस लोक और परलोकमें सुख मिल सकता है। शास्त्रकारों-
के लिखा है कि जिसप्रकार अग्निके बिना रसोईमें चाँवल आदि नहीं पकाये जासकते, मिट्टीके बिना घट नहीं बनासकता, संतुओंके बिना वस्त्रकी उत्पत्ति नहीं होसकती उसी प्रकार उत्कट तपश्चर्याके बिना कर्मोंका फल नहीं होसकता।

विहिताचरण का स्वरूप कहते हैं :—

माया ॥ ३ ॥ विहिताचरणं निषिद्धपरिवर्जनं च नियमः ॥२३॥

अर्थ :—सत्यार्थशास्त्रनिरूपित सत्कर्तव्यों (अहिंसा और सत्य आदि) का पालन और शास्त्रनिषिद्ध कर्मों (हिंसा, और मिथ्याभाषण आदि) का त्याग करना नियम है ॥२३॥

नारद नामके विद्वानने^३ भी कहा है कि—'शास्त्रविहित व्रतों (अहिंसा और सत्य आदि) का निर्विघ्न परिपालन करना और मद्यपानादि शास्त्रनिषिद्धका त्याग करना नियम है ॥१॥'

१ तथा च श्याम :—

मित्रैवं बन्धुवानो वात्तिप्रार्थनादितंकुयोत् ?

अग्नि वत्समतिविवर्त्त विषादौरधित्तिवति धेनुः ॥१॥

२ हेतो कलूषप्रकरणका तपेद्वार ।

३ तथा च नारद :—

यद्वर्त्त क्रियते सन्ध्यान्तरायविवर्त्तितं ।

न भक्ष्येन्निषिद्धं यो नियमः स उदाहृतः ॥१॥

अथ आगम—शास्त्रका माहात्म्य बताते हैं :—

विधिनिषेधावैतिह्यायतौ ॥२४॥

अर्थ :—विधि—कर्तव्यमें प्रवृत्ति और निषेध—अकर्तव्यसे निवृत्ति ये दोनों सत्यार्थ आगम (शास्त्र) के अधीन हैं अर्थात् यथार्थवक्ताके कहे हुए आगममें जिन कर्तव्योंके करनेका विधान बताया है धिबेकी मनुष्यको उनमें प्रवृत्ति करनी चाहिये और उक्त आगममें जिनके करनेका निषेध किया गया है उन्हें त्यागना चाहिये ।

भावार्थ :—श्रेयस्कर कर्तव्यमें प्रवृत्ति एवं ऐहिक और पारलौकिक दुःख देनेवाले अकर्तव्यों से निवृत्तिका निर्णय आगम ही कर सकता है; जन साधारण नहीं ॥२४॥

भागुरि विद्वान्ते' कहा है कि 'शास्त्रविहित कर्तव्यपालन करनेसे प्राणीका अत्यन्त कल्याण होता है परन्तु शास्त्रनिषिद्ध कार्य भस्ममें हवन करनेके समान निष्फल होते हैं ॥१॥

जो मनुष्य पूर्वमें किसी वस्तुको छोड़ देता है और पुनः उसे सेवन करने लगता है वह भूटा और पापी है ॥२॥

अथ सत्यार्थ आगम—शास्त्रका निर्णय करते हैं :—

तत्खलु सद्भिः श्रद्धेयमैतिह्यं यत्र न प्रमाणवाधा पूर्वापरविरोधो वा ॥२५॥

अर्थ :—जिसमें किसी भी प्रमाणसे बाधा और पूर्वापरविरोध न पाया जाता हो, वही आगम शिष्टपुरुषोंके द्वारा भ्रष्टाकरनेयोग्य—प्रमाण माननेयोग्य है ।

भावार्थ :—जो आगम श्रेयस्कारक सत्कर्तव्योंकी प्रतिष्ठा करनेवाला और पूर्वापर के विरोधसे रहित हो वही शिष्टपुरुषों द्वारा प्रमाण मानने योग्य है । 'आचार्यश्रीने' यशस्तिलकमें लिखा है कि 'जो शास्त्र पूर्वापर विरोधके कारण युक्तिसे बाधित है वह मत्त और उन्मत्तके वचनोंके तुल्य है अतः क्या यह प्रमाण होसकता है ? नहीं होसकता ॥१॥

निष्कर्ष :—बीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थङ्करों द्वारा भाषित द्वादशाङ्ग आगम अहिंसाधर्मका समर्थक होनेसे पूर्वापर विरोधरहित होनेके कारण अपने सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा करता है इसलिये शिष्ट पुरुषोंके द्वारा प्रमाण मानने योग्य है ॥२५॥

१ तथा च भागुरि :—

विधिना विहितं कृत्यं परं भेयः प्रयच्छति ।

विधिना रहितं यच्च यथा भस्महुतं तथा ॥१॥

निषेधं यः पुरा कृत्वा कस्यचिद्भस्मनः पुमान् ।

तदेव सेवते पश्चात् सत्यहीनः स पापकृत् ॥२॥

२ सु० मू० पु० "स्यप्रमाणवाधा" ऐसा पाठ है ।

३ पूर्वापरविरोधेन वस्तु युक्त्या च बाध्यते ।

मत्तोऽमत्तवचःप्रख्यः स प्रमाणं किमागमः ॥१॥ यशस्तिलकके ।

मीतिकार नारदने' भी लिखा है कि 'जो अपने सिद्धान्तके माहात्म्यको नष्ट न करना हो—उसकी स्तुति करेगा ही, पूर्वापरके विरोधसे रहित हो ऐसे आगमकी शिष्ट पुरुष प्रशंसा करते हैं ॥१॥'

इन्द्रियबालोंका विवरण करते हैं :—

हस्तिस्नानमिव सर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनाम् ॥२६॥

अर्थ :—जिसकी इन्द्रियाँ शरीर जग काधूमें नहीं हैं उनके समस्त सत्कार्य—दान, जप, तप और भोजन आदि हाथीके स्नानकी तरह निष्फल हैं। जिसप्रकार हाथी स्नान करके पुनः अपने शरीर पर धूलि मल मीछ है अतएव उसका स्नान करना व्यर्थ है उसीप्रकार जो मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं हैं उनके समस्त सत्कार्य व्यर्थ हैं; क्योंकि वे चंचलचित्तके कारण पुनः कुकार्योंके गर्तमें गिर जाते हैं ॥२६॥

अर्थ :—शास्त्रकार लिखते हैं कि जो व्यक्ति इन्द्रियोंको वशमें किये बिना ही शुभध्यान—(सर्वभूत) करनेकी छालसा रखता है वह मूर्ख अग्निके बिना जलाये ही रसोई बनाना चाहता है। जिसके बिना केवल भुजाओंके द्वारा ही अगाध समुद्रको पार करना चाहता है एवं खेतोंमें बीजोंके बिना ही अन्नकी उत्पत्ति करना चाहता है।

अर्थात् जिसप्रकार अग्नि आदिके बिना रसोई आदिका पाक नहीं होसकता उसीप्रकार इन्द्रियोंको वशमें निया धर्मध्यान नहीं होसकता ॥१॥

अर्थ :—किसप्रकार कोई भी मनुष्य मानसिक शुद्धिके बिना समस्त धार्मिक क्रियाएँ करता हुआ भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

अर्थ :—जिसका पुरुष अपने हाथमें शीशेको धारण करता हुआ भी क्या उससे अपनी आकृतिको जान सकता है? नहीं जान सकता ॥२॥

मीतिकार सौनकने' कहा है कि 'अशुद्ध इन्द्रिय और' दुष्ट-चित्तवाला पुरुष जो कुछ भी सत्कार्य करता है वह सब हाथीके स्नानकी तरह निष्फल है' ॥१॥

अर्थ :—जो ज्ञानवान् होकरके भी शुभ कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता उसका विवरण करते हैं :—

दुर्भगामरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयमनाचरतः ॥२७॥

अर्थ :—जो अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता विद्वान् होकरके भी शास्त्रविहित सवाचार—अहिंसा और सत्य-आषण आदिमें प्रवृत्ति नहीं करता, उसका प्रचुरज्ञान विधवा स्त्रीके आभूषण धारण करनेके समान शारीरिक क्लेशको उत्पन्न करनेवाला—व्यर्थ है।

१ तथा च नारद :—

स्वदर्शनस्य माहात्म्यं यो न हन्यात् स आगमः ।

पूर्वाप्तविरोधश्च शस्यते स च साधुभिः ॥१॥

२ वेक्षो कस्तूरीप्रकरणका इन्द्रिय और मनोद्वार ।

३ तथा च सौनक :—

अशुद्धेन्द्रियचित्तो यः कुर्वते काचित् सत्क्रियां ।

हस्तिस्नानमिव व्यर्थं तस्य सः परिकीर्तितः ॥१॥

अर्थात् जिसप्रकार विधवा स्त्रीका पतिके बिना आभूषण धारण करना व्यर्थ है, उसी प्रकार नैतिक और धार्मिक सत्कर्तव्योंसे पराङ्मुख रहनेवाले विद्वान्का ज्ञान भी निष्फल है ॥२५॥

नीतिकार राजपुत्रने^१ भी कहा है कि 'शास्त्रविहित सत्कर्तव्योंमें प्रवृत्ति न करनेवाले विद्वान्का ज्ञान विधवा स्त्रीके आभूषण धारण करनेके समान व्यर्थ है' ॥

अब दूसरोंको धर्मोपदेश देनेवालोंकी सुलभता बताते हैं :—

सुलभः खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोकः ॥२८॥

अर्थः—दूसरोंको धर्मोपदेश देनेमें कुशल पुरुष कथावाचकोंके समान सुलभ हैं। जिसप्रकार स्वयं धार्मिक अनुष्ठान न करनेवाले कथावाचक बहुत सरलतासे मिलते हैं, उसी प्रकार स्वयं धार्मिक कर्तव्योंका पालन न करनेवाले और केवल दूसरोंको धर्मोपदेश देनेवाले भी बहुत सरलतासे मिलते हैं ॥२८॥

वाल्मीकि विद्वान्ने^२ भी कहा है कि 'इस भूतल पर कथावाचकोंकी तरह धर्मका व्याख्यान करनेवाले बहुत पाये जाते हैं, परन्तु स्वयं धार्मिक अनुष्ठान करनेवाले सत्पुरुष विरले हैं' ॥२९॥

अब तप और दानसे होनेवाले लाभका विवरण करते हैं :—

प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥२६॥

अर्थः—जो धार्मिक पुरुष प्रत्येक दिन नियमसे कुछ भी यथाशक्ति पात्रदान और तपश्चर्या करता है, उसे परलोकमें स्वर्गकी उत्तमोत्तम सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं' ॥२६॥

नीतिकार चारायण^३ भी उक्त सिद्धान्तका समर्थन करता है कि 'सदा दान और तपमें प्रवृत्त हुए पुरुषको वह पात्र (दान देनेयोग्य त्यागी प्रती और विद्वान् आदि) और तपमें व्यतीत किया हुआ समय उसे सद्गति—स्वर्गमें प्राप्त करा देता है' ॥३०॥

अब संचय—वृद्धिसे होनेवाले लाभका कथन करते हैं :—

कालेन संचयीमानः परमाणुरपि जायते मेरुः ॥३०॥

अर्थः—तिलतुषमात्र—थोड़ी भी वस्तु (धर्म, विद्या और धनदि) प्रतिदिन चिरकाल तक संचय—वृद्धि की जानेसे सुमेरु पर्वतके समान महान् हो जाती है ॥३०॥

१ तथा च राजपुत्रः—

यः शास्त्रं जानमानोऽपि तदर्थं न करोति च ।

तद् व्यर्थं तस्य विज्ञेयं दुर्मगाभरणं यथा ॥१॥

२ तथा च वाल्मीकिः—

सुलभा धर्मवक्तारो यथा पुस्तकवाचकाः ।

ये कुर्वन्ति स्वयं धर्मं विरलास्ते महीतले ॥१॥

३ तथा च चारायणः—

नित्यं दानप्रवृत्तस्य तपोयुक्तस्य वेदिनः ।

सत्प्राप्तं वाय कालो वा स ह्याद्येन गतिर्वरा ॥१॥

नीतिकार भागुरिने^१ लिखा है कि 'जो उद्योगी पुरुष सदा अपने खजानेकी वृद्धि कराता रहता है उसका खजाना—धनराशि सुवर्णके नित्य संचयसे सुमेरुकी तरह अनन्त—अपरिमित होजाता है' ॥१॥
अथ धर्म, विद्या और धनकी दैनिक वृद्धि करनेसे होनेवाला लाभ बताते हैं :—

धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः ॥३१॥

अर्थः—धर्म, विद्या और धनका प्रतिदिन थोड़ा २ भी संग्रह करनेसे समय पाकर ये समुद्रसे भी अधिक होजाते हैं ॥३१॥

नीतिकार वर्ग^२ भी उक्त बातकी पुष्टि करता है कि "जो व्यक्ति सदा धर्म, विद्या और धनका संग्रह करता रहता है उसकी वे सब वस्तुएँ पूर्वमें अल्प होने पर भी समय पाकर समुद्रके समान अनन्त होजाती हैं" ॥१॥

अथ धर्मपालनमें उद्योगशून्य पुरुषोंको संकेत करते हुए कहते हैं :—

धर्माय नित्यमनाश्रयमाणानामात्मवचनं भवति ॥३२॥

अर्थः—जो व्यक्ति धर्मका आचरण नहीं करते वे अपनी आत्माको ठगते हैं ।

वशिष्ठने^३ कहा है कि 'जिम्हने मनुष्यजीवन प्राप्त करके धर्मका आश्रय नहीं लिया, उसने अपनी आत्माको नरकका पात्र बनाकर बड़ा धोखा दिया' ॥१॥

विशदविवेचन :—

शास्त्रकारोंने^४ कहा है कि जिस प्रकार सुगन्धिसे शून्य पुष्प, दांतोंसे रहित मुख और सत्यसे शून्य

१ तथा च भागुरि :—

नित्यं कोपविवृद्धि यः कारयेद्यत्नमास्थितः ।

अनन्तता भवेत्तस्य मेरोर्देहनो यथा तथा ॥१॥

२ तथा च वर्ग :—

उपार्जयति यो नित्यं धर्मश्रुतधनानि च ।

सुस्तोकाव्ययनन्तानि तानि स्युर्जलधिर्यथा ॥२॥

३ सु० सू० पु० में—“धर्माय नित्यमजाप्रतामात्मवचनम्” ऐसा पाठ है, अर्थभेद कुछ नहीं है ।

४ तथा च वशिष्ठ :—

मनुष्यत्वं समासाद्य यो न धर्मं समाश्रयेत् ।

आत्मा प्रयंचितस्तेन नरकाय निरूपितः ॥१॥

५ उक्तं च :—

गन्धेन हीनं कुसुमं न भाति, दंतेन हीनं वदनं न भाति ।

सत्येन हीनं वचनं न भाति, पुण्येन हीनः पुरुषो न भाति ॥१॥

सालं स्वर्गसदां द्विनत्ति समिधे चूषाय चिन्तामणि ।

बन्धौ प्रक्षिपति क्षिणोति तरणीमेकस्य शङ्कोः हृते ॥

दत्ते देवगर्वां स गर्दभवधूमाहाय गर्दोयदं ।

यः संसारदुखाय सृष्टितशिवं धर्मं पुमानुज्झति ॥२॥

कस्तूरीप्रकरण से ।

वचन शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार धर्मसे शून्य मनुष्य भी शोभायमान नहीं होता ॥१॥

जो पुरुष सांसारिक सुखोंके लिये मोक्षसुख देनेवाले धर्मका त्याग कर देता है वह निश्चय उस मूर्खके सदृश है जो लकड़ीके लिये कल्पवृक्षको काटता है, चूर्णके लिये चिंतामणिरत्नको अग्निमें फेंकता है, एक कीलेके लिये नौकाको नष्ट करता है और गधीको खरीदनेके लिये अपनी कामधेनुको दे देता है ॥२॥

अब एककालमें अधिक पुण्यसमूहके संचयकी दुर्लभता बताते हैं :—

कस्य नामैकदैव सम्पद्यते पुण्यराशिः ॥३३॥

अर्थ :—किसको एक ही समयमें प्रचुर पुण्यसमूह प्राप्त होता है ? नहीं होता ।

भावार्थ :—लोकमें कोई भी व्यक्ति एककालमें पुण्यराशिका संचय नहीं कर सकता किन्तु धीरे-धीरे कर सकता है ॥३३॥

नीतिकार भागुरिने^१ कहा है कि 'मनुष्योंको मर्त्यलोकमें सुख नहीं मिलता उन्हें सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख प्राप्त होता है क्रीड़ामात्रमें नहीं' ॥१॥

अब आलसी पुरुषके मनोरथोंकी निष्फलता बताते हैं :—

अनाचरतो मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः ॥३४॥^२

अर्थ :—उद्योगशून्य पुरुषके मनोरथ (मनमें चिंतयनकी हुई सुखकी कामनाएं) स्वप्नमें राज्य मिलानेके समान व्यर्थ होते हैं । जिसप्रकार स्वप्नमें राज्यकी प्राप्ति निरर्थक है उसीप्रकार उद्योगशून्य आलसी मनुष्यकी सुखप्राप्तिकी कामनाएं भी व्यर्थ होती हैं ।

निष्कर्ष :—इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको धर्म, ज्ञान और धनादिके संचय करनेमें नीतिपूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये ॥३४॥

बल्लभदेव^३ नामके विद्वानने कहा है कि 'उद्योगसे ही कार्य सिद्ध होते हैं मनमें चाहने मात्रसे नहीं सोते हुए शेरके मुखमें हिरण्य स्पर्श नहीं प्रविष्ट होते' ॥१॥

अब जो व्यक्ति धर्मके फलका उपभोग करता हुआ भी पापमें प्रवृत्ति करता है उसको कहते हैं :—

धर्मफलमनुभवतोऽप्य^४ धर्मानुष्ठानमनात्मज्ञस्य ॥३५॥

१ तथा च भागुरि :—

सुखस्थानन्तरं दुःखं दुःखस्थानन्तरं सुखं ।

न हेतुया सुखं नास्ति मर्त्यलोके भवेन्नृणां ॥१॥

२ मु० मू० पु० में "स्वयमनाचरतां मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः" ऐसा पाठ है, परन्तु अर्थ भेद कुछ नहीं है ।

३ तथा च बल्लभदेव :—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।

न हि सिद्ध्यन्ति सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥१॥

४ "ज्ञाः" इति मु० मू० पुस्तक में पाठ है ।

जो मनुष्य धर्मके फल (मनुष्यजन्म, उच्चकुल, धनादिवैभव, दीर्घायु, विद्वत्ता और ऐश्वर्य) का उपभोग करता हुआ भी पापोंमें प्रवृत्ति करता है वह मूर्ख है ।

‘सौमित्रे’ कहा है कि ‘पूर्वजन्म में किये हुए धर्मसे मनुष्योंको सुख मिलता है इसे विद्वान् जानते हैं परन्तु मूर्ख लोग नहीं जानते इससे वे पापोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥१॥

‘अरिणि’ कहा है कि जो पुरुष धर्मसे उत्पन्न हुए फलों—पूर्वोक्त मनुष्यजन्म आदि को भोगता हुआ भी मनुष्यवृद्धिपुक्त है—अर्थात् धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता, वह मूर्ख, जड़, अज्ञानी और मूढ़ है ॥१॥

‘अन्यथा’ कहा है कि जो धर्म या दूसरोंमें प्रेरित हुआ भी अधर्म—पाप करनेकी चेष्टा नहीं करता वह विद्वान्, विद्वान्मनुष्य और वास्तविक पंडित है ॥२॥

‘अन्यथा’ कहा है कि ‘जो मनुष्य अज्ञानसे धर्मको नष्ट करके उसके फलों (धनादिसम्पत्ति) का उपभोग करने का उपभोग करते हैं वे पापी अनार और आम आदिके पृष्ठोंको जड़से उखाड़कर फलों का उपभोग करते हैं—अर्थात् जिसप्रकार अनार आदि सुन्दर वृक्षोंको जड़से उखाड़कर उनके फलों का उपभोग करते हैं क्योंकि इससे भविष्यमें उनके फलोंसे वञ्चित रहना पड़ता है उसीप्रकार धर्मको नष्ट करके फल—सुखका भोगना भी महामूर्खता है; क्योंकि इससे भविष्यमें सुख न मिलेगा ॥३॥

‘अन्यथा’ कहा है कि ‘तुम धर्मप्राणी ! तुमने पूर्वजन्ममें किये हुए अहिंसाप्रधान दान, शील और तपश्चर्या आदि धर्मकार्योंसे मनुष्यान्तसे धनादि सुखसामग्री प्राप्त हुई है; इसलिये तुम धर्मका पालन करते हुए सुखसामग्री का भोगो । जिसप्रकार किसान धान्यादिके बीजसे विपुल धान्य पैदा करता है वह धर्मप्राणी धान्यके उत्पादक बीजोंको सुरक्षित रखकर धान्यका उपभोग करता है जिससे उसे सुख मिलेगा ॥४॥

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

‘अन्यथा’ कहा है कि—

आत्मानुशासने गुणभद्राचार्यः ।

अधिष्ठ्यमें धान्य मिलती रहती है उसीप्रकार तुम भी सुखके साधन धार्मिक अनुष्ठानोंको करने हुए न्यायप्राप्त भोगोंको भोगो; ऐसा न करने पर तुम अज्ञानी समझे जाओगे ॥२॥

अब विवेकी पुरुषोंको धर्मानुष्ठानमें स्वयं प्रवृत्ति करनेका निरूपण करते हैं :—

कः सुधीर्भेषजमिवात्महितं धर्मं परोपराधादनुतिष्ठति ॥३६॥

अर्थ :—कौन बुद्धिमान् पुरुष औपधिके समान अपनी आत्माका कल्याणकरनेवाले धर्मका पालन दूसरोंके आप्रहसे करेगा ? नहीं करेगा ।

भावार्थ :—जिसप्रकार बीमार पुरुष जब औपधिका सेवन स्वयं करना है तभी निरोगी होता है उसीप्रकार बुद्धिमान् पुरुषको दुःखोंकी निवृत्तिके लिये स्वयं धर्मानुष्ठान करना चाहिये । क्योंकि दूसरोंके आप्रहसे धर्मानुष्ठान करनेवाला श्रद्धाहीन होनेसे सुख प्राप्त नहीं कर सकता ॥३६॥

नीतिकार भागुरिने^१ लिखा है कि 'जो मनुष्य दूसरोंके आप्रहसे औपधि और धर्मका सेवन करता है उसे क्रमशः आरोग्यलाभ और स्वर्गके सुख प्राप्त नहीं होते ॥३॥

अब धर्मानुष्ठान करते समय जो बात होती है उसे धनते हैं :—

धर्मानुष्ठाने भवत्यप्रार्थितमपि प्रानिलोऽयं लोकस्य ॥३७॥

अर्थ :—धर्मानुष्ठान करते समय मनुष्योंकी अतिच्छिन्न (बिना चाहे) विघ्न उत्पन्न होजाते हैं ॥३७॥

नीतिकार वर्गने^२ कहा है कि 'कल्याणकारक कार्योंमें मनुष्योंको भी विघ्न उत्पन्न होते हैं परन्तु पापोंमें प्रवृत्त हुए पुरुषोंके विघ्न नष्ट होजाते हैं ॥३॥

अब पापमें प्रवृत्त हुए पुरुषका कथन करते हैं :—

अधर्मकर्मणि को नाम नोपाध्यायः पुरश्चारी वा ॥३८॥

अर्थ :—पापकार्यमें प्रवृत्ति करनेवालेको कौन उपदेश देनेवाला अथवा अप्रेसर —अगुआ नहीं होता ? सभी होते हैं ॥३८॥

भावार्थ :—लोकमें सभी लोग पापियोंको पापकरने की प्रेरणा करते हैं और मैंने अमुक पापकार किया है तुम भी करो ऐसा कहकर अप्रेसर होजाते हैं ।

निष्कर्षः—नैतिक मनुष्यको किसीके वहकानेमें आकर पापकार्योंमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥३८॥

१ तथा च भागुरि :—

रोगरोधतो धर्मं भेषजं च करोति यः ।

आरोग्यं स्वर्गगामित्वं न ताभ्यां संप्रजायते ॥३॥

२ तथा च वर्गः :—

श्रेयांसि बहुविधानि भवन्ति भूतानामपि ।

अश्रेयसि प्रवृत्तानां यान्ति श्रेयाः विलीनता ॥३॥

कहा है कि 'पापीको पापका उपदेश देनेवाले लोग बहुत हैं जो स्वयं पाप करने लगे हैं ॥१॥'

इसका अर्थ है :—

प्राणैर्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः ॥३६॥

यदि पुरुषोंको प्राणोंके कष्टगत-मरणोन्मुख होने पर भी पापकार्यमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये तो कहना ही क्या है ?

यदि पुरुष स्वस्थ अवस्थामें पापोंमें किस प्रकार प्रवृत्ति कर सकते हैं ? नहीं

कहना भी उक्त वाक्यका समर्थन करता है कि 'बुद्धिमानोंको अपने प्राणोंके त्यागका अवसर नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे इस लोकमें निन्दा और परलोकमें अधम— ॥१॥'

इसका अर्थवश धनाढ्योंको पापमार्गमें प्रवृत्त कराते हैं इसका कथन करते हैं :—

स्वय्यसनतर्पणाय धूर्तदूरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः ॥४०॥

यदि लोग (ठग) अपने व्यसनो—खोटी आदतोंकी पूर्ति करनेके लिये अथवा अपनी आपत्ति दूर करनेके लिये धनाढ्योंको पापमार्गमें प्रवृत्ति कराते हैं ।

जब ठग लोग धनाढ्योंको परस्त्रीसेवन और मद्यपान आदि पापकर्मोंमें प्रेरित कर देते हैं तो धनाढ्योंसे धनादिककी प्राप्ति होती है; जिससे उनकी स्वार्थसिद्धिके साथ २ आपत्तियाँ दूर होती हैं ।

यदि धनाढ्य पुरुषोंको धूर्तोंके वहकायेमें आकर पापमार्गमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥४०॥

इसका अर्थ है :—

खलसंगेन किं नाम न भवत्यनिष्टम् ॥४१॥

धूर्तोंकी संगतिसे मनुष्यको कौन २ से कष्ट या पाप नहीं होते ? सभी होते हैं ॥४१॥

अर्थ :—

यस्योपासकस्य लोकाः पापप्रदेशकाः ।

यस्योपासकस्य लोकाः पापप्रदेशकाः ।

अर्थ :—

यस्योपासकस्य लोकाः पापप्रदेशकाः ।

यस्योपासकस्य लोकाः पापप्रदेशकाः ।

यस्योपासकस्य लोकाः पापप्रदेशकाः । ऐसा म० म० म० में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

बल्लभदेव* विद्वान्ने कहा है कि 'दुष्टोंकी सङ्गतिके दोषसे सज्जनलोग त्रिकार—पाप करने लगते हैं। दुर्बोधनकी सङ्गतिसे महात्मा भीष्मपितामह गायोंके हरण करनेमें प्रवृत्त हुए ॥१॥'

निष्कर्षः—अतः विवेकी मनुष्यको दुष्टोंकी सङ्गति छोड़नी चाहिये ॥४१॥

अथ दुष्टोंका स्वरूप बताते हैं :—

अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः ॥४२॥

अर्थः—दुष्टलोग अग्निके समान अपने आश्रय—कुटुम्ब को भी नष्ट कर देते हैं। पुनः अन्य शिष्ट पुरुषोंका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् उन्हें अवश्य ही नष्ट करते हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार अग्नि जिस लकड़ीसे उत्पन्न होती है उसे सबसे पहिले जलाकर पुनः दूसरी वस्तुओंको जला देती है, उसीप्रकार दुष्ट भी पूर्वमें अपने कुटुम्बका पश्चात् दूसरोंका ज्वर करता है ॥४२॥

बल्लभदेव* विद्वान्ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'जिसप्रकार धूम अग्निसे उत्पन्न होता है और वह किसीप्रकार बादल होकर जलवृष्टिके द्वारा अग्निको ही बुझाता है उसीप्रकार दुष्ट भी भाव्यसे प्रतिष्ठाको प्राप्त करके प्रायः अपने बन्धुजनोंको ही तिरस्कृत करता है ॥१॥

अथ परस्त्री-सेवनका फल बताते हैं :—

वनगज इव तदात्सुखलुब्धः को नाम न भवत्यास्पदभापदाम् ? ॥४३॥

अर्थ :—परस्त्रीसेवनके सुखका लोभी कौन पुरुष जंगली हाथीके समान आपत्तियोंका स्थान नहीं होता ? अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ :—जिसप्रकार जंगली हाथी हथिनीको देखकर उसके उपभोग करनेकी इच्छासे व्याकुल होकर बंधनका दुःख भोगता है उसी प्रकार परस्त्रीके सुखका इच्छक विविधभाँति के बंध बंधनादि ऐहिक और नरकादिके पारत्रिक दुःख उठाता है ॥ ४३ ॥

नीतिकार नारदने* भी कहा है कि 'कामसे मत्त जंगली हाथी हथिनीके रससुखसे बन्धनका

१ तथा च बल्लभदेवः—

असतां मंगदोषेण साधवो यान्ति त्रिक्रिया ।

दुर्बोधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥१॥

२ तथा च बल्लभदेवः—

धूमः पयोधरपदं कथमन्यवायै— ।

गोऽश्वभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः ॥

दैवादवाप्य खलु नीचजनः प्रतिष्ठा ।

प्रायः स्वयं बन्धुजनमेव तिरस्करोति ॥१॥

३ 'तदात्सुखेति' ऐसा मु० मू० पु० में पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ तथा च नारदः—

कलिर्हीनस्वर्शसौख्येन प्रमत्ता बभूवुस्तनः ।

बन्धमयान्ति तस्माच्च तदात्सुर्वर्जयेत् सुखम् ॥१॥

मोक्षार्थे स्वर्गिते वैदिक सत्सुखान्ते परस्त्री का उपभोग संबंधी सुख छोड़ देना चाहिये ॥ १ ॥

धर्म के वर्णन करनेका फल निर्देश करते हैं—

धर्मातिक्रमाद्धनं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात् ॥ ४४ ॥

अर्थ—धर्म—न्यायका उल्लङ्घन करके संचित किये हुए धनको कुटुम्बीजन ही खाते हैं और कमजोरों केवल पापका ही भागी होता है। जैसे शेर हाथी की शिकार करता है उससे शृगाल बगैरहकी ही भक्षण मिलता है उसे कोई लाभ नहीं होता, वह केवल पापका ही भक्षक करता है ॥ ४४ ॥

वीतिकार विदुरने कहा है कि 'यह जीव अकेला ही पाप करता है और कुटुम्बीलोग उसका उपभोग करते हैं वे लोग तो छूट जाने हैं, परन्तु कर्ता दोषसे लिप्त होना है—दुर्गतिके दुःख भोगता है ॥ १ ॥'

अब पापीकी हानि बताते हैं—

वीजमोजिनः कुटुम्बिन इव नाम्न्यधार्मिकस्यायन्यां किमपि शुभम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—बीजस्थानेवाले कुटुम्बयुक्त किसानकी तरह पापी मतुष्यका उत्तरकाल-भविष्यमें कुछ भी कल्याण नहीं होता। जिसप्रकार किसान यदि अपने खेतमें बोनेलायक संचितबीजराशिको खाजावे तो उसका उत्तरकालमें कल्याण नहीं होता, क्योंकि बीजोंके बिना उसके अन्न उत्पन्न नहीं होगा उसीप्रकार पापी भी धर्मके बिना धर्मसे विमुख रहता है अतएव उसका भी भविष्यमें कल्याण नहीं होसकता ॥ ४५ ॥

भागुरि' विद्वानने भी उक्तयातया समर्थन किया है कि 'बीजस्थानेवाले किसानको जिस प्रकार भविष्य वसन्त और शरदऋतु आने पर सुख प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार पापीको भी परलोकमें सुख नहीं होसकता ॥ १ ॥'

अब काम और अर्थ को छोड़कर केवल धर्ममें प्रवृत्त हुए व्यक्तिका कथन करते हैं—

यः कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पशुक्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कृपति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति काम—न्यायप्राप्त कामिनी आदि भोगोपभोग सामग्री और अर्थ—धनादिसम्पत्ति या उसके साधन कृषि और व्यापार आदिको छोड़कर केवल धर्मका ही सतत सेवन करता है वह पशुक्षेत्र काटनेयोग्य धान्यादिके खेतको छोड़कर जंगलको जोतता है।

भावार्थ—जिसप्रकार पकीहुई धान्यसे परिपूर्ण खेतको छोड़कर पहाड़की जमीन जोतना विशेष लाभदायक नहीं है उसीप्रकार काम और अर्थ (जीविका) छोड़कर केवल धर्मका सेवन गृहस्थके लिये

१ तथा च विदुरः—

एकाकी कुरुते रापं फलं मुहुक्ते महाजनः ।

भोक्तारो विप्रनुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ १ ॥

२ तथा च भागुरिः—

पापसक्तस्य नो सौख्यं परलोके प्रजायते ।

बीजाश्लक्षिकस्येव वसन्ते शरदि स्थिते ॥ १ ॥

विशेष लाभदायक नहीं हैं। आशय यह है कि यद्यपि पहाड़की जमीनको जोतनेसे अतिवृष्टि आदि उपद्रवों के अभावमें धान्यकी उत्पत्ति होसकती है तथापि पके हुए खेतको काटकर उसके फल खाना उत्तम है उसी-प्रकार गृहस्थ श्रावकको धर्मरूपीवृक्षके फलस्वरूप काम और अर्थके साथ धर्मका सेवन करना उचित है।

रैभ्य^१ विद्वान् भी लिखता है कि 'काम और अर्थके साथ धर्मका सेवन करनेसे मनुष्यको लेश नहीं होता। अतएव सुखाभिलाषी पुरुषको काम और अर्थसे सहित ही धर्मका सेवन करना चाहिये ॥ १ ॥'

आचार्य वादीभसिंहने^२ भी लिखा है कि परस्परकी बाधारहित धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थोंको सेवन किया जावे तो बाधारहित स्वर्गकी प्राप्ति होती है तथा अनुक्रमसे मोक्ष भी प्राप्त होता है ॥ १ ॥

निष्कर्षः—नैतिक पुरुष काम और अर्थके साथ धर्मका सेवन करे ॥ ४६ ॥

अब बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्यनिर्देश करते हैं:—

स खलु सुधी^३र्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति ॥ ४७ ॥

अर्थः—निश्चयसे वही मनुष्य बुद्धिमान है जो पारलौकिक सुखका वात न करता हुआ सुखोंका अनुभव करता है—न्यायप्राप्त भोगोंको भोगता है।

भाषार्थः—परस्त्रीसेवन और मद्यपान आदि दुष्कृत्य पारलौकिक-स्वर्गसंबंधी सुखके वातक हैं, इस लिये उनको छोड़कर जो व्यक्ति न्यायप्राप्त सुख—स्वस्त्रीसंतोष और पात्रदान आदि करता है वही बुद्धिमान है।

वर्ग^४ नामके विद्वान्ने कहा है कि 'बुद्धिमान पुरुषको कौल और नास्तिकोंके द्वारा कहेहुये धर्म—(मद्यपान, मांसभक्षण और परस्त्रीसेवन-आदि) में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इस धर्माभास (नाममात्रका धर्म) से निश्चयसे नरकगतिके भयङ्कर दुःख होते हैं ॥ १ ॥'

अब अध्यायके सुखलेशसे होनेवाली हानि बताते हैं:—

इदमिह परमारचर्यं यदन्यायसुखलवादिहामुत्रचानवधिदुःखानुबन्धः ॥ ४८ ॥

१ तथा च रैभ्यः—

कामार्थसहितो धर्मो न क्लेशाय प्रजायते ।

तस्मात्ताभ्यां समेतस्तु कार्येष्व सुखार्थिभिः ॥१॥

२ तथा च वादीभसिंहः—

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गोऽपि सेव्यते ।

अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥

३ 'सुखी' ऐसा मृ० मृ० पु० में पाठ है, जिसका अर्थः—वही मनुष्य सुखी है।

४ तथा च वर्गः—

सेवनाद्यस्य धर्मस्य नरकं प्राप्यते भुवः ।

धीमता तत्र कर्तव्यं कौलनास्तिकक्रीतितम् ॥१॥

संसारमें मनुष्योंको ऐहिक और पारलौकिक निस्सीम—सीमारहित अनन्त सुखोंके आशु-मृग्योंको इसका ज्ञान नहीं होता यह संसारमें बड़े आश्चर्यकी बात है।

ऐसी ही भोग चोरी और छल-कपट आदि अन्याय करके धनसंचय करते हुए संसारमें जीवते हैं उन्हें इसका परिणाम महाभयङ्कर होता है। अर्थात् इस लोकमें उन्हें राजदण्ड के अन्तर्गत मङ्गलमन्वन्धी अनन्त दुःख भोगने पड़ते हैं, इस बातको बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति समझते हैं मनुष्योंको इसका ज्ञान नहीं होता इसलिये आचार्यश्रीने आश्चर्य प्रगट किया है ॥४८॥

संसारमें भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'मृग्योंको अन्यायकी कमाईसे किञ्चिन्मात्र, अन्तर्गत मङ्गलमन्वन्धी मुख्य होता है, परन्तु ऐसी दुःप्रवृत्तिसे उन्हें ऐहिक और पारलौकिक महाभयङ्कर दुःखोंको ही बड़ा बड़ा आश्चर्य है ॥॥

नीतिक व्यक्तिको कदापि अन्यायमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥४८॥

किये हुए धर्म और अधर्मका अकाट्य और प्रबल युक्तियों द्वारा समर्थन करते हैं :—

सुखदुःखादिभिः प्राणिनामुत्कर्षापकर्षा धर्माधर्मयोर्लिङ्गम् ॥४९॥

संसारमें प्राणियोंकी सुखसामग्री—धनादिवैभव और विद्वत्ता आदि से उन्नति और दुःख-सामग्री और मृग्यता आदि से अवनति देखी जाती है, यही उन्नति और अवनति उनके पूर्वजन्ममें किये हुए धर्मका बोध करानी है—अर्थात् लोकमें प्राणियोंकी सुखसामग्री उनके पूर्वजन्मकृत-धर्मसामग्री अधर्मका निश्चय कराती है।

संसारमें कोई राजा, कोई रज्जु, कोई धनाढ्य, कोई दरिद्र, कोई विद्वान् और कोई मूर्ख, इन सब प्रकारकी विपमताएँ (भेद) दृष्टिगोचर होरही हैं, इससे निश्चय होता है कि जिस व्यक्तिने किये हुए धर्म या अधर्म से सुखसामग्री प्राप्त हुई और जिसने पाप किया था उसे दुःखसामग्री प्राप्त हुई।

संसारमें विद्वान्ने लिखा है कि 'प्राणियोंकी सुखकी वृद्धि उनके पूर्वजन्ममें किये हुए धर्मका, दुःखकी वृद्धि पापका प्रगट निश्चय करानी है ॥५॥

संसारमें आचार्यने' भी कहा है कि 'संसारमें प्राणियोंकी अनेकप्रकारकी सुखदुःखरूप विचित्र-

वृत्तिः च दृशिः—

विजयेनादिपूर्णाया यद्व्यापार्जनान् सुखं ।

सर्वत्र ज्ञानं विहीनं च दुःखं लोकदुर्गं भवेत् ॥५॥

वृत्तिः च दृशिः—

विजयेनादिपूर्णाया यद्व्यापार्जनान् सुखं ।

सर्वत्र ज्ञानं विहीनं च दुःखं लोकदुर्गं भवेत् ॥५॥

वृत्तिः च दृशिः—

—देवशमस्तोत्रे स्वामी समन्तभद्राचार्यः ।

सृष्टि—कोई राजा, कोई रक्षक, कोई विद्वान् और कोई मूर्ख आदि उनके पूर्वजन्ममें किये हुए पुण्य और पापकर्मके अधीन हैं। क्योंकि जिन २ कार्योंमें विचित्रता—भिन्नता होती है, वे भिन्न २ कारणोंसे उत्पन्न हुए देखे जाते हैं। जैसे शाल्यङ्कुरादिरूप विचित्र कार्योंके उत्पादक अनेक प्रकारके शालिवीजादिक उपलब्ध हैं। अर्थात् शाल्यङ्कुर—धान्याङ्कुर के उत्पादक शालिवीज—धान्यबीज और गेहूँके अंकुरोंके उत्पादक गेहूँ बीज लोकमें उपलब्ध हैं उसीप्रकार सुखरूपमृष्टिका कारण पाणियोंके पुण्यकर्म और दुःखरूप मृष्टिका कारण पापकर्म युक्तिमिद्ध है; क्योंकि इसमें किसी भी प्रमाणमें वाधा नहीं आती; क्योंकि कारणको एक मानते पक्ष लक्ष्यमें नाशाला नहीं हो सकती ॥१॥

निष्कर्ष :—सुखसामग्री द्वारा उत्कृष्ट चाहनेवाले प्राणीको सदा नैतिक और धार्मिक मत्कर्तव्योंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥४६॥

अथ धर्माधिष्ठाता-भाग्यशाली का माहात्म्य वर्णन करने हैं :—

किमपि हि तद्वस्तु नास्ति यत्र नैश्वर्यमदृष्टाधिष्ठितः ॥ ५० ॥

अर्थ:—निश्चयसे संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे भाग्यशाली प्राप्त न कर सकता है।

भावार्थ:—भाग्यवान् धार्मिक व्यक्ति को संसारमें सभी अभिलषित वस्तुएं—(धनार्थ वेभव विद्वत्ता आदि) प्राप्त होती हैं ॥ ५० ॥

भृगु^१ नामका विद्वान् लिखता है कि 'जिस प्राणीका कोई रक्षक नहीं है उसकी देव-पूर्वजन्मकृत पुण्य रक्षा करता है। परन्तु जिसका भाग्य फूट गया है—जिसका आयुकर्म बाकी नहीं है वह सुरक्षित (अन्ध्रा तरह रक्षा किया गया) होने पर भी नष्ट होजाता है। उदाहरण—अनाथ प्राणी भी भाग्यके अनुकूल होनेपर वनमें छोड़ दिया जानेपर भी जीवित रहता है परन्तु जिसका भाग्य प्रतिकूल है उसकी गृहमें अनेक उपायों द्वारा रक्षा की जाने पर भी जीवित नहीं रहता ॥ १ ॥'

शास्त्रकारोंने^२ लिखा है कि 'जिस मनुष्यके पूर्वजन्ममें किये हुए प्रचुर पुण्यका उदय है—भाग्यशाली

१ तथा च भृगुः—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं ।

सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ॥

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः ।

कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥१॥

२ तथा च भर्तृहरिः—

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं ।

सर्वो जनः मुजनामुपयाति तस्य ॥

कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निभिरत्नपूर्णा ।

यस्यास्ति पूर्वसुहृत् विपुलं नरस्य ॥१॥

जैसे भयङ्कर वन भी प्रधान नगर होजाता है। सभी लोग उससे सज्जनताका व्यवहार करते हैं।
यह पृथिवी उसे निधियों और रत्नोंसे परिपूर्ण मिलती है ॥ १ ॥

संसारी प्राणियोंको मनुष्यपर्याय, उच्चवर्ण, ऐश्वर्य, दीर्घायु, निरोगीशरीर, सज्जनमित्र, सुयोग्य-
वर्मात्मा-पतिव्रता स्त्री, तीर्थङ्करोंमें भक्ति, विद्वत्ता, सज्जनता, जिसेन्द्रियता और पात्रोंको दानदेना ये
गुणोंके सद्गुण (सुखसामग्री) पुण्यके बिना दुर्लभ हैं—जिसने पूर्वजन्ममें पुण्यसंचय किया है उस
भाग्यशाली पुरुषको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

यह धर्म धनाभिलाषियोंको धन, इच्छित वस्तु चाहनेवालों को इच्छितवस्तु, सौभाग्यके इच्छुकोंको
सौभाग्य, पुत्राभिलाषियोंको पुत्र और राज्यकी कामनाकरनेवालोंको राज्यश्री प्रदान करता है। अधिक क्या
चाहे संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे यह देनेमें समर्थ न हो, यह प्राणियोंको स्वर्गश्री और मुक्तिश्री
भी देनेमें समर्थ है ॥१॥

जैनधर्म, धनादिऐश्वर्य, सज्जनमहापुरुषोंकी सङ्गति, विद्वानोंकी गोष्ठी, वक्रतुल्यकला, प्रशस्तकार्यपटुता,
श्रीकेसदृश सुन्दर पतिव्रता स्त्री, गुरुजनोंके चरणकमलोंकी उपासना, शुद्धशील और निर्मलबुद्धि ये सब
सामग्री भाग्यशाली पुरुषोंको प्राप्त होती है ॥१॥

‘भगवान् जिनसेनाचार्योंने’ कहा है कि यह धर्म आत्माको समस्त दुःखोंसे छुड़ाकर ज्ञानावरणादि बर्मा

मानुष्यं यत्वंशजन्म विमर्शो दीर्घायुरारोग्यता ।
वन्मित्रं सुसुतं सती श्रियतमा भक्तिश्च तीर्थङ्करे ॥
विद्वत् सज्जनत्वमिन्द्रियजयः सत्याभदाने रतिः ।
एते पुण्यविना त्रयोदशगुणाः संसारिणां दुर्लभाः ॥२॥
धर्मोऽयं धनवरुणभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः ।
सौभाग्यार्थिषु तद्यदः किमपरः पुत्रार्थिनां पप्रदः ॥
राज्यार्थिभ्यपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां ।
तत्किं यन्न करोति किं च कुरुते स्वर्गापवर्गावपि ॥३॥

—संगृहीत

जैनो धर्मः प्रगटविभवः संगतिः साधुलोके ।
विद्वद्गोष्ठी वचनपटुता कौशलं सत्क्रियासु ॥
शास्त्री लक्ष्मी चरणकमलोपासना सद्गुरुणां ।
शुद्धं शीलं मतिविभक्तता प्राप्यते भाग्यवन्निः ॥१॥

—संगृहीत

१ धर्मः प्रपाति दुस्तेभ्यो धर्मः शर्म तनोऽयम् ।
धर्मो नैश्वर्यं सौख्यं दत्ते कर्मजयोद्भवम् ॥१॥
धर्मोऽयं सुरेन्द्रत्वं नरेन्द्रत्वं गणेश्वरता ।
धर्मोऽतीत्यकृत्स्नं च परमानन्दमेव च ॥२॥

के लिये उत्पन्न होनेवाले मोक्षसुखको उत्पन्न करता है। इसके माहात्म्यसे यह प्राणी देवेन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर और तीर्थङ्करके ऐश्वर्यको प्राप्त करके पुनः अमृतपद-मोक्षपदको प्राप्त होता है ॥१२॥

धर्म ही इस जीवका सच्चा बन्धु, मित्र और गुरु है। अतएव प्रत्येक प्राणीको स्वर्ग और मोक्ष देने वाले धार्मिक सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें अपनी बुद्धिको प्रेरित करनी चाहिये ॥१३॥

धर्मसे सुख मिलता है और अधर्मसे दुःख इसलिये विद्वान् पुरुष दुःखोंसे छूटनेकी इच्छासे धर्म में प्रवृत्ति करता है^१ ॥१४॥

जीवव्या, सत्य, क्षमा, शौच, संतोष-(मूर्च्छाका त्याग) सम्यग्ज्ञान और वैराग्य ये धर्म हैं और इनके विपरीत हिंसा, भूठ, क्रोध, लोभ, मूर्च्छा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये अधर्म हैं ॥१५॥

जिसप्रकार^२ पागल कुत्तेका बिप वर्षाकाल आनेपर प्राणीको दुःख देता है उसीप्रकार पाप भी समय आनेपर जीवको नरकगतिके भयानक दुःख देता है ॥१६॥

जिसप्रकार अपव्य सेवनसे स्वर वृद्धिगत होता हुआ जीवको क्रेशित करता है उसीप्रकार मिथ्या-दृष्टिका पाप अशुभाशयसे वृद्धिको प्राप्त होकर भविष्यमें नानाप्रकारके शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक दुःखोंको देता है ॥१७॥

धर्मके प्रभाव से समुद्र का अथाहपानी स्थल और स्थल जलरूप होकर सन्ताप दूर करता है। धर्म आपत्तिकालमें जीवकी रक्षा करता है और दगिद्रको धन देता है इसलिये प्रत्येक प्राणीको तीर्थङ्करोंके द्वारा निरूपण किये हुए धर्मका अनुष्ठान करना चाहिए ॥१८॥

जिनेन्द्रभक्ति, स्तुति और सपर्या—पूजा यह प्रथमधर्म या पुण्य है। लोभकथायको त्यागकर पात्रदान करना यह दूसरा धर्म है। एवं यह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह इन पाँच ब्रतोंके अनुष्ठानसे तथा इच्छानिरोधरूप तपसे होता है। अतः विवेकी और सुखाभिलाषी पुरुषोंको सदा धर्ममें प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥१९॥

निष्कर्षः—नैतिक पुरुषको पापोंसे पराङ्मुख होकर नीतिपूर्णपुरुषार्थ—उद्योगसे समस्त सुखोंको देनेवाले धर्ममें प्रवृत्ति करते हुए भाग्यशाली बनना चाहिये; क्योंकि सांसारिक सभी मनोज्ञतम वस्तुएँ उसे प्राप्त होती हैं ॥२०॥

॥ इति धर्मसमुद्देश समाप्त ॥

धर्मो यं शुचं मित्रं च धर्मोऽयं गुरुरंगिनां ।

तस्माद्धर्मे मतिं धत्स्व स्वर्गोक्षसुखदायिनि ॥१॥

धर्मोऽसुखमधर्मोऽयं दुःखमित्यविमानतः ।

धर्मैकपरतां धत्ते बुद्धोऽनर्थजिहासया ॥४॥

—आदिपुराण पर्व १०

१ धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं विवृण्णता ।

ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥१॥

—आदिपुराण पर्व १०

२ आदिपुराणके आधार से ।

(२) अर्थसमुद्देशः ।

अर्थसमुद्देश के आरम्भ में अर्थ—धन का लक्षण करते हैं—

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः साऽर्थः ॥ १ ॥

अर्थ—जिससे मनुष्यों के सभी प्रयोजन—लौकिक और पारलौकिक सुख आदि कार्य सिद्ध हों उसे धन कहते हैं ।

अर्थ—उदार नरराज का धन ही वास्तविक धन है, क्योंकि उससे उसके समस्त प्रयोजन—कार्य सिद्ध हो सकते हैं । परन्तु कृपणोंके द्वारा जमीनमें गाड़ा हुआ धन वास्तविक धन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह लौकिक और पारलौकिक सुखरूप प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता ॥१॥

महाभारत नामके विद्वानने कहा है कि 'यदि गृहके अर्थमें गाढ़े हुए धनमें कृपणों को धनिक कहा जाय तो उसके उसी धनमें हमलोग (निधन) धनिक क्यों नहीं होसकते ? अक्षय होसकते हैं ॥ १ ॥' धनिकोंके सम्बन्धमें वर्तमान कृपणों द्वारा सुरक्षित धन न तो धार्मिक उत्सर्ग (पात्रदान) में उपयोग लाया जाय और न सांसारिक भोगोपभोगमें । अन्तमें उसे चोर और राजा लोग छीनते हैं ॥ २ ॥

अर्थ—ऐहिक एवं पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके लिये—अर्थ—धन अनूठा साधन है । विवेकी और धर्मवान् इससे दानपुण्यादिधर्म, सांसारिकसुख और स्वर्गभीको प्राप्त कर सकता है । परन्तु दरिद्र धनहीन बिना अपनी प्राणयात्रा—प्राणरक्षा ही नहीं कर सकता, पुनः दानपुण्यादि करना तो असंभव है । क्योंकि जिसप्रकार पहाड़से नदियाँ निकलती हैं उसीप्रकार धनसे धर्म उत्पन्नहोता है । धनहीन मनुष्य स्थूलकाय (मोटा—ताजा) होनेपर भी दुर्बल, और धनाढ्य कृशकाय—कमजोर होनेपर भी बलिष्ठ समझा जाता है । ममारमें जिसके पास धन है उसे लोग कुलीन, परिहृत, शास्त्रज्ञ, विद्वान्, गुह्यज्ञ, धका और मनोज्ञ मानते हैं, इसलिये शास्त्रकारोंने जीविकोपयोगी साधनों द्वारा न्यायसे धनप्राप्ति करनेका उपदेश दिया है ।

स्वामी समस्तभद्राचार्यने कहा है कि इतिहास के आदिकालमें जब प्रजाकी जीवनरक्षाके साधन अल्प होचुके थे उससमय प्रजा की प्राणरक्षाके इच्छुक प्रजापति भगवान् ऋषभदेव तीर्थङ्कर ने धनप्राप्ति के लिये खेती और व्यापार आदि जीविकोपयोगी साधनोंमें प्रेरित किया था ।

१ उक्तं च ऋषभदेवेनः—

यद्वस्यनिष्ठातेन धनेन धनिनो यदि ।

मशामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥१॥

कन धमस्य कृते प्रयुज्यते यन्न कामस्य च भूमिमध्यगम् ।

अथ कदम्परिरक्षितं धनं चौरपायिवरहेषु भुज्यते ॥ २ ॥

१ भारतिर्दः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृथादिषु कर्मसु प्रजाः ३

इदत्त्वर्थमुस्तोत्रे स्वामी समस्तभद्राचार्यः ।

भगवद्भिज्जनसेनाचार्यने^१ भी कहा है कि उस समय भगवान् ऋषभदेव ने प्रजाकी जीवनरक्षा के लिये उसे अस्त्र-शस्त्रधारण, मणि-लेखनकला, कृषि-खेती, विद्या, वाणिज्य-व्यापार और शिल्पकला इन जीविकोपयोगी ६ साधनोंका उपदेश दिया था ।

नीतिकार कामन्धकने^२ कहा है कि 'कोष—(खजाना) वाले राजाकी धर्म और धनके लिये एवं भृत्यों के भरणपोषणार्थ और संकटोंसे बचनेके लिये अपने कोषकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १ ॥

उसे प्रमाणिक अर्थशास्त्री कुशलपुरुषोंके द्वारा अपने खजानेकी वृद्धि करनी चाहिये तथा धर्म, अर्थ, और काम पुरुषार्थोंकी वृद्धिके लिये समय २ पर कोष में से सम्पत्ति खर्च करनी चाहिये^३ ॥ २ ॥

जिस प्रकार देवताओंके द्वारा जिसका अमृत पी लिया गया है ऐसा शरद् ऋतुका चन्द्रमा शोभायमान होता है उसी प्रकार वह राजा भी जिसने अपना खजाना धर्मकी रक्षाके लिये खाली कर दिया है, शोभायमान होता^४ ॥ ३ ॥

निष्कर्षः—उक्त न्यायोचितसाधनों द्वारा संचित किये हुए उदार—स्वार्थत्यागी व्यक्तिके धनको वास्तविक धन कहा गया है; क्योंकि उसमें उसके सभी प्रयोजन सिद्ध होते हैं ॥ १ ॥

अब धनाढ्य होनेका उपाय बताते हैं—

सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति ॥ २ ॥

अर्थः—जो मनुष्य सदा सम्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार—अर्थानुबन्ध—(व्यापारादि साधनों से अविद्यमान धनका संचय, संचितकी रक्षा और रक्षितकी वृद्धि करना) से धनका अनुभव करता है—उसके संचय आदिमें प्रवृत्ति करता है वह उसका पात्र—स्थान होता है—धनाढ्य होजाता है ।

वर्ग^५ विद्वान्ने भी आचार्यश्रीके अभिप्रायको व्यक्त किया है कि 'निश्चयसे वह व्यक्ति कभी भी निर्धन—वरिष्ठ नहीं होता जो सदा अविद्यमान धनकी प्राप्ति, प्राप्त किये हुए धनकी रक्षा और रक्षा किये गये की वृद्धिमें प्रयत्नशील रहता है ॥ १ ॥'

अब अर्थानुबन्धका लक्षण करते हैं—

अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणां रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः ॥ ३ ॥

अर्थः—व्यापार और राज्यशासन आदिमें कियेजानेवाले साम, दान, दंड और भेद आदि उपायों से अविद्यमान धनका कमाना और प्राप्त किये हुए धनकी रक्षा करना—(पात्रदानपूर्वक कौटुम्बिक निर्वाह करना, परोपकार करते हुए निरर्थक धन को बर्बाद न करना, आमदनीके अनुकूल खर्च करना और चोरीसे बचना आदि) और रक्षा किये हुए धनकी व्याज आदिसे वृद्धि करना यह अर्थानुबन्ध है ।

१ अस्तिर्मणिः कृषिविद्या वाणिज्यं शिल्पमेव वा ।

कर्माशीर्मानि बोधा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥ १ ॥

आदिपुराणे भगवद्भिज्जनसेनाचार्यः ।

२ देखो नीतिसार सर्ग ४ श्लोक ६४ ।

३, ४, देखो नीतिसार पृ० ६३ श्लोक ८६-८७ ।

५ तथा च वर्गः—

अर्थानुबन्धमार्गेश योऽर्थं संसेवते सदा ।

स तेन मुच्यते नैव कदाचिदिति निश्चयः ॥ १ ॥

३. **व्यासः**—नीतिक व्यक्ति को उक्त अप्राप्तधनकी प्राप्ति, प्राप्तकीरक्षा और रक्षितकीवृद्धि करनेमें सहायता चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे वह उत्तरकालमें सुखी रहता है ॥ ३ ॥

४. **व्यासः**—धनकी प्राप्ति करनेके विषयमें नीतिकार 'हारीतने' कहा है कि 'जिसके पास कार्यकी प्राप्ति के लिये धन विद्यमान है उसे इस लोकमें कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है—उसे सभी इच्छित वस्तु प्राप्त होती हैं, इसलिये मनुष्यको साध, दात, दंड और भेदरूप उपायोंसे धन कमाना चाहिये' ॥ ४ ॥

५. **व्यासः**—धनकी रक्षाके विषयमें व्यास नामके विद्वान् ने कहा है कि 'जिसप्रकार पानीमें रहनेवाला मछली जलजन्तुओंसे, जमीन पर पड़ा हुआ शेर वगैरह हिंसक जन्तुओंसे और पक्षियों द्वारा खालिया जाता है उसीप्रकार धन भी मनुष्यों (चोरों आदि द्वारा) चुराकर लिया जाता है ॥ ५ ॥'

६. **व्यासः**—नीतिकव्यक्ती वृद्धि के विषयमें व्यास ने कहा है कि 'धनाढ्य पुरुषको धनकी वृद्धि करनेके लिये बड़ा व्याज पर देवना चाहिये, इससे वह बढ़ता रहता है अन्यथा नष्ट होजाता है ॥ ६ ॥'

७. **व्यासः**—धन के नाशका कारण बताते हैं:—

तीर्थमर्थेनार्सभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति ॥ ४ ॥

८. **व्यासः**—जो लोभी पुरुष अपने धनसे तीर्थों-पात्रोंका सत्कार नहीं करता—उन्हें दान नहीं देता उसका धन उसके छत्तेके समान विलकुल नष्ट होजाता है । जिसप्रकार राहदकी मक्खियाँ चिरकाल तक पुष्पोंसे चूषण करती हैं और भौरीको नहीं खाने देती, इसलिए उनका राहद भीललोग छत्तेको तोड़कर ले लेते हैं इसीप्रकार लोभीके धनको भी चोर और राजा वगैरह छीन लेते हैं ।

९. **व्यासः** नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो कृपण—लोभी अपना धन पात्रोंके लिये नहीं देता वह वसी वान राजाओं और चोरोंके द्वारा मार दिया जाता है ॥ १ ॥'

१०. **व्यासः** च यतो शरीरेनः—

कृत्वा नानि लोकेऽथ यथार्थं वाचनं परम् ।

तस्मादिमिच्छाम्येव तस्मादर्थमुपाजयेत् ॥ १ ॥

११. **व्यासः** च व्यासः—

धर्मिणं क्लेशं मत्स्यैर्मन्दयते रक्षापदैर्भुवि ।

आकाशे पक्षिभिश्चैव तथाऽर्धोऽपि च मानवैः ॥ २ ॥

१२. **व्यासः** च यतो गर्भेणः—

इदं तु परिहातव्यः सदापि चित्तिकेन च ।

यतः स वृद्धिमाप्नोति तं विना क्षयमेव च ॥ ३ ॥

१३. **व्यासः** च वर्गः—

यो न यच्छति पात्रेभ्यः स्वधनं कृणो जनः ।

तेनैव सह मृगालैश्चोराद्यै र्वा स हन्यते ॥ ४ ॥

अब तीर्थ-पात्र का लक्षण करते हैं—

धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम् ॥ ५ ॥

अर्थः—धार्मिक कार्योंमें सहायक—त्यागी प्रती और विद्वान् पुरुषों और व्यवहारिक कार्योंमें सहायक—सेवकजनोंको तीर्थ कहते हैं ।

भावार्थः—उक्त दोनों प्रकारके तीर्थों—पात्रोंको दान देनेसे नैतिक मनुष्यका धन बढ़ता है । परन्तु जो अपने धन द्वारा उक्त तीर्थोंका सत्कार नहीं करता उसका धन बिल्कुल नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

बृहस्पति^१ नामके विद्वानने कहा है कि 'धनाढ्य पुरुषोंकी सम्पत्तियाँ तीर्थों—पात्रों को दीजानेसे वृद्धि को प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

अब धनको नष्टकरनेवाले साधनों का निर्देश करते हैं—

तादात्मिक-मूलहर-कदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः ॥ ६ ॥

अर्थः—तादात्मिक (जो व्यक्ति बिना सोचे समझे आमदनीसे भी अधिक धन खर्च करता है) मूलहर (वैयक्तिक सम्पत्तिको उड़ानेवाला और बिल्कुल न कमानेवाला) और कदर्य (लोभी) इन तीनों प्रकारके मनुष्यों का धन नष्ट होजाता है ॥ ६ ॥

नीतिकार शुक्रने^२ लिखा है कि 'बिना सोचविचारके धनको खर्च करनेवाला, दूसरोंकी कमाई हुई सम्पत्तिको खानेवाला और लोभी ये तीनों व्यक्ति धनके नाशके स्थान हैं ॥१॥

अब तादात्मिकका लक्षण करते हैंः—

यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्मिकः ॥ ७ ॥

अर्थः—जो मनुष्य कुछ भी विचार न करके कमाए हुए धनका अपव्यय—निष्प्रयोजनखर्च करता है उसे 'तादात्मिक' कहते हैं । अर्थात् जो यह नहीं सोचता कि मेरी इतनी आय है अतएव मुझे आवश्यक प्रयोजनीभूत और आमदनीके अनुकूल खर्च करना चाहिए परन्तु बिना सोचे समझे आमदनीसे अधिक धनका अपव्यय करता है उसे तादात्मिक कहते हैं ॥ ७ ॥

शुक्र^३ नामका विद्वान् लिखता है कि 'जिस व्यक्तिकी दैनिक आमदनी चार रुपये और खर्च साढ़े पाँच रुपया है उसकी सम्पत्ति अवश्य नष्ट होजाती है चाहे वह कितना ही धनाढ्य क्यों न हो ॥ १ ॥'-

१ तथा च बृहस्पतिः—

तीर्थेषु योजिता अर्था धनिना बुद्धिसामानुयुः । १

२ तथा च शुक्रः—

अचिन्तितार्थमश्नाति योऽन्योपाजितमल्लभः ।

कृपणश्च व्योऽप्येते प्रत्यवायस्य मन्दिरम् ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—

आगमे यस्य चत्वारो निर्गमे सार्धपञ्चमः ।

तस्यार्थाः प्रक्षयं यान्ति सुप्रभूतोऽपि चेत्स्थितः ॥१॥

अपना कल्याण करते हैं :—

यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः ॥८॥

भावार्थ—जो व्यक्ति अपने पिता और पितामह (पिताके पिता) की सम्पत्ति को अन्याय (जुआ, चोरी, धोखा, ब्याज आदि) से भक्षण करता है—खर्च करता है और नवीन धन बिल्कुल नहीं कमाता उसे मूलहर कहते हैं ॥८॥

‘तत्त्वार्थ गुरु’ ने कहा है कि ‘जो व्यक्ति पैतृक सम्पत्तिको शूत कीड़न (जुआ खेलना) और अन्यायोंमें अपव्यय करना है और नवीन धन बिल्कुल नहीं कमाता वह निश्चयसे मूलहर है ॥९॥

लोभी का लक्षणनिर्देश करते हैं :—

यो शृण्वारसणीहाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्यः ॥९॥

भावार्थ—जो व्यक्ति सेवकों तथा अपने को कष्ट पहुँचाकर धनका संचय करता है उसे कदर्य—लोभी

कहते हैं—जिसके पास बहुतसी सम्पत्ति है परन्तु वह न तो स्वयं उसका उपभोग करता है और दूसरों को इसमेंसे कुछ देता है किन्तु जमीन में गाड़ देता है उसे ‘कदर्य’ कहते हैं, उसके पास भी धन बहुत है क्योंकि अवसर पड़ने पर राजा या चोर उसके धनको अपहरण—(छीन लेना) कर लेता है और वह परेशताप करके रह जाता है ॥९॥

तादात्मिक और मूलहरको होनेवाली-हानि बताते हैं :—

तादात्मिकमूलहरयोरायत्यां नास्ति कल्याणम् ॥१०॥

भावार्थ—तादात्मिक और मूलहर मनुष्योंका भविष्यमें कल्याण नहीं होता ।

भावार्थ—तादात्मिक (अपनी आमदनीसे अधिक धनका अपव्यय करनेवाला) एवं मूलहर (दूसरोंके अन्याय मार्गमें धर्बाद करनेवाला) ये दोनों सदा दरिद्र रहते हैं इसलिये आपत्तिसे निवृत्ति नहीं कर सकते अतः सदा दुःखी रहते हैं ॥१०॥

‘कविपुत्र’ नामके विद्वान्ने लिखा है कि ‘जो आमदनीसे अधिक खर्च करता है एवं पूर्वजों के कमाये धनको भक्षण करता है और नयाधन बिल्कुल नहीं कमाता वह दुःखी रहता है ॥११॥’

‘यः पितृपैतामहमन्यायेनानुभवति स मूलहरः’ ऐसा पाठ मु० मू० पु० में है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

तत्त्वार्थ गुरु :—

पितृपैतामहं वित्तं व्यसनैर्यस्तु भक्षयेत् ।

अन्यतोमाजयेत् किञ्चित् स दरिद्रो भवेद् भुवम् ॥११॥

भावार्थ—

आमदनीमें अधिक व्यय पश्च भक्षति ।

अन्यतोमाजयेत् आन्यदर्थेष्वपि स लीदति ॥११॥

अथ लोभी के धन की अवस्था बताते हैं :—

कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदायादत्तस्कराणामन्यतमस्य निधिः ॥११॥

अर्थ :—लोभीका संवित धन राजा, कुटुम्बी और चोर इनमें से किसी एक का है।

भावार्थ :—लोभी के धन की अवसर पाकर राजा, कुटुम्बी या चोर अपहरण कर लेते हैं।

निष्कर्ष :—अतएव लोभ करना उचित नहीं ॥११॥

बल्लभदेव^१ नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'पात्रों को दान देना, उपभोग करना और नाश होना इस प्रकार धनकी तीन गति होती है। जो व्यक्ति न तो पात्रदान में धनका उपयोग करता है और न स्वयं तथा कुटुम्बके भरण पोषणमें खर्च करता है उसके धन की तीसरी गति (नाश) निश्चित है अर्थात् उसका धन नष्ट होजाता है ॥११॥'

निष्कर्ष :—इसलिये नैतिक व्यक्तिको धनका लोभ कदापि नहीं करना चाहिये ॥११॥

इति अर्थसमुद्देशः समाप्तः ।

(३) कामसमुद्देशः ।

अथ कामसमुद्देश के आरम्भमें काम का लक्षण करते हैं :—

आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः ॥१॥

अर्थ :—जिससे समस्त इन्द्रियों—(स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन) में बाधारहित प्रीति उत्पन्न होती है उसे काम कहते हैं।

उदाहरण :—कामी पुरुष को अपनी स्त्री के मधुर शब्द सुननेसे श्रोत्रेन्द्रिय में, मनोज्ञरूपका अवलोकन करनेसे चक्षुरिन्द्रिय में, और सुकोमल अङ्गके स्पर्शसे स्पर्शेन्द्रियमें बाधारहित प्रीति—(आह्लाद) उत्पन्न होती है इत्यादि। अतः समस्त इन्द्रियों में बाधारहित प्रीतिका उत्पादक होनेसे स्वस्त्री सम्बन्ध को कामपुरुषार्थ कहा है।

निष्कर्ष :—परस्त्रीसेवन से धर्मका तथा वेश्यासेवन से धर्म और धनका नाश होता है। अतः वह कामपुरुषार्थ नहीं कहा जासकता। अतः नैतिक पुरुष को उक्त दोनों अनर्थों को छोड़कर कुलीन संतानकी उत्पत्तिके आवश्य से स्वस्त्रीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये ॥१॥

१ तथा च बल्लभदेव :—

दानं भोगो नाशस्तिलो गतयो भवन्ति विसृज्य ।

यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥१॥

है कि 'जिसके (अपनी सती स्त्रीके) उपभोगसे समस्त इन्द्रियोंमें अनुराग उत्पन्न होना चाहिये, इससे विपरीत प्रवृत्ति—परस्त्री और वेश्यासेवन आदि कुचेष्टा-

करना जिससे मनुष्य मनुष्यको मनुष्य किये बिना ही स्त्रीका सेवन करता है उसकी वह कामकीड़ा बिल्कुल असफल चाहिये ॥८॥

जिसके इन्द्रियोंको सन्ताप उत्पन्न करनेवाला कामसेवन करते हैं उनका वह कार्य अन्धे-
गायके सामने गीतगानेके समान व्यर्थ है ॥९॥'

धर्माधाविरोधेन कामं सेवेत ततः^१ सुखी स्यात् ॥१०॥

जिसके धर्म और अर्थकी अनुकूलतापूर्वक—सुरक्षा करता हुआ कामसेवन करे
उसका सुख नहीं ॥११॥

कामसेवनसे धार्मिक और वेश्यासेवनसे साम्प्रतिक—धनकी क्षति होती है अतः उनका
समय ही सतोष करना चाहिये तभी सुख मिल सकता है ॥१२॥

जो उक्त वाक्यो पुष्टि करता है कि 'जो मनुष्य परस्त्री और वेश्यासेवनका त्याग
करके धर्म—धार्मिक क्षति और धनका नाश नहीं होता तथा सुख मिलता है ॥११॥'

जो कामसेवन करनेकी विधि बताते हैं:—

समं वा त्रिवर्गं सेवेत ॥१३॥

जो मनुष्य धार्मिक व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको समयका समान विभाग

करके—

संसेवनेन च ।

सर्वेषां यस्तद्व्यद्विचेष्टितम् ॥१४॥

जो मनुष्य सत्य वः कश्चित् सेवते स्त्रियं ।

तस्मिन् कर्म नररूपस्य मोहनं ॥१५॥

जो मनुष्य धर्म मोहनं क्रियते जनैः ।

तस्मिन् नृत्वं सुगीतं वपिरस्य च ॥१६॥

जो मनुष्य 'स्यत्' इस प्रकार मु० मू० पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

जो मनुष्य—

संसेवते वेश्यां चैव सदा नरः ।

तस्मिन् कर्म नृत्वं सुखिनो न धनक्षयः ॥१७॥

भाषार्थः—विवेकी मनुष्यको दिनके १२ घंटोंमें से एकत्रिभाग—४ घंटे धर्मसेवनमें, एकत्रिभाग अर्थपुरुषार्थ—न्यायसे धनसंचय करनेमें और एकत्रिभाग कामपुरुषार्थ—(न्यायप्राप्त भोगोंको उदासीनता से भोगना) के अनुष्ठानमें व्यतीत करना चाहिये। इसके विपरीत जो व्यक्ति काम सेवनमें ही अपने समयके बहुभागको व्यतीत कर देता है, वह अपने धर्म और अर्थपुरुषार्थको नष्ट करता है। जो केवल सदा धर्मपुरुषार्थका ही सेवन करता है, वह काम और अर्थकी क्षति करता है और जो दिनरात सम्यक्तिके संचय करनेमें व्यग्र रहता है, वह धर्म और कामसे विमुख होजाता है। इस प्रकारके व्यक्ति अपने जीवनको सुनी बनानेमें समर्थ नहीं होसकते। अतएव सुखाभिलाषी विवेकी पुरुष तीनों पुरुषार्थोंको परस्परकी बाधरहित समयका समान विभाग करके सेवन करे।

विद्वान् नारद^१ भी आचार्यश्रीकी उक्त मान्यताका समर्थन करता है कि 'मनुष्यको दिनके तीन विभाग करके पहले विभागको धर्मानुष्ठानमें और दूसरेको धन कमानेमें एवं तीसरेको कामसेवनमें उपयोग करना चाहिये ॥१॥'

वादीभसिंहसूरिने^२ कहा है कि 'यदि मनुष्योंके द्वारा धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्परकी बाधरहित सेवन किये जाँय तो इससे उन्हें बिना रुकावटके स्वर्गलक्ष्मी प्राप्त होती है और कमसे मोक्षसुख भी प्राप्त होता है ॥१॥'

निष्कर्षः—नैतिक व्यक्तिको धर्म, अर्थ, और काम पुरुषार्थोंको परस्परकी बाधरहित समयका समान विभाग करते हुए सेवन करना चाहिये ॥३॥

अब तीनों पुरुषार्थोंमें से केवल एकके सेवनसे होनेवाली हानि बताते हैं :—

एकोह्य^३ त्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरी च पीडयति । ४॥

अर्थः—जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंमें से केवल एको ही निरन्तर सेवन करता है और दूसरेको छोड़ देता है वह केवल उसी पुरुषार्थकी वृद्धि करता है और दूसरे पुरुषार्थोंको नष्ट कर वास्तता है।

भाषार्थः—जो व्यक्ति निरन्तर धर्म पुरुषार्थका ही सेवन करता है वह दूसरे अर्थ और कामपुरुषार्थोंको नष्ट कर देता है; क्योंकि उसका समस्त समय धर्मके पालनमें ही लग जाता है। इसी प्रकार केवल

१ तथा च नारदः—

प्रहरं त्रिभिर्भागं च प्रथमं धर्ममाचरेत् ।

द्वितीयं तु ततो विस्तृतं कामसेवने ॥१॥

२ परस्पराविरोधेन त्रिषुर्वै यदि सेव्यते ।

कर्मजन्तवितः कौण्डिन्यमवस्योऽथ्वनुकमात् ॥१॥

कर्मचूडामकौ वादीभसिंहसूरिः १ म लम्ब ।

३ 'इत्यादि' इति प्रकार मु० मु० अन्तर्गत में पाठ है अर्थ अत्यन्त आसक्ति से ।

केवाला, धर्म और काम से और कामासक्त धर्म और धन से पराङ्मुख रहता है। अतएव हमें केवल एक पुरुषार्थ ही अत्यन्त आसक्तिसे सेवन नहीं करना चाहिये।

विद्वान्ने लिखा है कि 'जिनकी चित्तवृत्तियाँ धार्मिक अनुष्ठानोंमें सदा लगी हुई हैं वे धर्मसे विशेष विरक्त रहते हैं; क्योंकि धनसंचय करनेमें पाप लगता है ॥१॥'

नैतिक व्यक्तिको वास्तविक सुखकी प्राप्तिके लिये धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंमें से केवल धर्म ही करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे वह अन्य पुरुषार्थोंके मधुर फलोंसे वंचित रह

जाता है। अतएव धन कमानेवालेका कथन करते हैं :—

परार्थं भारवाहिन इवात्मसुखं निरुन्धानस्य धनोपार्जनम् ॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने सुखको छोड़कर—अत्यन्त कष्टोंको सहकर धनसंचय करता है वह दूसरोंके भारवाह मनुष्य या पशुकी तरह केवल दुःखी ही रहता है। अर्थात् जिसप्रकार कोई मनुष्य या पशु भार—धान्यादि बोझको धारण कर लेजाता है किन्तु उसे कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि वह बोझ (भक्षण आदि) में नहीं लाता, उसीप्रकार अनेक कष्टोंको सहन करके धन कमाने वाला भी दूसरोंके लिये कष्ट सहता है परन्तु उस सम्पत्तिका स्वयं उपयोग नहीं करता, अतएव सुख नहीं होता।

विद्वान्ने लिखा है कि 'अत्यन्त कष्टोंको सहकर धर्मको उत्खनन करके एवं शत्रुओंको पराजित करके सम्पत्ति संचय की जाती है। हे आत्मन् ! इसप्रकार की अन्याय और क्षत्रकपटसे कमाई सम्पत्तिको संचय करनेमें अपने मनकी प्रवृत्ति मत करो ॥१॥'

इन्द्रियों की सार्धकता बताते हैं :—

इन्द्रियमनःप्रसादनफला हि विभूतयः ॥ ६ ॥

अर्थ—समस्त इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रुति और भोज) तथा मनकी प्रसन्न करना—इन्द्रियों की सार्धकता ही सम्पत्तियोंका फल है। अर्थात् जिस सम्पत्तिसे धनिक व्यक्तियोंकी सभी इन्द्रियों और मनकी प्रसन्नता हो वही सम्पत्ति है।

अतएव धन कमानेवालेका कथन करते हैं :—

१ तथा च इत्यतिः—

धर्मसंस्तमनसः कामे स्वात्सुविरागताः ।

अर्थे चापि विशेषेण यतः स स्वाधर्मतः ॥१॥

२ तथा च व्यासः—

अतिप्रलोभेन ये पापं धर्मस्यातिक्रमेण च ।

शत्रूणां प्रतिपातेन मात्मेन तेषु मनः कृपाः ॥१॥

निष्कर्षः—कृपण लोग सम्पत्ति प्राप्त करके भी अपनी प्रियतमा (स्त्री) के स्पर्श, उसके सुन्दर रूपका अवलोकन और मिष्टान्नका आस्वाद आदिसे बंचित रहते हैं, क्योंकि ये बहुधा धनको पृथ्वीमें गाड़ देते हैं, अतः वे लोग अपनी इन्द्रियाँ और मनको प्रसन्न करनेमें असमर्थ हैं, इसलिये उनकी सम्पत्ति निष्फल है ।

व्यास^१ नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो धन पंचेन्द्रियोंके विषयोंका सुख उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है वह (कृपणोंका धन) नपुंसकोंके यौवनकी तरह निष्फल है । अर्थात् जिसप्रकार नपुंसक व्यक्ति जयानीको पाकर, प्रियतमाके उपभोगसे बंचित रहता है अतएव उसकी जयानी—युवावस्था पाना निरर्थक है, उसी प्रकार कृपणों का धन भी सांसारिक सुखोंका उत्पादक न होनेसे निरर्थक है ॥ १ ॥

चारायण^२ नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो व्यक्ति धनाढ्य होकर दूसरोंकी नौकरी आदि करके मानसिक कष्ट उठाता है उसका धन ऊपर जमीन को चर्चण करनेकी तरह निष्फल है ॥ १ ॥'

अब इन्द्रियोंको काबूमें न करनेवालोंकी हानि बताते हैं:—

नाजितेन्द्रियाणां काऽपि कार्यसिद्धिरस्ति ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनकी इन्द्रियाँ वश (काबू) में नहीं हैं उन्हें किसी भी कार्यमें थोड़ी भी सफलता नहीं मिलती—उनके कोई भी सत्कार्य सिद्ध नहीं होसकते ।

भावार्थः—जो व्यक्ति श्रोत्रेन्द्रियको प्रिय संगीतके सुननेका इच्छुक है वह उसके सुननेमें अपना सारा समय लगा देता है इसलिये अपने धार्मिक और आर्थिक (जोविका संबंधी) आदि आवश्यक कार्योंमें विलम्ब कर देता है, इसी कारण वह अपने कार्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । इसीप्रकार अपनी प्रियाओंके आलिंगनके इच्छुक या लावण्यवती ललनाओंके देखनेके इच्छुक तथा मिष्टान्न स्वादके लोलुपी व्यक्ति भी उन्हींमें आसक्त होनेके कारण दूसरे आवश्यकीय कार्योंमें विलम्ब करते हैं, अतएव उनके सत्कार्य सफल नहीं हो पाते ।

शुक्र^३ नामके विद्वान्ने लिखा है कि यदि मनुष्य उत्तम फलवाले कार्यको शीघ्रतासे न कर उसमें विलम्ब कर देवे तो समय उस कार्यके फलको पी लेता है अर्थात् फिर वह कार्य सफल नहीं हो पाता ॥ १ ॥

१ तथा च व्यासः—

यद्धनं विषयाणां च नैवाल्पादकरं परम् ।

तत्तेषां निष्फलं श्रेयं वंदानामिव यौवनम् ॥ १ ॥

२ तथा च चारायणः—

सेवादिभिः परितोषैर्विद्यमानधनोऽपि यः ।

सन्तापं मनसः कुर्वीततस्योपरचर्षणम् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—

यस्य तस्य च कार्यस्य सफलस्य विशेषतः ।

क्षिप्रमक्रियमाणस्य कारुः पिबति तत्फलम् ॥ १ ॥

‘आसक्त’ नामके विद्वान्ने लिखा है कि ‘विषयोंमें आसक्त पुरुष अपने आवश्यक कार्योंमें लगे रहता है इससे शीघ्रता न करनेसे उन्हें उनका फल नहीं मिलता ॥ १ ॥’

विशेषणः—नैतिक सज्जनको विषयरूपी भयानक वनमें दौड़नेवाले इन्द्रियरूपी हाथियोंको जितने विबुध—व्याकुल करनेवाले हैं, सम्यग्ज्ञानरूपी अंकुरासे वशमें करना चाहिये। मुख्यतासे जितने इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त हुआ करती हैं, इसलिये मनको वशमें करना ही जितेन्द्रियपन कहेंगे क्योंकि विषयोंमें अंधा व्यक्ति महाभयानक विपत्तिके गर्तमें पड़ता है ॥ ७ ॥

इस वश करनेका उपाय बताते हैं :—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः ॥८॥

व्याख्यान—इष्टपदार्थ—प्रियवस्तु (कम्नीय कान्ता आदि) में आसक्ति न करनेवाले और विरुद्ध—विरुद्ध प्रकृतिसे प्रतिकूल वस्तुमें प्रवृत्त न होनेवाले व्यक्तिको जितेन्द्रिय कहते हैं।

व्याख्यान—यद्यपि इष्टपदार्थोंका सेवन बुरा नहीं है परन्तु आसक्तिपूर्वक उनका अधिक सेवन करना बुरा है। विद्याभ्यासका भक्षण करना बुरा नहीं है किन्तु आसक्त होकर उसका अधिकमात्रामें सेवन करना अधिकारक है। अथवा अजीर्णवस्थामें पथ्य अन्न भी रोगावर्द्धक है। अतः इष्टपदार्थोंमें आसक्ति न करना और प्रकृति तथा शत्रुके विरुद्ध या शिष्टाचारसे प्रतिकूल पदार्थके सेवनमें अज्ञान और अविचारसे प्रवृत्ति न करना इन्द्रियजय है।

व्याख्यान—नैतिक और जितेन्द्रिय पुरुषको अपना कल्याण करनेके लिये इष्टपदार्थमें आसक्त न होनेसे प्रतिकूल पदार्थमें प्रवृत्ति न करनी चाहिये ॥८॥

विद्वान्ने कहा है कि ‘यदि मनुष्य शिष्टपुरुषोंके मार्गका पूर्ण अनुसरण—पालन न कर सके तो भी अनुसरण करना चाहिये, इससे वह जितेन्द्रिय होता है ॥९॥’

इस वश करनेका दूसरा उपाय या उसका लक्षण करते हैं :—

अर्थशास्त्राध्ययनं वा ॥९॥

व्याख्यान—मनुष्यको इन्द्रियोंके जय करनेके लिये नीतिशास्त्रका अध्ययन करना चाहिये। अथवा नीतिशास्त्रका अध्ययन ही इन्द्रियोंका जय—वशमें करना है।

अथ स्वविनिर्जयः—

विद्वान्ने विद्वद्भ्यस्ते विषयास्तु चेतसः ।

अविद्वद्भ्यस्तु तेषु तेषां न तत्कलम् ॥ १ ॥

व्याख्यान—

विद्वान्ने कदा धर्मं क्लृप्तं यदि न शक्यते ।

अविद्वद्भ्यस्तु तेषु तेषां न तत्कलम् ॥१॥

नीतिकार वर्गने^१ कहा है कि 'जिसप्रकार लगामके आकर्षण—स्वीचन आदि क्रियासे घेड़े बशमें कर लिये जाते हैं उसीप्रकार नीतिशास्त्रोंके अध्ययनसे मनुष्यकी चंचल इन्द्रियाँ बशमें होजाती हैं ॥१॥'
अब उक्त बात (नीतिशास्त्रके अध्ययनको ही इन्द्रियोंका जय कहना) का समर्थन करते हैं :—

कारणे कार्योपचारात्^२ ॥१०॥

अर्थ:—कारणमें कार्यका उपचार (मुख्यता न होने पर भी किसी प्रयोजन या निमित्तके वश वस्तुमें मुख्यकी कल्पना करना) करनेसे नीतिशास्त्रके अध्ययनको ही 'इन्द्रियजय' कहा गया है ।

भावार्थ:—जिसप्रकार बशमेंको दृष्टिमें सहायक—निमित्त होनेसे नेत्र माना जाता है उसीप्रकार नीतिशास्त्रके अध्ययनको भी इन्द्रियोंके जय—वश करनेमें निमित्त होनेसे 'इन्द्रियजय' माना गया है ॥१०॥
अब कामके दोषोंका निरूपण करते हैं :—

योऽनङ्गेनापि जीयते तं कार्यं^३ पुष्टाङ्गपराधीन्^४ जयेत् ॥११॥

अर्थ:—जो व्यक्ति कामसे जीता जाता है—कामके बशीभूत है वह राज्यके अङ्गों—स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और सेना आदिसे शक्तिशाली शत्रुओं पर किसप्रकार विजय प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता ।

भावार्थ:—क्योंकि जब वह अनङ्ग (अङ्गहीनताके कारण निर्बल कामदेव) से ही हार गया तब अङ्गों—अमात्य आदि से बलिष्ठ शत्रुओंको कैसे जीत सकता है ? नहीं जीत सकता ॥११॥

नीतिकार भागुरिने^५ भी उक्त बातकी पुष्टि की है कि 'कामके बशीभूत राजाओंके राज्यके अङ्ग (स्वामी और अमात्य आदि) निर्बल—कमजोर या दुष्ट—विरोध करनेवाले होते हैं; इसलिये उन्हें और उनकी कमजोर सेनाओंको बलिष्ठ अङ्गों (अमात्य और सेना आदि) वाले राजा लोग मार डालते हैं ॥१॥'

निष्कर्ष:—विजयलक्ष्मीके इच्छुक पुरुषको कदापि कामके बश नहीं होना चाहिये ॥११॥

१ तथा च वर्गः—

नीतिशास्त्राण्यधीते यस्तस्य दुष्टानि स्वान्यपि ।

वद्यगानि शनैर्याप्ति कशापातैर्हया यथा ॥१॥

२ उक्त सूत्र सं० टीका पुस्तक में नहीं है किन्तु मु० मू० पुस्तक से संकलन किया गया है ।

३ मु० मू० पुस्तक में 'पुष्टाङ्गपरादन्' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ बलिष्ठ मनुष्य आदिको होता है ।

४ तथा च भागुरिः—

ये भूपाः कामसंभक्ता निजराज्याङ्गदुर्वलाः ।

दुष्टाङ्गास्तान् पराहन्तुः पुष्टाङ्गा दुर्वलानि च ॥१॥

अब कामी पुरुषकी हानिका निर्देश करते हैं :—

कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥१२॥

अर्थ: कामी पुरुषको सन्मार्ग पर लानेके लिये लोकमें कोई औषधि (कामको छुड़ानेवाला हितोपदेश आदि उपाय) नहीं है; क्योंकि वह हितैषियोंके हितकारक उपदेशकी अवहेलना—तिरस्कार या उपेक्षा करता है ॥१२॥

नीतिकार जैमिनिने^१ भी कहा है कि 'कामी पुरुष पिता माता और हितैषीके वचनको नहीं सुनता इससे नष्ट होजाता है ॥१॥'

अब स्त्रीमें अत्यन्त आसक्ति करनेवाले पुरुषकी हानि बताते हैं :—

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः ॥१३॥

अर्थ:—स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्ति करनेवाले पुरुषका धन, धर्म और शरीर नष्ट होजाता है ।

भावार्थ: क्योंकि स्त्रियोंमें लीनरहनेवाला पुरुष कृषि और व्यापार आदि जीविकोपयोगी कार्योंसे विमुख रहता है; अतः निर्धन—इरिद्ध होजाता है । इसी प्रकार कामवासनाकी धुनमें लीन होकर दान पुण्य आदि धार्मिक अनुष्ठान नहीं करता इससे धर्मशून्य रहता है । एवं अत्यन्त वीर्यके लयसे राजयश्मा—तपेदिक आदि असाध्य रोगोंसे व्याप्त होकर अपने शरीरको कालकवलित करानेवाला—मृत्युके मुखमें पहुँचानेवाला होता है ॥१३॥

निष्कर्ष:—अतएव साम्प्रतिक—आर्थिक, धार्मिक और शारीरिक उन्नति चाहनेवाले नैतिक पुरुषको स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्ति नहीं करनी चाहिये ॥१३॥

नीतिकार कामन्दकने^२ कहा है कि 'सदा स्त्रियोंके मुखको देखनेमें आसक्ति करनेवाले मनुष्योंकी सम्पत्तियाँ अजानीके साथ निश्चयसे नष्ट हो जाती हैं ॥ १ ॥'

वल्क्यभट्ट^३ विद्वान्ने लिखा है कि 'जो कामी पुरुष निरन्तर अपनी प्यारी स्त्रीका सेवन करता है वैसे धृतराष्ट्रके पिताके समान राजयश्मा—तपेदिक रोग होजाता है ॥ १ ॥'

१ तथा च जैमिनिः—

न शृणोति विदुर्वाक्यं न मातुर्न हितस्य च ।
कामेन विजितो मर्त्यस्ततो नार्शं प्रगच्छति ॥१॥

२ तथा च कामन्दकः—

निताप्यं संप्रसक्तानां कान्तामुखविलोकने ।
नाशमाप्नोति सुख्यक्तं यौवनेन समं भियः ॥ १ ॥

३ तथा च वल्क्यभट्टः—

यः संसेवयते कामी कामिनीं सततं प्रियाम् ।
तस्य संजायते यक्ष्मा धृतराष्ट्रपितुर्यथा ॥ २ ॥

अब नीतिशास्त्रसे विरुद्ध कामसेवनसे होनेवाली हानि बताते हैं:—

विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिरं भन्दति ॥ १४ ॥

अर्थ:—जो मनुष्य नीतिशास्त्रसे विरुद्ध कामसेवनमें प्रयुक्त होता है—परस्त्री और बेरयासेवन आदि अन्यायके भोगोंमें प्रवृत्ति करता है वह पूर्वमें धनाढ्य होनेपर भी पश्चात् विरकालतक धनाढ्य नहीं हो सकता—सदा दरिद्रताके कारण दुःखी रहता है।

भावार्थ:—क्योंकि ऐसी असत्—नीतिविरुद्ध कामप्रवृत्तिसे पूर्वसंचित प्रभुरसम्पत्ति बर्बाद—नष्ट होती है तथा व्यापार आदिसे विमुख रहनेके कारण उत्तरकालमें भी सम्पत्ति नहीं प्राप्त होती अतः दरिद्रताका कष्ट उठाना पड़ता है।

निष्कर्ष:—अतः नैतिक पुरुषको नीतिविरुद्ध कामसेवन—परस्त्री और बेरयासेवनका सदा त्यागकर देना चाहिये ॥ १४ ॥

अधिपुत्रकने भी उक्त बात का समर्थन किया है कि 'लोकमें परस्त्रीसेवन करनेवाला मनुष्य धनाढ्य होनेपर भी दरिद्र होजाता है और सदा अपकीर्तिको प्राप्त करता है ॥ १ ॥

अब एककालमें प्राप्त हुए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंमें से किसका अनुष्ठान पूर्वमें करना चाहिये? इसका समाधान किया जाता है:—

धर्मार्थकामानां युगपत्समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् १५॥

अर्थ:—एककालमें कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंमें से पूर्वका पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है।

भावार्थ:—नैतिक गृहस्थ पुरुषको सबसे प्रथम धर्म तत्परचात अर्थ और अन्तमें कामपुरुषार्थका सेवन करना चाहिये ॥ १५ ॥

भागुरि विद्वान्ने लिखा है कि 'मनुष्यको दिनके तीन भागोंमेंसे एकभाग धर्मसाधनमें, एक भाग धनार्जनमें और एकभाग कामपुरुषार्थमें व्यतीत करना चाहिये ॥ १ ॥

अब समयकी अपेक्षासे पुरुषार्थका अनुष्ठान बताते हैं:—

कालसहत्वे पुनरर्थ एव ॥ १६ ॥

अर्थ:—समय (जीविकोपयोगी व्यापार आदिका काल) का सहन न होनेसे दूसरे धर्म और

१ तथा च अधिपुत्रकः—

परदारतो योऽत्र पुरुषः संप्रजायते ।

[धनाढ्योऽपि दरिद्रः स्याद्विपुकीर्तिं लभते सदा ॥ १ ॥]

इस श्लोकका उत्तराद्ध संस्कृतटीका पुस्तकमें नहीं है अतः हमने नवीन रचना करके उसकी पूर्ति की है।

उत्पादकः—

१ तथा च भागुरिः—

धर्मचिन्तां तृतीयांशं दिवसस्य समाचरेत् ।

ततो विचारजने तावन्मार्गं कामार्जने तथा ॥ १ ॥

१ सु० मू० पुस्तक में 'कालसहत्वेपुनरर्थ एव' ऐसा पाठ है—

जिसका अर्थ:—धर्म और काम दूसरे समयमें भी किये जा सकते हैं, अतएव तीनोंमें अर्थ ही श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

कामपुरुषार्थकी अपेक्षा अर्थपुरुषार्थ (न्यायसे जीविकोपयोगी व्यापार और कृषि आदि साधनों द्वारा धनका संचय करना) का अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है।

भावार्थः— यदि किसी मनुष्यको न्यायसे धनसंचय करनेका अवसर प्राप्त हुआ हो और उसके निकल जानेपर उसे ऐसी आर्थिक कृति होती हो, जिससे वह दरिद्रताके कारण अपना कौटुम्बिक निर्वाह करनेमें असमर्थ होकर दुःखी होता हो, तो उसे धर्म और कामपुरुषार्थोंकी अपेक्षा पूर्वमें अर्थपुरुषार्थका ही अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि 'अर्थवाहो धर्मो न भवति' अर्थात् धर्मके बिना धर्म नहीं होसकता। अभिप्राय यह है कि गृहस्थ पुरुष दरिद्रताके कारण न धर्म प्राप्त कर सकता है और न सांसारिक सुख। अतः अर्थपुरुषार्थ मुख्य होनेके कारण पूर्वमें उसका अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

नारद* विद्वान्ने भी उक्त बातकी पुष्टि की है कि 'दरिद्र पुरुषोंके धर्म और कामपुरुषार्थ सिद्ध नहीं होते; अतः विद्वानोंने धर्म और कामपुरुषार्थोंकी अपेक्षा अर्थपुरुषार्थको श्रेष्ठ कर्तव्य बताया है ॥ १ ॥'

विमर्शः—धर्माचार्योंने* कहा है कि 'विवेकी मनुष्यको पूर्वमें धर्मपुरुषार्थका ही अनुष्ठान करना चाहिये। उसे विषयोंकी लालसा, भय, लोभ और जीवरक्षाके लोभसे कभी भी धर्म नहीं छोड़ना चाहिये। परन्तु आचार्यश्रीका अभिप्राय यह है कि आर्थिक संकटमें कैसा हुआ दरिद्र व्यक्ति पूर्वमें अर्थ—जीविकोपयोगी व्यापार आदि करे, पश्चात् उसे धर्म और कामपुरुषार्थका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि लोककी धर्म-रक्षा, प्राणयात्रा और लौकिकसुख आदि सब धन द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

अब तीनोंपुरुषार्थोंमें अर्थ पुरुषार्थकी मुख्यता बताते हैं :—

धर्मकामयोरर्थमूलत्वात् ॥ १७ ॥

अर्थः—धर्म, और काम पुरुषार्थका मूल कारण अर्थ है। अर्थात् बिना अर्थ (धन) के धर्म और कामपुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकते ॥ १७ ॥

इति कामसमुद्देशः समाप्तः ।

१ तथा च नारदः—

अर्थकामी न सिध्येते दरिद्राणां कथंचन ।

तस्मादर्थोऽनुकस्ताभ्यां संवित्त्यो शक्यते बुधैः ॥ १ ॥

२ न जातु कामाश्च भयाञ्ज लोभा— ।

धर्मं त्वजेऽजीवितस्यापि हेतोः ॥ १ ॥

संगृहीतः—

१ यह सूत्र संस्कृत टी० पुस्तक में नहीं है किन्तु मु० पू० पुस्तक से संकलन किया गया है ।

अथ अरिषड्वर्ग-समुद्देशः ।

अथ राजाओंके अन्तरङ्ग शत्रुसमूह—काम और क्रोधादिका निरूपण करते हैं :—

अयुक्तितः प्रणीताः काम-क्रोध-लोभ-मद-मान-हर्षाः सितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः ॥१॥

अर्थः—अन्यायसे किये गये काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष ये राजाओंके ६ अन्तरङ्ग शत्रुसमूह हैं ॥१॥

विशदविशेषण :—

नीतिकार कामन्दक^१ लिखता है कि 'सुखाभिलाषी राजाओंको काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद इन ६ शत्रुवर्गोंका सदा त्याग कर देना चाहिये ॥१॥

राजा दण्डक^२ कामके बशीभूत होकर—शुकाचार्यकी कन्याके उपभोगकी इच्छासे नष्ट हुआ। राजा जनमेजय^३ मादक्योंपर क्रोध करनेसे उनके शपसे रोगी होकर नष्ट हुआ। राजा ऐल लोभसे और वातापि^४ नामका असुर अपने अभिमानसे अगस्त्य द्वारा नष्ट हुआ ॥२॥

पुलस्त्यका बेटा रावण मानसे और दम्भोजब राजा मदसे नष्ट हुआ। अर्थात् ये राजा लोग शत्रुषड्वर्ग—उक्त काम और क्रोधादि के अधीन होनेसे नष्ट होगये ॥३॥

इसके विपरीत—काम और क्रोधादि शत्रुषड्वर्ग पर विजय प्राप्त करनेवाले जितेन्द्रिय परशुराम और महान् भाग्यशाली राजा अम्बरीषने चिरकाल तक पृथ्वीको भोगा है ॥४॥

जो राजा जितेन्द्रिय और नीतिमार्गका अनुसरण करनेवाला—सदाचारी है उसकी लक्ष्मी प्रकरा-मान और कीर्ति आकाशको स्पर्शकरनेवाली होती है ॥५॥

१ कामन्दकः प्राहः—

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।

षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिन् त्यक्ते सुखी नृपः ॥१॥

दण्डको नृपतिः कामात् क्रोधाच्च जनमेजयः ।

लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्दपतोऽसुरः ॥२॥

पौलस्त्यो रक्षसो मानान्मदादम्भोजवो नृपः ।

प्रयाता निघ्नं ह्येते शत्रुषड्वर्गमाभिताः ॥३॥

शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य कामदम्यो जितेन्द्रियः ।

अम्यरीषो महाभागो ब्रुमुज ते चिरं महीम् ॥४॥

जितेन्द्रियस्य नृपते नीतिमार्गानुसारिणः ।

भवन्ति श्वलिता जह्म्यः कीर्तयश्च नभःस्थराः ॥५॥

कामन्दकीय नीतिसार पृष्ठ १२-१३ ।

२, ३, ४, उक्त कथानक कामन्दकीय नीतिसार पृष्ठ १२ से जान लेनी चाहिये ।

विजिगीषु—विजिगीषु राजाओं तथा सुखाभिलाषी मनुष्योंको अनुचित स्थानमें किये जानेवाले उक्त दुःखोंसे निजादिली मनुष्यवर्गों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये; क्योंकि इनके अधीन हुए व्यक्तिको कदापि शत्रु की शारीरिक मूल प्राप्त नहीं होसकता ॥१॥

परस्त्रीसेवना निषेधन करते हैं :—

परपरिगृहीतास्वनूदासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः ॥२॥

अर्थः—परस्त्रीयों, वेश्याओं और कन्याओंसे विषयभोग करना यह कामरात्रु प्राणियोंको महादुःख-दायक है ।

"विद्वान्" विद्वान्ने लिखा है कि 'जो मनुष्य परस्त्री और कन्याका सेवन करता है उसकी यह शक्तिशाली अस्मत् दुःख, बंधन तथा मरणको उत्पन्न करती है ॥१॥'

विवर्कः—उक्त नीतिविरुद्ध असत् काम—परस्त्री, वेश्या और कन्याका सेवनकरना दुःखदायक काम है; परन्तु धर्मपरम्पराको अलुल्लंघन चलानेके लिये कुलीन सन्तानोत्पत्तिके उद्देश्यसे अपनी स्त्रीका त्याग करना गलत नहीं है । अतएव नैतिक व्यक्तिको असत्—नीतिविरुद्ध कामसेवनका त्याग करना चाहिये ॥२॥

कामरात्रुका निरूपण करते हैं :—

अविचार्य परस्यात्मनो वापायहेतुः क्रोधः ॥३॥

अर्थः—जो व्यक्ति अपनी और शत्रुकी शक्तिको न जानकर क्रोध करता है, वह क्रोध उसके विनाशका कारण है ।

"मागुरि" विद्वान्ने भी उक्त वाक्यकी पुष्टि की है कि 'जो राजा अपनी और शत्रुकी शक्तिको बिना जानकर क्रोध करता है वह नष्ट होजाता है ॥१॥

विरादविमर्शः—राजनीतिके विद्वानोंने विजिगीषु राजाको अप्रामादराज्यकी प्राप्ति, प्राप्तकी रक्षा और शत्रुकी बुद्धि करनेके लिये तथा प्रजापीडक कण्टकों—शत्रुओंपर विजय पानेके लिये न्याययुक्त—अपनी और शत्रुकी शक्तिको सोचविचार कर तदनुकूल—उपयुक्त क्रोध करनेका विधान किया है तथा अन्याययुक्तका निषेध किया है । इसीप्रकार गृहस्थपुरुष भी चोरो आदिसे अपनी सम्पत्तिकी रक्षार्थ उचित—न्याययुक्त क्रोध कर सकता है, अन्याययुक्त नहीं । परन्तु धार्मिक आदर्शतम दृष्टिसे शास्त्रकारोंने कहा है कि क्रोध-

१. तथा च गीतमः—

अन्धमितां च यो नारीं कुमापीं वा निषेवते ।

तस्य क्रमाः प्रवृत्ताय वन्ध्याय मरुधाय च ॥१॥

२. तथा च मागुरिः—

अविचार्यैर्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।

यः क्षीयं वाति भूपालः स विनाशं प्रगच्छति ॥१॥

शत्रु आत्माको पतनकी ओर लेजाता है । जिसप्रकार अग्नि ईंधनको भस्म कर देती है उसीप्रकार क्रोध भी व्रत, तप, नियम और उपवास आदिसे उत्पन्न हुई प्रचुर पुण्यराशिको नष्ट करदेता है इसलिये जो महापुरुष इसके बशमें नहीं होते उनका पुण्य बढ़ता रहता है^१ ॥१॥

क्रोधो पुरुषके सहोनों तकके उपवास, सत्यभाषण, ध्यान, बाहरी जंगलका निवास, ब्रह्मचर्य धारण और गोचरीशुचि आदि सब निष्फल हैं^२ ॥२॥

जिसप्रकार खलिहानमें एकत्रित धान्यराशि अग्निकणके द्वारा जलाबीजाती है उसीप्रकार नाना-प्रकारके व्रत, दया, नियम और उपवाससे संचित पुण्यराशिको क्रोध नष्ट कर देता है^३ ॥३॥

अतएव जिसप्रकार कोई मनुष्य जिस समय दूसरोंके जलानेके लिये अग्निको अपने हाथमें धारण करता है उस समय सबसे पहले उसका हाथ जलता है उसीप्रकार यह क्रोधरूपी अग्नि जिसके उत्पन्न होती है उसकी आत्माके सम्यग्ज्ञान, सुख और शान्ति आदि सद्गुणोंको नष्ट करदेती है^४ ॥४॥

निष्कर्षः—अतः विवेकियों को क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

अब लोभका लक्षणनिर्देश करते हैंः—

दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः^१ ॥ ४ ॥

अर्थः—दानकरनेयोग्य धर्मपात्र और कार्यपात्र आदिको धन न देना तथा चोरी, झलकपट और विश्वासघात आदि अन्यायोंसे दूसरोंकी संपत्तिको ग्रहण (हड़प) करना लोभ है ॥ ४ ॥

१ पुण्यं चितं व्रततपोनियमोपवासैः ।
क्रोधः क्षणेन दहतीन्धनवद्धुताशः ॥
मत्वेति तस्य वशमेति न यो महात्मा ।
तस्याभिवृद्धिमुपयाति नरस्य पुण्यं ॥१॥

२ मासोपवासनिश्चतोऽस्तु तनोतु सत्यं ।
ध्यानं करोतु विदधातु वह्निर्निवासं ॥
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्ष्यस्तोऽस्तु नित्यं ।
रोषं करोति यदि सर्वमनर्थकं तत् ॥२॥

३ दुःखार्जितं स्वकगतं वसुभीकृतं च ।
धान्यं यथा दहति वह्निरग्नः प्रविष्टः ॥
नानाविधव्रतदयानियमोपवासैः ।
रोषोऽर्जितं भवभृतां पुरुषपुण्यराशिम् ॥३॥

सुभाषितरत्नसंदोहे अमृतगत्याचार्यः ।

४ दहेत् स्वमेव रोषाग्निर्नापरं विषयं ततः ।
क्रुध्यन्नितिपति स्वाक्षे वह्निमन्यदिषक्षया ॥४॥

क्षत्रबुद्धामणी वारीभसिहसरिः ।

५ 'दानार्हेषु स्वधनाप्रदानमकारणं परविग्रहणं वा लोभः'^१ ऐसा यु० मू० पु० में पाठ है परन्तु अर्थसेर कुछ नहीं ।

विद्वान्ने लिखा है कि 'जब धनाढ्य पुरुष तृष्णाके बशीभूत होकर दूसरोंके धनको लूटनेकी कोशिश करता है एवं दान करनेयोग्य पात्रोंको दान नहीं देता उसे लोभ कहा

करते हैं:—

दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥ ५ ॥

मार्गदर्शक :—दुरभिनिवेशसे विरुद्ध प्रवृत्तियों न छोड़ना—पापकार्योंमें प्रवृत्ति करना तथा आप्त—हितैषी पुरुषों के सुझावोंको न मानना इसे मान कहते हैं ॥ ५ ॥

विद्वान्ने कहा है कि 'पाप कार्योंका न छोड़ना और कहीहुई योग्य बातको न मानना उसे मान कहते हैं जिस प्रकार दुर्योधनका मान प्रसिद्ध है अर्थात् उसने पाण्डवोंका न्याय प्राप्त राज्य न देकर अज्ञान और विदुरजी आदि आप्त पुरुषोंसे कही हुई बातकी उपेक्षा की थी ॥ १ ॥

करते हैं:—

हिस्रवहैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरुणं परप्रकर्षनिवन्धनं वा मदः ॥ ६ ॥

मद :—जो अपने कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्या आदिके द्वारा अहंकार (मद) करना, अथवा दूसरोंको रोकना, उसे मद कहते हैं ॥ ६ ॥

विद्वान्ने लिखा है कि 'अपने कुल, वीर्य, रूप, धन और विद्यासे जो गर्व किया जाता है दूसरोंको नीचा दिखाया जाता है उसे मद कहते हैं ॥ १ ॥'

किया जाता है:—

निविधमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन वा मनःप्रतिरञ्जनो हर्षः ॥ ७ ॥

हर्ष :—विद्या प्रयोजन दूसरोंको कष्ट पहुँचाकर मनमें प्रसन्न होना या इष्ट वस्तु—धनादि की प्राप्ति के आसक्ति प्रसन्नताका होना हर्ष है।

प्राप्ति:—

अप्यस्य वस्तु तद्वनाद्यः समाचरेत् ।

अप्यस्य वस्तु तद्वनाद्यः समाचरेत् ॥१४॥

संशोधित

प्राप्ति:—

अप्यस्य वस्तु तद्वनाद्यः समाचरेत् ।

अप्यस्य वस्तु तद्वनाद्यः समाचरेत् ॥१४॥

प्राप्ति:—

अप्यस्य वस्तु तद्वनाद्यः समाचरेत् ।

अप्यस्य वस्तु तद्वनाद्यः समाचरेत् ॥१४॥

भारद्वाज* नामक विद्वान्ने लिखा है कि 'जो व्यक्ति बिना प्रयोजन दूसरोंको कष्ट पहुँचाकर हर्षित होता है एवं अपनी इष्टवस्तुकी प्राप्तिमें किसी प्रकारका संदेह न होनेपर हर्षित होता है उसे विद्वानोंने हर्ष कहा है।

भावार्थ:—यद्यपि नैतिक मनुष्यको अपने शारीरिक और मानसिक विकासके लिये सदा प्रसन्नचित्त—हर्षित रहना उत्तम है परन्तु बिना प्रयोजन दूसरे प्राणियोंको सताकर—कष्ट पहुँचाकर हर्षित होना इसे अन्याययुक्त होनेके कारण त्याज्य बताया गया है, क्योंकि इससे केवल पापबंध ही नहीं होता, किन्तु साथमें वह व्यक्ति भी (जिसको निरर्थक कष्ट दिया है) इसका अनर्थ करने सत्तर रहता है। एवं धनादि अभिलषित वस्तुके मिलने पर, अधिक हर्षित होना भी लुब्धताका सूचक है; क्योंकि इससे नैतिक व्यक्तिकी गम्भीरता नष्ट होती है एवं लोकमें दूसरे लोक ईर्ष्या करने लगते हैं, साथमें आध्यात्मिक दृष्टिसे भी संपत्तिकी प्राप्तिमें हर्ष करना बहिरात्मयुक्तिका प्रदर्शन है ॥५॥

इत्यत्रिषड्वर्गसमुद्देशः समाप्तः ।

अथ विद्यावृद्धसमुद्देशः ।

अथ राजाका लक्षण करते हैं:—

योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रियमस्थानं स राजा ॥ १ ॥

अर्थ:—जो अनुकूल चलनेवालों (राजकीय आज्ञा माननेवालों) की इन्द्रके समान रक्षा करता है तथा प्रतिकूल चलनेवालों—अपराधियोंको यमराजके समान सजा देता है उसे राजा कहते हैं ॥ १ ॥

भार्गव* नामके विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजा राष्ट्रियोंके साथ कालके सहश और मित्रोंके साथ इन्द्र के समान प्रवृत्ति (कमसे निग्रह और अनुग्रह का वर्तव्य करना) करने वाला होता है, कोई व्यक्ति केवल अभियेक और पट्ट बंधनसे राजा नहीं होसकता—उसे प्रतापी और शूरवीर होना चाहिये। अन्यथा अभियेक (जल से डोना) और पट्ट बंधन—पट्टी बाँधना आदि चिन्ह तो प्रण—वाचके भी किये जाते हैं उसे भी राजा कहना चाहिये ॥ १ ॥

अथ राजाका कर्तव्य निर्देश करते हैं:—

राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः ॥ २ ॥

अर्थ:—पापियों—अपराधियोंको सजा देना और सज्जन पुरुषोंकी रक्षाकरना, राजाका धर्म है ॥२॥

१ तथा च भारद्वाजः—

प्रयोजनं विना दुःखं नो हत्वान्यथ दृश्यते ।

आत्मनोऽनर्थसंदेहैः स हर्षः प्रोच्यते दुर्गैः ॥१॥

२ तथा च भार्गवः—

वर्तते योऽस्मिन्नाभ्यां यमेन्द्राभः भूपतिः ।

अभियेको जगत्स्यापि स्वप्नजनं पश्येव वा ॥१॥

शिक्षाने लिखा है कि 'शिष्टोंकी रक्षा करना और पापियों प्रजाकण्टकों—अपराधियोंको सजा देने पर प्रभाव धर्म समझना चाहिये । इससे दूसरे कर्तव्य उसके लिये गौण कहे गये हैं ॥ १ ॥'

राजाके नहीं होते उनका निरूपण करते हैं:—

न पुनः शिरोमुखेन जटाधारणादिकम् ॥ ३ ॥

—शिरमुझाना और जटाओंका धारण करना आदि राजाका धर्म नहीं ।

—क्योंकि राजाको प्रजापालनरूप सत्कर्तव्यके अनुष्ठानसे ही धर्म, अर्थ और काम इन तीनों मिलि होगी है, अतएव उसे उस अवस्थामें शिरका मुखेन आदि कर्तव्य नहीं करना ॥ ३ ॥

शिक्षाने लिखा है कि 'व्रत नियम आदिका पालन करना राजाओंको सुखदायक नहीं है, क्योंकि धर्म तो प्रजाकी रक्षा और उसको पीड़ा पहुँचानेवालोंको नष्ट करना है ॥ १ ॥

राजा कबल क्या जाता है:—

राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यं ॥४॥

—राजाका पृथ्वीकी रक्षाके योग्य कर्म—बाहूगुण्य (संधि, विग्रह, यान, आसन, संभय और युद्ध) को राज्य कहते हैं ।

—राजालोग राज्यकी श्रीवृद्धिके लिये दूसरे शत्रुभूत राजाओंसे संधि—बलवान् शत्रुको घनादि करके सिकता करना, विग्रह—कमजोरसे लड़ाई करना, यान—शत्रु पर चढ़ाई करना, आसन—राजा करना, संभय—आत्मसमर्पण करना और द्वैधीभाव—बलवान्से संधि और कमजोरसे युद्ध करने बाहूगुण्यका यथोचित प्रयोग करते हैं, क्योंकि इन राजनैतिक उपायोंसे उनके राज्यकी श्रीवृद्धि होगी । पृथ्वीकी रक्षामें कारण वक्त बाहूगुण्यके प्रयोगको राज्य कहा गया है ॥ ४ ॥

शिक्षाने भी लिखा है कि 'काम विलास आदिको छोड़कर बाहूगुण्य—संधि और विग्रहादि के प्रयोगको राज्य कहा गया है ॥ १ ॥'

राजा के धर्म:—

राजास्य धर्मः शिक्षानां परिपालनं ।

राजास्य पापदूतीनां गौणोऽन्यः परिकीर्तितः ॥१॥

राजा के भण्डार:—

राजास्य धर्मो न भूषणां सुखायहः ।

राजास्य धर्मः प्रधानेन प्रजासंरक्षणेन च ॥१॥

राजा के धर्म:—

राजास्य धर्मः कर्म राज्यं यस्यैवकथ्यते ।

राजास्य धर्मः विज्ञेयं तेन बाह्यं कथञ्चन ॥१॥

राजास्य धर्मः विज्ञेयं तेन विलासकमनाः वदा ।

राजास्य धर्मः तस्य तत्त्वार्थं सोऽन्विरेण प्रपश्यति ॥२॥ 'संशोधित'

‘जो राजा कामासक्त होकर विषयोंका लोलुपी हुआ उक्त षाड्गुण्यका चितवन—समुचित प्रयोग नहीं करता उसका राज्य तथा वह शीघ्र नष्ट होजाता है ॥ २ ॥’

अब पुनः राज्य का लक्षण करते हैं:—

वर्णाश्रमयुक्ता धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी^१ ॥ ५ ॥

अर्थ:—वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यतिसे युक्त तथा धान्य, सुवर्ण, पशु और ताँबा लोहा आदि धातुओंको प्रचुरमात्रामें देनेवाली पृथिवीको राज्य कहते हैं परन्तु जिसमें ये बातें न पाईं जावें वह राज्य नहीं।

भावार्थ:—केवल उक्तषाड्गुण्य—संधि और विग्रह आदिके यथास्थान प्रयोगको ही राज्य नहीं कहा जासकता, किन्तु जिसके राज्यकी पृथ्वी वर्ण और आश्रमधर्मसे युक्त तथा धान्य और सुवर्ण आदि इष्ट-सामग्रीसे सम्पन्न हो उसे राज्य कहते हैं ॥५॥

भृगु^२ नामके विद्वान्ने लिखा है कि ‘जिस राजाकी पृथ्वी वर्ण और आश्रमोंसे युक्त एवं धान्य और सुवर्ण आदि द्वारा प्रजाजनोंके मनोरथोंको पूर्ण करने वाली हो उसे राज्य कहते हैं। अन्यथा जहाँ पर ये चीजें नहीं पाई जावें वह राज्य नहीं किन्तु दुःखमात्र ही है ॥ १ ॥’

अब वर्णोंका भेदपूर्वक लक्षण करते हैं:—

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णाः^३ ॥ ६ ॥

अर्थ:—वर्ण चार हैं:—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

विशदविवेचन:—भगवान् जिनसेनाचार्यने^४ आदिपुराणमें लिखा है कि इतिहासके आदिकालमें आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेवने मनुष्यजातिमें तीन वर्ण—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रकट किये थे और वे आगे कहे हुए क्षत्रत्राण—शस्त्रशक्तिसे प्रजाकी शत्रुओंसे रक्षाकरना आदि अपने २ गुणोंसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाते थे ॥ १ ॥

१ ‘वर्णाश्रमयुक्ता धान्य-हिरण्य-पशु-कूप्य-वृष्टि-प्रदान-फला च पृथिवी’ ऐसा मु० मू० पु० में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२ तथा च भृगु:—

वर्णाश्रमसंयुक्ता सर्वकामान् प्रयच्छति ।

या भूमिभूयते राज्यं प्रोक्ता सान्धा विद्वद्भिरा ॥१॥

३ ‘ब्राह्मणः क्षत्रिया विशः शूद्राश्च वर्णाः’ ऐसा पाठ मु० मू० मुस्तक में है अरन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेचसा ।

क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षत्रत्राणादिभिर्गुणैः ॥१॥

जो शस्त्रधारण कर जीविका करते थे वे क्षत्रिय और जो खेती, व्यापार और पशुपालन कर जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे ॥२॥

जो शस्त्रधारण कर जीविका करते थे वे शूद्र कहलाते थे, उनके भी २ भेद थे—(१) कारु (२) अकारु। धोबी और तारि वगैरह 'कारु' और उनसे भिन्न 'अकारु' कहलाते थे ॥३॥

जो शस्त्रधारण कर जीविका करते थे वे एक स्पर्श—स्पर्शकरनेयोग्य और दूसरे अस्पर्श—स्पर्शकरनेके योग्य नहीं कहलाते अलग निवास करते थे वे अस्पर्श और तारि वगैरह स्पर्श कहलाते थे ॥४॥

जो शस्त्रधारण कर जीविका करते थे वे सभ्य लोग अपना २ कार्य—जीविका करते थे। वैश्यका कार्य क्षत्रिय वा शूद्र नहीं करता था। क्षत्रिय और शूद्रका कार्य कोई दूसरा करता था। विवाह, जातिसंबंध और व्यवहार ये सब कार्य वैश्यवर्गकी आह्वानुसार ही सब लोग करते थे ॥५॥

जो शस्त्रधारण कर जीविका करते थे वे अपनी भुजाओंसे शस्त्रधारण कर क्षत्रियोंकी रचना की—उन्हें शस्त्रधारण करने की सीख दी है; क्योंकि जो हाथोंमें शस्त्रधारण कर दूसरे सबल या शत्रुके प्रहारसे डरते हैं वे क्षत्रिय कहलाते हैं ॥६॥

जो शस्त्रधारण कर जीविका करते थे वे अपने ऊरुओं—पैरों—से यात्रा करना—परदेश जाना दिखलाकर वैश्योंकी सृष्टि की—उन्हें यात्रा करने की सीख दी है; क्योंकि समुद्र आदि जलप्रदेशोंमें तथा स्थलप्रदेशोंमें यात्रा करके व्यापार करना वैश्यकी जीविका है ॥७॥

वैश्योऽपि कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविनः ।

तेषां शुभ्रपाण्डुरास्ते द्विधा कार्यकारवः ।

कारवो रजकाशः स्युस्ततोऽन्ये स्युःकारवः ॥८॥

कारवोऽपि मता द्वेधा स्पर्श्यास्पर्श्याविकल्पतः ।

तत्रास्पर्श्याः प्रजावात्याः स्पर्श्याः स्युः कर्तृकादयः ॥९॥

यथास्वं ह्येचितं कर्म प्रजा दधुरसंकरं ।

विवाहजातिसंबंधव्यवहारश्च तन्मतं ॥१०॥

स्वहोम्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद्विभुः ।

क्षत्रपात्रे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाशयः ॥११॥

ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्ताहीवक्षिजः प्रभुः ।

जलस्थतादियात्राभिस्तद्दृष्टिर्बोद्धव्या यतः ॥१२॥

सदा नीच कामोंमें तत्पर रहनेवाले शूद्रोंकी रचना भगवान्ने अपने पैरोंसे ही की, सो ठीक ही है, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तमवर्णोंके पैर दावना, सबप्रकारसे उनकी सेवाशुश्रूषा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना आदि शूद्रोंकी आजीविका अनेक प्रकारकी कही गई है ॥८॥

इसप्रकार तीनों वर्णोंकी सृष्टि तो ब्रह्म ही हो चुकी थी, उसके बाद भगवान् ऋषभदेवके पुत्र महाराज भरत अपने मुखसे शास्त्रोंका अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणोंकी रचना करेंगे और पढ़ना, पढ़ाना, दानदेना, दानलेना और पूजा करना कराना आदि उनकी आजीविकाके उपाय होंगे ॥९॥

उक्त वर्णोंके विषयमें आचार्यश्रीने लिखा है कि व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्रधारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक दण्ड कमानेसे वैश्य और नीचवृत्तिका आश्रय करनेसे शूद्र कहलाते हैं ॥ १० ॥

इसप्रकार इतिहासके आदिकालमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंकी सृष्टि हुई थी अतः आचार्यश्री सोमदेवसूरिने भी उक्त चारों वर्णोंका निरूपण किया है ॥६॥

अब आश्रमोंके भेदोंका वर्णन करते हैं:—

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः ॥७॥

अर्थ:—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति ये चार आश्रम हैं ॥ ७ ॥

विशदव्याख्या:—अन्य जैनाचार्योंने^१ भी लिखा है कि उपासकाध्ययन नामके सप्तम अङ्गमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमोंका निर्देश किया गया है ॥१॥

यशस्तिलकमें^२ उक्त आश्रमोंके निम्नप्रकार लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं:—

जिस पुरुषने सम्यग्ज्ञान, जीवदया—प्राणिरक्षा और कामका त्यागरूपब्रह्म—स्त्रीसेवनादि विषय-भोगका त्यागरूपब्रह्म—को भले प्रकार धारण किया है वह ब्रह्मचारी है ॥१॥

न्यवृत्तिनियतान् शूद्रान् पदभ्यामेवावृजत् सुधीः ।

वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥८॥

मुक्ततोऽप्यापयन् सास्त्रं भरतः लक्षयति द्विजान् ।

अधोत्यभ्यापने दशनं प्रतीक्षयेज्येति तत्क्षिपः ॥९॥

ब्राह्मणः व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ।

वणिजोऽर्थार्जनाभ्याप्यत् शूद्रा न्यवृत्तिसंभ्रयात् ॥१०॥

आदिपुराणे भगवद्विजयसेनाचार्यः—१६ वां पर्व ।

१ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भित्तुकः ।

इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद्विनिरुताः ॥१॥

—सगारधर्मोद्भूते ।

२ शानं ब्रह्म दयाब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः ।

सम्यग्भवे वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ॥१॥

समुप्य समारूप स्त्रीमें आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियों—दान देने योग्य त्यागी और व्रती—में अनुरागयुक्त और मनरूपीदेवताका साधक—वशमें करनेवाला—जितेन्द्रिय है वह तपस्वी है ॥२॥

तपस्वी नाम्—प्रमीण पुरुषोंकी अश्लीलता—नीतिविरुद्ध असत् प्रवृत्ति, बाह्य—धन धान्यादि वस्तुपरिग्रह—कामक्रोधादि कषायका त्यागकर संयम—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और धर्म आदि चरित्रधर्म—को धारण किया है उसे 'वानप्रस्थ' समझना चाहिये परन्तु इसके विपरीत होकर कुटुम्बयुक्त होकर वनमें निवास करता है उसे वानप्रस्थ नहीं कहा जा सकता ॥ ३ ॥

जब महात्माने सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिसे अपनी मानसिकचि शुद्धि, चरित्रपालनद्वारा शारीरिक दीप्ति, जितेन्द्रियता प्राप्त की है उसे 'तपस्वी' कहते हैं, किन्तु केवल बाह्यभेष धारण करने वाला तपस्वी नहीं कहा जा सकता ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंकी ११ प्रतिमाओं—चारित्रपालनकी श्रेणियों—में से प्रारम्भसे ६ प्रतिमाओंके चारित्रको धारण करनेवाले गृहस्थाश्रमी, सातमी से नवमी तकके चरित्रपालक 'ब्रह्मचारी' और दशमी और ग्यारहवीं तकके 'वानप्रस्थ' कहे गये हैं और उनसे आगे सर्वोत्तमचरित्रके धारक महात्मा 'मुनि'—कहे गये हैं ॥ ५ ॥

ब्रह्मचर्यक ब्रह्मचारीका लक्षण कहते हैं :—

स उपकुर्वाणको ब्रह्मचारी यो वेदमधीत्य स्नायात् ॥ ८ ॥

उपकुर्वाण—जो वेद—अहिंसाधर्मका निरूपण करनेवाले—निर्दोष शास्त्र—पढ़कर विवाहसंस्कार करता है उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी कहते हैं ॥ ८ ॥

यहाँ वर्तमान स्नान शब्दका अर्थ किया जाता है :—

स्नानं विवाहदीक्षाभिषेकः ॥९॥

स्नान—विवाहसंस्काररूप दीक्षासे अभिषिक्त होना स्नान है ॥ ९ ॥

वृत्तिविवेचि यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः ।

अनुरागो भवेन्नूनं मनोदेवतासाधकः ॥२॥

प्रमत्तमर्षं वदित्वान्तर्यः परित्यज्य संयमी ।

कुटुम्बस्यः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥ ३ ॥

जितेन्द्रियो कर्तुं सैनियमैरिन्द्रियाणि च ।

तपस्वी संज्ञ प्रदीयते स तपस्वी न वेषवान् ॥ ४ ॥

वैदिकीको वेदाश्रयः स्यात् ब्रह्मचरिणः ।

वैदिकी को तु निर्दिष्टो ततः स्यात् सर्वतो यतिः ॥ ५ ॥

—वशस्तिलक आ० ८ सोमदेववृत्तिः

'स्नानं विवाहदीक्षाभिषेकः' इस प्रकार मु० मू० पुस्तक में आठ है परन्तु अर्थमेव कुछ नहीं है ।

अथ नैष्ठिक ब्रह्मचारीका लक्षणनिर्देश करते हैं :—

स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिकमदारकर्म ॥ १० ॥

अर्थ:—जो जीवनपर्यन्त विवाह न करके कामवासनासे विरक्त रहता है उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं ।

भारद्वाज* नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस ब्रह्मचारीका समय जीवनपर्यन्त स्त्रीरहित कष्टसे व्यतीत होता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है ॥ १ ॥'

भावार्थ:—जैनाचार्योंने* उपनय ब्रह्मचारी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि ५ प्रकारके ब्रह्मचारी निर्दिष्ट किये हैं, उनमेंसे नैष्ठिक ब्रह्मचारीको छोड़कर गारुडी चार प्रकारके ब्रह्मचारी शास्त्रोंके प्राप्तावधके पश्चात् विवाह करते हैं ॥ १० ॥

अथ पुत्रका लक्षणनिर्देश करते हैं :—

य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः ॥ ११ ॥

अर्थ:—जो उत्पन्न होकर नैतिक सदाचाररूप प्रवृत्तिसे अपने कुलको पवित्र करता है वही सच्चा पुत्र है ।

भागुरि* विद्वान्ने लिखा है कि 'जो माता पिताकी सेवामें तत्पर होकर अपने सदाचाररूप धर्मके पालनसे कुलको पवित्र करता है वही पुत्र है ॥ ११ ॥'

शास्त्रकारोंने* कहा है 'जो अपना पालन पोषण करनेवाले माता पिताका सुविधि* राजाके केशव* नाम पुत्रकी तरह उपकार (सेवा भक्ति आदि) करता है वही सच्चा पुत्र है—और जो इससे विपरीत चलता है उसे पुत्रके बल—बहाने—से शत्रु समझना चाहिये ॥ १ ॥

१ तथा च भारद्वाजः—

कलत्ररहितस्याथ यस्य काकोऽतिवर्तते ।

कष्टेन मृत्युपर्यन्तो ब्रह्मचारी स नैष्ठिकः ॥ १ ॥

२ तथा चोक्तमर्थैः—

प्रथमाभिमन्यः प्रोक्ता ये पंचोपनयादयः ।

तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दधानम्यत्र नैष्ठिकात् ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—

कुलं पाति समुत्थो यः स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ।

पुनीते स्वकुलं पुत्रः पितृमातृपरायणः ॥ १ ॥

४ पुत्रः पुण्योः स्वात्मनं सुविधेरेव केशवः ।

य उपस्कुरुते वपुस्तस्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥ १ ॥

—सागारधर्मश्रुत ।

५-६ देखो आदिपुराण १० वां पर्व ।

पुत्रको माता पिता और गुरुजनोंकी आज्ञाको पालनेवाला, सदाचारी और वंशकी रक्षा करनेवाला चाहिये ॥ ११ ॥

ब्रह्मचारीका लक्षणनिर्देश करते हैं :—

कृतोद्वाहः ऋतुप्रदाता कृतुपदः ॥ १२ ॥

जो विवाहित होकर केवल सन्तान की प्राप्तिके लिये ऋतुकाल—चतुर्थदिनमें स्नान करनेके लिये स्त्रीका उपभोग करता है उसे 'कृतुपद' ब्रह्मचारी कहते हैं ॥ १२ ॥

जो विवाहने भी कहा है कि 'जो कामवासनाकी पूर्तिको छोड़कर केवल सन्तान प्राप्तिके लिये स्त्रीसे व्रत करे वह उत्तमोत्तम और सब बातोंको जाननेवाला 'कृतुपद' ब्रह्मचारी है ॥ १३ ॥

ब्रह्मचारी या पुरुष जिस प्रकारका होता है उसे बताते हैं :—

अपुत्रः ब्रह्मचारी पितृणामृणभाजनम् ॥ १३ ॥

अपुत्र—मैथिल ब्रह्मचारी—याज्ञिकब्रह्मचारी—को छोड़कर दूसरे ब्रह्मचारी पुत्रके बिना अपने पिताओंके पालन करता है ।

पितृभक्त्यः—प्रत्येक मनुष्य अपने माता पिताके अनन्त उपकारसे उपकृत होता है । अतएव वह उनके जीवनपर्यन्त उनकी सेवा शुश्रूषा करता रहता है, तथापि उनके उपकारका बदला नहीं लेता । वह उनके ऋणसे मुक्त नहीं होपता । इसलिये उसके उस अत्यन्त आवश्यक और पवित्र ऋणको उत्तराधिकारी पुत्र पूरा करता है—उनकी पवित्र स्मृतिके लिये दानपुण्य आदि यशस्वी करता हुआ अपने कुलको उज्ज्वल बनाता है । अतः वह पुत्रयुक्त पुरुष अपने पैतृक ऋणसे छुटकारा पाता है । उसके फलस्वरूप लोकमें उसकी चन्द्रवर्णिर्मल कीर्तिकीमुदीका प्रसार होता है । परन्तु पुत्रशून्य पुरुष अपने पैतृक ऋण न करनेके कारण अपने पिताओंका ऋणी बना रहता है ।

पुत्रयुक्तः—कृताङ्ग सद्गृहस्थ पुरुषको पैतृक ऋणसे मुक्त होने एवं वंश और धर्मकी मर्यादाको अङ्गुली के लिये पुत्रयुक्त होना चाहिये ॥ १४ ॥

अध्ययन न करनेवाले पुरुषकी हानि बताते हैं :—

अनध्ययनो ब्रह्मणः ॥ १४ ॥

यह एक मु० मू० पु० में नहीं है, केवल सं० टी० पु० में है ।

इसका अर्थ :—

अनध्ययनं न कामाय यः क्षियं कामयेदतौ ।

अनध्ययः ॥ सर्वेषामुत्तमोत्तमसर्ववित् ॥ १ ॥

अनध्ययः पुमांश्चिपुणामृणभाजनम्' ऐसा पाठ मु० मू० पुस्तक में है जिसका अर्थ यह है कि पुत्रशून्य पुरुष पिताओंके ऋण का भुक्ती होता है । [नोटः—यह पाठ संस्कृत टीका पुस्तक के पाठ से अशुद्ध प्रतीत होता है । —सम्पादक]

अनध्ययनो ब्रह्मणोऽयम्' इसप्रकार मु० मू० पु० में पाठ है जिसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य शास्त्रोंका अध्ययन नहीं करता वह गणधरादि ऋषियोंका ऋणी है ।

अर्थः—जो मनुष्य शास्त्रका अध्ययन नहीं करता वह आदिब्रह्मा—ऋषभदेव तीर्थङ्कर—का श्रेणी है।

ऋषिपुत्रक^१ विद्वान्ने कहा है कि (जो ब्रह्मचारी अज्ञानसे वेदोंका अध्ययन नहीं करता उसका ईश्वरश्रेण व्याजयुक्त होनेसे बढ़ता रहता है ॥ १ ॥)

भावार्थः—ऋषभादिमहावीरपर्यन्त चतुर्विंशति—२४ तीर्थङ्करोंकी दिव्यध्वनिके आधारसे ही द्वादशाङ्ग—अहिंसाधर्मका निरूपण करनेवाले शास्त्रों—की रचना हुई है, अतएव उन्हें मनुष्यजातिको सम्यग्ज्ञाननिधि समर्पण करनेका श्रेय प्राप्त है। इसलिये जो उनके शास्त्रोंको पढ़ता है वह उनके श्रेणसे मुक्त होजाता है और जो नहीं पढ़ता वह उसका श्रेणी रहता है।

निष्कर्षः—यद्यपि उक्त निरूपण लौकिक व्यवहाररूप है। तथापि श्रेयकी प्राप्ति, ऋषभादितीर्थङ्करोंके प्रति कृतज्ञताप्रदर्शन करने और अज्ञाननिवृत्तिके लिये प्रत्येक व्यक्तिको निर्दोष—अहिंसाधर्मनिरूपक—शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये ॥ १४ ॥

अथ ईश्वरभक्ति न करने वालेकी हानि बताते हैंः—

अयज्जानो देवानाम्^२ ॥ १५ ॥

अर्थः—जो मनुष्य देवों—ऋषभादिमहावीरपर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों—की भक्ति—पूजा—नहीं करता वह उनका श्रेणी है।

भावार्थः—आचार्यश्री विद्यानन्दिने^३ श्लोकवार्तिकमें कहा है कि आत्यन्तिक दुःखोंकी निवृत्ति—मोक्षकी प्राप्ति—सम्यग्ज्ञानसे होती है और वह—सम्यग्ज्ञान—निर्दोष द्वादशाङ्गके अध्ययनसे प्राप्त होता है एवं जो द्वादशाङ्ग शास्त्रोंके मूल जन्मदाता (आदिवक्ता) ऋषभादिमहावीरपर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थङ्कर पूज्य हैं; क्योंकि सज्जन लोग किये हुए उपकारको नहीं भूलते। अतः उन्होंने मनुष्योंके हृदय मन्दिरोंमें सद्बुद्धि और सदाचारके दीपक जलाकर उनका अनन्त और अपरिमित उपकार किया है ॥१॥

इसलिये जो व्यक्ति मूर्खता या मदके घशमें होकर उनकी भक्ति—पूजा—नहीं करता वह उन तीर्थङ्करोंका श्रेणी है।

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—

ब्रह्मचारी न वेदं यः पठते मौढ्यमास्थितः ।

स्वायंभुवमृणं तस्य वृद्धिं याति कुलीदकम् ॥१॥

२ 'अयज्जानो देवानाम्' इसप्रकार मु० म० पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३ अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः ।

प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्तिरामात् ॥

इति प्रभवति स पूज्यस्त्वत्पसादप्रबुद्धिः ।

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥१॥

श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३ विद्यानन्दि-आचार्य ।

निष्कर्षः—प्रत्येक मनुष्यको देवऋणसे मुक्ति—छुटकारा एवं श्रेयकी प्राप्तिके लिये ईश्वरभक्ति करनी

करनेवाले मनुष्यकी हानि बताते हैं:—

अहन्तकरो मनुष्याणाम् ॥ १६ ॥

अर्थ—दूसरोंको शोक उत्पन्न न करनेवाला मनुष्योंका ऋणी है—अर्थात् जिसकी मृत्यु होजाने पर दूसरोंके हृदयमात्र—थोड़ासा भी—शोक उत्पन्न न हो वह मनुष्यजातिका ऋणी है। अथवा इसका अर्थ भी होसकता है कि जो मनुष्य दूसरोंको दुःखी देखकर 'हन्त' इस प्रकार खेदसूचक शब्द नही बोलता—दूसरोंके दुःखमें समवेदना प्रकट नहीं करता—वह मनुष्योंका ऋणी है।

निष्कर्षः—लोकमें दो प्रकारके मनुष्य होते हैं। उत्तम—स्वार्थत्यागी और अयम—स्वार्थान्ध। उत्तम मनुष्य अपने जीवनको काँचकी शीशीके समान क्षणभंगुर समझकर स्वार्थको ठुकराकर जनताके कल्याणके लिये और अपने जीवनको विशुद्ध बनाते हैं, अतः उनकी लोकमें चन्द्रबन्धुमल कीर्ति होती है। अयम मनुष्य पालन—लोकसेवा—से जनताके ऋणसे मुक्त होजाते हैं, क्योंकि उसके फलस्वरूप जनता की शोकाकुल होजाने पर शोकाकुल होती है। परन्तु दूसरे स्वार्थान्ध पुरुष परोपकार नहीं करते और अपने स्वार्थमें लगे रहते हैं, अतः उनके मरजाने पर भी किसीको जरा भी शोक नहीं होता, इसलिये वे लोग ऋणीके ऋणी समझे जाते हैं ॥ १६ ॥

ब्रह्मचारी पुत्रशून्य होने पर भी ऋणी नहीं होता इसे बताते हैं:—

आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिकस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—नैष्ठिक ब्रह्मचारीका आत्मा ही पुत्र समझा जाता है।

निष्कर्षः—नैष्ठिक ब्रह्मचारीने लिखा है कि 'जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपनी आत्मामें परमात्माका प्रत्यक्ष रूप देखकर ईश्वरभक्ति करली और पुत्रके मुखको भी देख लिया अर्थात् वह पितृऋणसे मुक्त होता है ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—नैष्ठिक ब्रह्मचारी—जन्मपर्यन्त ब्रह्मचर्यसे रहनेवाला होता है अतः उसे पुत्रकी कामना नही रहती, अतः पुत्रकी आवश्यकता नहीं रहती ॥ १७ ॥

ब्रह्मचारीका महत्त्व बताते हैं:—

अयमात्मात्मानमात्मनि संदधानः परां पूततां सम्पद्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—जो आत्मा अपने आत्मनि संदधान है किन्तु मु० मू० पुस्तक से संकलन किया गया है।

निष्कर्षः—

अयमात्मात्मानमात्मनि संदधानः परां पूततां सम्पद्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—जो आत्मा अपने आत्मनि संदधान है किन्तु मु० मू० पुस्तक से संकलन किया गया है।

अर्थः—यह नैष्ठिक ब्रह्मचारी—आत्माके द्वारा आत्माको आत्मस्वरूपमें प्रत्यक्ष करता हुआ अत्यन्त विशुद्धिको प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

नारद^१ विद्वान्ने भी शिखा है कि जिस नैष्ठिक ब्रह्मचारीको आत्माका प्रत्यक्ष होजाता है उसे समस्त प्रकारके ब्रह्मचर्यके फल—स्वर्गादि—प्राप्त होजाते हैं ॥ १९ ॥

निष्कर्षः—नैष्ठिक ब्रह्मचारीका पद उच्च और श्रेयस्कारक है; क्योंकि वह कामवासनासे विरक्त—जितेन्द्रिय, आत्मदर्शी और विशुद्ध होता है ॥ १८ ॥

अब गृहस्थका लक्षण निर्देश करते हैं :—

नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः ॥ १६ ॥

अर्थः—जो व्यक्ति शास्त्रविहित नित्य अनुष्ठान—सत्कर्तव्य (१ इज्या^२—तीर्थक्षुर और महर्षियोंकी पूजाभक्ति, २ वार्ता^३—न्यायवृत्तिसे अग्नि, मणि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन जीविकोपयोगी कार्योंको करना, ३ दत्ति^४—दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति, ४ स्वाध्याय^५—निर्दोष शास्त्रोंका अध्ययन मनन आदि, ५ संयम^६—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और वृष्णाका त्याग, इन व्रतोंका पालन करना तथा ६ तप^७—अनशन आदि तपकरना) और नैमित्तिक अनुष्ठान (वीर जयन्ती आदि निमित्तको लेकर किये जानेवाले धार्मिक प्रभावना आदि सत्कार्य) का पालन करता है उसे गृहस्थ कहा है ॥ १६ ॥

भागुरि^८ विद्वान्ने कहा है कि 'जो मनुष्य उत्कृष्ट ब्रह्मासे युक्त होकर नित्य और नैमित्तिक सत्कर्तव्योंका

१ तथा च नारदः—

आत्मावलोकनं यस्य जायते नैष्ठिकस्य च ।

ब्रह्मचर्याणि सर्वाणि यानि तेषांफलं भवेत् ॥१९॥

२ तथा चोक्तमार्बे—कुलधर्मोऽयमित्येवामर्हत्पूजादिवर्णनं”

इज्या वार्ता च दत्ति च स्वाध्यायं संयमं तपः ।

भूतोपाकुर्वत्प्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥

३ वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः ।

अग्निर्मणिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च ।

कर्मोणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१७३॥ पर्व १३

चतुर्द्धी वर्णिता दत्तिर्दयापात्रसमन्वये ॥ ३

५ 'स्वाध्यायः भूतभावना'

६-७ 'तपोऽनशनइत्यादि संयमो व्रतधारणं'

इति आदिपुराणे भगवान् जिनसेनाचार्यः पर्व ३८ ।

८ तथा च भागुरिः—

नित्यनैमित्तिकपरः ब्रह्मया परया युतः ।

गृहस्थः प्रोच्यते सद्भिरगृह्यः पशुरस्यथा ॥१॥

करता है उसे विद्वानोंने गृहस्थ कहा है किन्तु इससे विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाला बिना सींगोंका ॥ १ ॥

सोमदेवाचार्यने^१ लिखा है कि जिनेन्द्रभक्ति, गुरुओंकी उपासना, शास्त्रस्वाध्याय, संयम—अहिंसा, सत्य आदि बातोंका धारण—अनशनादि तप और पात्रदान ये ६ सत्कर्तव्य गृहस्थोंके प्रत्येक दिन करनीय हैं ॥ १ ॥

जो ब्राह्मण चमारूपस्त्रीमें आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियों—पात्रों—में अनुरागयुक्त और निरुद्ध है उसे गृहस्थ कहते हैं ॥ २ ॥

निष्कर्षः—वैदिक और पारलौकिक सुख चाहनेवाले गृहस्थ व्यक्तिको उक्त नित्य और नैमित्तिक कर्तव्योंके पालन करनेमें सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ १६ ॥

गृहस्थोंके नित्य अनुष्ठान—सदा करनेयोग्य सत्कार्य—का निर्देश करते हैंः—

ब्रह्मदेवापत्रतिथिभूतयज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम् ॥ २० ॥

अर्थः—ब्रह्मयज्ञ—ब्रह्मपिंगणधरोंकी पूजा, देवयज्ञ—ऋषभादिमहावीरपर्यन्त तीर्थङ्कर देवोंका पूजन, पूजन, स्तुति, जप और ध्यान आदि, पितृयज्ञ—माता पिताका आश्वासन पालन और उनकी सेवा आदि, अतिथियज्ञ—अतिथि सत्कार और भूतयज्ञ—प्राणीमात्रकी सेवा करना ये गृहस्थके नित्य करनेयोग्य सत्कार्य हैं ॥ २० ॥

नैमित्तिक—तीर्थङ्करोंकी जयन्ती आदिके निमित्तको लेकर किये जानेवाले—सत्कार्योंका निर्देशकरते हैंः—

दर्शपौर्णमास्याद्याश्रयं नैमित्तिकम् ॥ २१ ॥

अर्थः—अमावस्या और पूर्णमासी आदि शुभतिथियोंमें कियेजानेवाले धार्मिक उत्सव आदि प्रशस्त कर्मोंको नैमित्तिक अनुष्ठान कहते हैं ।

आश्रय—जिन शुभतिथियोंमें धर्मतीर्थके प्रवर्तक ऋषभादि तीर्थङ्करोंके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष कल्याणक हुए हों या पूज्य महापुरुषोंका जन्म हुआ हो उनमें धार्मिक पुरुष जो महावीरजयन्ती आदि उत्सव करते हैं उसे नैमित्तिक अनुष्ठान कहते हैं ॥ २१ ॥

१ वेदसेवा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।

ज्ञानं चैव गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥ १ ॥

आन्त्रियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः ।

७ गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥ २ ॥

यशस्विलके सोमदेवसुरिः ।

अब अन्यमतोंकी अपेक्षासे गृहस्थोंके भेद कहते हैं:—

वैवाहिकः शालीनो जायावरोऽघोरो गृहस्थाः ॥२२॥

अर्थ:—गृहस्थ चार प्रकारके हैं:—वैवाहिक, शालीन, जायावर और अघोर ॥२२॥

जो गृहमें रहकर अद्धापूर्वक केवल गार्हपत्य अग्निमें ही हवन करता है उसे 'वैवाहिक' समझना चाहिये ॥२॥

जो पूजाके बिना केवल अग्निहोत्र करता हुआ पांचों अग्नियोंकी पूजा करता है उसे 'शालीन' जानना चाहिये ॥२॥

जो एक अग्निकी अथवा पांचों अग्नियोंकी पूजा करनेमें तत्पर है और जो शूद्रकी धनादि वस्तुको ग्रहण नहीं करता वह सात्विक प्रकृतियुक्त 'जायावर' है ॥३॥

जो दक्षिणा—दान—पूर्वक अग्निष्टोम आदि यज्ञ करता है वह सौम्यप्रकृतियुक्त और रूपवान् 'अघोर' कहा गया है ॥४॥

अब परमतकी अपेक्षा वानप्रस्थका लक्षण निर्देश करते हैं:—

यः खलु यथाविधि जानपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलंत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ॥२३॥

अर्थ:—जो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार लौकिक आहार—नागरिक या ग्रामीण पुरुषोंका अन्न आदि—का तथा सांसारिक व्यवहार—गाय, भैंस पुत्र और पौत्रादि—का त्याग करके स्त्रीसहित वा स्त्रीरहित होकर वनको प्रस्थान करता है उसे वानप्रस्थ कहते हैं ।

१ उक्त सूत्र न तो मु० मू० पुस्तकमें और न गवर्न० लायब्रेरी पुनाको हस्तलिखित मूलप्रतियोंमें है किन्तु केवल सं० टी० पुस्तकमें पाया जाता है ।

सम्पादक:—

२ [नोट:—जैनसिद्धान्तमें उक्त गृहस्थोंके भेद नहीं पाये जाते परन्तु इस ग्रन्थमें आचार्यभीने जिसप्रकार कुछ स्थलोंमें अन्य नीतिकारोंकी मान्यताओंका संकलन किया है उसीप्रकार यहाँ भी अन्यमतोंकी अपेक्षा गृहस्थोंके भेद संकलन किये हैं । अथवा उक्त सूत्र किसी भी मूलप्रतिमें न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थका संस्कृत टीकाकार जैन विश्वान् या; इसलिये उसने अपने मतकी अपेक्षासे कुछ सूत्र अपनी कविसे रचकर मूलग्रन्थमें शामिल करदिये हैं, अन्यथा यही आचार्यभी यशस्तिलाकमें गृहस्थका लक्षण (चान्तियोपेति यो सक्तः सभ्यभानातियिप्रियः । स गृहस्थो भवेन्मूर्ख मनो-देवतलक्षकः ॥ १ ॥) 'क्षमाकृष्णस्त्रीमें आसक्त, सम्पत्तान और अतिथियोंमें अनुरागयुक्त और भित्तिनिष्ठ' न करते ।]

३ देखो नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ० ४९ ।

सम्पादक:—

विशेष विमर्शः—इन्हीं आचार्यश्रीने^१ यशस्तिलकचम्पूमें कहा है कि 'जो प्राचीण पुरुषोंकी नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति और धनधान्यादि बाह्य तथा कामकोधादि अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग कर अहिंसा और सत्य आदि संयमधर्मको धारण करता है उसे वानप्रस्थ समझना चाहिये । परन्तु इसके विपरीत जो स्त्री आदि कुटुम्बयुक्त होकर वनमें रहता है उसे वानप्रस्थ नहीं कहा जासकता ॥ १ ॥

चारित्र्यसारमें ग्यारहवीं प्रातिमाके चरित्रको पालनेवाले तुल्लक और पेलकको 'वानप्रस्थ' कहा है^२ । विश्लेषण और परीक्षणः—

उक्त प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि उक्त लक्षण जैनसिद्धान्तकी अपेक्षासे नहीं है; अतः आचार्यश्रीने परमतकी अपेक्षासे वानप्रस्थका लक्षण संकलन किया है अथवा अन्यमतानुयायी संस्कृत टीकाकारने ऐसा किया है; क्योंकि यशस्तिलकमें वानप्रस्थको स्त्रीसहित वनमें रहनेका स्पष्ट निषेध किया गया है ॥२३॥

अब परमतकी अपेक्षासे वानप्रस्थके भेद कहते हैंः—

वालिखिल्य औदम्बरी वैश्वानराः सद्यःप्रक्षल्यकर्चन्त वानप्रस्थाः ॥२४॥

वानप्रस्थ चार प्रकारके हैंः—वालिखिल्य, औदम्बरी, वैश्वानर और सद्यःप्रक्षल्यक^३ ।

जो प्राचीन गार्हपत्य अग्निको त्यागकर केवल अरणी—समिधविशेष—को साथ लेजाकर बिना स्त्रीके वनको प्रस्थान करता है वह वनमें रहनेवाला 'वालिखिल्य' है ॥२४॥

जो स्त्रीसहित वनमें रहकर पाँचों अग्नियोंसे विधिपूर्वक पाँच यज्ञ—पितृयज्ञ, देवयज्ञ, प्रजायज्ञ, अतिथियज्ञ और अपियज्ञ—करता है उसे विद्वानोंने 'औदम्बर' कहा है ॥२५॥

जो यज्ञपूर्वक त्रिकाल स्नान करता है और अतिथियोंकी पूजा करके—इन्हें खिलाकर—कंदमूल और फलों का भक्षण करता है वह 'वैश्वानर' कहा गया है ॥२६॥

१ प्र.स्यमर्थं बहिर्चान्त्यः परित्यज्य संयमी ।

वानप्रस्थः स विशेषो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥२१॥

यशस्तिलके मोमदेवतूरिः आ० ८

२ 'वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपेण वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति'—चाग्निवसारे । अर्थः—मुनि मुद्रा—दिगम्बर अवस्था—को धारण न करके वस्त्र या खंडवस्त्रको धारण करनेवाले (खंडवादार और लंगोटीके धारक तुल्लक और केवल लंगोटीके धारक पेलक) महात्माओंको जोकि साधारण तपश्चर्यामें प्रयत्नशील हैं उन्हें 'वानप्रस्थ' कहते हैं ।

३ उक्त सूत्र न तो मु० पू० पुस्तकमें और न हस्तलिखित गवर्न० लायब्रेरी पुनः की दोनों पुस्तकोंमें पाया जाता है किन्तु संस्कृत टीका पुस्तकमें है ।

४ मोर—उक्तकथनका भी जैनसिद्धान्तसे समन्वय नहीं होता; अतएव संस्कृत टीकाकारकी रचना या आचार्यभीकः परमतकी अपेक्षासे संकलन जानना चाहिये ।

जो केवल खानेमात्रको धान्यविशेष और घृतका संग्रह करता है और अग्निकी पूजा करता है उसे 'सद्यःप्रक्षालक' कहते हैं ॥२४॥

अब यति—साधुका लक्षणनिर्देश किया जाता है:—

यो देहमात्रारामः सम्यग्बिधानौलाभेन तृष्णासरित्तरणाय योगाय यतते यतिः ॥ २५ ॥

अर्थ:—जो शरीरमात्रसे अपनी आत्माको सन्तुष्ट रखता है—शरीरके सिवाय दूसरे बहिरङ्ग—धन-धान्यादि और अन्तरङ्ग—काम-क्रोधादि—परिग्रहका त्याग किए हुए है एवं सम्यग्ज्ञानरूपी नौकाकी प्राप्तिसे तृष्णारूपी नदीको पार करनेके लिए ध्यान करनेका प्रयत्न करता है उसे 'यति' कहते हैं ।

हारीत^१ विद्वान्ने भी उक्त वातकी पुष्टि की है कि 'जो आत्मामें लीन हुआ विद्याके अभ्यासमें तत्पर है और संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये ध्यानका अभ्यास करता है उसे यति कहते हैं ॥ १ ॥'

स्वामी समन्तभद्राचार्यने^२ भी कहा है कि जो पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी लालसासे रहित, कृष्यादि आरंभ और बहिरङ्ग (धन धान्यादि) एवं अन्तरङ्ग—क्रोधादि—परिग्रहका त्याग होकर ज्ञान, ध्यान और तपश्चर्यामें लीन रहता है उसे यति-तपस्वी-कहते हैं ॥ १ ॥

इसीके जितेन्द्रिय, तृपणक, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, यति, तपस्वी और अनगर आदि अनेक गुण-निष्पन्न—सार्थक—नाम यशस्तिलकमें आचार्यश्रीने व्यक्त किये हैं परन्तु विस्तारके भयसे हम उनका संकलन करना नहीं चाहते ॥ २५ ॥

अब अन्यमतकी अपेक्षासे यतियोंके भेद बताते हैं:—

कुटीचरबन्धोदकहंसपरमहंसा यतयः^३ ॥ २६ ॥

अर्थ:—यति—साधु—चार प्रकारके होते हैं:—कुटीचर, बन्धोदक, हंस और परमहंस । जो त्रिदली (ऐसे दंडविशेषको धारण करनेवाला जिसमें चोटी और जनेऊ बँधे हुए हों अथवा न भी बँधे हुए हों), शिरपर केवल छोटी रखनेवाला, यज्ञोपवीत—जनेऊ—का धारक, मोपड़ीमें रहनेवाला और जो एकबार पुत्रके मकान पर स्नान करता हो तथा मोपड़ी में निवास करता हो उसे 'कुटीचर' कहते हैं ॥१॥

जो मोपड़ीमें रहकर गोचरीवृत्तिसे आहार करता हो और विष्णु की जाप जपनेमें तत्पर हो उसे 'बन्धोदक' कहते हैं ॥२॥

१ देखो नीति० संस्कृत टीका पृष्ठ ५० ।

२ तथा च हारीतः—

आत्माराधो भवेद्यस्तु विद्यासेवनतत्परः ।

संसारतरणार्थाय योगभाग् यतिक्रम्यते ॥ १ ॥

३ विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥ २ ॥

रत्नकरशङ्के स्वामी समन्तभद्राचार्यः ।

४—उक्त सूत्र भी मु० मू० पुस्तक में और गवर्न० लायब्रेरी पुनाकी हस्तलिखित मू० दोनों प्रतियोंमें नहीं है किन्तु केवल संस्कृत टीका पुस्तकमें है ।

जो गाँवोंमें एकरात और शहरोंमें तीनरात तक निवास करता हो और धूप और अग्निसे शुन्य ब्राह्मणोंके भक्तानोंमें जाकर धाली आदिमें या हस्तपुटमें स्थापित किये हुए आहारको ग्रहण करता हो एवं जिसे शरीर और इन्द्रियादि प्रकृतिसे भिन्न पुरुषत्व — आत्मतत्त्व — का बोध उत्पन्न हुआ हो उसे 'हंस' समझना चाहिये ॥ २॥

जो अपनी इच्छासे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंका गोचरीवृत्तिसे आहार ग्रहण करता हो, दंड विशेषका धारक, समस्त कृषि और व्यापार आदि आरंभका स्वामी और वृत्तोंके मूलमें बैठकर भिन्ना द्वारा लाये हुए आहारको ग्रहण करता हो उसे 'परमहंस' कहते हैं ॥ २६ ॥

अब राज्यका मूल बताने हैं:—

राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च ॥ २७ ॥

अर्थ:—पैतृक—वंश परम्परासे चला आया राज्य या सदाचार और विक्रम—सैन्य और खजानेकी शक्ति—ये दोनों गुण राज्यरूपी वृत्तके मूल हैं—इन दोनों गुणोंसे राज्यकी श्रीवृद्धि होती है।

भावार्थ:—जिसप्रकार जड़सहित वृक्ष शाखा, पुष्प और फलादिसे वृद्धिको प्राप्त होता है उसीप्रकार राज्य भी क्रम—सदाचार तथा पराक्रमसे वृद्धिको प्राप्त होता है—हस्ति, अश्वदि तथा धन-धान्यादिसे समृद्धिशाली होजाता है ॥ २७ ॥

शुक्र विद्वान्ने^१ भी लिखा है कि 'जिसप्रकार जड़सहित होनेसे वृक्षकी वृद्धि होती है उसीप्रकार क्रम—सदाचार और विक्रम गुणोंसे राज्यकी वृद्धि—उन्नति—होती है और उनके बिना नष्ट होजाता है' ॥ १॥

निष्कर्ष:—राजाका कर्तव्य है कि वह अपने राज्य (चाहे वह वंशपरम्परासे प्राप्त हुआ हो या अपने पुरुषार्थसे प्राप्त किया गया हो) को सुरक्षित, वृद्धिगत और स्थायी बनानेके लिये क्रम—सदाचारलक्ष्मी—से अलंकृत होकर अपनी सैनिक और खजानेकी शक्तिका संचय करता रहे, अन्यथा दुराचारी और सैन्यहीन होनेसे राज्य नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥

१ नोट:—उक्त सूत्रमें जो चार प्रकारके वृत्तियोंका निर्देश किया गया है उसका जैनसिद्धान्तसे समन्वय नहीं होता, क्योंकि जैनाचार्योंने 'पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः निर्ग्रन्थाः' आचार्य उमास्वामीकृत मोक्षशास्त्र अ० १—अर्थात् पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इसप्रकार वृत्तियोंके ५ भेद निर्दिष्ट किये हैं और उनके कर्तव्योंका भी पृथक् २ निर्देश किया है। एवं स्वयं इन्हीं आचार्यश्रद्धाने यशस्तिलकमें वृत्तियोंके जितेन्द्रिय, क्षणिक, श्रुति, वृत्ति आदि गुणनिष्पन्न—सार्थक न मोकी विशदव्याख्या की है, अतएव इनको अन्य सांख्य योग आदि दार्शनिकों की मान्यताओंका संग्रह समझना चाहिये। इसमें आचार्यश्री की राजनैतिक उदारदृष्टि या संस्कृत टीकाकारके अजैन होनेसे उसके द्वारा की हुई अपने मतकी अपेक्षा नवीन रचना हो कारण है।

सम्पादक:—

२ 'राज्यमूलं क्रमो विक्रमश्च' इस प्रकार मु० सू० पुस्तकमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३ तथा च शुक्र:—

क्रमविक्रममूलस्य राज्यस्य तु यथा ततोः।

समूलस्य भवेद्वृद्धिस्ताभ्यां हीनस्य संक्षयः ॥ १ ॥

अब राज्यकी वृद्धिका उपाय बताते हैं:—

आचारसम्पत्तिः क्रमसम्पत्तिं करोति ॥ २८ ॥

अर्थ:—सदाचारलक्ष्मी वंशपरम्परासे या पुरुषार्थसे प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मीको चिरस्थायी बनानेमें कारण है ।

शुक्र* विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा अपने नीतिक्रान्तों वृद्धि करके लोकव्यवहारमें निपुण होता है इससे उसके वंशपरम्परासे चले आये राज्यकी श्रीवृद्धि होती है ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—नीतिविरुद्ध असत् प्रवृत्ति—दुराचार—से राज्य नष्ट होजाता है; अतएव जो राजा अपने राज्यको चिरस्थायी बनानेका इच्छुक है उसे सदाचारी होना चाहिये ॥ २८ ॥

अब जिस गुणसे पराक्रम सुशोभित होता है उसका वर्णन करते हैं:—

अनुत्सेकः खलु विक्रमस्यालङ्कारः ॥ २९ ॥

अर्थ:—विनय—अभिमान न करने से पराक्रम सुशोभित होता है ।

गुरु* विद्वान्ने लिखा है कि 'मनुष्य सुवर्णादिके आभूषणोंसे रहित होने पर भी यदि विनयशील है तो वह विशेष सुशोभित होता है, परन्तु घमण्डी पुरुष अनेक आभूषणोंसे अलंकृत होनेपर भी लोकमें ईंसीका पात्र होता है ॥ १ ॥

जो राजा 'मैं ही बड़ा शूरवीर हूँ' ऐसा समझ कर अभिमानके बश होकर अपने अमात्य, गुरुजन और बन्धुजनोंका सत्कार नहीं करता वह राक्षसकी तरह नष्ट होजाता है ॥ २ ॥'

निष्कर्ष:—अतः नैतिक पुरुषको कदापि अभिमान नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

अब राज्यकी क्षतिको कारण बताते हैं:—

क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः* ॥ ३० ॥

अर्थ:—... राजा क्रम (सदाचार और राजनैतिक ज्ञान) और पराक्रम सैनिकशक्ति—इनमेंसे केवल एक ही गुण प्राप्त करता है उसका राज्य चिरस्थायी नहीं रहता—नष्ट हो जाता है ।

१ तथा च शुक्रः—

लौकिक व्यवहारं यः कुरुते नयवृद्धितः ।

तद्वृद्ध्या वृद्धिमायाति राज्यं तत्र क्रमागतम् ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—

भूषणैरपि संत्यक्तः स विरेजे विगर्वकः ।

सगर्वो भूषणाढ्योऽपि लोकेऽस्मिन् हास्यतां व्रजेत् ॥ १ ॥

योऽमात्यान् मन्यते गर्वान्न गुरुन् न च बाधवान् ।

शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रात्रौ यथा ॥ २ ॥

३ 'क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः' ऐसा मु० बृ० पुस्तकमें पाठ है परन्तु अर्थमेव कुछ नहीं है ।

आचार्यः—वैदिक राज्यके मिल जानेपर भी जो राजा भीक होता है—पराक्रम नहीं करता—सैनिकशक्ति नष्ट—शक्तिशाली नहीं बनाता उसका राज्य नष्ट होजाता है । इसीप्रकार जो पराक्रमशक्ति—सैनिक—से राज्य संपादन कर लेता है परन्तु राजनीतिक ज्ञान—संधि, विग्रह, यान और आसन आदिका स्थान, देश और कालके अनुसार प्रयोग करना—नहीं जानता उसका राज्य भी नष्ट होजाता है ।

शुक विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राज्य जलके समान (जिसप्रकार पातालका जल यंत्र द्वारा खींचा जाता है) पराक्रम—सैनिक शक्ति - से प्राप्त कर लिया गया हो परन्तु बुद्धिमान् राजा जब उसे नष्ट हुआ देखे तब उसे राजनीति (संधि, विग्रह, यान और आसन आदि उपाय) से उस राज्यको पूर्णकी सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १ ॥

नारदः नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा पराक्रमसे शून्य होनेके कारण संघाम—युद्ध—से नष्ट होजाता है—सैनिक शक्तिका समुचित प्रयोग नहीं करता—उसका भी कुलपरम्परागत राज्य नष्ट होजाता है ॥ १ ॥

निष्कर्षः—कोई भी राजा केवल आचार सम्पत्तिसे अपने राज्यको नष्ट होनेसे बचा नहीं सकता, बल्कि आचारवान्—शान्त—राजाको शत्रुलोक आक्रमण करके पराजित कर देते हैं । अतएव प्राप्तराज्य सुरक्षित रखनेके लिये उसे आचार सम्पत्तिके साथ २ अपनी सैनिक शक्तिको मजबूत बनाकर पराक्रमशील होना चाहिये । इसीप्रकार केवल पराक्रम—सैनिकशक्ति—से ही कोई साम्राज्य चिरस्थायी नहीं रह पाता, क्योंकि सदा पराक्रम दिखाने वाले—हमेशा तीक्ष्ण दंष्ट्र देने वाले—राजासे सभी लोग डोह करने लगे हैं, अतः उससे समस्त प्रजा कुब्ध होजाती है और ऐसा होनेसे उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥३०॥

कौनसा राजा राजनीतिक ज्ञान और पराक्रम का स्थान होता है ? इसका समाधान किन्ना जाता हैः—

क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा ॥ ३१ ॥

अर्थः—वही राजा राजनीति और पराक्रम का स्थान हो सकता है जो स्वयं राजनीतिक ज्ञानवान् हो तथा जो अमात्यके द्वारा बताये हुए राजनीतिक सिद्धान्तोंका पालन करने वाला हो ।

शुक विद्वान्ने लिखा है कि जो राजा स्वयं बुद्धिमान है अथवा जो अमात्यकी बुद्धिके अनुकूल

१ तथा च शुकः—

राज्यं हि सजितं यद्व्यवहारेण समाहृतम् ।
मृगेऽपि तज्जगोऽप्येति क्षब्धाकालस्य संक्षयम् ? ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—

पराक्रमयुतो यस्तु राजा संघामकतरः ।
अरि क्रमागतं तस्य नार्शं राज्यं प्रगच्छति ॥ १ ॥

३ तथा च शुकः—

नीतिबुद्धिबिहो राजा नीतिशीर्यग्रहं भवेत् ।
अथवाऽप्यार्यबुद्धिस्तु बुद्धिहीनो विनश्यति ॥ १ ॥

प्रवृत्ति करता है वही राजनीति और पराक्रमका स्थान है। परन्तु जिस राजा में राजनैतिक ज्ञान नहीं है वह नष्ट हो जाता है—अपने राज्यको खो बैठता है ॥ १ ॥

निष्कर्षः—राजाको राजनीति और पराक्रमकी प्राप्ति के लिये या तो स्वयं बुद्धिमान होना चाहिये अथवा उसे मन्त्रीके द्वारा कही हुई बातको माननी चाहिये। उसे कदापि दुराग्रही नहीं होना चाहिये ॥ ३१ ॥ अब बुद्धिमान राजा का लक्षण निर्देश किया जाता है:—

यो विधाविनीतमतिः स बुद्धिमान् ॥ ३२ ॥

अर्थः—जिसने नीतिशास्त्रोंके अध्ययनसे राजनीतिज्ञान और नम्रता प्राप्त की है उसे बुद्धिमान कहते हैं।

शुक्र^१ विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसकी बुद्धि नीतिशास्त्रोंके अध्ययनसे विशुद्ध है वह बुद्धिमान है परन्तु जो नीतिशास्त्रके ज्ञानसे शून्य और केवल शूरवीर है वह नष्ट हो जाता है—अपने राज्यको खो बैठता है ॥ १ ॥'

अब शास्त्रज्ञानसे शून्य केवल शूरवीरता बतानेवाले राजाका अवस्था बताते हैं:—

सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं वुशलम् ॥ ३३ ॥

अर्थः—जो राजा नीतिशास्त्रके ज्ञानसे शून्य है और केवल शूरवीरता ही दिखाता है उसका सिंहकी तरह चिरकाल तक कल्याण नहीं होता—अर्थात् जिसप्रकार आक्रमण करनेवाला सिंह मार डाला जाता है उसी प्रकार नीतिज्ञानसे शून्य और केवल तीक्ष्ण दंड देने वाला राजा भी दुष्ट समझ कर मार दिया जाता है।

शुक्र^२ विद्वान्ने लिखा है कि 'केवल आक्रमण करनेके कारण मृगोंके स्वामी—शेर—को मनुष्य 'हरि' (हन्यते इति हरिः—मार झालने योग्य) कहते हैं उसीप्रकार नीतिशास्त्रके ज्ञानसे शून्य केवल क्रूरता दिखानेवाला भी नाशको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अब नीतिशास्त्रके ज्ञानसे शून्य पुरुषकी हानि बताते हैं:—

अशास्त्रः शूर इवाशास्त्रः प्रज्ञायानपि भवति विद्विषां वशः^३ ॥ ३४ ॥

अर्थः—जिसप्रकार बहादुर मनुष्य भी हथियारोंके बिना शत्रुओंसे पराजित कर दिया जाता है

१ तथा च शुक्रः—

शास्त्रानुगा भवेदुद्धिर्यस्य राज्ञः स बुद्धिमान् ।

शास्त्रबुद्ध्या विहीनस्तु शौर्ययुक्तो विनश्यति ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—

पौरुषान्मृगनाथस्तु हरिः स प्रोच्यते जनैः ।

शास्त्रबुद्धिविहीनस्तु यतो नाशं स गच्छति ॥ १ ॥

३ 'अनशास्त्रः शूर इवाशास्त्रः प्रज्ञायानपि भवति सर्वेषां मोचरः' इस प्रकार मु० मू० पुस्तकमें गलत है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

मनुष्य भी नीतिशास्त्रके ज्ञानके बिना शत्रुओंके धर होजाता है—इनके द्वारा पराजित

होने लिखा है कि 'जिसप्रकार बलवान् मनुष्य भी शस्त्रों—हथियारों—से रहित होनेके कारण मार दिया जाता है उसीप्रकार बुद्धिमान मनुष्य भी नीतिशास्त्रका ज्ञान न होनेसे शत्रुओंके मार डाला जाता है ॥१॥'

अतएव नीतिशास्त्रका ज्ञान होना मनुष्यमात्रको अत्यन्त आवश्यक है ॥३४॥

नीतिज्ञानसे होनेवाले लाभका वर्णन करते हैं:—

अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम् ॥३५॥

जो पदार्थ या प्रयोजन नेत्रोंसे प्रतीत नहीं होता उसको प्रकाश करनेके लिये शास्त्र मनुष्योंका

तृतीय लोचन है—किसीभी कृतव्य अथवा उसके फलमें यदि संदेह उपस्थित होजावे कि यह कार्य योग्य है ? अयोग्य ? इसका फल अच्छा है ? या बुरा ? तो उसको दूर करने में शास्त्रज्ञान ही समर्थ हो सकता है अन्यथा वह कुछ नहीं कर सकती ॥३५॥

नीतिज्ञान ने लिखा है कि 'जो कार्य चक्षुओंके द्वारा प्रतीत न हो और उसमें संदेह उपस्थित हो, शास्त्रज्ञानसे उसका निश्चय कर उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति करनी चाहिये ॥१॥'

अतएव शून्य पुरुषका विवरण किया जाता है:—

अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ॥३६॥

जिस पुरुषने शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया वह चक्षुसहित होकरके भी अन्धा ही है—

अतएव अन्धे मनुष्यको सामने रखते हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थका ज्ञान नहीं होसकता उसीप्रकार अज्ञानसे शून्य—मूर्खमनुष्य—को भी धर्म और अधर्म—कर्तव्य और अकर्तव्य—का ज्ञान नहीं होसकता

भागुरि^१ भी उक्त बातका समर्थन करता है कि 'जिसप्रकार अन्धा मनुष्य सामने रखी हुई वस्तुको नहीं देख सकता उसीप्रकार शास्त्रज्ञानसे हीनपुरुष—मूर्ख—भी धर्म और अधर्म नहीं समझ सकता ॥१॥'

उक्त श्लोक:—

नीतिशास्त्रविहीनो यः प्रजावानपि हन्यते ।

परैः शस्त्रविहीनस्तु चीराद्यैरपि वीर्यवान् ॥१॥

१ अदृश्यो निजचक्षुर्न्यो कार्यं सन्देहभासते ।

शास्त्रेण निश्चयः कार्यस्तदर्थं च क्रिया ततः ॥१॥

२ तथा च भागुरि:—

शुभाशुभं न पश्येच्च यथान्धः पुरतः स्थितं ।

शास्त्रहीनस्तथा मर्त्यो धर्माधर्मौ न विन्दति ॥ १ ॥

अब मूर्ख मनुष्यकी हीनता बताते हैं:—

न ह्यज्ञानादपरः^१ पशुरस्ति ॥ ३७ ॥

अर्थ:—संसारमें मूर्खको छोड़कर दूसरा कोई पशु नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार पशु घास खादि भक्षण करके मलमूत्रादि क्षेपण करता है और धर्म-अधर्म—कर्तव्य-अकर्तव्य—को नहीं जानता उसी-प्रकार मूर्खमनुष्यभी खान-पानादि क्रिया करके मलमूत्रादि क्षेपण करता है और धर्म-अधर्म—कर्तव्य-अकर्तव्य—को नहीं जानता ।

वशिष्ठ^२ विष्णुने भी कहा है कि अत्यन्त मूर्खलोग शास्त्रज्ञानसे पराङ्मुख—रहित—होनेके कारण धर्म और अधर्मको नहीं जानते इसलिये बिना सींगोंके पशु हैं ॥ १ ॥

नीतिकार महात्मा भर्तृहरिने^३ कहा है कि 'जिसे साहित्य और संगीत आदि कलाओंका ज्ञान नहीं है—जो मूर्ख है—वह बिना सींग और पूँछका सात्तान-यथार्थ—पशु है । इसमें कई लोग यह शङ्का करते हैं कि यदि मूर्ख मनुष्य यथार्थमें पशु है तो वह घास क्यों नहीं खाता ? इसका उत्तर यह है कि वह घास न खाकरके भी जीवित है, इसमें पशुओंका उत्तम भाग्य ही कारण है, नहीं तो वह घासभी खाने लगता ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको कर्तव्यबोध और श्रेयकी प्राप्तिके लिये नीतिशास्त्र आदिका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥३७॥

अब जिसप्रकारके राजासे राज्यकी क्षति होती है उसे बताते हैं:—

वरमराजकं भुवनं न तु मूर्खो राजा ॥ ३८ ॥

अर्थ:—पृथ्वीपर राजाका न होना किसी प्रकार अच्छा कहा जासकता है परन्तु उसमें मूर्ख राजाका होना अच्छा नहीं कहा जा सकता ।

भावार्थ:—जिस देशमें मूर्ख राजा का शासन होता है वह नष्ट हो जाता है ॥३८॥

१ 'अभ्यः' इसप्रकार मु० मू० पुस्तक में पाठ है किन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

२ तथा च वशिष्ठः—

मर्त्या मूर्खतमा लोकाः पशवः शृङ्गवज्रिताः ।

धर्मोऽधर्मो न जानन्ति यतः शास्त्रपराङ्मुखाः ॥१॥

३ तथा च भर्तृहरिः—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुण्ड्रविषाणहीनः ।

तूर्यं न स्वादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशुत्वम् ॥१॥

भर्तृहरिशतकसे ।

गुरु^१ विद्वान् ने भी कहा है कि 'संसारमें जिन देशोंमें राजा नहीं होते वे परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते रहते हैं परन्तु जिनमें राजा मूर्ख होता है वे नष्ट होजाते हैं ॥११॥'

अब युवराज होने के अयोग्य राजपुत्र का कथन करते हैं:—

असंस्कारं^२ रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायकपदायामनन्ति साधवः ॥३६॥

अर्थ:—जो राजपुत्र कुलीन होनेपर भी संस्कारों—नीतिशास्त्र का अध्ययन और सदाचार आदि सद्गुणों—से रहित है उसे राजनीति के विद्वान् शिष्टपुरुष संस्कारहीन—शाण पर न चढ़ाये हुए—रत्नके समान युवराज-पदपर आरूढ़ होने के योग्य नहीं मानते ।

भावार्थ:—जिसप्रकार समुद्र आदि उसमें स्थापने उत्पन्न हुआभी रत्न शाण पर घर्षणादि क्रिया—संस्कार—के बिना भूषण के योग्य नहीं होता, उसीप्रकार राजपुत्रभी जबतक राजनीतिज्ञ बहुश्रुत शिष्ट पुरुषोंके द्वारा किये गये नैतिक ज्ञान और सदाचार आदि संस्कारों से सुसंस्कृत नहीं होता तबतक वह युव-राजपदके अयोग्य समझा जाता है ।

निष्कर्ष:—राजपुत्र को राजनैतिक ज्ञान और सदाचाररूप संस्कारों से सुसंस्कृत होना चाहिये जिस से वह युवराजपदपर आरूढ़ होसके ॥३६॥

अब दुष्टराजा से होनेवाली प्रजाकी क्षति बताते हैं:—

न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः^३ ॥४०॥

अर्थ:—दुष्ट राजासे प्रजाका विनाश ही होता है, उसे छोड़कर दूसरा कोई उपद्रव नहीं होसकता ।

भावार्थ:—लोक में भूकम्प आदि से भी प्रजाकी क्षति होती है परन्तु उससे भी अधिक क्षति दुष्ट राजा से हुआ करती है ॥४०॥

हारीत^४ विद्वान् ने भी कहा है कि 'भूकम्पसे होनेवाला उपद्रव शान्तिकर्मों—पूजन, जप और हवन आदि—से शान्त होजाता है परन्तु दुष्ट राजासे उत्पन्न हुआ उपद्रव किसी प्रकार भी शान्त नहीं हो सकता ॥१॥'

१ तथा च गुरुः—

अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परं ।

मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्तीह संक्षयं ॥ १ ॥

२ 'अकृतसंस्कारं' ऐसा मु० मू० पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

३ 'न पुनर्दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजाविनाशादपरोऽस्त्युत्पातः'

इसप्रकार मु० और हस्तलि० मूलग्रन्थोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

४ तथा च हारीतः—

उत्पातो भूमिकम्पाद्यः शान्तिकैर्योति सौम्यतां ।

नृपदुर्भूतः उत्पातो न कथंचित् प्रशाम्यति ॥ १ ॥

अब दुष्ट राजाका लक्षणनिर्देश करते हैं:—

यः युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः' ॥४१॥

अर्थ:—जो योग्य और अयोग्य पदार्थों के विषय में ज्ञानशून्य है अर्थात् योग्य को योग्य और अयोग्य को अयोग्य न समझकर अयोग्य पुरुषों को दान और सम्मानादि से प्रसन्न करता है और योग्य व्यक्तियों का अपमान करता है तथा विपरीतबुद्धि से युक्त है अर्थात् शिष्ट पुरुषों के सदाचार की अवहेलना करके पाप कर्मों में प्रवृत्ति करता है उसे दुष्ट कहते हैं ॥४१॥

नारद^१ विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा योग्य और अयोग्य के भेद को नहीं जानता और विपरीत बुद्धिसे युक्त है—शिष्टाचारसे विरुद्ध मद्यपान आदि में प्रवृत्ति करता है उसे दुष्ट—दुष्ट—कहते हैं ॥१॥'

अब राज्यपदके योग्य पुरुषद्रव्यका लक्षण बताते हैं:—

यत्र सन्निराधीयमाना गुणा संक्रामन्ति तद्द्रव्यं ॥४२॥

अर्थ:—जिस पुरुषद्रव्यमें राजनीतिज्ञ विद्वान् शिष्टपुरुषों के द्वारा नीति, आचारसम्पत्ति और शूरता आदि प्रजापालन में उपयोगी सद्गुण सिखाये जाकर स्थिर होगये हों—जो इन सद्गुणों से अलंकृत होगया हो—वह पुरुष राजा होनेके योग्य है ॥४२॥

भागुरि^२ विद्वान् ने भी लिखा है कि 'वही पुरुषद्रव्य राजा होनेके योग्य है जिसमें राजनीतिज्ञ विद्वानों के द्वारा सद्गुण—नीति, सदाचार और शूरता आदि—स्थिर होगये हों । ॥१॥'

अब द्रव्यप्रकृतियुक्त—राज्यपदके योग्य राजनैतिक ज्ञान, आचारसम्पत्ति और शूरवीरता आदि सद्गुणोंसे युक्त—पुरुष जब अद्रव्य प्रकृति युक्त—अर्थात् उक्तगुणोंसे शून्य और मूर्खता, विषय-लम्पटता और कायरता आदि दोषोंसे युक्त—होजाता है उससे होनेवाली हानि बताते हैं:—

यतो द्रव्याद्रव्यप्रकृतिरपि कश्चित् पुरुषः संकीर्णगजवत्' ॥४३॥

अर्थ:—अब मनुष्य द्रव्यप्रकृति—राज्यपदके योग्य राजनैतिकज्ञान और आचारसम्पत्ति आदि सद्गुणों—से अद्रव्यप्रकृति—उक्त सद्गुणोंको त्याग कर मूर्खता, अनाचार और कायरता

१ 'युक्तायुक्तयोगवियोगयोरविवेकमतिर्वा स दुर्विनीतः' इसप्रकार सु० मू० और इ० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

२ तथा च नारदः—

युक्तायुक्तविवेकं यो न जानाति महीपतिः ।

दुष्टः स परिशेयो यो वा वाममतिर्भवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—

योज्यमाना उपाध्यायैर्यत्र पुंति स्थिराश्च ते ।

भवन्ति नरि द्रव्यं तत् प्रोच्यते पार्थिवोचितम् ॥ १ ॥

४ उक्त सूत्र सु० और इस्त लि० मूलप्रतियोंसे संकलन किया गया है; क्योंकि सं० टी० पुस्तकमें 'यतो द्रव्यप्रकृतिरपि' स्ति पुरुषः संकीर्णगजवत्' ऐसा अपूर्ण सूत्र होने से उसका अर्थभी वधार्य नहीं होता था । संध्यावकः—

—को प्राप्त हो जाता है तब वह पागल हाथीकी तरह राज्यपदके योग्य नहीं रहता—अर्थात् जिस राजा हाथी जनमाधारणको भयंकर होता है उसी प्रकार जब मनुष्यमें राजनैतिक ज्ञान, आचार और शूरवीरता आदि गुण नष्ट होकर उनके स्थानमें मूर्खता अनाचार और कायरता आदि दोष आते हैं, तब वह पागल हाथीकी तरह भयंकर हो जानेमें राज्यपदके योग्य नहीं रहता ॥ ४३ ॥

‘तत्त्वभेद’ विद्वान्ने लिखा है कि ‘राजपुत्र शिष्ट और विद्वान् होने पर भी यदि उसमें द्रव्य (राज्य-योग्य गुण)में अद्रव्यपन—मूर्खता अनाचार और कायरता आदि दोष—होगया हो तो वह मिश्रगुण-वैशिष्ट्यसे महश भयंकर होनेके कारण राज्यके योग्य नहीं है ॥१॥’

‘तत्त्व’ विद्वान्ने कहा है कि ‘जो मनुष्य समस्त गुणों(राजनैतिकज्ञान, सदाचार और शूरता आदि)में पूर्ण है उसे राजद्रव्य कहते हैं—उसमें राजा होनेकी योग्यता है—वे गुण राजाओंको समस्त सत्कर्तव्योंमें सफल करते हैं ॥१॥’

‘तत्त्व’ पुरुष का वर्णन करते हैं:—

द्रव्यं हि क्रियां विनयति नाद्रव्यं ॥४४॥

‘तत्त्व’—द्रव्य—गुणोंसे अलंकृत योग्य पुरुष—राज्यपदको प्राप्त कर सकता है निर्गुण—मूर्ख—नहीं।

‘तत्त्व’—जिसप्रकार अच्छी किस्मके पत्थर शाण पर रखे जानेसे संस्कृत होते हैं साधारण नहीं, वैसे ही शूरवीर और कुलीन पुरुष ही राज्य आदि उत्तम पदके योग्य हैं मूर्ख नहीं ॥४४॥

‘तत्त्व’ विद्वान् ने लिखा है कि ‘प्रायः करके गुणवान् पुरुषोंके द्वारा राजाओंके महान् कार्य सफल होते हैं मूर्खोंसे छोटासा कार्यभी नहीं हो पाता ॥१॥’

‘तत्त्व’ गुण और उनके लक्षणोंका कथन करते हैं:—

सुभवा-भवण-प्रहण-धारणाविज्ञानोहापोह तत्त्वाभिनिवेशा बुद्धिगुणाः ॥४५॥

‘तत्त्व’ का तत्त्वभेद:—

‘तत्त्व’ राजा विद्वान्कोऽपि द्रव्याद्रव्यत्वभावकः ।

‘तत्त्व’ राजावदोऽपि राजा मिश्रगुणो यथा ॥ १ ॥

‘तत्त्व’ का गुण:—

‘तत्त्व’ राजा सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते ।

‘तत्त्व’ राजावदोऽपि राजा तदर्थं कृत्यसाधनम् ॥ २ ॥

‘तत्त्व’ का सागुरि:—

‘तत्त्व’ राजा: पुत्रपै: कृत्यं भूपतीनां प्रसिद्धयति ।

‘तत्त्व’ राजावदो निगुणैरपि नो कथु ॥ २ ॥

‘तत्त्वाभिनिवेशविद्या’ इति बुद्धिगुणाः’ इसप्रकार सु० पु० में पाठ है किन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा ॥४६॥

श्रवणमाकर्णनम् ॥४७॥

ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानं ॥४८॥

धारणमविस्मरणम् ॥४९॥

मोहसन्देहविपर्ययव्युदासेन ज्ञानं विज्ञानम् ॥५०॥

विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणमूहः ॥५१॥

उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थान् प्रत्यजायसंभावनया व्यावर्तनमपोहः ॥५२॥

अथवा ज्ञानसापान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः ॥५३॥

विज्ञानोपापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयस्तत्त्वामिनिवेशः ॥५४॥

अर्थः—शुश्रूषा—शास्त्र और शिष्टपुरुषोंके हितकारक उपदेशको सुननेकी इच्छा, श्रवण—हितकारक उपदेशको सुनना, ग्रहण—शास्त्रके विषयको ग्रहण करना, धारण—अधिक समय तक शास्त्रादिके विषय को याद रखना, विज्ञान—संशय, विपर्यय और अनभ्यवसारूप मिथ्याज्ञानसे रहित पदार्थका यथार्थ निश्चय करना, ऊह—व्याप्तिज्ञान अर्थात् निश्चय किये हुए धूमादि हेतुरूप पदार्थोंके ज्ञानसे अग्नि आदि साध्यरूप पदार्थोंका ज्ञान करना, अपोह—शिष्टपुरुषोंके उपदेश तथा प्रबल युक्तियोंसे प्रकृति, शत्रु और शिष्टाचारसे विरुद्ध पदार्थोंमें अपनी हानि या नाशका निश्चय करके उनका त्याग करना और तत्त्वामिनिवेश—उक्तविज्ञान और ऊहापोह आदिसे हितकारक पदार्थका दृढ़ निश्चय करना—ये आठ बुद्धिके गुण हैं ॥४५॥ अब शास्त्रकार स्वयं उक्त गुणोंका लक्षण करते हैं:—

अर्थः—शास्त्र या महापुरुषोंके हितकारक उपदेशको श्रवण करनेकी इच्छा करना यह 'शुश्रूषा' है ॥४६॥ हितकारक बातको सुनना यह 'श्रवण' है ॥४७॥

शास्त्र आदि के हितकारक विषयको ग्रहण करना 'ग्रहण' है ॥४८॥

शास्त्र आदि के विषयको ऐसा याद रखना जिससे कि बहुत समय तक भूल न सकें इसे 'धारण' गुण कहते हैं ॥४९॥

मोह—अनिश्चय, सन्देह (संशय अर्थात् एक पदार्थमें दो प्रकारका ज्ञान होना जैसे स्थाणु—ठूँठ—में वह ठूँठ है ? या पुरुष है ? इसप्रकार अनेक कोटिका ज्ञान होना) और विपरीतज्ञान इन मिथ्याज्ञानोंसे रहित यथार्थ ज्ञान होना इसे 'विज्ञान' कहते हैं ॥५०॥

४ धारणं काश्यान्तरेष्वविस्मरणम् इसप्रकार सु० सू० पुस्तकमें और पूर्वा भाष्यमें भी है ० लिखित प्रतिमें 'धारणं काश्यान्तरादविस्मरणम्' ऐसा पाठ है, परन्तु अर्थभेद नहीं है ।

अपने विषये हुए पदार्थों—धूम आदि हेतुरूप वस्तुओं—के आधारसे—उनका ज्ञान होने से—
अपनी विषयों के पूर्वनिश्चित धूमादि साधनोंके साथ अविनाभाव संबंध है ऐसे अग्नि आदि साध्यरूप
वस्तुओं के इसीप्रकार निश्चय करना उसे 'ऊह' कहते हैं ॥११॥

महापुरुषोंके उपदेश और प्रबल युक्तियों द्वारा प्रकृति, अस्तु और शिष्टाचारसे विरुद्ध पदार्थों—अग्निष्ट-
भोजन और परस्त्रीसेवन आदि विषयों—में अपनी हानि या नाशकी संभावना—निश्चय—करके उनका
त्याग करना यह 'अपोह' नामका बुद्धि गुण है ।

मात्रार्थः—परस्त्रीसेवन आदि दुष्कृत्य आगम और अनुमान प्रमाणसे विरुद्ध हैं; क्योंकि इनमें
प्रवृत्ति करनेवाला मनुष्य रावण आदि की तरह ऐहिक—राजदंड आदि और पारलौकिक नरकादिके भयङ्कर
दुःखोंको भोगता है, अत एव नैतिक पुरुष इनमें अपनी हानि या नाशका निश्चय करके उनका त्याग
करता है यह उसका 'अपोह' नामका बुद्धिगुण है ॥१२॥

अथवा किसी पदार्थके सामान्यज्ञानको ऊह और विशेषज्ञानको अपोह कहते हैं, उदाहरणमें जलको
देखकर 'यह जल है' इसप्रकारके साधारण ज्ञानको 'ऊह' और इससे व्याप्त बुझती है इसप्रकारका विशेष
ज्ञान होना 'अपोह' है ॥१३॥

उक्तविज्ञान, ऊह और अपोह आदिके संबंधसे विशुद्ध हुए 'यह ऐसा ही है अन्य प्रकार नहीं है'
इसप्रकारके हृद निश्चयको 'तत्वाभिनिवेश' कहते हैं ॥१४॥

भगवज्जिनसेनाचार्यने^१ भी उक्त आठ-प्रकारके भोताओंके सदगुणोंका उल्लेख किया है कि शुभ्रा,
भवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीति ये भोताओंके ८ गुण जानने चाहिये ॥१॥

अब विद्याओंका स्वरूप बताते हैं:—

याः^२ समधिगम्यात्मनो हितमवैत्यहितं चापोहति ता विद्याः ॥१५॥

अर्थः—मनुष्य जिन्हें जानकर अपनी आत्माको हित—सुख और उसके मार्गकी प्राप्ति तथा अहित—
दुःख और उसके कारणों—का परिहार—त्याग—करता है उन्हें विद्याएँ कहते हैं ।

निष्कर्षः—जो सुखकी प्राप्ति और दुःखोंके परिहार करनेमें समर्थ है उसे सत्यार्थ विद्या समझनी
चाहिये और जिसमें उक्तगुण नहीं हैं वह अविद्या है ॥१६॥

१ शुभ्रा भवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।

स्मृत्युद्वापोहनिर्णीतिः भोतुरष्टौ गुणान् विदुः ॥ १ ॥

आदिपुराण पर्व १ श्लोक १४६ ।

२ 'यां समधिगम्य' इसप्रकार मु० सू० वाङ्मू० प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद नहीं है, केवल पदवचन बहुवचन
का ही भेद है ।

भागुरि 'विद्वान्'ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'जो विद्वान् विद्याको पढ़कर अपनी आत्माको सुखमें प्रवृत्त और दुःखोंसे निवृत्त करता है उसकी वे विद्याएँ हैं और इससे विपरीत जो विद्याएँ हैं वे केवल कष्ट देनेवाली मानी गई हैं ॥१॥'

अब राजविद्याओंके नाम और संख्याका कथन करते हैं:—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः ॥२६॥

अर्थ:—राजविद्याएँ चार हैं, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ।

आन्वीक्षिकी—जिसमें अध्यात्मतत्त्व—आत्मतत्त्व तथा उसके पूर्वजन्म और अपर जन्म आदिकी अनागत युक्तियों द्वारा विधि की गई हो उसे 'आन्वीक्षिकी' विद्या कहते हैं इसे दर्शनशास्त्र—न्यायशास्त्र भी कहते हैं ।

त्रयी:—(चरणानुयोग शास्त्र)जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमोंके कर्तव्योंका निर्देश किया गया हो एवं धर्म और अधर्मका स्वरूप वर्णन किया गया हो उसे 'त्रयी' विद्या कहते हैं इसका दूसरा नाम 'आचारशास्त्र' भी है ।

वार्ता:—जिस लौकिक शास्त्रमें प्रजाजनके जीविकोपयोगी (जीवननिर्वाहके साधन—अग्नि—खड्ग—धारण करना, मणि—खेखनकला, कृषि—खेतीकरना, विद्या,वाणिज्य—व्यापार और शिल्प—चित्रकला—) कर्तव्योंका विवेचन किया गया हो उसे 'वार्ता' विद्या कहते हैं ।

दण्डनीति:—जिसमें प्रजाजनकी रक्षाके लिये दुष्टों—प्रजापीडक आततायियों—के निमह (दण्ड देने)का विधान हो उसे 'दण्डनीति' कहते हैं ।

इसप्रकार आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार राजविद्याएँ हैं ॥२६॥

अब आन्वीक्षिकी विद्या पढ़नेसे होनेवाले लाभका निरूपण करते हैं:—

अधीयानो आन्वीक्षिकीं कार्याकार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विपीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम् ॥२७॥

अर्थ:—आन्वीक्षिकी विद्या—दर्शनशास्त्र—का वेत्ता विद्वान् प्रबल युक्तियोंके द्वारा कर्तव्य (अहिंसा और ब्रह्मचर्य आदि)को प्रधान या हितकारक और अकर्तव्य (मद्यपान और परकलत्रसेवन आदि) को अप्रधान—सुखको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित—अर्थात् अहितकारक निरचय करता है एवं विपत्तिमें विषाद—खेद—और सम्पत्तिमें विकार—मद और द्वेष—नहीं करता तथा सोचने विचारने और मोक्षमें चतुराई प्राप्त करता है ॥२७॥

१ तथा च भागुरि:—

यस्तु विद्यामधीत्याथ हितमात्मनि संचयेत् ।

अहितं नाशयेद्विषस्ताश्चान्याः क्लेशदाः मताः ॥ १ ॥

२ 'समधिगच्छति च प्रज्ञावाक् वैशारद्यं' इसप्रकार मु० पू० पुस्तक और मयर्न० कायबरो पूनाकी इ० लि० पू० दोनों पुस्तकोंमें पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि आन्वीक्षिकी विद्याका विद्वान् चतुराई प्राप्त करता है ।

अब त्रयी विद्याके पढ़नेसे होनेवाले लाभका निरूपण करते हैं:—

त्रयीं पठन् वर्णाश्रमाचारेष्वतीव प्रगल्भते, जानाति च समस्तामपि धर्माधर्मस्थितिम् ॥५८॥

अर्थ:—त्रयीविद्या—चरणानुयोग शास्त्र—का बेता विद्वान् वर्ण (ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि) और आश्रमों (ब्रह्मचारी और गृहस्थ आदि) के ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होता है तथा समस्त धर्म-अधर्म अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्यकी मर्यादाको भलीभाँति जानता है ॥५८॥

अब वार्ता विद्यामें निपुणता प्राप्त करनेसे होनेवाले लाभका वर्णन करते हैं:—

धुक्तितः प्रवर्तयन् वार्ता सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च स्वयं सर्वानपि कामान् ॥५९॥

अर्थ:—लोकमें वार्ताविद्या—कृषि आदिकी शिक्षा—की समुचित प्रवृत्ति—प्रचार—करानेवाला राजा प्रजाको सुखी बनाता है तथा स्वयं भी समस्त अभिलषित भौतिक सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ५९ ॥

अब दंडनीतिमें प्रवीण राजाको होनेवाले लाभका निरूपण करते हैं:—

यम इवापराधिषु दण्डप्रणयनेन विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति प्रसीदन्ति च त्रिवर्गफलाः विभूतयः ॥६०॥

अर्थ:—राजाको यमराजके समान कठोर होकर अपराधियोंको दंडविधान करते रहने पर प्रजाके लोग अपनी २ मर्यादा (कर्तव्य-पालनकी सीमा) को उल्लंघन नहीं करते—अर्थात् अपने २ वर्णाश्रम धर्म पर आरुढ़ होकर दुष्कृत्योंमें प्रवृत्ति नहीं करते, अतः उसे धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको उत्पन्न करनेवाली विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ६० ॥

अब अन्य-नीतिकारोंकी मान्यताके अनुसार आन्वीक्षिकी विद्याके प्रतिपादन करनेवाले दर्शनोंका निरूपण करते हैं:—

सांख्य योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वीक्षिकीत्वम्) इति नैत्यानि मतानि ॥ ६१ ॥

अर्थ:—सांख्य, योग और चार्वाकदर्शन—नास्तिकदर्शन—ये आन्वीक्षिकी—अध्यात्म विद्याएँ— हैं अर्थात् अध्यात्मविद्या-प्रतिपादक दर्शन हैं। बौद्ध और आर्हद्दर्शन—जैनदर्शन—वेदविरोधी होनेके कारण अध्यात्म विद्याएँ नहीं हैं, इसप्रकार अन्य नीतिकारोंकी मान्यताएँ हैं।

विशदविमर्श:—यहाँपर आचार्यश्री ने अन्य नीतिकारोंकी मान्यता-मात्रका उल्लेख किया है। क्योंकि अध्यात्म-विद्याका समर्थक आर्हद्दर्शन वेदविरोधी होनेमात्रसे आन्वीक्षिकी विद्यासे बहिर्भूत नहीं होसकता, अन्यथा उनके ऊपर प्राप्त हुआ अतिप्रसङ्गदोष निवारण नहीं किया जासकता अर्थात् सांख्य और नैयायिक आदि दर्शन भी आर्हद्दर्शन—जैनदर्शन—के विरोधी होनेके कारण आन्वीक्षिकी विद्यासे बहिर्भूत समझे जासकते हैं। किसीके द्वारा निरर्थक निन्दा कीजानेपर क्या शिष्टपुरुष निन्दाका पात्र होसकता है? नहीं होसकता। इन्हीं आचार्यश्रीने अपने यशस्विलकचम्पूमें प्राचीन नीतिकारोंके प्रमाणों द्वारा आर्हद्दर्शनको अध्यात्मविद्या—आन्वीक्षिकी—सिद्ध किया है।

१ यह सूत्र केवल मु० सं० टी० पुस्तक में नहीं है परन्तु अन्य सभी पुस्तकों—सरस्वती भवन आराकी इ० लि० सं० टी० पुस्तक, गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी इ० लि० मू० दो पुस्तकें और मु० मू० पुस्तक—में वर्तमान है; इसलिये हमने उक्त प्रतियोंसे संकलन किया है।

उक्त सूत्रके पाठके विषयमें स्पष्टीकरण:—

(क) 'सांख्य योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात्' ऐसा पाठ भावहारकर रिसर्च गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी हस्तलिखित मू० प्रति [नं० ७३७ जो कि सन् १८७१-७६ में लिखी गई है] में है।

(ख) 'सांख्य योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात्' ऐसा पाठ उक्त पूना लायब्रेरीकी इ० लि० मू० प्रति [नं० १०११ जो कि सन् १८८७ से १८९१ में लिखी गई है] में है।

(ग) 'सांख्य योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् इति नैत्यानि मतानि' ऐसा पाठ सरस्वतीभवन आराकी हस्तलिखित संस्कृत टी० पुस्तकमें है।

(घ) 'सांख्ययोगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात्' ऐसा पाठ मु० मू० पुस्तकमें है जोकि बम्बईके गोपाकनारायण प्रेसमें मुद्रित हुई है एवं अक्षय्य प्रेमीजीने प्रेषित की है।

सम्पादक:—

२ सांख्य योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी, तस्यां स्यादस्ति स्थान्नास्तीति नम्रभमणक इति बृहस्पतिरत्नवज्रस्य पुस्तकं समर्थं कथं प्रत्यवतस्ये ? (यशस्वित्तके सोमदेवसूरिः आ० ४ पृ० १११)

अर्थात् यशोधर महाराज अपनी माता चन्द्रमतीके द्वारा जैनधर्म पर किये हुए आक्षेपों (यह अभी क्या हुआ है इत्यादि) का समाधान करते हुए अन्य नीतिकारोंके प्रमाणोंसे उसकी प्राचीनता सिद्ध करते हैं कि 'सांख्य, योग और चार्वाकदर्शन ये आन्वीक्षिकी विद्याएँ हैं और उसी आन्वीक्षिकी—अध्यात्मविद्या—में अनेकान्त (वस्तु करने स्वरूपादि पदार्थकी अपेक्षा सद्रूप—विद्यमान—है और परपदार्थकी अपेक्षा असद्रूप—अविद्यमान—है इत्यादि) का समर्थक (शेष अगले पृष्ठ पर)

आन्वीक्षिकी—अध्यात्मविद्या (दर्शनशास्त्र)के ज्ञानसे होनेवाले लाभका निरूपण करते हैं:—

‘**राजो हि राजा सत्त्वमवलम्बते रजःफलं चापलं**’ च परिहरति तमोभिर्नाभिभूयते’ ॥६२॥

अर्थ:—प्रकृति—शरीर और इन्द्रियादिक स्थूल तथा ज्ञानावरणादि कर्मरूप सूक्ष्मप्रकृति और पुरुष—
 स्वभाव—के स्वरूपको जाननेवाला—भेदज्ञानी—राजा सात्त्विक-प्रकृतिको धारणकर रजोगुणसे होने वाली
 प्रकृति—काम और क्रोधादि विकारोंसे होनेवाली उच्छ्वलता (नीति-विरुद्धप्रवृत्ति) का त्याग कर देता
 और राजसिकभावों—अज्ञानादि भावों—से पराजित नहीं होता ।

आचार्य:—दर्शनशास्त्रका अध्ययन मनुष्यको अज्ञानांधकारसे पृथक्कर ज्ञानके प्रकाशमें लाता है
 कामक्रोधादि राजसिकभावोंसे होनेवाली दानवताको नष्टकर सात्त्विकप्रकृति द्वारा शुक्लकर्म—संसार
 मोक्षसेवा आदि—करनेके लिये प्रेरित करता है जिससे वह सच्ची मानवताको प्राप्त कर लेता है ।

निष्कर्ष:—अत एव प्रत्येक मनुष्यको उक्त सद्गुणोंसे अलंकृत होनेके लिये एवं राजाको भी शिष्ट-
 और बुद्धिनिष्ठमें उपयोगी आन्वीक्षिकी विद्या—दर्शनशास्त्र—का वेत्ता होना चाहिये ॥६२॥

इसका प्रयोग विद्याओंका प्रयोजन बताने है:—

**आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी-वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः शिष्टपालन-
 विमर्शः** ॥६३॥

अर्थ:—आन्वीक्षिकी—दर्शनशास्त्र—आत्मतत्त्वका, त्रयी—वेद (अहिंसा धर्मके प्रतिपादक द्वादशअंश
 वेद) और यज्ञादि—ईश्वरभक्ति, पूजन, हवन, जप आदि अहिंसामय क्रियाकाण्ड आदि—का, वार्ता—
 वार्ता, मणि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प आदि जीविकोपयोगी कर्तव्योंका, और दण्डनीतिविद्या
 राजा और बुद्धोंका निमहरूप राजधर्मका निरूपण करती है ।

निष्कर्ष:—आचार्य (जैनदर्शन) भी अंतर्भूत—शामिल—है इस प्रकार वृहस्पति—सुराचार्यने इन्द्रके समक्ष उस
 समय जैनदर्शनको कैसे समर्थन किया ? अर्थात् यदि जैनदर्शन नवीन प्रचलित—अभीका चला हुआ—होता
 तो वही वृहस्पतिने इन्द्रके समक्ष उसे आन्वीक्षिकी विद्यामें स्वीकार किया ?

निष्कर्ष:—आचार्यभीके उक्त प्रमाणसे यह बात निर्विवाद प्रमाणित—सत्य—सिद्ध होती है कि अन्यनीतिकार—
 विमर्श आदि—जैनदर्शनको आन्वीक्षिकी—अध्यात्मविद्या—स्वीकार करते हैं ।

विमर्श:—‘अमृत’में आचार्यभी कहते हैं कि केवल वेदविरोधी होनेके कारण कुछ नीतिकार बौद्ध और जैनदर्शन
 को आन्वीक्षिकी विद्या नहीं मानते । परन्तु आचार्यभीके दशस्तिलकके आधारसे सिद्ध है कि अन्य निष्पक्षनीतिकारोंने भी
 आचार्यको आन्वीक्षिकी विद्या स्वीकार किया है ।

सम्पादक:—

१ यह दृष्ट सं० टी० पुस्तकमें नहीं है किन्तु मु० मू० और गवर्न० लायबेरो पूनाकी इ० लि० दोनों मूल प्रतियों
 (सं० १०१२ और नं० ७११) में से संकलन किया गया है ।

२ मु० मू० और उक्त पूनालायबेरीकी नं० ७३७ की इ० लि० मूलप्रति में भी ‘चापल’ ऐसा अशुद्ध पाठ था
 किन्तु उक्त ला० पूनाकी नं० १०१२ में ‘चापल’ ऐसा शुद्ध पाठ मिल गया जिससे सन्देह दूर हुआ । सम्पादक:—

३ यह दृष्ट मु० और इ० लि० किसी भी मू० प्रतिमें नहीं है परन्तु संस्कृत टी० पुस्तकसे संकलन किया गया है ।
 सम्पादक:—

गुरु* विद्वान्ने भी कहा है कि 'आन्वीक्षिकी विद्यामें आत्मज्ञानका, त्रयीमें धर्म और अधर्मका, वार्ता-में कृषि करनेसे होनेवाले उत्तम फल और न करने से कुफलका एवं दण्डनीतिमें नीति और अनीति अर्थान् सन्धि और विग्रह आदि षाड्गुण्यके औचित्य और अनौचित्यका प्रतिपादन किया गया है ॥१॥'

उक्त विद्याओं पर अन्य लोगोंकी मान्यता और ऐतिहासिक विमर्शः—

मनुके अनुयायी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, बृहस्पतिके सिद्धान्तको माननेवाले वार्ता और दण्डनीति तथा शुक्राचार्यको मानने वाले केवल दण्डनीति विद्याको मानते हैं, परन्तु आचार्यश्री आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चारों विद्याओंको मानते हैं। क्योंकि वे भिन्न २ विषयोंको दीपककी तरह प्रकाशित करती हुई लोकका उपकार करती हैं। आर्य चाणक्य* को भी उक्त चारों विद्याएँ अभिमत हैं; क्योंकि वह कहता है कि 'विद्याओंकी वास्तविकता यही है कि उनसे धर्म-अधर्म (कर्तव्य-अकर्तव्य) का बोध हो'।

आगमानुकूल ऐतिहास—इतिहास—प्रमाणसे विदित होता है कि इतिहासके आदिकाल में भगवान् ऋषभदेवने प्रजामें उक्त चार विद्याओंमें से वार्ता—कृषि और व्यापार आदिकी जीविकोपयोगी शिक्षा—का प्रचार किया था। आदिपुराणमें भगवज्जिनसेनाचार्य* ने लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव तीर्थङ्करने इतिहासके आदि कालमें—अथ कि प्रजाके जीवननिर्वोहके साधन कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे, अतएव जीविकाके बिना प्रजाके लोग मृत्युकी आशङ्कासे त्राहि २ कर रहे थे, उस समय उनकी जीविकाके साधन अस्ति, मरि, कृषि, विद्या चाण्डव्य और शिल्प आदिकी शिक्षा दी थी। समन्तभद्राचार्यने* भी यही बात लिखी है। क्योंकि जिस प्रकार ऊपर जमानमें धान्य पैदा नहीं होती उसी प्रकार जीविकाके बिना भूखी और व्याकुल जनता भी आन्वीक्षिकी और त्रयी आदि ललित कलाओंको सीखकर अपनी उन्नति नहीं कर सकती।

इसलिये जब प्रजाके लोग आजीविकासे निश्चिन्त हुए तब भगवान् ऋषभदेवने उनकी योग्यता तथा शरीर-जन्मकी दृष्टिसे उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंकी स्थापना की। पश्चान् उनके जीविकोपयोगी भिन्न २ कर्तव्य निर्देश किये। इसके बाद धार्मिक आचार-विचारकी दृष्टिसे उनमें ग्वासकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन त्रिवर्णों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चारों आश्रमोंकी व्यवस्था कर उन्हें उनके धार्मिक सत्कर्तव्य पालन करनेका उपदेश दिया।

१ तथा च गुरुः—

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्मधर्मो त्रयीस्थितौ।

अर्थोन्नीतौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयो ॥ १ ॥

२ देवो कौण्डिलीय अर्थशास्त्र पृष्ठ ८ से ९ तक।

३ असिमलिः कृषिविद्यावाणिज्यं शिल्पमेव वा।

कर्मोर्णामानि प्रोक्ता स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥ ४ ॥

आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः पर्व १४

४ प्रजापतिर्वः प्रथमं जिजीविषुः। शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ॥ ५ ॥

बृहस्पत्यंभूस्तोत्रे समन्तभद्राचार्यः।

अतएव भगवान्ने वर्ण और आश्रमोंके कर्तव्योंको निर्देश करनेवाली 'त्रयी' विद्याका प्रजामें प्रचार किया।

अतएव कृषि और व्यापारदिसे संचित सम्पत्ति आदिकी रक्षार्थ एवं वर्ण और आश्रमोंके कर्तव्योंकी सुरक्षित, वृद्धिगत और पल्लवित करनेके लिये 'दंडनीति' का प्रचार किया गया। कृषि और व्यापार आदिसे उत्पन्न होनेवाली आयका कुछ (१६ वां) हिस्सा राजकोषमें दिये जानेका प्रचार किया। इसके द्वारा संचित-कोषकी शक्तिसे सैनिक संगठन किया गया, इस प्रकार दंडनीति विद्याका प्रचार किया।

इससे राजाकी शत्रुवर्गसे रक्षा होनेलगी एवं त्रयीविद्या भी वृद्धिगत और सुरक्षित होनेलगी। दंडनीतिसे राजाकी प्रजापीडक और आततायी दुष्टपुरुषोंको दंड (सजा) दिया जानेलगा अर्थात् शिष्टपालन और शांति, शान्ति, स्थिर, विग्रह, यान और आसनादि पादगुण्यका प्रयोगरूप राजनीतिका प्रादुर्भाव हुआ। अतएव भगवान्ने प्रजामें आन्वीक्षिकी विद्याका प्रचार किया—वर्ण और आश्रमोंमें विभाजित करने और कर्तव्य पथमें आरुढ़ करने और अन्यायी प्रजापीडक आततायियोंसे उसकी रक्षा करनेके लिये—कौजदारी और दीयानीके कानून बनाये गये। इसप्रकार व्यवहारोपयोगी आन्वीक्षिकी विद्याका प्रचार किया गया।

एवं इसके साथ कर्तव्य कर्म करने और अकर्तव्यको त्यागनेमें प्राणीका शारवत कल्याण क्यों होता है? शरीर और इन्द्रियादिक प्रकृतिसे भिन्न स्वतन्त्र आत्मद्रव्य है। वह पूर्वजन्म और अपर जन्म करता है और अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके अच्छे और बुरे फल भोगता है इत्यादि विषयों पर अनेक प्रश्न और अबाधित युक्तियोंका प्रचार किया, इसप्रकार प्रभुने प्रजामें सर्वविद्याओं की प्रवृत्त आन्वीक्षिकी विद्याका प्रचार किया।

अतएव इसी आन्वीक्षिकी विद्याकी विस्तृत व्याख्या केवलज्ञान उत्पन्न होने पर की। अहिंसा, अविद्या, कर्मसिद्धान्त और ईश्वर-विषयक उत्कृष्टविचार तथा ६ पदार्थ आदि विषयों पर अपनी दिव्य-शक्ति द्वारा प्रबल, एवं अकाट्य—अबाधित—युक्तियोंसे परिपूर्ण दिव्य संदेश दिया—युक्तिपूर्ण भाषण दिये। विद्याओंके प्रचारका संचित इतिवृत्त—इतिहास—है। इनका वेत्ता विद्वान् कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र और विश्वके उत्थार करनेमें समर्थ होता है ॥ ६३ ॥

अतएव आन्वीक्षिकी—दर्शनशास्त्र—में होनेवाले लाभको बताते हैं:—

चेतयते^१ च विद्यावृद्धमेवायाम् ॥ ६४ ॥

अर्थ:—आन्वीक्षिकी विद्यामें निपुण मनुष्य विद्याओंके अभ्यास और बहुश्रुत विद्वान् पुरुषोंकी सेवा करता होता है ॥ ६४ ॥

भावार्थ:—उक्तसूत्रमें जो वृद्ध शब्द आया है उससे राजनीति और धर्मनीति आदिके विद्वान्को सूचित है कि केवल सफेद बालोंवाले बुढ़ों को।

विवर्ण:—अतएव विवेकी पुरुष और राजाका कर्तव्य है कि वह विद्याओंके अध्ययन और विद्वानों की सेवामें सदा प्रयत्नशील रहे ॥ ६४ ॥

१ 'चेतयते' पैरा गट मु० और ६० मू० प्रतियोंमें है।

नीतिकार नारद^१ ने कहा है कि 'केवल शिरपर सफेद बालोंके होजानेसे मनुष्यको वृद्ध नहीं कहा जाता किंतु जो जवान होकरके भी विद्याओंका अभ्यास करता है उसे विद्वानोंने स्वविर—वृद्ध—कहा है ॥१॥ अब विद्याओंका अभ्यास और विद्वानोंकी सङ्गति न करने वालेकी हानिका निरूपण करते हैं:—

अज्ञातविद्यावृद्धसंयोगो हि राजा निरङ्कुशो गज^२ इव सद्यो विनश्यति ॥ ६५ ॥

अर्थ:—जो राजा न तो विद्याओंका अभ्यास करता है और न विद्वानोंकी सङ्गति करता है वह निश्चयसे उन्मार्गगामी होकर बिना अङ्कुराके हाथीके समान शीघ्र ही नष्ट होजाता है ।

ऋषिपुत्र^३ विद्वान्ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'विद्याओंको न जानने वाला और वृद्धों—ज्ञानवृद्धों (विद्वानों) की सङ्गति न करने वाला राजा बिना अङ्कुराके हाथीके समान उन्मार्गगामी होकर शीघ्र नाशको प्राप्त होजाता है ॥१॥'

निष्कर्ष:—अत एव ऐहिक और पारलौकिक भोग—कल्याण—चाहने वाले पुरुषों तबों राजाको विद्याओंका अभ्यास तथा बहुभुत विद्वानोंकी सङ्गति करनी चाहिये ॥६५॥

अब शिष्टपुरुषों—सदाचारी विद्वानों—की सङ्गतिसे होने वाले लाभका निर्देश करते हैं:—

अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात् परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति^४ ॥ ६६ ॥

अर्थ:—विद्याओंका अभ्यास न करने वाला—मूर्ख मनुष्य—भी विशिष्टपुरुषों—विद्वानों—की सङ्गतिसे उत्तमज्ञानको प्राप्त कर लेता है—विद्वान् होजाता है ।

विद्वान् अभ्यासने^५ भी लिखा है कि 'जिसप्रकार चन्द्रमाकी किरणोंके संसर्गसे जङ्गरूप—जलरूप—

१ तथा च नारदः—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पतितं शिरः ।

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्वविरं विदुः ॥ १ ॥

२ 'वनगज इव' ऐसा पाठ मु० और ६० लि० मूल प्रतियोंमें पाया जाता है जिसका अर्थ:—'जंगली हाथीके समान है, विशेष अर्थभेद नहीं है ।

३ तथा च ऋषिपुत्रः—

यो विद्यां वेत्ति नो राजा वृद्धान्नैकोपसेवते ।

स शीघ्रं नाशमभ्याति निरङ्कुश इव द्विपः ॥ १ ॥

४ 'अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात् परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति' ऐसा पाठ मु० और ६० लि० ५० प्रतियोंमें है जिसका अर्थ:—अधीक्षिकी—'दर्शनशक्तिको न पढ़नेवाला भी' है ।

५ तथा च व्यासः—

विवेकी बाहुमङ्गेन जङ्कोऽपि हि प्रजगमते ।

अग्नाशुसेवनान्मूर्ख बह्वन्व कुमुदाकरः ॥ १ ॥

इसको प्राप्त हो जाता है उसीप्रकार जड़—मूर्ख—मनुष्यभी निश्चयसे शिष्टपुरुषोंकी सङ्गतिसे लाभ को प्राप्त है ॥११॥

अर्थ—अतएव उक्त आन्धीत्तिकी और त्रयी आदि विद्याओंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक मनुष्य विद्वानोंकी सङ्गति करनी चाहिये ॥६६॥

इस द्वारा उक्त बातका समर्थन किया जाता है:—

अन्यैव काचित् खलु आयोपजलतरुणाम् ॥६७॥

अर्थ—जिसप्रकार जलके समीप वर्तमान वृक्षोंकी छाया निश्चयसे कुछ अपूर्व—विलक्षण (शीतल और शीतल) ही होजाती है उसीप्रकार विद्वानोंके समीप वर्तमान पुरुषोंकी कान्ति भी अपूर्व—विलक्षण होती है—अर्थात् वे भी विद्वान् होकर सुशोभित होने लगते हैं ।

अर्थ—इसलिये प्रत्येक मनुष्यको व्युत्पन्न—विद्वान्—होनेके लिये विद्वज्जनोंका संसर्ग करना चाहिये ॥६७॥

“वक्त्रभेद” विद्वान्ने भी कहा है कि ‘जो राजा मूर्ख होनेपर भी शिष्टपुरुषोंकी सङ्गति करता है उसकी कान्ति जलके समीप रहनेवाले वृक्षके समान अपूर्व होजाती है ॥११॥’

सद्गुरुओंके सद्गुण बताते हैं:—

वंशवृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः ॥६८॥

अर्थ—जो वंश परम्परासे विशुद्ध हों—जिनके पूर्वज—पिता आदि—राजवंशके गुरु रह चुके हों—सद्गुरुवार(अहिंसा, सत्य और अचौर्य आदि चरित्र-धर्म)विद्या—राजनैतिक तथा धार्मिक आदि विविध विद्याका ज्ञान—और कुलीनता—उत्कृष्टतामें उत्पन्न होकर सत्कर्तव्योंका पालन—इन सद्गुणोंसे अलंकृत हो ही विद्वान् निश्चयसे राजाओंके गुरु हो सकते हैं ॥६८॥

“मीशिकार नारद” भी उक्त सिद्धान्तका समर्थन किया है कि ‘जिनके पूर्वज राजवंशमें अध्यापक रह चुके हों, जो सदाचारी, विद्वान् और कुलीन हों वे ही राजाओंके गुरु होसकते हैं ॥११॥’

१. दु० और ६० लिखित प्रतियोंमें ‘काचित्’ शब्द नहीं है और उसके न होने पर भी अर्थभेद कुछ नहीं होता ।

२. तथा च वक्त्रभेदः—

अन्यानि जायते शोभा मूर्त्यानि वदन्तः ।

सद्गुरुणां हि सत्यं सलिलादूरवर्तिनः ॥ १ ॥

३. तथा च नारदः—

पूर्वेषां पाठका येषां पूर्वजा वृत्तसंयुताः ।

विद्याकुलीनतायुक्ता नृपाणां गुरुवश्च ते ॥ १ ॥

अथ शिष्टोंके साथ नम्रताका वर्ताव करने वाले राजाका लाभ बताते हैं:—

शिष्टानां^१ नीचैराचरभरपतिरिहलोके स्वर्गे च महीयते ॥६६॥

अर्थ:—जो राजा शिष्टपुरुषोंके साथ नम्रताका व्यवहार करता है वह इसलिये जहाँ और स्वर्गमें पूजा जाता है ॥६६॥

हारीत^२ विद्वान्ने भी लिखा है कि 'जो राजा शिष्टपुरुषोंकी भक्ति करनेमें तत्पर है वह परलोकमें माहात्म्य—बढ़प्पन—को प्राप्त होकर स्वर्गमें देवों और इन्द्रादिकोंसे पूजा जाता है ॥१॥'

अथ राजाका माहात्म्य बताते हैं:—

राजा हि परमं^३ दैवतं नासौ कस्मैचित् प्रणमत्यन्यत्र गुरुजनेभ्यः ॥७०॥

अर्थ:—राजा अत्यन्त भाग्यशाली होता है, इसलिये यह पूज्यजनों (देव, गुरु, धर्म और माता पिता-आदि)के सिवाय किसीको नमस्कार नहीं करता।

भावार्थ:—शास्त्रकारों^४ने कहा है कि पूज्योंकी पूजाका उल्लङ्घन करनेसे कल्याणके मार्गमें रुकावट आ जाती है इसलिये देव, गुरु और धर्म तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंकी भक्ति करना प्रत्येक प्राणीका कर्तव्य है ॥७०॥

अथ दुष्टपुरुषसे विद्या प्राप्त करनेका निषेध करते हैं:—

वरमज्ञानं नाशिष्टजनसेवया विद्या ॥७१॥

अर्थ:—मनुष्यको मूर्ख रहना अच्छा है परन्तु दुष्ट-पुरुषकी सेवा करके विद्या प्राप्त करना अच्छा नहीं है ॥७१॥

हारीत^५ विद्वान्ने कहा है कि 'जिसके संसर्गसे राजा पापी हो जाता है ऐसे दुष्टकी संगतिसे विद्वत्ता प्राप्त करना अच्छा नहीं उसकी अपेक्षा मूर्ख रहना अच्छा है ॥१॥'

१ 'शिष्टेषु नीचैराचरभरपतिरिह परत्र च महीयते' ऐसा पाठ मु० और इ० लि० मू० प्रतियोंमें है परन्तु विशेष अर्थ भेद कुछ नहीं है।

२ तथा च हारीतः—

साधुपूजापरो राजा माहात्म्यं प्राप्य भूतले।

स्वर्गगतस्ततो देवैरिन्द्राद्यैरपि पूज्यते ॥ १ ॥

३ 'परमं दैव' ऐसा पाठ पूना लायब्रेरी की इ० लि० मू० प्रतियोंमें है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ भगवज्जिनसेनाचार्यः प्राहः—

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः

आदिपुराणसे

५ तथा च हारीतः—

वरं जनस्य मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया।

पांडित्यं यस्य संसर्गात् पापात्मा जायते नृपः ॥ १ ॥

अब दृष्टान्त द्वारा उक्त बातका समर्थन करते हैं—

अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः ॥ ७२ ॥

अर्थ:—जिसमें जहर मिला हुआ हो उस अमृतसे क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं ।

भावार्थ:—जिसप्रकार विष-मिश्रित अमृतके पीनेसे मृत्यु होती है उसीप्रकार अमृतके समान विद्या भी दुष्ट पुरुषसे प्राप्त की जानेपर हानिकारक होती है—उससे शिष्यको पारलौकिक कष्ट भोगने पड़ते हैं ।

नारद^१ विद्वान्ने कहा है कि 'शिष्य नास्तिकोंके सिद्धान्तको अमृतके समान मानता है परन्तु यदि वह उसे परलोकमें विषकी तरह घातक और दुःखदायक न होता तब उसका उसे अमृतके तुल्य प्रिय—लाभदायक—मानना उचित था ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—नैतिक मनुष्यको विष-मिश्रित अमृतके समान दुष्ट पुरुषसे विद्या प्राप्त नहीं करना चाहिये अथवा नास्तिकों—चार्वाक आदि—के हानिकारक मतको स्वीकार नहीं करना चाहिये ॥ ७२ ॥

अब शिष्य गुरुजनोंके अनुकूल होते हैं इसका विवेचन करते हैं—

गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्याः ॥ ७३ ॥

अर्थ:—शिष्यलोग बहुधा अपने गुरुजनोंके शील—आचार-विचार—का अनुसरण करते हैं—अर्थात् यदि शिक्षक नैतिक, सदाचारी और विचारवान् होता है तो उसका शिष्य भी उसके अनुकूल प्रवृत्ति करनेवाला—नैतिक सदाचारी और विचारवान् होजाता है । परन्तु यदि वह नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाला, दुराचारी और मूर्ख होगा तो उसका शिष्य भी वैसा—दुराचारी आदि—होगा ।

वर्ग^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिस प्रकार वायु जैसे—सुगन्धि या दुर्गन्धि देशको स्पर्श करती है उसीके अनुकूल सुगन्धि या दुर्गन्धिको प्राप्त कर लेती है उसीप्रकार मनुष्य भी जैसे शिष्ट या दुष्ट पुरुषकी सेवा करता है उसकी वैसी ही—सत् या असत्—अच्छी या बुरी—प्रवृत्ति होजाती है ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—अतएव शिक्षक—गुरुजन—विद्वान्, नीतिज्ञ, सदाचारी और भद्रप्रकृति-युक्त होने चाहिये जिससे उनके शिष्य भी तदनुकूल—उनके समान—होकर संसारकी सर्वोत्तम सेवा करते हुए ऐहिक एवं पारत्रिक सुख प्राप्त कर सकें ॥ ७३ ॥

अब कुलीन और सदाचारो शिक्षकोंसे होनेवाला लाभ बताते हैं:—

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते ॥ ७४ ॥

अर्थ:—जिसप्रकार नवीन मिट्टीके वर्तनोंमें किया हुआ संस्कार—रचना—ब्रह्माके द्वारा भी बदला नहीं जासकता उसीप्रकार बच्चोंके कोमल हृदयोंमें किया गया संस्कार भी बदला नहीं जासकता ।

१ तथा च नारदः—

नास्तिकानां मतं शिष्यः पीयूषमिव मन्यते ।

दुःखावहं परे लोके नोचेद्विषमिव स्मृतम् ॥ १ ॥

२ तथा च वर्गः—

यादृशान् सेवते मर्त्यस्तादृक् चेष्टा प्रजायते ।

यादृशं स्पृशते देशं वायुस्तदगन्धमावहेत् ॥ १ ॥

भावार्थः—बाल्यकालमें बालकोंके हृदय नवीन मिट्टीके बर्तनोंकी तरह अत्यंत कोमल होते हैं, इसलिये उनके मानसिक क्षेत्रमें जैसे—प्रशस्त वा अप्रशस्त (अच्छे वा बुरे) संस्कारोंका बीजारोपण किंवा जाता है वह स्थायी—अमिट—होता है, अतएव उनके शिक्षक—गुरुजन—उत्तमसंस्कार-युक्त—सदाचारी, कुलीन और विद्वान् होने चाहिये ।

वर्गः विद्वान्ने भी कहा है 'जो मनुष्य बाल्यकालमें जिस प्रकारकी अच्छी या बुरी विद्या पढ़ लेता है वह उसीके अनुकूल कार्योंकी करता रहता है और पुनः किसी प्रकार उनसे निवृत्त नहीं होता ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—अतः उत्तमसंस्कार-युक्त—भद्रप्रकृति (सदाचारी)होनेके लिये शिक्षकोंके शिक्षक—गुरुजन—कुलीन, सदाचारी और विद्वान् होने चाहिये ॥ ७४ ॥

अथ दुराग्रही—हठी—राजाका होना अच्छा नहीं है इसे बताते हैंः—

अन्ध इव वरं परमण्यो राजा न ज्ञानलवदुर्विदग्धः ॥ ७५ ॥

अर्थः—जो राजा जन्मान्ध—जन्मसे अन्धे पुरुष—के समान मूर्ख है परन्तु यदि वह दूसरे मन्त्री और अमात्य आदि द्वारा कर्त्तव्य मार्ग—सन्धि, विग्रह यान और आसन आदि बाह्यगुण्य—में प्रेरित किया जाता है तो ऐसे राजाका होना किसीप्रकार अच्छा है । परन्तु जो थोड़ेसे राजनैतिक-ज्ञानको प्राप्तकर दुराग्रही—हठी—है—अर्थात् सुयोग्य मन्त्री और अमात्य आदिकी समुचित सलाहको नहीं मानता उसका राजा होना अच्छा नहीं है—हठी राजासे राज्यकी क्षति होनेके सिवाय कोई लाभ नहीं ।

गुरुः विद्वान्ने कहा है कि 'मूर्ख राजा मंत्र—सलाह—में कुशल मंत्रियोंके द्वारा राजनैतिक कर्त्तव्यों—सन्धि और विग्रह आदि बाह्यगुण्य—में प्रेरित कर दिया जाता है, इसलिये वह कुमार्गमें प्रवृत्त नहीं होता परन्तु थोड़ेसे ज्ञानको प्राप्त करनेवाला राजा उसमें प्रवृत्त होजाता है ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—राजाका कर्त्तव्य है कि वह राजनीतिके विद्वान् और कुशल मंत्रियोंकी उचित सलाहको सदा माने और कदापि दुराग्रह न करे ॥ ७५ ॥

अथ मूर्ख और दुराग्रही राजाका वर्णन करते हैंः—

नीलीरक्ते वस्त्र इव को नाम दुर्विदग्धे राशि रागान्तरमाधत्ते ॥ ७६ ॥

अर्थः—मूर्ख और दुराग्रही—हठी—राजाके अभिप्रायको नीले रंगसे रंगे हुए वस्त्रके समान कौन बदलनेमें समर्थ होसकता है ? कोई नहीं ।

१ तथा च वर्गः—

कुविद्यां वा कुविद्यां वा प्रथमं यः पठेत्ततः ।

तथा कृत्स्नानि कुविद्यां न कथंविधिवर्तते ॥ १ ॥

२ मु० भू० अंतर्गते 'परमप्राप्तो' और गवर्न० लायबेरी पुनाकी इ० लि० भू० अंतर्गते 'परमाप्तो' ऐसा पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं, तथापि विचार करनेसे संस्कृत की० पु० का पाठ सुन्दर प्रतीत हुआ ।

३ तथा च गुरुः—

मंत्रिभिर्मन्त्रकुशलैरन्धः संचार्यते नृपः ।

कुमारोऽथ न च याति स्वल्पज्ञानस्तु गच्छति ॥ १ ॥

भावार्थ:—जिसप्रकार नीले रंगसे रंगे हुए वस्त्रपर दूसरा रंग नहीं बढ़ाया जा सकता उसीप्रकार मूर्ख और हठी राजाका अभिप्राय—विचार—भी किसीके द्वारा बदला नहीं जा सकता ।

नारद^१ विद्वानने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'नील रंगसे रंगे हुए वस्त्रके समान दुरामही राजाकी बात किसीके द्वारा बदली नहीं जा सकती ॥ १॥'

निष्कर्ष:—मूर्ख और दुरामही राजासे राष्ट्रकी हानि—क्षति—होती है, क्योंकि वह आप्र—हितैषी—पुरुषोंकी पथ्य—हितकारक—बातकी अवहेलना करता है जिससे राष्ट्रकी श्रीवृद्धि नहीं हो पाती ॥ ७६ ॥

अब पथ्य—हितकारक—उपदेश देनेवाले विद्वानोंके प्रति संकेत करते हुए उन्हें कर्तव्य मार्ग बताते हैं:—

यथार्थवादो विदुषां श्रेयस्करां यदि न राजा गुणप्रदोषी ॥ ७७ ॥

अर्थ:—यदि राजा गुणोंसे द्वेष नहीं रखता—गुणभाही है, तो उसके समक्ष यथार्थ वचन बोलना—तत्काल अप्रिय होने पर भी भविष्यमें कल्याणकारक वचन बोलना—विद्वानोंके लिये कल्याणकारक है, अन्यथा नहीं ।

हारीत^२ विद्वानने भी कहा है कि 'राजाके समक्ष विद्वानोंके द्वारा कहे हुए यथार्थवचन—पथ्यरूप उपदेश—उन्हें तब कल्याणकारक होसकते हैं जब राजा गुणोंसे द्वेष न करता हो ॥ १॥'

अब स्वामीके प्रति विद्वानोंका कर्तव्य निर्देश करते हैं:—

वरमात्मनो भरणं नाहितोपदेशः स्वामिषु ॥ ७८ ॥

अर्थ:—शिष्ट पुरुषको एक बार भ्रम जाना उत्तम है परन्तु उसे अपने स्वामीके प्रति अहितकारक मार्ग का उपदेश देना अच्छा नहीं ॥ ७८ ॥

व्यास^३ विद्वानने कहा है कि 'यदि राजा अपनी हितकारक बातको ध्यान देकर नहीं भी सुनता हो, तथापि मन्त्रियोंको उसे कर्तव्य-वच पर आसक्त करनेके लिये हितकी बात समझाते रहना चाहिये ।

१ तथा च नारदः—

तुर्विदग्धस्य भूपत्य भावः शक्येत नाग्रथा ।

कथं त्वयोऽथ वदस्य नीलीरक्तस्य वाससः ॥ १ ॥

२ तथा च हारीतः—

श्रेयस्कराणि वाक्यानि स्युःकानि यथार्थतः ।

विप्रद्विर्वदि भूपातो गुणद्वेषी न चेद्भवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च व्यासः—

अश्रुत्वन्नपि बोद्धव्यो मंत्रिभिः पृथिवीपतिः ।

वधात्मदोषनाशाय विदुरेवाभिकामुतः ॥ १ ॥

उदाहरणार्थः—जिस प्रकार महात्मा विदुरने धृतराष्ट्रको उसके दोषोंके नाश करनेके लिये—अन्याय-पूर्ण राज्य तृष्णाका त्याग करनेके लिये—समझाया था^१ ॥ १ ॥

इति विद्यावृद्धसमुद्देश समाप्त

१ महात्मा विदुरने धृतराष्ट्रको अनेक बार उसे हितकारक उपदेश दिया था कि हे राजन् ! अब पांडवोंकी वनवास आदिकी अवधि पूरी होगई है, अतः आप उनका न्याय-प्राप्त राज्य लौटा दें, आपको अन्याय-पूर्ण राज्य-सिद्धि या तृष्णा छोड़ लेनी चाहिये, अन्यथा आपके कुलवंशका भविष्य खतरेसे खाली न रहेगा, तुम हैं आप्त पुरुषोंकी बातकी अवहेलना न करनी चाहिये । मैं आपको तात्कालिक अभिय परन्तु भविष्यमें हितकारक बात कह रहा हूँ इत्यादि रूपसे विदुरजीने उसे हितकारक वचन कहे थे, परन्तु उसने उनकी बात न मानी इससे वह महाभारतके भयङ्कर युद्धमें सकुटुम्ब नष्ट होकर अपकीर्तिका पात्र बना ।

अथ आन्वीचिकी समुद्देशः ।

अथ अध्यात्मयोग—आत्मध्यान—का लक्षण निर्देश करते हैं—

आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोगः ॥१॥

अर्थः—आत्मा, मन, शरीरमें वर्तमान प्राण वायु—कुम्भक (प्राणायामकी शक्तिसे शरीरके मध्यमें प्रविष्ट कीजाने वाली पलायकवायु), गुरुक (उक्त विधिसे पूर्ण शरीरमें प्रविष्ट की जाने वाली हवा) और रेचक (उक्त विधिसे शरीरसे बाहर कीजाने वाली वायु) तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि तत्वोंकी समान और दृढ़ निश्चलता—स्थिरता—को अध्यात्मयोग—आत्मध्यान (धर्मध्यान) कहते हैं ।

ऋषिपुत्रक^१ विद्वाम्ने कहा है कि 'जिससमय आत्मा, मन और प्राण वायुकी समानता—स्थिरता—होती है उससमय मनुष्यको सम्यग्ज्ञानका जनक अध्यात्मयोग प्रकट होता है ॥ १ ॥'

व्यास^२ ने भी लिखा है कि 'समस्त इन्द्रिय और मनकी चंचलता न होने देना ही योग—ध्यान—है केवल पश्चासन लगा कर बैठना वा नासाग्र-दृष्टि रखना योग नहीं है ॥ १ ॥'

उक्त अध्यात्मयोग—धर्मध्यान—के शास्त्रकारोंने^३ चार भेद निर्दिष्ट किये हैं । पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ।

पिंडस्थ ध्यानमें विवेकी और जितेन्द्रिय मनुष्यको पार्थिवी, आग्नेयी, रवसना, वाहणी और तत्त्वरूप-वती इन पांचधारणाओं—ध्येय तत्वों—का ध्यान दुःखोंकी निवृत्तिके लिये करना चाहिये ।

पार्थिवी-धारणामें मध्यलोकगत स्वयंभूरमण नाम समुद्रपर्यन्त तिर्यग्लोकके बराबर, निःशब्द, तरङ्गों से रहित और वर्षके सदृश शुभ्र ऐसे क्षीर समुद्रका ध्यान करे । उसके मध्यमें सुन्दर रचना-युक्त, अमित वीतिसे सुशोभित, पिघले हुए सुवर्णके समान प्रभायुक्त, हजार पत्तोंवाला, जम्बूद्वीपके बराबर और मन-रूपी भ्रमरको प्रमुदित करनेवाला ऐसा कमलका चितवनकरे । तत्पश्चात् उस कमलके मध्यमें सुमेरुपर्वतके समान पीतवर्णकी कान्तिसे व्याप्त ऐसी कर्णिकाका ध्यान करे । पुनः उसमें शरत्कालीन चन्द्रके समान शुभ्र और ऊँचे सिंहासनका चितवनकर उसमें आत्मद्रव्यको सुखपूर्वक विराजमान, शान्त और चोमराहित,

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—

आत्मा मनो मरुत्तरत्वं सर्वेषां समता यदा ।

तदा त्वध्यात्मयोगः स्यान्नराणां लानदः स्मृतः ॥ १ ॥

२ तथा च व्यासः—

न पश्चात्सनतो योगो न च नासाग्रधीक्षयात् ।

मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते ॥ १ ॥

३ तथा च शुभचन्द्राचार्यः (शानार्णवे)

पिंडस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

चक्षुर्दा ध्यानमाख्यातं भव्यराजीवभास्करैः ॥ १ ॥

राग, द्वेष और मोह आदि समस्त पाप कलङ्कको क्षय करनेमें समर्थ और संसारमें उत्पन्न हुए ज्ञानावरण आदि कर्म समूहको नष्ट करनेमें प्रयत्नशील चित्तबल करे।

इति पार्थिवी धारणा ।

आग्नेयी धारणामें निश्चल अभ्याससे नाभिमंडलमें सोलह उन्नत पत्तोंवाले एक मनोहर कमलका और उसकी कणिकामें महामंत्र (हं)का, तथा उक्त सोलह पत्तोंपर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, और अः इन सोलह अक्षरोंका ध्यान करे।

पश्चात् हृदयमें आठ पांखुड़ीवाले एक ऐसे कमलका ध्यान करे, जो अधोमुख—उल्टा (ओंघा) और जिसपर ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि ८ कर्म स्थित हों।

पश्चात् पूर्वचिन्तित नाभिस्थ कमलकी कणिकाके महामंत्रकी रेफसे मन्द २ निकलती हुई धुएँकी शिखाका, और उससे निकलती हुई प्रवाह रूप स्फुल्लिङ्गोंकी पंक्तिका पश्चात् उससे निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंका चित्तबल करे। इसके अनन्तर उस ज्वाला (अग्नि)के समूहसे अपने हृदयस्थ कमल और उसमें स्थित कर्म-राशिको जलाता हुआ चित्तबल करे। इसप्रकार आठों कर्म जल जाते हैं यह ध्यानकी ही सामर्थ्य है।

पश्चात् शरीरके बाह्य ऐसी त्रिकोण वह्नि(अग्नि)का चित्तबल करे जो कि ज्वालाओंके समूहसे प्रज्वलित षड्वानलके समान, अग्निबीजाक्षर 'र'से व्याप्त वा अन्तमें साधियाके चिन्हसे चिन्हित, ऊर्ध्व मण्डलसे उत्पन्न, धूमरहित और सुवर्णके समान कान्ति युक्त हो। इसप्रकार धगधगायमान फैलती हुई लपटोंके समूहसे देदीप्यमान बाहरका अग्निपुं अन्तरङ्गकी मंत्राग्निको दग्ध करता है।

तत्पश्चात् यह अग्निमंडल उस नाभिस्थ कमल आदि को भस्मीभूत करके बाह्य—जलाने योग्य पदार्थ—का अभाव होनेके कारण स्वयं शान्त हो जाता है।

इति आग्नेयी धारणा ।

मारुती-धारणामें ध्यानी करनेवाले संयमी पुरुषको आकाशमें पूर्ण होकर संचार करनेवाले, महावेग-युक्त, महायत्नवान्, देवोंकी सेनाको चलायमान और समेरुपर्षतको कम्पित करनेवाला, मेघोंके समूहको बखेरनेवाला, समुद्रको लुब्ध करनेवाला दशों दिशाओंमें संचार करनेवाला, लोकके मध्यमें संचार करता हुआ और संसारमें व्याप्त ऐसे वायुमंडलका चित्तबल करे। तत्पश्चात् उस वायुमंडलके द्वारा कर्मोंके दग्ध होनेसे उत्पन्न हुई भस्मको उड़ाता हुआ ध्यान करे। पुनः उस वायुमंडलको स्थिर चित्तबलकर उसे शान्त करे।

इति मारुती धारणा ।

वाहणी धारणामें ध्यानी व्यक्ति ऐसे आकाश तत्त्वका चित्तबल करे जो इन्द्रधनुष और विजलीकी गर्जनादि घमत्कारसे युक्त मेघोंके समूहसे व्याप्त हो। इसके बाद अर्द्धचन्द्राकार, मनोज्ञ और असृतमय जलके प्रवाहसे आकाशको बहाते हुए वरुणमंडल—जलतट—का ध्यान करके उसके द्वारा उक्त कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाली भस्मको प्रक्षालन करता हुआ चित्तबल करे।

इति वाहणी धारणा ।

तत्त्वरूपवती-धारणामें संयमी और ध्यानी पुरुष सप्तधातुरहित, पूर्णचन्द्रके सदृश कान्तियुक्त और सर्वज्ञके समान अपनी विशुद्ध आत्माका ध्यान करे। इसप्रकार अभी तक पिंडस्थ ध्यानका संक्षिप्त विवेचन

सम्बन्ध है, अथ्य पदस्थ आदिका स्वरूप ज्ञानार्णव-शास्त्रसे जानना चाहिये, विस्तारके भयसे हम इसे विवेचन नहीं करना चाहते ॥ १ ॥

अध्यात्मज्ञ—आत्मज्ञानी—राजाका लाभ बताते हैं:—

अध्यात्मज्ञो हि राजा सहज-शारीर-मानसागन्तुभिर्दोषैर्न बाध्यते ॥ २ ॥

अर्थ:—जो राजा अध्यात्म-विद्याका विद्वान् होता है वह सहज (कषाय और अज्ञानसे उत्पन्न होने वाले शारीरिक और तामसिक दुःख), शारीर (बुखार-नालगाण्डादि बीमारियोंसे होने वाली पीड़ा), मानसिक (अविद्या-आदिकी लालसासे होनेवाले कष्ट), एवं आगन्तुक दुःखों (भविष्य में होनेवाले—अतिवृष्टि, भूकम्प और शत्रुकृत अपकार आदि कारणोंसे होनेवाले दुःख) से पीड़ित नहीं होता ॥ २ ॥

नारदः विद्वान्ने लिखा है कि 'अध्यात्म-विद्याका जानने वाला राजा सहज—राजसिक और तामसिक दुःख, आगन्तुक—भविष्य कालमें होनेवाले कष्ट, शारीरिक—बुखार-आदि और मानसिक—परकल-आदि कष्टबन्धनसे होनेवाला कष्ट इत्यादि समस्त दुःखोंसे पीड़ित नहीं होता ॥ १ ॥'

आत्माके क्रीड़ा योग्य स्थानोंका विवेचन किया जाता है:—

इन्द्रियाणि मनो विषया ज्ञानं भोगायतनमित्यात्मारामः ॥ ३ ॥

अर्थ:—इन्द्रियाँ—स्पर्श, रसना, श्रवण, स्पर्श और भोज—मन, विषय (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द), ज्ञान और शरीर ये सब आत्माकी क्रीड़ाके स्थान हैं ॥ ३ ॥

'विभिटीक' विद्वान्ने कहा है कि 'इन्द्रियाँ, मन, ज्ञान और इन्द्रियोंके स्पर्श आदि विषय तथा शरीर ये सब आत्माके क्रीड़ा करनेके स्थान हैं ॥ १ ॥'

आत्माके स्वरूपका कथन किया जाता है:—

अब्राह्मिस्त्यनुपचरितप्रत्ययः स आत्मा ॥ ४ ॥

अर्थ:—जिस पदार्थमें 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ और मैं इच्छावान् हूँ' आदि वास्तविक प्रत्यय—ज्ञान—होता है, वह आत्मा है। अर्थात् 'मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ' इसप्रकारके ज्ञानके द्वारा जो प्रत्येक प्राणीको स्वसंवेदन-द्वारा जाना जाये वही शरीर इन्द्रिय और मनसे वृथक्, चैतन्यात्मक और अनादिनिधन आत्मद्रव्य है।

तथा च नारदः—

अध्यात्मज्ञो हि महीगलो न दोषैः परिभूयते ।

अज्ञानानुकैश्चापि शरीरैर्मानसैस्तथा ॥ १ ॥

तथा च विभिटीकः—

इन्द्रियाणि मनो ज्ञानं विषया भोग एव च ।

विषयकस्य चैतानि क्रीडास्थानानि कृत्स्नतः ॥ १ ॥

१ 'अनुपचरितप्रत्ययः' ऐसा पाठ मु० मू० पुस्तकमें है, परन्तु अर्थभेद कुछ न होनेपर भी सं० टी० पुस्तकका उक्त पाठ उत्तम है ।

अब युक्तिपूर्वक आत्मद्रव्यकी शरीरादिकसे पृथक् सिद्ध करते हैं:—

असत्यात्मनः प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम् ॥ ५ ॥

अर्थ:—यदि आत्मद्रव्यका पुनर्जन्म—परलोक (स्वर्गादि) में गमन न माना जावे तो संसारमें विद्वानोंकी जो पारलौकिक धार्मिक-कर्तव्यों (प्राणि रक्षा, दान, तप और जप आदि) में प्रवृत्ति होती है वह व्यर्थ—निष्फल—होगी। क्योंकि आत्माका परलोक-गमन न माननेसे उन्हें आगे जन्ममें उक्त पारलौकिक अनुष्ठानोंका स्वर्ग आदि सुखरूप फल प्राप्त न होगा। अतएव विद्वानोंकी पारलौकिक—दान-पुण्य आदि धार्मिक अनुष्ठानोंमें प्रवृत्ति आत्मद्रव्यके परलोक-गमनको सिद्ध करती है ॥ ५ ॥

‘प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्तेः प्रयोजनेन व्याप्तत्वात्’ अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी—विद्वान् मनुष्यों—की सत्कार्य—पारलौकिक दान-पुण्यादि—में प्रवृत्ति निष्फल नहीं हो सकती—किन्तु सफल ही होती है, इस नियमित सिद्धान्तके अनुसार उनकी दीक्षा और प्रवृत्तिमें देखी जानेवाली सत्प्रवृत्ति आत्मद्रव्यका पुनर्जन्म-परलोकमें गमन—सिद्ध करती है।

याज्ञवल्क्य^१ विद्वान्ने लिखा है कि सबकी आत्मा मरनेके बाद अपने कर्मोंके अनुसार नवीन शरीर को धारण कर पूर्वमें किये हुए शुभ और अशुभ कर्मोंके अच्छे और बुरे फलोंको भोगता है ॥ १ ॥

अब मनका स्वरूप बताते हैं:—

यतः स्मृतिः प्रत्यवमर्षणमूहापोहनं शिक्षालापक्रियाग्रहणं च भवति तन्मनः ॥ ६ ॥

अर्थ:—जिससे प्राणीको स्मरण (मैंने अमुक कार्य किया था और अमुक कार्य करूँगा इत्यादि स्मृति-ज्ञान) व्याप्ति-ज्ञान (उदाहरणार्थ:—जैसे जिस २ मनुष्यमें व्यवहार कुशलता होती है उस २ में अवरब बुद्धिमत्ता होती है जैसे अमुक व्यक्ति। एवं जिस २ में बुद्धिमत्ता नहीं होती उसमें व्यवहारकुशलता भी नहीं होती जैसे अमुक मूर्ख व्यक्ति। इसप्रकार साधनके होनेपर साध्यका होना और साध्यकी गैरभौज्यगीमें साधनका न होना इसे व्याप्ति ज्ञान कहते हैं), ऊह—(संदेह युक्त पदार्थका विचार), अपोह (संदिग्ध पदार्थका निरचय), किसीके द्वारा दीजाने वाली शिक्षाका ग्रहण और किसीसे की हुई बातचीतका ध्यानसे धुनना ये सब ज्ञान होते हैं उसे ‘मन’ कहते हैं ॥ ६ ॥

गुरु^२ विद्वान्ने भी कहा है कि जिससे मनुष्योंको ऊह—संदिग्ध पदार्थका विचार, अपोह—उसका निरचय, चिन्ता—व्याप्तिज्ञान और दूसरेके वचनोंको धारण करना ये ज्ञान उत्पन्न हों उसे मन कहते हैं ॥ १ ॥

१ तथा च याज्ञवल्क्यः—

आत्मा सर्वस्य लोकस्य सर्व भुंक्ते शुभाशुभं ।

मृतस्यान्यत्समासाद्य स्वकर्माहं कलेवरम् ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—

ऊहापोहौ तथा चिन्ता परालक्ष्यावधारणौ ।

यतः संजायते पुंसां तन्मनः परिकीर्तितम् ॥ १ ॥

अब इन्द्रियोंका लक्षण निर्देश करते हैं:—

आत्मनो विषयानुभवनद्वाराणीन्द्रियाणि ॥ ७ ॥

अर्थ:—यह आत्मा जिनकी सहायतासे विषयों—स्पर्श, रस और गंधादि—का सेवनकरता है उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं ॥ ७ ॥

रैभ्य' विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार स्वामी शिष्ट सेवकोंकी सहायतासे कार्य कराता है उसीप्रकार आत्मा भी इन्द्रियोंकी सहायतासे पृथक् २ विषयोंके सेवनमें प्रवृत्ति करता है ॥ १ ॥'

अब इन्द्रियोंके विषयोंका निरूपण करते हैं:—

शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा हि विषयाः ॥ ८ ॥

अर्थ:—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध ये इन्द्रियोंके विषय हैं ॥ ८ ॥

अब ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करते हैं:—

समाधीन्द्रियद्वारेण विप्रकृष्टसन्निकृष्टावबोधो ज्ञानं ॥ ९ ॥

अर्थ:—ध्यान और इन्द्रियोंके द्वारा कमरा: परोक्ष (वैश, काल और स्वभावसे सूक्ष्म-पदार्थ—जैसे सुमेरु, राम-रावण तथा परमाणु वगैरह पदार्थ जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जासकते) और प्रत्यक्ष वस्तुओं—समीपवर्ती पदार्थों—के जाननेको 'ज्ञान' कहते हैं ।

अब सुखका लक्षण करते हैं:—

सुखं प्रीतिः ॥ १० ॥

अर्थ:—जिससे आत्मा, मन और इन्द्रियोंको आनन्द हो उसे 'सुख' कहते हैं ॥ १० ॥

'हारीत' विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस पदार्थके देखने या भक्षण करने पर मन और इन्द्रियोंको आनन्द प्राप्त हो उसे 'सुख' कहा गया है ॥ १ ॥'

१ तथा च रैभ्यः—

इन्द्रियाणि निजान् प्राणविषयान् स पृथक् पृथक् ।

आत्मनः संप्रयच्छन्ति सुभ्रूयाः सुप्रभोर्दथा ॥ १ ॥

२ यज्ञपर सं० टी० पुस्तकमें सूत्रोंका प्राकरणिक एवं क्रमबद्ध—आनुपूर्वी—संकलन नहीं था, अतएव हमने सु० और ६० लि० मूल प्रतियोंके आधारसे उनका क्रमबद्ध संकलन किया है । सम्पादक—

३ तथा च हारीतः—

मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्रानन्दः प्रजायते ।

दृष्टे वा भक्षिते वापि तत्सुखं सम्प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥

अब दुःखका लक्षण निर्देश करते हैं:—

तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिवृत्तिः ॥ ११ ॥

अर्थ:—जिस पदार्थ—पुत्र-कलत्रादि—में मन संतुष्ट न हो किन्तु उल्टा वैराग्य उत्पन्न हो वह सुख भी दुःख समझना चाहिये ॥ ११ ॥

‘वर्गविद्वान्’ ने कहा है कि ‘मनके संतुष्ट रहनेसे सुख मिलता है, अतः जिस धनाढ्य पुरुषका भी मन इष्ट-पदार्थों—पुत्र-पुत्रादि—को देखकर वैराग्य धारण करता हो—उनकी नीतिबिरुद्ध प्रवृत्तिको देखकर उदास—खेद-स्वप्न रहता हो उसे दुःखी समझना चाहिये ॥ १ ॥’

अब सुख प्राप्तिके उपायोंका निर्देश करते हैं:—

अभ्यासाभिमानसंप्रत्ययविषयाः सुखस्य कारणानि ॥ १२ ॥

अर्थ:—अभ्यास (शास्त्रोंका अभ्ययन और शास्त्रविहित कर्तव्योंके पालनमें परिश्रम करना), अभिमान (समाजसे अथवा राजा—आदिके द्वारा आवर-सम्मानका मिलना), संप्रत्यय (व्यवहारज्ञानसे अपनी इन्द्रियादिककी सामर्थ्यसे वाश (वीणा आदि) आदिके शब्दोंमें प्रिय और अप्रिय—का निखंय करना) और विषय (इन्द्रिय और मनको संतुष्ट करनेवाले विषयोंकी प्राप्ति) ये चार सुखके कारण हैं ॥ १२ ॥

विद्वानों ने कहा है कि ‘मनुष्यको शास्त्रोंके अभ्याससे विद्या प्राप्त होती है तथा अपने कर्तव्योंका भली भाँति परिश्रमपूर्वक पालन करनेसे वह धनुर समझा जाता है, उससे उसका सत्कार होता है, अतः वह सदा सुखी रहता है ॥ १ ॥

आवरके साथ होनेवाला थोड़ा भी धनादिकका लाभ, सुखका कारण है। परन्तु जहाँपर मनुष्यका आवर न हो वहाँपर अधिक धनादिकका लाभ भी सज्जनोंसे प्रशंसाके योग्य नहीं—वह दुःखका कारण है।

विद्यासे हीन मनुष्य भी किसी धनुराई आदि गुण विशेषके कारण अपनी शक्तिसे प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है ऐसा होनेसे उसको सुख मिलता है ॥ ३ ॥

इन्द्रियोंके विषयों (शब्दादि) का सेवन थोड़ी मात्रामें किये जानेपर सुखका कारण है परन्तु अधिक मात्रामें विषयोंके सेवनसे वृद्धिता उत्पन्न होती है ॥ ४ ॥

१ तथा च वर्गः—

समृद्धस्यापि मर्षस्य मनो यदि विरगङ्कत् ।

दुःखी स परितो मनस्तुष्टया सुखं यतः ॥ १ ॥

२ च विद्वान्—

अभ्यासविषये—अभ्यासाच्च ध्वेदिद्या तथा च निजकर्मणः ।

तथा पूजामवाप्नोति तस्याः स्यात् सर्वदा सुखी ॥ १ ॥

मानविषये—सम्मानपूर्वको कामः सुस्तोकोऽपि सुखावहः ।

मानहीनः प्रभृतोऽपि साधुभिर्न प्रहस्यते ॥ २ ॥

संप्रत्ययविषये—इत्येत आह—अविश्वोऽपि गुणाम्भार्यः स्वशक्त्या यः प्रतिष्ठयेत् ।

तत्सुखं जायते तस्य स्वप्रतिष्ठासमुद्भवम् ॥ ३ ॥

विषये—सेवन विषयाणां यत्किमिदं सुखकारणम् ।

अमितं च पुनस्तेषां वारिद्र्यकारणं नरं ॥ ४ ॥

अथ अभ्यासका लक्षणं वदते है—

क्रियातिशयविपाकहेतुरभ्यासः ॥ १३ ॥

अर्थः—विद्याकी प्राप्ति आदि कार्योंमें सहायक परिश्रम करना यह अभ्यास है ॥ १३ ॥

हारीत' का कहना है कि शास्त्रोंके अभ्यास—निरन्तर मन लगाकर पढ़ने—से विद्या प्राप्त होती है और उससे धन मिलता है एवं उसकी प्राप्तिसे मनुष्य सुखी होता है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ १ ॥

अथ अभिमानका लक्षणं निर्देश किया जाता है—

प्रश्रयसत्कारादिलाभेनात्मनो यदुत्कृष्टत्वसंभावनमभिमानः ॥ १४ ॥

अर्थः—शिष्ट मनुष्यको सज्जनोंके मध्यमें उनके द्वारा जो विनय या सम्मान—सामाजिक या राजकीय आदर और धन्यवाद आदि प्रशंसावाचक शब्द मिलते हैं जिनसे वह अपनेको सुखी समझता है उसे 'अभिमान' कहते हैं ॥ १४ ॥

नारद' ने कहा है कि 'आदरके साथ धोड़ा भी धनादिक मिलना सुख देनेवाला है, क्योंकि ऐसा होनेसे उस मनुष्यकी सज्जनोंके मध्यमें प्रतिष्ठा होती है ॥ १ ॥

अथ 'संप्रत्यय' के लक्षणका निर्देश करते हैं—

अतद्गुणो वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः संप्रत्ययः ॥ १५ ॥

अर्थः—निर्गुण पदार्थमें नैतिक चानुर्यसे परीक्षा करके उसमें गुणकी प्रतिष्ठा करना संप्रत्यय है ॥ १५ ॥

वदाहरणार्थः—वीणा आदिके शब्दोंको सुनकर परीक्षा करके यह निर्णय करना कि वह सुन्दर है या नहीं। स्पर्शनेन्द्रियसे छूकर यह कोमल है? या कठोर है? नेत्रोंसे रूपको देखकर यह प्रियरूप है या अप्रिय इत्यादि ज्ञानशक्तिके बलसे पदार्थमें गुणका निश्चय करना 'संप्रत्यय' कहा गया है ॥ १५ ॥

नारद' विद्वान्ने लिखा है कि 'जो पदार्थ परोक्ष (इन्द्रियोंसे न जानने योग्य—राम, रावण, सुमेरु और परमाणु आदि) है वह ध्यानके द्वारा जाना जाता है एवं जो समीपवर्ती प्रत्यक्ष पदार्थ है वह इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है ॥ १ ॥

निष्कर्षः—प्रत्यक्ष और परोक्ष पदार्थोंमें ज्ञानशक्तिसे निर्गुण या सगुणका निश्चय करना वह 'संप्रत्यय' मुख्यतः कारण है ॥ १५ ॥

१ तथा च हारीतः—

अभ्यासाद्वायते विद्या विद्यया लभ्यते धनम् ।

अनलाभस्तुखो मर्यो जायते नात्र संशयः ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—

सत्कारपूर्वको यो लाभः स स्तोकोऽपि सुखावहः ।

अभिमानं ततो घत्ते साधुलोकस्य मध्यतः ॥ १ ॥

३ तथा च नारदः—

परोक्षे यो भवेद्दर्शः स ज्ञेयोऽव समाधिना ।

मध्यक्षेत्रेन्द्रियैः सर्वैर्निजगोचरमागतः ॥ १ ॥

अब विषयके स्वरूपका निर्देश करते हैं:—

इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषयः ॥ १६ ॥

अर्थ:—जिस वस्तुसे इन्द्रियां और मन संतुष्ट हों उसे विषय कहते हैं ॥ १६ ॥

शुक्र^१ विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस पदार्थसे मन और इन्द्रियोंको संतोष होता है वह पदार्थ विषय कहा जाता है जो कि प्राणियोंको सुख देने वाला है ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—जिस पदार्थ—स्त्री पुत्रादि—से इन्द्रियाँ और मन संतुष्ट न हो वह सुखदायक नहीं होता किन्तु जिससे इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न हों—संतुष्ट हों वह सुखदायक होता है ॥ १६ ॥

अब दुःखके लक्षणका निर्देश करते हैं:—

दुःखमप्रीतिः ॥ १७ ॥

अर्थ:—जिस वस्तुके देखने पर अप्रीति (संतोष न हो—वैराग्य हो) हो वही दुःख है ॥ १७ ॥

शुक्र^२ विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस वस्तुके देखने पर या धारण करने पर प्रीति उत्पन्न नहीं होती वह वस्तु अच्छी होने पर भी प्राणियोंको दुःख देने वाली है ॥ १ ॥'

अब सुखका लक्षण निर्देश करते हैं:—

तद्दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लेश्यते मनः ॥ १८ ॥

अर्थ:—जिस वस्तुके देखने पर मनको संक्लेश—कष्ट—न हो वह वस्तु दुःखद हो करके भी सुखकर है ॥ १८ ॥

अब चार प्रकारके दुःखोंका निरूपण किया जाता है:—

दुःखं चतुर्विधं सहजं दोषजमागन्तुकमन्तरंगं चेति ॥ १९ ॥

सहजं क्षुत्तृषामनोभूभवं चेति ॥ २० ॥

१ तथा च शुक्र:—

मनसश्चेन्द्रियाणाम् च सन्तोषो येन जायते ।

स भावो विषयः प्रोक्तः प्राणिनां सौख्यदायकः ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्र:—

यत्र नो जायते प्रीतिर्हृष्टे वाञ्छादिनेऽपि वा ।

तच्छ्रेष्ठमपि दुःखाय प्राणिनां सम्प्रजायते ॥ १ ॥

१ 'सहजं क्षुत्तृषा-मनोभूभवं' ऐसों पाठ मू० और ह० सि० मू० प्रतिपादित हैं परन्तु अर्थमेव कुछ भिन्न ।

दोषजं वातपित्तकफवैषम्यसम्भूतं ॥ २१ ॥

आगन्तुकं वर्षातपादिजनितं ॥ २२ ॥

न्यक्कारजं हरिद्वैर्न्यकारजं ॥ २३ ॥

न्यक्कारजं चैव विषातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम् ॥ २४ ॥

भाव—दुःख चार प्रकारके होते हैं—सहज, दोषज आगन्तुक और अन्तरङ्गज ॥ १६ ॥

संवेधी तथा मानसिक भूमिमें पैदा होनेवाले (काम-क्रोधादि विकारोंसे उत्पन्न परस्त्री-सेवन-
विवाहादि और उसका चित्तवन आदिसे उत्पन्न हुए) दुःखोंको 'सहज' दुःख कहते हैं ॥ २० ॥

अनुकूल विकट आहार विहार करनेसे जो वात, पित्त और कफ कुपित—विकृत—होते हैं उससे
दुःख उत्पन्न होता है। गलतगंढादिरूप शारीरिक रोगोंको 'दोषज' दुःख कहा गया है ॥ २१ ॥

अनापुष्टि, और आतप (गर्मी) आदि आकस्मिक—घटनाओंसे उत्पन्न होनेवाले दुःखों—
(अकाल) आदि संवेधी पीड़ाओं—को 'आगन्तुक' दुःख कहा गया है ॥ २२ ॥

विषम—मनुष्योंसे अनुभव किये जानेवाले और तिरस्कार आदिसे उत्पन्न हुए दुःखों—बध-बंधन
अपराध—जेलखाना—आदिकी सजासे उत्पन्न हुए कष्टों—को 'न्यक्कारज' दुःख कहते हैं। अर्थात्

जो लोग चोरी चौरह अपराध करनेसे जो राजदंड—जेलखानेकी सजा आदि—भोगते हैं, उनके उन
दुःखों—बध-बंधन आदि कष्टों—को न्यक्कारज—तिरस्कारसे उत्पन्न—दुःख कहा गया है ॥ २३ ॥

अन्तः—अनापुष्टि, और इच्छाविवाद—अभिलषित वस्तु न मिलना—आदिसे होनेवाले दुःखोंको 'अन्तः-
ज' दुःख कहा गया है ॥ २४ ॥

विषमकरका व्यक्ति दोनों लोकोंमें दुःखी रहता है उसका वर्णन करते हैं—

न तस्यैहिकमाधुमिकं च फलमस्ति यः क्लेशायासाभ्यां भवति विप्लवप्रकृतिः ॥ २५ ॥

भाव—जिसकी बुद्धि निरन्तर दुःख और खेदके द्वारा नष्ट होगई है उस मनुष्यको ऐहिक और पार-
लौकिक फल प्राप्त नहीं होसकते ॥ २५ ॥

टीका—२१ और २२ नं० के सूत्र मु० मू० और इ० लि० मू० प्रतियोंमें नहीं हैं परन्तु सं० टी० पुस्तकमें
वर्तमान हैं एवं प्राकरणिक और कम प्राप्त भी हैं ।

टीका—नं० २३ का सूत्र न तो मु० मू० प्रतिमें और न गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी इ० लि० मूलप्रतियोंमें है,
केवल सं० टी० पुस्तकमें वर्तमान है । विमर्शः—उक्तसूत्रमें न्यक्कारज—तिरस्कारसे होनेवाले—दुःखोंका

वर्णन है, जिन्हें आचार्यश्रीने 'अन्तरङ्गज' दुःखोंमें अन्तर्भूत—शामिल—कर दिया है एवं दुःखोंमें भी उक्त
दुःखको स्वतन्त्र नहीं माना, तब यह आध्यात्मिक और असम्बद्ध-सूत्र न मालूम कहासे बीचमें आ गया ? इससे

यह ही सं० टीकाकारकी मनगढ़न्त रचना अथवा लेखकोंकी असावधानीसे संस्कृतटीकाका कोई अंश जो कि
आचार्य दुःखोंके निरूपण संबंधी है यहां लिखा हुआ प्रतीत होता है यह आचार्यश्रीका रचा हुआ प्रतीत

नहीं होता ।
संपादक—

व्यास' विद्वान्ने भी लिखा है कि 'जो कुत्सित पुरुष दुःख और खेदपूर्वक जीवन व्यतीत करता है उसको इस मर्त्यलोकमें कोई सुख नहीं मिलता, पुनः उसे स्वर्गमें किस प्रकार सुख मिल सकता है ? नहीं मिल सकता ॥ १ ॥'

अब कुलीन पुरुषका माहात्म्य तथा कुत्सितकी निन्दाका निरूपण करते हैं:—

स किंपुरुषो यस्य महाभियोगे सुवशधनुष इव नाधिकं जायते बलम् ॥ २६ ॥

अर्थ:—जिस मनुष्यमें उत्तमबांस वाले धनुषके समान युद्ध आदि आपत्तिकाल आनेपर अधिक पौरुष—वीरता शक्ति—का संचार नहीं होता वह निन्द्य पुरुष है अर्थात् जिसप्रकार उत्तम-बांसवाले धनुषमें बाण-स्थापन-कालमें अधिक दृढ़ता—मजबूती—आजाती है उसीप्रकार कुलीन पुरुषमें भी आपत्तिकालमें अधिक वीरता—शक्तिका संचार होजाता है। एवं जिसप्रकार खराब बांस वाला धनुष बाण-स्थापन-कालमें टूट जाता है या शिथिल होजाता है उसीप्रकार कायर व्यक्ति भी युद्धादि आपत्तिकालमें कायरता धारण कर लेता है उसमें वीरता नहीं रहती ॥ २६ ॥

गुरु' विद्वान्ने भी लिखा है कि 'युद्धकालमें कुलीन पुरुषोंके वीरता—शक्तिकी वृद्धि होती है और जो पुरुष उस समय वीरता छोड़ देते हैं—युद्धसे मुख मोड़ लेते हैं—उन्हें नपुंसक समझना चाहिये ॥ १ ॥

अभिलाषा—इच्छाका लक्षण निर्देश:—

आगामिक्रियाहेतुरभिलाषो वेच्छा ॥ २७ ॥

अर्थ:—जो भविष्यमें होनेवाले कार्यमें हेतु है उसे अभिलाषा या इच्छा कहते हैं ॥ २७ ॥

गुरु' विद्वान्ने लिखा है कि 'जो भविष्यमें होनेवाले कार्यमें हेतु है उसे अभिलाषा कहते हैं, इच्छा और संधा उसीके नामान्तर हैं यह सदा प्राणियोंके होती है ॥ १ ॥'

१ तथा च व्यास:—

जीयते क्लेशखेदाभ्यां सदा कामुरुषोऽत्र यः ।

न तस्य मर्त्ये यो लाभः कुतः स्वर्गसमुद्भवः ॥ १ ॥

२ 'स किंपुरुषः, यस्य महाभियोगे धनुष इवाधिकं न जायते बलम्' ऐसा मु० और इ० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि 'जिसप्रकार अचेतन—जड़—धनुषमें अल्प या अधिक युद्ध-आदिके अवसर पर थोड़ी या अधिक शक्तिका संचार नहीं होता उसीप्रकार जिस पुरुषमें महान् कार्य—युद्ध आदि—के अवसर पर अधिक शक्तिका संचार नहीं होता वह निन्द्य है ।

३ तथा च गुरुः—

युद्धकाले सुवशवानां वीर्योत्कर्षः प्रजायते ।

येषां च वीर्यहानिः स्यात्तेऽत्र सेवा नपुंसकाः ॥ १ ॥

४ 'वेच्छा' इसप्रकार मु० मू० प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

५ तथा च गुरुः—

भाविकृत्यस्य यो हेतुरभिलाषः स उच्यते ।

इच्छा वा तस्य संधा वा भवेत् प्राणिनां सदा ॥ १ ॥

१. तत्र शुद्धिः उपाय यताते है: —

आत्मनः प्रत्यवायेभ्यः प्रत्यावर्तनहेतुर्द्वेषोऽनभिलाषो वा ॥ २८ ॥

अर्थ:—आत्मासे होनेवाले दोषोंको नाश करनेके दो उपाय हैं। (१) अपनी निन्दा करना (२) अपने करनेकी इच्छा न करना।

गर्गः विद्वान्ने लिखा है कि 'आत्मासे यदि अपराध होजाय तो विद्वानोंको उनकी निन्दा करनी चाहिये। उनको करनेकी कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये ॥ १ ॥'

२. साहका सङ्घर्ष निर्देश करते हैं:—

अहिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुस्तदाहः ॥ २९ ॥

अर्थ:—जिस कर्तव्यके करनेमें हित—अभीष्ट—की प्राप्ति तथा अहित—अनिष्ट—का त्याग होता है उसे साह कहते हैं ॥ २९ ॥

गर्गः विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस कर्तव्यके करनेमें शुभकी प्राप्ति और पापोंका त्याग होकर इदयको प्राप्त होता है उसे वस्तुतः कहते हैं ॥ १ ॥'

३. प्रयत्नके स्वरूपका विवरण:—

प्रयत्नः परनिमित्तको भाषः ॥ ३० ॥

अर्थ:—'मुझे इसका असुख कार्य अवश्य करना चाहिये' इसप्रकार दूसरोंकी भलाईके लिये कीजाने की प्रयत्न निमित्त प्रयत्न कहते हैं ॥ ३० ॥

गर्गः विद्वान्ने लिखा है कि गर्गके वचनोंकी तरह 'दूसरोंकी भलाई करनेमें जो निश्चय करके प्रयत्न की जाती है उसे प्रयत्न कहते हैं। अर्थात् जिसप्रकार गर्ग नामके नीतिकार विद्वान्के वचन परोपकारके लिये हैं वसीप्रकार शिष्ट पुरुष जो दूसरोंकी भलाईके लिये अपनी मानसिक प्रयत्न करते हैं उसे 'प्रयत्न' कहना चाहिये ॥ १ ॥'

४. तथा च गुरु:—

आत्मनो यदि दोषाः स्युस्ते निन्दा विबुधैर्जनैः ।

अथवा नैव कर्तव्या प्राप्ता तेषां कदाचन ॥ १ ॥

५. तथा च गर्गः—

शुभातिर्यक्तं कर्तव्यं जायते पारवर्जनम् ।

इदमस्य परा उष्टिः स उस्तहः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

६. तथा च गर्गः—

अप्यं करणीये वक्षिचत्तं निश्चिचत्तं धार्यते ।

अस्तहः स च विशेषो गर्गस्य वचनं यथा ॥ १ ॥

संस्कारका स्वरूप निर्देशः—

सातिशयलाभः संस्कारः ॥ ३१ ॥

अर्थः—सज्जन पुरुषों तथा राजा—आदिके द्वारा किये गये सन्मानसे जो मनुष्यकी प्रतिष्ठा होती है उसे 'संस्कार' कहते हैं ॥ ३१ ॥

गर्ग^१ विद्वान्ने लिखा है कि 'राजकीय सन्मानसे' सज्जनोंके आदरसे तथा प्रशस्त भक्तिसे जो मनुष्य को सन्मान आदि मिलता है उससे उसकी प्रतिष्ठा होती है ॥ १ ॥

संस्कार—ज्ञानविशेष—का लक्षण निर्देशः—

अनेककर्मभ्यासवासनावशात् सद्योजातादीनां स्तन्यपिपासादिकं येन क्रियत इति संस्कारः^२ ॥३२॥

अर्थः—इस प्राणीने आयुष्य कर्मके आधीन होकर पूर्व जन्मोंमें अनेक बार दुग्धपानादिमें प्रवृत्ति की थी, उससे इसकी आत्मामें दुग्धपानादि विषयका धारणारूप संस्कार उत्पन्न होगया था। उस संस्कारकी वासनाके वशसे जो स्मरण—यह दुग्धपान मेरा इष्ट साधन है इस प्रकारका स्मृतिज्ञान—उत्पन्न होता है वही संस्कारसे उत्पन्न हुआ स्मरण उत्पन्न हुए बच्चोंको दुग्धपान आदिमें प्रवृत्त करता है ॥ ३२ ॥

गौतम^३ नामके दार्शनिक विद्वान्ने भी अपने गौतमसूत्रमें कहा है कि 'यह प्राणी पूर्व शरीरको छोड़कर जब नवीन शरीर धारण करता है उस समय—उत्पन्न हुए बच्चेकी अवस्थामें—जुधासे पीड़ित हुआ पूर्वजन्ममें अनेकवार किये हुए अभ्यस्त आहारको ग्रहण करके ही दुग्धपानादिमें प्रवृत्ति करता है, क्योंकि इसके दुग्धपानमें प्रवृत्ति और इच्छा बिना पूर्वजन्म संबंधी अभ्यस्त आहार-स्मरणके कदापि नहीं हो सकती क्योंकि वर्तमान समयमें जब यह प्राणी जुधासे पीड़ित होकर भोजनमें प्रवृत्ति करता है उसमें पूर्व-दिनमें किये हुए आहार संबंधी-संस्कारसे उत्पन्न हुआ स्मरण ही कारण है ॥ १ ॥'

शरीरका स्वरूपः—

भोगायतनं शरीरम् ॥ ३३ ॥

अर्थः—जो शुभ-अशुभ भोगोंका स्थान है वह शरीर है ॥ ३३ ॥

हारीत^४ विद्वान्ने भी कहा है कि 'यह प्राणी शरीरसे शुभ-अशुभ कर्म या उसके फल—सुख-दुख—को भोगता है इसलिए इस पृथ्वीतलपर जितने सुख-दुःख कहे गये हैं, उनका शरीर गृह-स्थान है ॥१॥'

१ तथा च गर्गः—

सन्मानाद्भूमिपालस्य यो लाभः संप्रजायते ।

महाजनाच्च सद्भक्तेः प्रतिष्ठा तस्य सा भवेत् ॥ १ ॥

२ उक्त सूत्र मु० और ६० लि० मू० प्रतियोगे संकलन किया गया है, क्योंकि सं० टी० पु० में नहीं है ।

३ तथा च गौतमः—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ १ ॥

गौतमसूत्र अ० ३ आ० १ सूत्र २२ वां ।

४ तथा च हारीतः—

सुखदुःखानि यान्यत्र कीर्त्यन्ते धरणीतले ।

तेषां यद् शरीरं तु यतः कर्माणि सेवते ॥१॥

नास्तिक-दर्शनका स्वरूपः—

ऐहिकव्यवहारप्रसाधनपरं लोकायतिकम् ॥ ३४ ॥

अर्थः—जो केवल इस लोकसम्बन्धी कार्यों—मद्यपान और मांसभक्षण आदि—का निरूपण करे उसे नास्तिक-दर्शन कहते हैं।

भावार्थः—नास्तिकमतके अनुयायी (माननेवाले) बृहस्पति—ने कहा है कि 'मनुष्यको जीवनपर्यन्त ऐहिक व्यवहार—इच्छालु कृत मद्यपान और मांसभक्षण आदि करते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कराना—कोई भी मृत्युसे बच नहीं सकता। भस्म हुए शरीरका पुनरागमन—पुनर्जन्म कैसे हो सकेगा ? भयान्त नहीं हो सकता ॥ १ ॥

अन्तिमें इष्टन करना, तीनों बेवोंका पढ़ना, दीक्षा धारणकरना, नग्न रहना, और शिर मुड़ाना—इसी प्रकार और आलसी पुरुषोंके जीवन-निर्वाहके साधन हैं ॥ २ ॥

अर्थः—धन कमाना और काम—विषयभोग—ये दो ही पुरुषार्थ—पुरुषके कर्त्तव्य—हैं। शरीर ही है इष्टार्थ।

भावार्थः—नास्तिकदर्शन उक्तप्रकार केवल इसलोकसम्बन्धी कार्योंका निर्देश करता है, वह ऐहिक सत्कर्त्तव्यों—अहिंसा, परोपकार और सत्य आदिका निरूपण करनेमें असमर्थ होनेके कारण पुरुषोंके द्वारा उपेक्षणीय—त्याज्य—(छोड़नेयोग्य) है ॥ ३४ ॥

नास्तिक-दर्शनके ज्ञानसे होनेवाला राजाका लाभः—

लोकायतज्ञो हि राजा राष्ट्रकण्टकानुच्छेदयति ॥ ३५ ॥

अर्थः—जो राजा नास्तिक-दर्शनको भलीभाँति जानता है वह निश्चयसे राष्ट्रकण्टकों—प्रजाको नष्ट करनेवाले जार-चौर आदि दुष्टों—को जड़-मूलसे नष्ट कर देता है।

भावार्थः—यद्यपि नास्तिकोंके सिद्धान्तको पढ़नेसे मनुष्योंके हृदयमें क्रूरता—निर्दयता—उत्पन्न होती है वह वे पारलौकिक सत्कर्त्तव्यों—दान-पुण्यादि—से पराङ्मुख हो जाते हैं; अतएव नास्तिक-दर्शन पुरुषोंके द्वारा त्याज्य—छोड़नेयोग्य—होनेपर भी राजाको उसका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है; जिससे उसके हृदयमें निर्दयता उत्पन्न होती है जिससे वह राष्ट्रके कल्याणके लिये अपनी विशाल शक्तियोंसे प्रजा-पीड़क और भयाङ्कक उत्पन्न करनेवाले जार-चौर आदि दुष्टोंके मूलोच्छेद करनेमें सक्षम होता है और इसके फलस्वरूप वह अपने राष्ट्रको सुरक्षित एवं वृद्धिगत करता है ॥ ३५ ॥

१ तथा च गुरुः—

अमर्त्यं तुल्यं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः ।

अस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ १ ॥

अग्निहोत्रं मयो वेदः प्रपृज्या नग्नमुखता ।

कुर्वीत्यहीनानां जीवितेऽदो मतंगुरुः ॥ २ ॥

अर्थकामाश्चैव पुरुषार्थाः, देहएव आत्मा इत्यादि ।

शुक^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा देशको पीड़ित करनेवाले दुष्टोंपर दयाका वर्ताव करता है उसका देश निस्सन्देह नष्ट हो जाता है इससे वह अपने राज्यको भी खो बैठता है ॥१॥'

मनुष्योंके कर्त्तव्य सर्वथा निर्दोष नहीं होते इसका निरूपण:—

न खल्वेकान्ततो यतीनामप्यनवद्यास्ति क्रिया ॥३६॥

अर्थ:—जितेन्द्रिय साधु मदापुरुषोंके भी कर्त्तव्य—अहिंसा और सत्य आदि—सर्वथा निर्दोष नहीं होते—उनके कर्त्तव्योंमें भी कुछ न कुछ दोष पाया जाता है, पुनः साधारण पुरुषोंके कर्त्तव्योंका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् उनके कर्त्तव्योंमें दोष—त्रुटि—होना साधारण बात है ॥३६॥

दशै^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'साधुओंकी क्रिया—अनुष्ठान—भी सर्वथा निर्दोष नहीं होती; क्योंकि वे भी अपने कर्त्तव्यसे विचलित हो जाते हैं ॥१॥'

सर्वथा दयाका वर्ताव करनेवालेकी हानिका निर्देश:—

एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः ॥३७॥

अर्थ:—जो मनुष्य सदा केवल दयाका वर्ताव करता है वह अपने हाथमें रखे हुए धनको भी खानेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥३७॥

शुक^३ विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाको साधुपुरुषों और दुःखी प्राणियोंपर दयाका वर्ताव करना चाहिये, परन्तु जो दुष्टोंपर दया करता है वह अपने पासके धनको भी खो बैठता है ॥१॥'

सदा शान्त रहनेवालेकी हानि:—

प्रशमैकचित्तं को नाम न परिभवति ? ॥३८॥

१ तथा च शुकः—

दयां करोति यो राजा राष्ट्रसन्तापकारिणां ।

स राज्यभ्रंशमाप्नोति [राष्ट्रोच्छेदाद्यसंशयं] ॥१॥

नोट:—उक्त श्लोकका चतुर्थ-चरण सं. टी. पुस्तकमें 'राष्ट्रोच्छेदादिसंशयं' ऐसा अशुद्ध था जिससे अर्थ-समन्वय ठीक नहीं होता था; अतः हमने उसे संशोधित एवं परिवर्तित करके अर्थ-समन्वय किया है । सम्पादक:—

२ तथा च वर्गः—

अनवद्या सदा तावन्न खल्वेकान्ततः क्रिया ।

यतीनामपि विद्येत तेषामपि यतश्च्युतिः ॥१॥

३ तथा च शुकः—

दया साधुषु कर्त्तव्यां सीदमानेषु जन्तुषु ।

असाधुषु दया शुकः [स्वविप्तादपि भ्रश्यति] ॥१॥

नोट:—उक्त श्लोकके चतुर्थ-चरणमें 'स्वविप्तादपि भ्रश्यति' ऐसा अशुद्ध पाठ था जिससे अर्थ-समन्वय ठीक नहीं होता था, अतएव हमने उक्त संशोधन और परिवर्तन करके अर्थ-समन्वय किया है । सम्पादक:—

॥३५॥ सदा शान्तचित्त रहनेवाले मनुष्यका लोकमें कौन पराभव—सताना और अनादर
करता ? अर्थात् सभी लोग उसका अनादर करते हैं ॥३५॥
॥३६॥ यशु'विद्वान्ने भी उक्त बातकी पुष्टि की है 'कि जो मनुष्य सदा शान्तचित्त रहता है उसकी स्त्री भी
उसके चरणोंका प्रक्षाल नहीं करती ॥३६॥

॥३७॥ राजाका कर्त्तव्य निर्देशः—

अपराधकारिषु प्रशमो यतीनां भूषण न महोपतीनाम् ॥३६॥

॥३७॥ अर्थः—अपराधियों—प्रजा-पीड़क दुष्टों—पर क्षमा धारण करना—उन्हें दंड न देना—यह साधु
पुरुष—शोभा देनेवाला— है, न कि राजाओंका । अतः दुष्टोंका निग्रह करना—अपराधके
निग्रह देना—राजाका मुख्य कर्त्तव्य है ॥३६॥

॥३८॥ किसी नीतिकार'ने कहा है कि 'जो राजा दुष्टोंका निग्रह करता है—उन्हें अपराधके अनुकूल
नहीं होता है—वह सुशोभित होता है—उसके राज्यकी उन्नति होती है और जो दुष्टोंके साथ क्षमाका
निग्रह करता है उसे महान् दुष्ण लगता है—उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥३८॥

॥३९॥ जिससे मनुष्य निरा समझा जाता है उसका निरूपणः—

विक् तं पुरुषं यस्यात्मशक्त्या न स्तः कोपप्रसादौ ॥३९॥

॥३९॥ अर्थः—जो मनुष्य अपनी शक्तिसे क्रोध और प्रसन्नता नहीं करता उसको विष्कार है—वह
निष्कार प्रोष्य है ॥३९॥

॥४०॥ व्यास'विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिस राजाकी प्रसन्नता निष्फल है—जो शिष्टोंपर प्रसन्न होकरके
अनुग्रह नहीं करता एवं जिसका क्रोध भी निष्फल है—जो दुष्टोंसे क्रुद्ध हो करके भी उनका

॥४१॥ तथा च भूतः—

[सदा तु शान्तचित्तो यः पुरुषः सम्प्रजायते ।

तस्य भार्याऽपि नो पादौ प्रक्षालयति कर्हिचित् ॥४१॥

मीटः—उक्त श्लोकके प्रथम चरणमें 'सदा तु शान्तचित्तस्य' ऐसा अशुद्ध पठ था उसे हमने संशोधित एवं
संशोधित अर्थ-समन्वय किया है । सम्पादकः—

॥ तथा च ॥ निचितीतिवित्—

यो राजा निग्रहं कुर्यात् दुष्टेषु स विराजते ।

अन्वादे च यतस्तेषां तस्य तद्दूषणं परम् ॥४१॥

॥ तथा च व्यासः—

प्रसादो निष्कलो यस्य कोपश्चापि निरर्थकः ।

न च भर्तारमिच्छन्ति मजाः वयदमिव स्त्रियः ॥४१॥

निग्रह नहीं करता—उसे प्रजा अपना स्वामी—राजा—नहीं मानती, जिस प्रकार स्त्रियाँ नपुंसकको पति नहीं मानती ॥१॥'

शत्रुओंका पराजय न करनेवालेकी कड़ी आलोचना:—

स जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु ॥४१॥

अर्थ:—जो व्यक्ति शत्रुओंमें पराक्रम नहीं करता—उनका निग्रह नहीं करता—वह जीवित होना हुआ भी निश्चयसे मरे हुएके समान है ॥४१॥

शुक्र*विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा शत्रुओंमें पराक्रम नहीं करता, वह लुहारको धाँकनीके समान साँस लेता हुआ भी जीवित नहीं माना जाता ॥१॥'

साध*कविने भी कहा है कि 'जो मनुष्य लोकमें शत्रुओंसे किये गये तिरस्कारके दुःखसे पित्र-दुःखी-होता हुआ भी जीवित है, उसका जीवित रहना अच्छा नहीं—उमका मर जाना ही उत्तम है। उत्पत्ति आदिके समय माताको कष्ट देनेवाले उस कायर मनुष्यकी यदि उत्पत्ति ही नहीं होती तो अच्छा था ॥२॥'

पुनः पराक्रम-शून्यकी हानिका निर्देश:—

भस्मनीव निस्तेजासि को नाम निःशङ्कः पदं न कुर्यात् १ ॥४२॥

अर्थ:—आश्चर्य है कि भस्म—राख—के समान तेज-शून्य—पराक्रम-हीन (सैनिक और स्वजाने की शक्तिसे रहित) राजाको कौन मनुष्य निडर होकर पराजित करने तत्पर नहीं होता? अर्थात् सभी लोग उसे पराजित करने तत्पर रहते हैं।

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि-शून्य केवल भस्मको साधारण व्यक्ति भी पैरोंसे ठुकरा देता है उसी प्रकार पराक्रम-शून्य—सैनिक और स्वजानेकी शक्तिसे रहित—राजाके साथ साधारण मनुष्य भी वगावत करने तत्पर हो जाता है।

शुक्र*विद्वान्ने भी कहा है कि 'अग्नि-रहित भस्मके समान पराक्रम-हीन राजा निडर हुए साधारण

१ तथा च शुक्रः—

परिमन्यिषु यो राजा न करोति पराक्रमम् ।

स लोहकारभस्मेव श्वसन्नपि न जीवति ॥१॥

२ तथा च साधकविः—

मा जीवन् यः परावशादुःखदग्धोऽपि जीवति ।

तस्याजनिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥२॥

३ भस्मानि वास्तेजसे वा को नाम निःशङ्कं न दधाति पदम् ? इत्यकार मु० और इ० लि० मूल-अतिर्याधे पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ तथा च शुक्रः—

शौर्येण रहितो राजा शनैरप्यभिभूयते ।

भस्मराशिर्यथानग्निनिःशङ्कैः स्पृश्यतेऽरिभिः ॥३॥

इस पराजित कर दिया जाता है ॥१॥

अर्थः—मिजिगीषु राजाको अपनी राज्य-वृद्धि के लिये पराकमी—सैनिक और सजानेकी शक्तिसे पराजित करा दिया ॥४२॥

३. प्रतिष्ठाका निरूपणः—

‘महात्मपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्धः ॥४३॥

अर्थः—जिस कार्य—दुष्ट-निग्रह-आदि—के करनेमें महान् धर्म—प्रजाका संरक्षण-आदि—होती है वह वास्तवसे पापरूप होकरके भी पाप नहीं समझा जाता किन्तु धर्म ही होता है ॥४३॥

‘बादरायण’ विद्वान्ने भी कहा है कि ‘नैतिक पुरुषको अपने वंशकी रक्षाके लिये अपना शरीर, धर्मके लिये अपना वंश, देशकी रक्षाके लिये धर्म और अपनी रक्षाके लिये पृथिवी छोड़ देती है ॥४४॥’

जो राजा पापियोंका निग्रह करता है उससे उसे उत्कृष्ट धर्मकी प्राप्ति होती है; क्योंकि उन्हें धर्म-आदि दत्त देनेसे उसे पाप नहीं लगता ॥४॥’

४. दुष्ट-निग्रह न करनेसे हानि—

‘अन्यथा पुनर्नरकस्य राज्यम्’ ॥४४॥

अर्थः—जो राजा दुष्टोंका निग्रह नहीं करता उसका राज्य उसे नरक लेजाता है ।

अर्थः—प्रजाके कंटक—अन्याधी—आततायियोंका निग्रह न होनेसे उस राज्यकी प्रजा सदा दुःखी है, अतएव कष्टर राजा नरकका पात्र होता है ॥ ४४ ॥

‘हारीत’ विद्वान्ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि ‘जिस राजाकी सैनिक-शक्ति शिथिल—होती है उसकी प्रजा दुष्टोंके द्वारा पीड़ित की जाती है और उसके फलस्वरूप वह निस्सन्देह नरक में जाता है ॥ १ ॥’

५. तथा च बादरायणः—

‘अजोर्हं कुलस्यार्थं धामस्यार्थं कुलं त्यजेत् ।

धामं जनपदस्यार्थं आत्मांश्च पृथिवीं त्यजेत् ॥४५॥

अथानां निग्रहे राजा परं धर्ममवाप्नुयात् ।

अतोऽर्हं बभर्षेवाद्यैस्तस्य पापं प्रजायते ॥४६॥

अर्थः—‘अन्यथा पुनर्नरकस्य राज्यं’ ऐसा म० और इ० लि० म० प्रतियोगि पाठ है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है ।

६. तथा च हारीतः—

‘अथानां निग्रहे राजा परं धर्ममवाप्नुयात् ।

अतोऽर्हं नरकं याति स राजा नात्र संशयः ॥ १ ॥

राज्यपदका परिणामः—

बन्धनान्तो नियोगः ॥ ४५ ॥

अर्थः—राज्याधिकार अन्तमें बन्धनका कष्ट देता है ॥ ४५ ॥

गुरु^१ विद्वान्ने भी लिखा है कि 'जन्मके साथ मृत्यु, उन्नतिके साथ अवनति-पतन, योग (ध्यान) के साथ नियोग-विचलित होना और राज्याधिकारके साथ बन्धनका दुःख लगा रहता है ॥ १ ॥

दुष्टोंकी संगतिसे होनेवाली हानिः—

विपदन्ता खलमैत्री ॥ ४६ ॥

अर्थः—दुष्टोंकी संगति अन्तमें दुःख देनेवाली है ॥ ४६ ॥

वल्गुभदेव^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'पूज्य मनुष्य भी दुष्टोंकी संगतिसे पराभव—तिरस्कार—को प्राप्त होता है जिसप्रकार लोहेकी संगति करनेसे अग्नि जबर्दस्त हथोड़ोंसे पीटी जाती है ॥ १ ॥

स्त्रियोंमें विश्वास करनेसे हानिः—

मर्यान्तः स्त्रीषु विश्वासः ॥ ४७ ॥

अर्थः—स्त्रियोंमें विश्वास करनेसे अन्तमें मृत्यु होती है ॥ ४७ ॥

विष्णुशर्मा^३ विद्वान्ने कहा है कि 'गरुड़के द्वारा लिये जानेवाले पुण्डरीक नामके नागने कहा है कि जो स्त्रियोंके समस्त अपनी गुप्त बात प्रगट करता है उसकी मृत्यु निश्चित है ॥ १ ॥'

इत्यान्वीक्षिकीसमुद्देशः

१ तथा च गुरुः—

न जन्म मृत्युना वाह्यं नोच्छैस्तु पतनं विना ।

न नियोगच्युतो योगो नाधिकारोऽस्त्यबन्धनः ॥ १ ॥

२ तथा च वल्गुभदेवः—

असत्संगात् पराभूतिं याति पूज्योऽपि मानवः ।

लोहसंगाद्यतो वह्निस्ताप्यते सुधनैर्धनैः ॥ १ ॥

३ तथा च विष्णुशर्माः—

नीयमानः खरोम्ब्रेण नागः पीण्डरिकोऽवधीत् ।

स्त्रीणां गुह्यमाख्यातिं तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ १ ॥

७ त्रयी-समुद्देशः—

अथोपनिषत्सु—

अतारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्गनीतिहास—

मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी ॥ १ ॥

अर्थः—चार वेद हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ।

उक्त वेदोंके निम्नप्रकार ६ अङ्ग हैं—इन छह अङ्गोंके ज्ञानसे उक्त चारों प्रकारके वेदोंका ज्ञान होता है ।

१ शिक्षा २ कल्प ३ व्याकरण ४ निरुक्त ५ छन्द और ६ ज्योतिष ।

शिक्षा—स्वर और व्यञ्जनादि वर्णोंका शुद्ध उच्चारण और शुद्ध लेखनको बतानेवाली विद्याको शिक्षा कहते हैं ।

कल्पः—धार्मिक आचार-विचार या क्रियाकारणों—गर्भाधान-आदि संस्कारों—के निरूपण विद्याको शास्त्रको 'कल्प' कहते हैं ।

१ तथा चोक्तमात्रेणः—

धूर्तं धुषिहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्पमात्रं ।

हिमोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥ १ ॥

पुण्यां धर्मशास्त्रं च तत्स्याद्ब्रह्मनिषेधि यत् ।

कपोपदेशि यथाशु शैवं धूर्तप्रणेतृकम् ॥ २ ॥

आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः पर्व ३२, श्लोक २२-२३ ।

अर्थः—निर्दोष—अहिंसा धर्मका निरूपक आचाराङ्ग-आदि द्वादशाङ्ग धूर्त—शास्त्र—जो कि उक्त प्रथम-कारि ४ अनुबोलेमें विभाजित है उसे 'वेद' कहते हैं, परन्तु अहिंसाका समर्थक वाक्य 'वेद' नहीं कहा जा सकता उसे इत्यन्त-वाणी समझनी चाहिये ॥ १ ॥

इसी प्रकार जो माण्डूक्यके निषेध करनेवाले शास्त्र हैं वे ही पुराण और धर्मशास्त्र कहे जा सकते हैं,

इसके निषेध—जीव-हिंसाके समर्थक शास्त्रों—को धूर्तोंकी रचनाएँ समझनी चाहिये ॥ २ ॥

तथा चोक्तमात्रेणः—

तत्त्वं क्रियास्त्रिधा मनाता भावकाप्यायसंमदे ।

कल्पवृत्तिभिरनुष्ठेया महोदकाः शुभावहाः ॥ ३ ॥

गर्भोन्मथक्रियाश्चैव तथा दीक्षाभ्यवक्रियाः ।

कर्मभ्यवक्रियाश्चेति तस्मिन्मैत्रेयं धुष्येयताः ॥ ४ ॥

साधनाप्यास्त्रिधा मनात् वेदाः गर्भोन्मथक्रियाः ।

तत्त्वास्त्रिधा मनात् च स्मृता दीक्षाभ्यवक्रियाः ॥ ५ ॥

कर्मभ्यवक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुन्विताः ।

साक्षां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूयसे ॥ ६ ॥

आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः पर्व ३८ श्लोक १० से १२ ।

(शेष आगे पृष्ठ पर)

३ व्याकरण—जिससे भाषाका शुद्धलिखना, पढ़ना और बोलनेका बोध हो।

४ निरुक्तः—यौगिक, रूढ़ि और योगरूढ़ि शब्दोंके प्रकृति और प्रत्यय-आदिका विश्लेषण करके प्राकरणिक द्रव्यपर्यायात्मक या अनेक धर्मात्मक पदार्थके निरूपण करनेवाले शास्त्रको 'निरुक्त' कहते हैं।

५ छन्दः—पद्यों-वर्णवृत्त और मात्रवृत्त छन्दों—के लक्ष्य और लक्षणके निर्देश करनेवाले शास्त्रको 'छन्दशास्त्र' कहते हैं।

६ ज्योतिषः—ग्रहोंकी गति और उससे विशयके ऊपर होनेवाले शुभ और अशुभ फलोंको तथा प्रत्येक कार्यके सम्पादनके योग्य शुभ समयको बतानेवाली विद्याको ज्योतिर्विद्या कहते हैं। इसप्रकार ये ६ वेदाङ्ग हैं।

इतिहास, पुराण, मीमांसा (विभिन्न और मौलिक सिद्धान्त-बोधक वाक्योंपर शास्त्राविह्वल युक्तियोंद्वारा विचार करके समीकरण करनेवाली विद्या), न्याय (प्रमाण और नयोंका विवेचन करनेवाला शास्त्र) और धर्मशास्त्र (अहिंसा धर्मके पूर्ण तथा व्यवहारिक रूपको विवेचन करनेवाला उपासकाध्ययन शास्त्र) उक्त १४ चौदह विद्यास्थानोंको 'त्रयीविद्या' कहते हैं ॥ १ ॥

त्रयी-विद्यासे होनेवाले लाभका निर्देशः—

त्रयीतः खलु वर्णाश्रमाणां धर्माधर्मव्यवस्था ॥ २ ॥

अर्थः—त्रयी-विद्यासे समस्त वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा आश्रमों—ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति—में वर्तमान मनुष्योंके धर्म-अधर्म-कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-का ज्ञान होता है ॥ २ ॥

यशस्तिलकचम्पूमें आचार्यश्री^१ ने त्रयी-विद्याके विषयमें लिखा है कि जिस विद्याके द्वारा संसारका कारण जन्म, जरा और मृत्युरूप-त्रयी त्रय—नाश को प्राप्त हो उसे त्रयी-विद्या' कहते हैं ॥ १ ॥

निष्कर्षः—वर्ण-आश्रममें विभक्त जनता जब अपने २ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान प्राप्त करके कर्त्तव्यमें प्रवृत्त और अकर्त्तव्यसे निवृत्त होजाती है, तब वह जन्म, जरा और मृत्युरूप सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा पालेती है; अतः आचार्यश्री की उक्त मान्यता में किसीप्रकार का विरोध नहीं आता ॥ २ ॥

त्रयी-विद्यासे लौकिक लाभः—

स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या सर्वे समवायिनो लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते ॥ ३ ॥

अर्थात्—उपासकाध्ययन अङ्गमें तीन प्रकारकी क्रियाएँ—गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्त्तव्यान्वय-क्रियाएँ—(संस्कार) सम्यग्दृष्टियों द्वारा अनुष्ठान करनेयोग्य, उत्तमफलदात्री और कल्याण करनेवाली विद्वानों द्वारा कही गई हैं ॥ १-२ ॥

गर्भान्वयक्रियाओंके गर्भाधानादि ५३, दीक्षान्वयक्रियाओंके ४८ और कर्त्तव्यान्वयक्रियाओंके ७ भेद गणधरोंने निरूपण किये हैं। उनके नाम अनुक्रमसे कहे जाते हैं ॥ ३-४ ॥

निष्कर्षः—आदि पुराणके उक्त संस्कार-निरूपक प्रकरणको 'कल्याण' कहा जासकता है; क्योंकि इसमें गर्भाधान संस्कारसे लेकर मोक्षपर्यन्त धार्मिक संस्कारोंका विशद विवेचन आचार्य भीने किया है।

१ तथा च यशस्तिलके सोमदेवसूत्रिः—

जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणं ।

एषा त्रयी यत्स्वय्या दीयते स सा त्रयी मता ॥ १ ॥

अर्थ:—ममस्त वर्ण और आश्रमोंमें विभक्त प्रजाके लोग इस त्रयी-विद्याके द्वारा अपने २ सत्कर्मोंके प्रवृत्ति करनेमें नैतिक आचार-विचारोंके परिपालनमें प्रवृत्त किये जाते हैं ॥ ३ ॥

और स्मृतिग्रन्थोंकी प्रामाणिकता-निर्देश:—

धर्मशास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थसंग्रहाद्वेदा एव ॥४॥

अर्थ:—धर्मशास्त्र—सिद्धान्तग्रन्थ और स्मृतियाँ—आचारशास्त्र—इन सब में उक्त द्वादशाङ्गरूप में प्रमाणोंका संकलन किया गया है; अत एव द्वादशाङ्ग श्रुतकी तरह वे भी प्रमाणीभूत—सत्य—हैं ॥४॥
‘शक्तिशालक’ में आचार्यश्री अन्य लौकिक शास्त्रोंके विषयमें भी अपनी उदार नीतिका निरूपण करते हैं कि आदर्शदर्शनके माननेवाले जितने उन लौकिक समस्त आचार-विचारोंको तथा वेद स्मृति ग्रन्थोंको उतने अंशमें प्रमाण माना है जितने अंशमें उनके सम्यक्त्व और धार्मिकता में बाधा नहीं—वे दूषित नहीं होते ॥ १ ॥

कर्म और वैश्योंके समानधर्म—कर्त्तव्य—का निर्देश:—

अध्ययनं यजनं दानं च विप्रक्षत्रियवैश्यानां समानो धर्मः ॥५॥

अर्थ:—शास्त्रोंका पढ़ना, देव, गुरु और धर्मकी भक्ति, स्तुति और पूजा तथा पात्रदान, कर्म, क्षत्रिय और वैश्योंके समान धर्म—समान-कर्त्तव्य हैं ॥ ५ ॥

‘शक्तिशालक’ भी उक्त बातकी पुष्टि करता है कि ‘पूजा करना, शास्त्रोंका पढ़ना और दान-दान, क्षत्रिय और वैश्योंका समान धर्म है ॥१॥

‘शक्तिशालक’ विद्वान्ने भी कहा है कि ‘वेदोंका अभ्यास, ईश्वर-भक्ति और यथाशक्ति दान करना यह क्षत्रिय और वैश्योंका साधारण धर्म कहा गया है ॥१॥’

१ तदा च यशस्वित्तके सोमदेवसुरि:—

सर्व एव हि जैतानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्यक्त्वशानिर्न न यत्र प्रतदूषणम् ॥१॥

भूतः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥ ३ ॥

२ तदा चोक्तं कामन्दकेन—

इमाध्ययनदानानि यथाशास्त्रं सनातनः ।

क्षत्रियक्षत्रियवैश्यानां सामान्यो धर्म उच्यते ।

कामन्दकीयनीतिसार पृ० १८ श्लोक १८ ।

३ तदा च इतीतः—

वेदाभ्यासस्तथा यशः स्वशक्त्या दानमेव च ।

क्षत्रक्षत्रियवैश्यानां धर्मः साधारणः स्मृतः ॥१॥

द्विजातियोंका निर्देशः—

प्रयो वर्णाः द्विजातयः ॥६॥

अर्थः—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजाति कहे जाते हैं ।

भावार्थः—उक्त तीनों वर्णोंका शरीर-जन्मके सिवाय गर्भाधान-आदि संस्कारोंसे आत्म-जन्मभी होता है; अतएव आगममें इनको द्विजाति या द्विजन्मा कहा है ॥६॥

भगवज्जिनसेनाचार्य^१ने भी कहा है कि एकवार गर्भसे और दूसरीवार गर्भाधान-आदि संस्कारोंसे इसप्रकार दो जन्मोंसे जो उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा या द्विजाति कहते हैं, परन्तु जो उक्त गर्भाधानादि-संस्कारों और उनमें प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रोंसे शुद्ध—संस्कारहीन—है वह केवल नाममात्रसे द्विज—ब्राह्मण है, वास्तविक नहीं ॥१॥

ब्राह्मणोंके कर्त्तव्योंका विवरणः—

अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ॥७॥

अर्थः—ब्राह्मणोंका ही धर्म—जीविकोपयोगी कर्त्तव्य—शास्त्रोंका पढ़ाना, पूजा कराना और दान प्रदण करना है ॥७॥

भगवज्जिनसेनाचार्य^२ने भी कहा है कि शास्त्रोंका पढ़ना, पढ़ाना, दान देना-सेना और ईश्वरकी पूजा करना ये ब्राह्मणोंके कर्त्तव्य हैं ॥३॥

नीतिकार कामन्दक^३ने भी कहा है कि 'ईश्वर-भक्ति कराना, शास्त्रोंका पढ़ाना, और विद्युद्ध-शिक्ष-पुरुषसे दान प्रदण करना ये तीन प्रकारके ब्राह्मणोंके जीविकोपयोगी कर्त्तव्य मुनियोंने कहे हैं ॥१॥

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

द्विजातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतरच यः ।

क्रियामंत्रविहीनस्तु केवलं नाममात्रकः ॥१॥

आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ४८ ।

२ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

अधीत्यध्याप्ते दानं [अधृष्टेन्येति तत्क्रियाः] १

आदिपुराण पर्व १६ श्लोक २४६

नोटः—उक्त श्लोकका दूसरा चरण आदिपुराणमें 'प्रतिषर्त्येति तत्क्रियाः' ऐसा बहुत बड़ा गुणा हुआ था, जिससे अर्थसंगति ठीक नहीं होती थी, अतएव हमने उसे संशोधित और परिवर्तित करके लिखा है । सम्पादकः—

३ तथा च कामन्दकः—

याजनाध्यापने शुद्धे विद्युद्धाप्ते प्रतिग्रहः ।

वृत्तिव्यभिक्तं ब्राह्मणं नियो ज्येष्ठवाचनः ॥१॥

कामन्दकीय-नीतिसार ।

भगवज्जिनसेनाचार्य^१ ने भी ब्राह्मणोंके धार्मिक और जीविकोपयोगी कर्त्तव्योंका निम्नप्रकार निर्देश किया है कि महाराज भरतने उपासकाध्ययन नामके श्रृङ्गके आधारसे उन ब्राह्मणोंके लिये देवपूजा, वार्ता—विशुद्ध परिणामसे कृषि और व्यापार करना, पात्रोंको दान देना, शास्त्र-स्वाध्याय, संयम—सदाचार और तपश्चर्या करना इन ६ छह सत्कर्त्तव्योंका उपदेश दिया है ॥१॥

हारीत^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'ईश्वरमक्तिः शस्त्र-धारणः, सत्त्वोक्तः पूजा-पढ़ाना, दानदेना-सेना ये ६ कर्त्तव्य ब्राह्मणोंके हैं ॥१॥'

क्षत्रियोंका कर्त्तव्यनिर्देशः—

भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ॥८॥

अर्थः—ब्राह्मणोंकी रक्षाकरना, शस्त्रधारण करके जीवन-निर्वाह करना, शिष्ट पुरुषोंकी भलाई करना, अतथ—अन्धे, लूले-लैंगड़े और रोगी आदि दीनपुरुषों—का उद्धार करना और युद्धसे न भागना ये क्षत्रियोंके कर्त्तव्य हैं ।

पाराशर^३ विद्वान्ने भी कहा है कि 'क्षत्रिय वीरपुरुषको शस्त्र-धारण कर—उससे जीवन-निर्वाह करसे हुए—सदा हिरण्योकी रक्षा, अनार्थोंका उद्धार और सज्जन पुरुषोंकी पूजा—भलाई—करनी चाहिये ॥१॥

भगवज्जिनसेनाचार्य^४ ने कहा है कि इतिहासके आदि कालमें आदिमहाराज भगवान् ऋषभदेव तीर्थङ्करने अपने हाथोंमें शस्त्र-धारण करनेवाले क्षत्रिय वीर पुरुषोंको अन्यायी (आततायी) दुष्ट पुरुषोंसे प्रजाकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त किया था ॥२॥

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

इत्यां वार्ताः च दक्षि च स्वाध्यायं संयमं तपः ।

भूतोपासकसूक्ष्मत्वात् स तेभ्यः समुदादिशत् ॥१॥

आदिपुराण पर्व १८ श्लोक २४ ।

ॐ वार्ता विशुद्धत्वा स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः

१. संयमो मतधारणं—आदिपुराणे

२ तथा च हारीतः—

यजनं याजनं चैव पठनं पाठनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहोपेतं वट्कर्मणि द्विक्रमना ॥१॥

३ तथा च पाराशरः—

क्षत्रियेण भृगाः पाक्याः शस्त्रहस्तेन नित्यशः ।

अनापोद्धरणं कार्यं शम्भुता च प्रपूजनम् ॥१॥

४ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

क्षेत्रत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रप्रणयः ॥२॥

भगवान् ऋषभदेवके राज्यशासन कालमें क्षत्रिय लोग शास्त्रोंसे जीविका करने वाले—शास्त्र धारण कर सेनामें प्रविष्ट होनेवाले—हुए ॥१॥

विराट-विवेचनः—

आचार्यश्री^१ने यशस्तिलकचम्पूमें लिखा है कि प्राणियोंकी रक्षा करना क्षत्रियोंका महान् धर्म है परन्तु निरपराध प्राणियोंके वध करनेसे वह तट हो जाता है ।

इसलिये जो युद्ध भूमिमें लड़ाई करने तत्पर हो अथवा जो राष्ट्रका कंटक—प्रजाको पीड़ा पहुँचाने वाला अन्यायी—दुष्ट—हो उसीके ऊपर क्षत्रिय वीर पुरुष शास्त्र उठाते हैं—उनका निग्रह करते हैं । गरीब, कमजोर और धार्मिक शिष्ट पुरुषोंपर नहीं ॥१॥

अतएव निरर्थक जीव-हिंसाका त्याग करनेके कारण क्षत्रिय वीर पुरुषोंको जैनाचार्योंने व्रतो—धार्मिक—माना है । इन्हीं क्षत्रिय वीर पुरुषोंके वंशमें अहिंसा धर्मके मूल-प्रवर्तक और उनके अनुयायी महापुरुषोंका जन्म हुआ है; क्योंकि २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ६ नारायण, ६ प्रतिनारायण और ६ बलभद्र ये दशशलाका-पुरुष क्षत्रिय थे । इन सभीने अपने २ राज्यशासन कालमें उक्त क्षत्रियोंके सत्कर्तव्यों—प्राणियोंकी रक्षा, शास्त्रधारण और शिष्टपालन आदि—का पालन किया था ।

श्रीषेण राजाने जिनदीक्षा धारणकी प्रयाण-वेलामें अपने युवराज वीरपुत्र श्रीवर्मा—चन्द्रप्रभ भगवान् की पूर्णपर्याय—को निम्न प्रकार क्षात्रधर्मका उपदेश दिया था जिसे वीरनन्दि-आचार्यने^२ चन्द्रप्रभचरित्रमें जलित और मनोहारिणी पद्यरचनामें शुम्भित किया है प्राकरणिक और उपयुक्त होनेके कारण उसका निर्देश करते हैंः—

हे पुत्र ! तुम विपत्ति-रहित या जितेन्द्रिय और शास्त्रशील होकर अपने तेज—सैनिक शक्ति और सजानेकी शक्ति—से शत्रुओंके उदयको मिटाते हुए समुद्रपर्यन्त पृथ्वी-मंडलका पालन करो ॥१॥

क्षत्रियाः शास्त्रजीवित्वमनुभूय तदाऽभवन् ॥१॥

आदिपुराण पर्व १६ ।

१ तथा च यशस्तिलके सोमदेवसूरिः—

मय—भूतसंरक्षणं हि क्षत्रियाणां महान् धर्मः, स च निरपराधप्राणिवधे निराकृतः स्थात् ।

स्य—यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात् ।

वः कण्टको वा निजमण्डलस्य ॥

अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति ।

न दीनकानीनशुभाशयेषु ॥ १ ॥

२ तथा च वीरनन्दि-आचार्यः—

भवानपास्तप्यसतो निजेन धाम्नाब्धिमर्वादमिमामिदानीम् ।

पक्षीमशेषामपहस्तितारिवर्गोदया पालयतु प्रशान्तः ॥१॥

(शेष अगले पृष्ठपर)

जिस तरह सूर्यके उदयसे चक्रवाक पक्षी प्रसन्न होते हैं उसीतरह जिसमें सब प्रजा तुम्हारे अभ्युदय में स्नेह-रहित—सूखी-हो, वही गुप्तचरों—जामूसों—के द्वारा देख-जानकर करो । ॥२॥

हे पुत्र ! वैभवकी इच्छासे तुम अपने हितैषी लोगोंको पीड़ा मत पहुँचाना; क्योंकि नीति-विशारदोंने कहा है कि प्रजाको खुश रखना—अपने पर अनुरक्त बनाना अथवा प्रजामें प्रेमका व्यवहार करना—ही वैभवका मुख्य कारण है । ॥३॥

जो राजा विपत्ति रहित होता है उसे नित्यही सम्पत्ति प्राप्त होती है और जिस राजाका अपना परिवार वशवर्ती है, उसे कभी विपत्तियाँ नहीं होती । परिवारके वशवर्ती न होनेसे भारी विपत्तिका सामना करना पड़ता है ॥४॥

परिवारको अपने वश करनेके लिये तुम कृतज्ञता-सद्गुणका सहारा लेना । कृतज्ञ पुरुषमें और सब गुण होने परभी वह सब लोगोंको विरोधी बना लेता है । ॥५॥

हे पुत्र ! तुम कलि-दोष जो पापाचरण हैं उससे बचे रह कर 'धर्म'की रक्षा करते हुए 'अर्थ' और 'काम'को बढ़ाना । इस युक्तिसे जो राजा त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम—का सेवन करता है, वह इसलोक और परलोक दोनोंमें सुख प्राप्त करता है । ॥६॥

सावधान रहकर सदा संत्री-पुरोहित आदि बड़े ज्ञान-वृत्तोंको सलाहसे अपने कार्य करता । गुरु (वक्तामें उपाध्याय और दूसरे पक्षमें बृहस्पति) की शिक्षा प्राप्त करके ही नरेन्द्र सुरेन्द्रकी शोभा या वैभव को प्राप्त होता है ॥७॥

प्रजाको पीड़ित करनेवाले कर्मचारियोंको दंड देकर और प्रजाके अनुकूल कर्मचारियोंको दान-माना-दिसे शुभ बढ़ाना । ऐसा करनेसे बन्दीजन तुम्हारा कीर्तिका कीर्तन करेंगे और उससे तुम्हारी कीर्ति विवि-गन्तरमें व्याप्त होजायगी ॥८॥

यथा भवत्यभ्युदिते जनोऽयमानन्दमायाति निरस्तस्तेषु ।

सहस्ररक्षाविष चक्रवाको वृक्षं तदेवाचर चारचक्षुः ॥२॥

वाञ्छुम्बिमृतीः परमप्रभावा मोद्वीचित्ररुषं जनमात्मनीनम् ।

जनानुरागं प्रथमं हि तासां निर्वधनं नीतिविदो वदन्ति ॥३॥

समागमो निर्व्यसनस्य राक्षः स्यात् क्षेपदां निर्व्यसनस्यमस्य ।

कश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन् बभूवे व्यसनं गरीयः ॥४॥

विधित्सुरेन तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपै हि पारम् ।

गुर्यैरुपैतोऽन्यपरैः कृतज्ञः उमस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥५॥

धर्माविरोधेन नयस्व बुद्धिं स्वमर्थकामौ कलिदोषमुरुः ।

मुनयः त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं पाष्यति क्षितीशः ॥६॥

बुद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहृतप्रमादः ।

विनीयमानो गुह्यं हि नित्यं सुरेन्द्रजीतां लभते नरेन्द्रः ॥७॥

निपुणतो वाचकराश्च भूजानां सत्यास्ततोऽभ्यासपतोऽभिबुद्धिम् ।

कीर्तिस्तवाशेषादगन्तराणि स्वान्नोद वन्निस्तुतकोर्तनस्य ॥८॥

तुम सदा अपनी चित्तवृत्ति—मानसिक अभिलषित कार्य—को छिपाये रखना । काम करनेसे पहले यह न प्रकट हो कि तुम क्या करना चाहते हो ? क्योंकि जो पुरुष अपने मन्त्र—सलाह—को छिपाये रखते हैं और शत्रुओंके मन्त्रको फोड़-फाड़कर जान लेते हैं वे शत्रुओंके लिये सदा अगम्य (न जीतने योग्य) रहते हैं । ॥६॥

जैसे सूर्य तेजसे परिपूर्ण है और सब आशाओं—दिशाओं—को व्याप्त किये रहता है तथा भूभृत् जो पर्वत है उनके शिरका अलङ्कार रूप है उसके कर—किरणें—बाधाहीन होकर पृथ्वीपर पड़ती हैं, वैसे ही तुमभी तेजस्वी होकर सबकी आशाओंको परिपूर्ण करो और भूभृत् जो राजा लोग हैं उनके सिर-ताज बनो, तुम्हारा कर—टेक्स—पृथ्वीपर बाधाहीन होकर प्राप्त हो—अनिवार्य हो ॥१०॥

इस प्रकार राजाने उक्त नैतिक शिक्षाके साथ साम्राज्य-सम्पत्ति अपने पुत्र—श्रीवर्मा—को दी । उसने भी पिताके अनुरोधसे उसे स्वीकार किया । सुपुत्र वही है जो पिताके अनुकूल कार्य करे ॥११॥

निष्कर्षः—५ वें सूत्रमें निर्दिष्ट—शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-भक्ति और पात्रदान—के साथ २ रुक् प्राणि रक्षा आदि सत्कर्तव्य क्षत्रियोंके जानने चाहिये ॥८॥

वैश्योंका धर्मनिर्देशः—

वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्माणं च विशाम् ॥६॥

अर्थः—वैश्योंका धर्म—खेती, पशुओंकी रक्षा, व्यापार द्वारा जीवन-निर्वाह करना, निष्कपट भावसे ईश्वरकी पूजा करना, सदा अन्न-वितरण करनेके स्थान—सदायर्त्त—पाती पिलानेके स्थान—प्याऊ—बनवाना, अन्य पुण्य-कार्य—शिक्षामन्दिर, कन्या-विद्यालय और विधवाश्रम आदि—बनाना, जनताके विहारके लिये बगीचे बनवाना और प्राणियोंकी रक्षाके लिये दानशालाएँ आदि स्थापित करना है ।

क्रूयाः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेदितानि ।

गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रमेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥६॥

तेजस्विनः पूर्यतोऽखिलाणां भूभृच्छिरःशेखरतां गतस्य ।

दिनाधिरस्येव तवाऽपि भूयात् करप्रपातो भुवि निर्विवम्भः ॥१०॥

इति क्षितीशः सह शिष्यासौ विमाणयामास सुताय लक्ष्मीम् ।

सोऽपि प्रतीयेष गुरुप्ररोधात् पितुः सुपुत्रो अनुकूलवृत्तिः ॥११॥

चन्द्रप्रभवचित्ते वीरनन्दि-आचार्यः ४ था सर्ग श्लोक १४ से १४.

१ पर्यवार्ताजीवनं वैश्यानाम् ऐसा पाठ सु० और इ० लि० म० प्रतियोगे है जिसका अर्थः—व्यापार, कृषि और गो-पालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना ये वैश्योंके कर्तव्य हैं ।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने कहा है कि तीर्थङ्करों-आदिकी पूजा करना, विशुद्ध धृष्टिसं खेती, पशुपालन और व्यापार द्वारा जीविका करना, पात्रदान, शास्त्र-स्वाध्याय, सदाचार—अहिंसा, सत्य, अथर्व, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण तथा तपश्चर्या करना ये वैश्योंके कर्त्तव्य उपासकाध्ययन मनुष्यके आधारमें निर्दिष्ट किये गये हैं ॥१॥

वैश्योंका कर्त्तव्य कृषि, व्यापार और पशुपालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना है ॥१॥

शुक्र विद्वान्ने भी कहा है कि कृषि—खेती, गो-रक्षा, निष्कपट भावसे ईश्वरकी पूजा करना आदि तथा अन्न बाँटनेके स्थान—सदायत आदि बनवाना एवं अन्य पुण्यकार्य—दानशालाएँ संस्थापित—करना ये वैश्योंके कर्त्तव्य कहे गये हैं ॥१॥

निष्कर्षः—वैश्योंके उक्त कर्त्तव्योंमें खेती, पशुपालन और व्यापार ये जीवन-निर्वाहमें उपयोगी हैं एवं अन्य नैतिक और धार्मिक समझने चाहिये ॥६॥

शूद्रोंके कर्त्तव्यः—

त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणां ॥१०॥

अर्थः—शूद्रोंका अपना धर्म—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी सेवा-शुभूषा करना, शिल्पकला—चित्रकला आदि, गीत, नृत्य और वादित्र—गाना, नाचना और बजाना और भाट-नारण आदि का कार्य करना एवं भिक्षुकोंकी सेवा करना है ॥१०॥

पाराशर विद्वान्ने भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंकी सेवा-शुभूषा, शिल्पकला, गाने, नाँचने और बजानेसे जीविका करना और भिक्षुकोंकी सेवा करना एवं अन्य दान-पुण्य आदि कार्य करना शूद्रोंको विरुद्ध नहीं है ॥१॥

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

इत्यां वार्तां च दक्षि च स्वाध्यायं संयमं तपः ।

कुतोपासकसत्त्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥

वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपालनोपजीविनः ॥१॥

आदिपुराणेषु ।

२ तथा च शुक्रः—

कथिकर्म गवां रक्षा यज्ञाद्यं दम्भवर्जितम् ।

पुण्यवानि तत्रपूर्वाणि वैश्यवृत्तिरुदाहृता ॥१॥

३ 'कारुकुशीलवकर्म शकटोपवाहनं च शूद्राणां' ऐसा पाठ सु० और इ० जि० म० प्रतिबोमें वर्तमान है जिसका अर्थः—भिक्षुकोंकी सेवाके स्थानमें बैल-गाड़ीसे बोझा दोकर जीविका करना यह विशेष है, बाकी पूर्ववत् ।

४ तथा च पाराशरः—

वर्तान्नयस्य शुभूषा जीवचारवकर्म च ।

भिक्षुणां सेवनं पुर्यं शूद्राणां न विरुद्धते ॥१॥

भगवज्जिनसेनाचार्य *ने भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णोंकी सेवा-शुभ-
वा करना और शिल्पकला—चित्रकला—आदिसे जीविका करना इत्यादि शूद्रोंकी जीविका अनेक प्रकार
की निर्दिष्ट की गई है ॥१॥

प्रशस्त—उत्तम-शूद्रोंका निरूपणः—

सकृदपरिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥११॥

अर्थः—जिनके यहाँ कन्याओंका एकवार ही विवाह होता है—पुनर्विवाह नहीं होता—वे सत्-प्र-
शस्त (उत्तम) शूद्र कहे गये हैं ।

विमर्शः—भगवज्जिनसेनाचार्य *ने शूद्रोंके दो भेद किये हैं १ कारु २ अकारु । धोबी, नाई और चमार
आदि कारु और उनसे भिन्न अकारु । कारु भी दोप्रकारके हैं १ स्पृश्य—स्पर्श करनेयोग्य और २ अस्पृ-
श्य—स्पर्श करनेके अयोग्य । प्रजासे अलग रहने वाले—चमार और भंगी आदि—अस्पृश्य और नाई
वगैरह स्पृश्य कहे जाते हैं ।

यद्यपि उक्त भेदोंमें सत्-शूद्रोंका कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु आचार्यश्रीका अभिप्राय यह है
कि स्पृश्य-शूद्रों—नाई वगैरह—में से जिनमें पुनर्विवाह नहीं होता उन्हें सत्-शूद्र समझना चाहिये ।

क्योंकि पिंडशुद्धिके कारण उनमें योग्यताके अनुकूल धर्म धारण करनेकी पात्रता है ॥११॥

प्रशस्त शूद्रोंमें ईश्वरभक्ति-आदिकी पात्रताः—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः

करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥१२॥

अर्थः—सदाचारका निर्दोष पालन—भक्षण और माँस-भक्षणआदिको त्यागकर अहिंसा, सत्य, अशौच
ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण इन पाँचों व्रतोंका एकदेश—अणुव्रत रूपसे—पालन करना, गृहके वर्तन
और वस्त्रादिकोंकी शुद्धि—स्वच्छता और शारीरिक-शुद्धि—अहिंसा आदि व्रतोंका पालनरूप प्रायश्चित्त
विधिसे शरीरको विशुद्धकरना ये सद्गुण प्रशस्त शूद्रोंको भी ईश्वर भक्ति तथा द्विज—ब्राह्मण और तपस्वि-
योंकी सेवाके योग्य बना देते हैं ।

निष्कर्षः—उक्त ११वें सूत्रमें आचार्यश्रीने प्रशस्त-शूद्रका लक्षण-निर्देश किया था । १२वें सूत्रद्वारा
निर्देश करते हैं कि उनमें उक्त आचार-विशुद्धि और गृहके उकरणोंकी शुद्धि आदिका होना अनिवार्य
है तभी वे ईश्वर, द्विजाति और तपस्वियोंकी सेवाके योग्य हो सकते हैं; अन्यथा नहीं । यह आचार्यश्री
का अभिप्राय है ॥१२॥

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

वर्णोत्तमेषु शुभं वा तद्वर्णनैकवा स्मृता ॥१॥

आदिपुराण पर्व १६

२ हेतु आदिपुराण पर्व १६ या नीतिवाक्यामृत पृष्ठ ६५ वा ।

३ आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरशुद्धिरपि करोति शूद्रमपि देव द्विजाति तपस्वि परिकर्मसु योग्यम्
ऐसा बात सु० मु० पुस्तकमें है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

‘महाभारत’ नामके विद्वान्ने लिखा है कि ‘मकानके वर्तनोंकी शुद्धि, आचारकी पवित्रता और श्रद्धा के शुद्ध सत् शूद्रको भी देवादिकी सेवाके योग्य बना देते हैं ॥१॥’

‘महाभारत’ चारों वर्णोंके समान धर्मका निर्देशः—

‘समस्तप्राणियेषां परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमः प्रतिलोमाविवाहो’ निषिद्धास्तु च स्त्रीषु विवाहः सर्वेषां समानो धर्मः ॥ १३ ॥

‘महाभारत’ समस्त प्राणियोंपर दया करना, सत्यभाषण, अचौर्य, इच्छाओंको रोकना, स्वजातिमें गोत्रको विवाहसंबंध और परस्त्रियोंमें प्रव्रज्य—मातृ-भगिनी-भाव यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णोंका समान धर्म है ॥१३॥

‘महाभारत’ विद्वान्ने लिखा है कि ‘समस्त प्राणियोंमें दयाका वर्तव्य, सत्य बोलना, चोरीका रोकना, स्वजातिमें विवाह करना और परस्त्री सेवनका त्याग करना यह चारोंका कर्माण करनेवाला समान धर्म है ॥१॥’

‘महाभारत’ चारों वर्णोंके विशेष धर्मका निर्देशः—

‘आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियमः ॥१४॥

‘महाभारत’—पूर्वोक्त साधारण धर्म—अहिंसा, सत्य और अचौर्य—आदि—सूक्तोंके देखनेकी तरह समस्त वर्णोंका समान है—जिसप्रकार सूर्यका दर्शन सभी वर्णोंके लोग करते हैं, उसीप्रकार उक्त धर्म भी सभी वर्णोंको समान रूपसे पालन करना चाहिये, परन्तु प्रत्येक वर्ण और आश्रमके विशेष कर्तव्य हैं और भेद हैं।

‘महाभारत’ विद्वान्ने लिखा है कि ‘महर्षियोंने जिस वर्णके जो कर्तव्य निर्देश किये हैं उन्हें उस वर्णवासी को करना चाहिये। केवल सर्वसाधारण धर्मका पालन करके ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये ॥१॥’

‘महाभारत’ चारों वर्णोंके साधारण धर्मः—

‘समस्तप्राणियेषां व्यवहारः सुनिर्मलः।

कर्मशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादियुजने ॥१॥

१. ‘प्रतिलोमाविवाहो’ ऐसा पाठ मु० मु० पुस्तकमें है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२. ‘समस्तप्राणियेषां’—

‘समस्तप्राणियोंके’ च नियमः स्वविवाहकम्।

‘समस्तप्राणियोंके’ कार्य [धर्मः सार्वः प्रकीर्तितः] ॥१॥

नोटः—उक्त श्लोकके चतुर्थचरणमें ‘धर्मः सर्वैः रितो रता’ ऐसा अशुद्ध पाठ सं० टी० पु०में था उसे ‘समस्तप्राणियोंके’ करके संशोधित एवं परिवर्तित किया है। सम्पादक—

‘महाभारत’ चारों वर्णोंके साधारण धर्मः—

‘समस्तप्राणियेषां व्यवहारः सुनिर्मलः।

कर्मशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादियुजने ॥१॥

निष्कर्षः—अहिंसा और सत्य-आदि साधारण धर्म सभी वर्णवाले पुरुषोंको पालन करना चाहिये, परन्तु विशेष धर्ममें यह बात समझनी चाहिये कि शास्त्रकारोंने जिस वर्ण या जिस आश्रमके जो २ विशेष कर्त्तव्य बताये हैं वे कर्त्तव्य उस वर्ण और उस आश्रमके विश्वेष—पालन योग्य हैं, शब्द जो नहीं ॥१४॥

साधुओंका कर्त्तव्यः—

निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वो धर्मः ॥१५॥

अर्थः—अपने शास्त्र—आचारशास्त्र—में कहे हुए कर्त्तव्योंका पालन करना मुनियोंका अपना धर्म है ॥ १५ ॥

चारायण^१ विद्वान्ने लिखा है कि अपने आगममें कहे हुए कर्त्तव्योंका पालन करना साधुओंका धर्म कहा गया है, इससे भिन्न अधर्म है ॥१॥

कर्त्तव्य-च्युत होनेपर साधुका कर्त्तव्यः—

स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम्^२ ॥१६॥

अर्थः—यदि मुनि लोग अपने कर्त्तव्यसे च्युत हों तो उन्हें अपने आगम—प्रायश्चित्त-शास्त्रमें कहा हुआ प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये ॥१६॥

अभीष्ट-देवकी प्रतिष्ठाका निर्देशः—

यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत्^३ ॥१७॥

अर्थः—जो मनुष्य जिस देवमें श्रद्धायुक्त है उसे उसकी प्रतिष्ठा—उपासना—करनी चाहिये ॥

बिमर्शः—यद्यपि आराध्य देवके विषयमें कही हुई उक्त बात राजनैतिक उदार दृष्टि-कोणसे अनुकूल होनेपर भी धर्म-नीतिसे कुछ असम्बद्ध—आर्हद्दर्शनसे प्रतिकूल (विरुद्ध) प्रतीत होती है; क्योंकि इसमें आराध्य—^१—देवके वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी आदि सद्गुणोंकी उपेक्षा की गई है। परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि आचार्यश्रीने आगे दिवसानुष्ठान समुद्देशके ६६वें सूत्र 'क्लेशकर्मविपाकारयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः' में स्पष्टीकरण किया है, कि ऐसे पुरुषश्रेष्ठको देव—ईश्वर—कहते हैं; जोकि समस्त प्रकार

१ तथा च चारायणः—

स्वागमोक्तमनुष्ठानं यत् स धर्मो निजः स्मृतः ।

लिङ्गिनामेव सर्वेषां योऽप्यः सोऽधर्मलक्षणः ॥१॥

२ 'धर्मव्यतिक्रमे यतीनां निजागमोक्तमेव प्रायश्चित्तम्' ऐसा मु० मू० पुस्तकमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

३ यो यस्मिन् देवे श्रद्धावान् स खलु तं देवं प्रतिष्ठापयेत् ऐसा मु० मू० और इ० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं ।

४ आचार्यश्रीने यह बात अपने राजनैतिक उदार दृष्टि-कोणसे कही है कि जिस वर्णका व्यक्ति जिस देवमें श्रद्धा रखता है उसे उसकी उपासना करनी चाहिये । ऐसा होनेसे उदार-दृष्टियुक्त राजाके द्वारा प्रजा वर्गके किसी व्यक्तिको ऐसा नहीं पहुँच सकती ।

और भयणादि दुःखोंसे, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातियाँ के जोषोंके बलसे होने वाले राग, द्वेष और मोह—आदि भाव कर्मोंसे एवं पापकर्मोंकी कालिमासे और सर्वज्ञ तथा संसारको दुःख समुद्रसे उद्धार करने वाला हो ।

वशास्तिके सम्पू'में भी आचार्यश्रीने लिखा है कि आप्त—ईश्वर—के स्वरूपको जाननेमें प्रवीण होना है कि जो सर्वज्ञ, सर्व लोकका ईश्वर—संसारका दुःख समुद्रसे उद्धार करनेवाला—बुद्धा और १८ दोषोंसे रहित (वीतराग) एवं समस्त प्राणियोंको मोक्षमार्गका प्रत्यक्ष उपदेश देनेवाले तीर्थङ्कर प्रभुको सत्यार्थ 'ईश्वर' कहते हैं ॥१॥

अतएव ईश्वरका सर्वज्ञ होना नितास्त आवश्यक है; क्योंकि यदि अज्ञ—मूर्ख—मोक्षमार्गका मार्ग तो उसके वचनोंमें अनेक प्रकारके विरोध—आदि दोष होंगे । इसलिये इससे भयभीत सज्जन लोग उसकी श्रुति करते हैं एवं उसके द्वारा कहे हुए वचनोंको प्रमाण मानते हैं ॥२॥

अतएव प्रभु मोक्षोपयोगी तत्वदेशनासे संसारके प्राणियोंका दुःख-समुद्रसे उद्धार करता है; अतएव परसकमलोंमें तीनों लोकोंके प्राणी नम्र होगये हैं वह सर्वलोकका ईश्वर क्यों नहीं है ?

अतएव निराशा, भय, द्वेष, चिन्ता, अज्ञान, राग, जरा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, विषाद और विषाद ये १८ दोष संसारके समस्त प्राणियोंमें समानरीतिसे पाये जाते हैं, अतः इन १८ दोषोंसे निरञ्जन—पापकर्मोंकी कालिमासे रहित (विशुद्ध) और केवलज्ञानरूप नेत्रसे युक्त (सर्वज्ञ) होना आप्त होसकता है एवं वही द्वादशाङ्ग शास्त्रोंका वक्ता होसकता है ॥४-५-६॥ उक्त असाधारण गुण आदि-महावीरपर्यन्त तीर्थङ्करोंमें वर्तमान हैं; अतएव आचार्यश्रीके उक्त प्रमाणोंसे हम इस

१ सर्वज्ञ सर्वलोकेश सर्वदोषविवर्जितम् ।

२ सर्वज्ञसहितं प्रादुराप्तमाप्तमोचिनाः ॥१॥

३ अज्ञमव्यग्रते कैश्चित्तदुवर्तं प्रतिपद्यते ।

४ दोषदोषकरो विमलम्भनशक्तिभिः ॥२॥

५ तत्त्वदेशनादुदुःखार्थैरुद्धरते जगत् ।

६ कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥३॥

७ निराशा भयं दोषविचिन्तनं मूढतागमः ।

८ रागो जरा रोगा मृत्युः क्रोधः स्वेदो मदो रतिः ॥४॥

९ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश भुवाः ।

१० विमलसर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५॥

११ अभिदोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।

१२ एष हेतुः पृथ्वीनां केवलज्ञानलोचनः ॥६॥

१३ वशास्तिके सोमदेववर्तिः—आ० ६

तथ्यपर पहुँचे हैं कि उक्त ऋषभदेवसे लेकर महावीरस्थामी पर्यन्त चतुर्विंशति-२४ तीर्थङ्करोंमें से जो मनुष्य जिस तीर्थङ्करमें श्रद्धा रखता है उसे उसकी प्रतिष्ठा--भक्ति, पूजा या उपासना करनी चाहिये ऐसा आचार्यश्रीका अभिप्राय है ॥१७॥

बिना भक्तिके उपासना किये हुए देवसे हानि:—

अभक्त्या पूजोपचारः सद्यः शप्पाय' ॥१८॥

अर्थ:—श्रद्धाके बिना की हुई ईश्वर-भक्ति तत्काल अनिष्ट करनेवाली होती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार बिना श्रद्धाके सेवन की हुई औषधि अरोग्यता न करके उल्टी बीमारीको बढ़ाती है, उसी प्रकार बिना श्रद्धाके उपासना किया हुआ देव भी अनिष्ट कारक होता है । क्योंकि उससे भक्तके मानसिक-क्षेत्रमें विशुद्ध भावनाओंका बीजारोपण नहीं होता अतः उसे कोई लाभ नहीं होता ॥१८॥
वर्ण-आश्रमके लोगोंके कर्तव्य-न्युत होनेपर उनकी शुद्धिका निर्देश:—

वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने' व्रयीतो विशुद्धिः ॥१९॥

अर्थ:—जब ब्राह्मण-आदि वर्णोंके तथा ब्रह्मचारी और गृही-आदि आश्रमोंके मनुष्य अपने २ धर्म—कर्तव्य—से विचलित होने लगे तो उनको अपने २ धर्मशास्त्र—आचारशास्त्र—संबंधी प्रायश्चित्त-विधान द्वारा अपनी विशुद्धि कर लेनी चाहिये ॥१९॥

राजा और प्रजाको त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम—की प्राप्तिका उपाय:—

स्वधर्माऽसंकरः प्रजानां राजानं त्रिवर्गोपसन्धत्ते' ॥२०॥

अर्थ:—जिस राज्यमें अपने धर्मका संकर—एक वर्णवाले मनुष्योंके धर्ममें दूसरे वर्णवाले मनुष्योंके धर्मका मिश्रण (मिलावट) नहीं होता अर्थात् समस्त ब्राह्मणादि वर्णोंके मनुष्य अपने २ धर्मका पालन स्वतन्त्र रीतिसे करते हैं, वहाँ राजा और प्रजाके लोग धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंसे अलंकृत होते हैं ॥२०॥

नारद' विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसके राज्यमें प्रजाके धर्ममें वर्णसंकरता—एक वर्णवालेके कर्तव्यमें दूसरे वर्णवालेके कर्तव्योंकी मिलावट—नहीं है, उसको धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं ॥१॥'

१ अभक्तैः कृतः पूजोपचारः सद्यः शप्पाय भवति' ऐसा मु. मू. प्रतिमें पाठ है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

२ 'स्वाचारप्रच्युती' ऐसा मु० मू० पुस्तकमें पाठ है अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

३ 'स्वस्वधर्माऽसंकरः प्रजां राजानं च त्रिवर्गोपसन्धत्ते' ऐसा मु. मू. पुस्तकमें पाठ है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं । सम्पादक—

४ तथा च नारदः :—

न भूयाद्यत्र देशे तु प्रजानां वर्णसंकरः ।

तत्र धर्मार्थकामं च भूपतेः सम्प्रजायते ॥१॥

अथ स्व-व्युत् राजाकी कही आलोचना:—

स किं राजा यो न रक्षति प्रजाः ॥२१॥

अर्थ:—जो अपनी प्रजाकी रक्षा—पालन—नहीं करता, वह राजा निरा है।

भ्यास विद्वान्ने भी लिखा है कि 'जो राजा विषयभोगोंमें आसक्त होकर अपनी प्रजाका पालन नहीं करता, वह राजा नहीं किन्तु कायर पुरुष है ॥१॥'

निष्कर्ष:—राजाको अपनी प्रजाकी रक्षा भलीभाँति करनी चाहिये ॥२॥

अथ २ धर्मका उल्लंघन करनेवालोंके साथ राजाका कर्तव्य:—

स्वधर्ममतिक्रामतां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥२२॥

अर्थ:—यदि ब्राह्मण-आदि वर्ण और ब्रह्मचारी-आदि आश्रमके सब लोग अपने २ धर्मका उल्लंघन करते हों तब समस्त वर्णोंको रोकनेके लिये राजा ही समर्थ होता है ॥२२॥

भृगु विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस प्रकार महावत उन्मत्त हाथीको अंकुशकी शक्तिसे उन्मार्गपर रोक लेता है उसी प्रकार राजा भी लोगोंको उन्मार्गपर जानेसे रोक लेता है—दंड शक्तिसे उन्हें मार्गपर आरुढ़ कर देता है ॥१॥'

प्रजाका पालन करनेवाले राजाका धार्मिक लाभ:—

परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्मघृष्टांशमवाप्नोति ॥२३॥

अर्थ:—जो राजा समस्त वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षा करता है वह उस धर्मके छठे भागके फलको प्राप्त होता है ॥२३॥

भृगु विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा समस्त वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षा करता है—उमें नष्ट होनेसे बचावा है—वह उस धर्मके छठवें अंशके फलको निश्चयसे प्राप्त होता है ॥१॥'

१ तथा च भ्यासः :—

यो न राजा प्रजाः सव्यभोगासक्तः प्ररक्षति ।

स राजा नैव राजा स्यात् स च कापुरुषः स्मृतः ॥१॥

२ तथा च भृगुः :—

अश्वत्थं यथा नाम महामृत्तो निवारयेत् ।

उन्मार्गेण प्रगच्छन्तं तद्वच्चैव जनं नृपः ॥१॥

३ 'परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्मघृष्टांशमवाप्नोति' ऐसा भृ. भू. पुस्तकमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

४ तथा च भृगुः :—

वर्णाश्रमाणां यो धर्मं नश्यन्तं च प्ररक्षति ।

वर्णां तस्य धर्मस्य स प्राप्नोति न संशयः ॥१॥

अन्यमर्तोके तपस्वियों द्वारा राजाका सम्मानः—

यदाह वैवस्वतो मनुः॥

‘उच्छिषड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजानं सम्भावयन्ति । २४॥

तस्यैव तद्भूयात् यस्तान् गोपायति’ इति । २५॥

अर्थः—वैवस्वतमनु* हिन्दू-धर्मका शास्त्रकार-ने कहा है कि वनवासी तपस्वी लोग भी जो कि स्वामी-रहित एवं निर्जन पर्वत-आदि प्रदेशोंमें वर्तमान धान्यादिके कणोंसे अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, राजा को अपने द्वारा संचित धान्य-कणोंका छठवाँ भाग देकर अपने द्वारा किये हुए तपके छठवें भागसे उसकी उन्नतिकी कामना करते हैं, एवं अपनी क्रियाके अनुष्ठानके समर्थ यह संकल्प करते हैं कि ‘जो राजा तपस्वियोंकी रक्षा करता है उसको ही हमारे द्वारा आचरण किया हुआ तप या उसका फल प्राप्त होवे’ ।

भावार्थः—वैष्णव सम्प्रदायके तपस्वी गण भी न्यायवान् राजाकी उन्नतिके इच्छुक होते हैं । जिसके फलस्वरूप वे स्वसंचित धान्य कणोंका छठवाँ हिस्सा राजाको देकर संकल्प करते हैं कि जिसकी छत्रछाया में हम लोगोंका संरक्षण होता है उसे हमारी तपश्चर्याका फल प्राप्त हो ॥२४-२५॥

कौन वस्तु इष्ट है ? और कौन अनिष्ट है ? इसका निर्णयः—

तदमंगलमपि नामंगलं यत्रास्यात्मनो भक्तिः ॥२६॥

अर्थः—जिस पदार्थमें जिसे प्रेम होता है, वह अनिष्ट—अमङ्गलीक (अशुभ) होनेपर भी उसके लिये इष्ट—मङ्गलीक है ।

भावार्थः—जदाहरणमें लूला-काणा व्यक्ति कार्यके आरम्भमें अमङ्गलीक समझा जाता है, परन्तु जो उससे प्रेम रखता है वह उसके लिये इष्ट ही है ।

भागुरि*विद्वान्ने भी कहा है कि ‘जो पदार्थ जिसके लिये प्रिय है वह अप्रिय होने पर भी यदि उस के कार्यके आरम्भमें प्राप्त होजावे, तो इष्ट समझा जाता है, क्योंकि उससे उसके कार्यकी सिद्धि हो जाती है ॥१॥’

निष्कर्षः—जो पदार्थ जिसके मनको प्रसुद्धित—हर्षित या संतुष्ट करते हैं वे उसके लिये मङ्गलीक हैं ॥२६॥

मनुष्योंके कर्तव्यका निर्देशः—

संन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत ॥२७॥

१ ‘यदाह वैवस्वतो मनुः’ यह पाठ सं० टी० पुस्तकमें नहीं है, किन्तु सु० और मू० प्रतियोंसे संकलन किया गया है ।

फ़ीनोटः—हिन्दू-धर्मकी भाव्यताके अनुसार १४ मनु होते हैं उनमेंसे ७वाँ वैवस्वत मनु है जिसका आचार्यभीने उल्लेख किया है । सम्पादकः—

१ तथा च भागुरिः—

यद्यस्य बल्लभं वस्तु तच्चेदग्रे प्रयास्यति ।

कृत्यारम्भेषु तत्तस्य मुनिम्यमपि सिद्धिदम् ॥१॥

॥१०॥—मनुष्यको साधु महात्माओं एवं विद्वान् गृहस्थाचार्योंकी उपासना—सेवा करनी चाहिये ।

भावार्थ—साधु महात्मा और विद्वान् गृहस्थाचार्य बड़े सदाचारी, स्वायत्त्यागी और बहुश्रुत विद्वान् हैं । अतएव इनकी सेवा-भक्ति-से मनुष्य गुणवान् एवं पारमार्थिक कल्याणका पात्र होजाता है ॥१०॥

व्याख्यान—विद्वान्ने लिखा है कि 'मनुष्य जिसप्रकारके पुरुषोंके वचनोंको सुनता है और जैसों की ओर संगति करता है, वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जाता है, अतएव नैतिक मनुष्यको साधु पुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये ॥१०॥'

किं दुर मनुष्यका कर्तव्यः—

स्नात्वा प्राग्देवोपासनात्तु कंचन स्पृशेत् ॥११॥

भावार्थ—मनुष्यको स्नान करके ईश्वर भक्ति करनी चाहिये, उसके पहले उसे किसी अस्पृश्य—न सत्त्विक—वस्तुका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥११॥

व्याख्यान—विद्वान्ने लिखा है कि 'मनुष्यको स्नान करनेके पश्चात् ईश्वर भक्ति और अग्निमें हवन करना । पश्चात् यथा शक्ति वान देकर भोजन करना चाहिये ॥११॥'

मन्दिरमें क्या करना चाहिये ? उसका विवरणः—

देवागारे गतः सर्वान् यतीनात्मसम्बन्धिनीर्जरतीःपश्येत् ॥१२॥

भावार्थ—मनुष्योंको मन्दिरमें जाकर ईश्वरभक्तिके पश्चात् समस्त साधुजनों और यथोद्भूत कुल-देवतायोग्य नमस्कार करना चाहिये ॥१२॥

व्याख्यान—विद्वान्ने कहा है कि 'मनुष्य मन्दिरमें प्रविष्ट होकर उसमें वर्तमान साधुओंको तथा देवताओंको भक्ति पूर्वक नमस्कार करे ॥१२॥'

पूर्वोक्त सिद्धांशका समर्थन करनेवाली दृष्टान्तमालाः—

१ तथा च ब्रह्मदेवः—

यादृच्छायां शृणोत्यत्र यादृच्छैरचावसेवते ।
यादृक्चेन्नो भवेत्पर्यस्तस्मात् साधून् समाभयेत् ॥

२ तथा च वर्गः—

स्नात्वा त्वम्यर्चयेद् देवान् वैश्वानरमतः परं ।
ततो वानं यथाशक्त्या दत्त्वा भोजनमाचरेत् ॥१॥

३ तथा च शरीतः—

[देवायतने च गत्वा] सर्वान् पश्येत् स्वभक्तिः ।
तत्राभिदाप् यतीन् पश्चात्ततो वृद्धाः कुलस्त्रियः ॥१॥

नोट—उक्त पद्य—श्लोक—का प्रथम चरण अशुद्ध था अतः 'देवायतने च गत्वा' इसप्रकार संशोधित किया गया है । सम्पादकः—

देवाकारोपेतः पाषाणोऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्यः ? राजशासनस्य मृत्तिकायामिव लिंगिषु को नाम विचारो यतः स्वयं मलिनो खलः प्रवर्धयत्येव क्षीरं घेनूनां, न खलु परेषामाचारः स्वस्य पुण्यमारभते किन्तु मनोविशुद्धिः ॥३०॥

अर्थः—ईश्वरके आकारको प्राप्त हुआ पाषाण—प्रतिष्ठित देवमूर्ति— भी जब तिरस्कार करने योग्य नहीं है तो क्या मनुष्य तिरस्कार करने योग्य है ? अर्थात् नहीं है ।

भावार्थः—जिस प्रकार प्रतिष्ठित देवमूर्तिकी भक्ति की जाती है उसी प्रकार नैतिक मनुष्यको गणो पुरुषोंकी यथा योग्य वित्त—सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये ।

राजाकी मिट्टीकी मूर्तिके समान नैतिक मनुष्यको साधुजनोंके वेशमें विचार नहीं करना चाहिये—उनके बाह्य मलिन वेषपर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये—ध्यान नहीं देना चाहिये ।

भावार्थः—जिस प्रकार राजाकी मूर्तिमें मिट्टी और मलिनता-आदिका विचार न करके प्रजाजनोंको उसकी आज्ञाका पालन अनिवार्य और आवश्यक है, उसी प्रकार नैतिक और धार्मिक व्यक्तिको साधु महापुरुषोंके बाह्य मलिन वेषपर विचार न करके उनके त्याग, तपश्चर्या, सदाचार और बहुश्रुत विद्वत्ता आदि सद्वर्णोंसे लाभ उठाना अत्यन्त आवश्यक है । क्योंकि तिली आदिका खल मलिन—कासा होनेपर भी गायोंको खिलाये जानेपर उनके दूधकी वृद्धि करता है, उसी प्रकार राजाका शासन—आज्ञा—मलिन—कठोर होनेके कारण राजसिक्त भाषोंसे युक्त—होनेपर भी वर्णाश्रम धर्मकी मर्यादाका स्थापनरूप विशुद्ध कार्यको उत्पन्न करता है । इसी प्रकार साधुका मलिन बाह्य वेष भी मानसिक विशुद्धिका कारण होनेसे पुण्य कार्यको उत्पन्न करता है—प्रसन्न मनसे उपासना किये गये साधुजन भी हमारे पुण्यकी वृद्धि करनेमें समर्थ होते हैं ।

क्योंकि दूसरोंका आचार—बाह्य साफ-सुथरा रहन-सहन आदि—हमारे पुण्यको उत्पन्न नहीं करता किन्तु मानसिक विशुद्धिसे वास्तविक शुक्ल पुण्यका बंध होता है ॥३०॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वणिक् और कृषकोंकी प्रकृति—स्वभाव—का क्रमशः निरूपणः—

दानादिप्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम् ॥३१॥

बलात्कारस्वभावः क्षत्रियाणाम् ॥३२॥

निसर्गतः शास्त्रं किरातानाम् ॥३३॥

अजुवक्रशीलता सहजा कृषीवलानाम् ३४॥

१ उक्त सूत्र मु० मू० पुस्तकसे संकलन किया गया है, सं० टी० पुस्तकमें तथा गवर्न-लायबरी प्लाकी इ० लि० मू० प्रतिमें 'दीना हि प्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम्' ऐसा पाठ है जिसका अर्थः—निश्चयसे प्रायः करके—अधिकता से—ब्राह्मणोंका स्वभाव दीन—सीधा-साधा (छल-कपट-आदिसे रहित) होता है ।

२ 'किरातकानाम्' ऐसा पाठ मु० मू० प्रतिमें वर्तमान है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है । क्योंकि कीर्यन्ते-धमानि एभिस्ते किराताः । त एवं 'किरातकाः' 'वणिजाः' इत्यर्थः । अर्थात् जो व्यापार-आदि उपायोंसे धन-संचय करते हैं उन वणिक्जनोंको 'किरात' कहते हैं । सम्पादकः—

साधन—ब्राह्मणोंका स्वभाव प्रायः फरके दानकी अपेक्षा करना, ईश्वर-आदिकी पूजन करना और दान-आदिकी होता है। अथवा दान—शुद्धि, दया और दान्तिव्य-आदि करनेका होता है।

विरत—'दान' शब्द 'दृप्' शोधने' धातुसे निष्पन्न होनेके कारण शुद्धिको तथा दानार्थक 'दा' धातुसे होनेसे दानको भी कहता है; अतः उक्त दोनों अर्थ होते हैं ॥३१॥

विरतोंका स्वभाव दूसरोंपर बलात्कार करनेका होता है ॥३२॥

विरतों—वशिष्ठोंकी प्रकृति स्वभावसे झल-कपट करनेकी होती है ॥३३॥

विरतों तथा दुष्टोंके सरलता और कुटिलता स्वाभाविक ही होती है ॥३४॥

ब्राह्मणोंकी क्रोध-शान्तिका उपायः—

दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम् ॥३५॥

अर्थ—ब्राह्मणोंका क्रोध दानपर्यन्त रहता है—दान मिलनेसे शान्त होजाता है।

विद्वान्—सभी हुई वस्तुके मिल जानेपर ब्राह्मणोंका क्रोध नष्ट होजाता है ॥३५॥

विद्वान् विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेपर रात्रिका समस्त अंधेरा तत्काल नष्ट होजाता है, उसीप्रकार सभी ब्राह्मणका क्रोध भी दान मिल जानेसे शान्त होजाता है ॥१॥'

विरतोंकी क्रोध-शान्तिका उपायः—

प्रणामावसानः कोपो गुरुणाम् ॥३६॥

अर्थ—गुरुजनोंका क्रोध प्रणाम करने पर्यन्त रहता है, परन्तु प्रणाम करनेके पश्चात् नष्ट होजाता है।

विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार दुष्टके साथ किया हुआ उपकार नष्ट होजाता है, उसीप्रकार विरतोंका क्रोध प्रणाम करनेसे नष्ट होजाता है ॥१॥'

विरतोंकी क्रोध-शान्तिका उपायः—

प्राणावसानः कोपो सत्रियाणाम् ॥३७॥

अर्थ—सत्रियोंका क्रोध मरण पर्यन्त—चिरकाल तक रहता है। अथवा उनका क्रोध प्राणोंको छोड़नेवाला होता है।

प्राणावसानः—क्योंकि सत्रिय जिस मनुष्यपर क्रुद्ध होजाता है तो वह उसके प्राण-हरण किन्हे बिना छोड़ती होता ॥३७॥

विरतोंकी क्रोध-शान्तिका उपायः—

प्रियवचनावसानः कोपो वशिष्ठजनानाम् ॥३८॥

ॐ नीतिवाक्यामृत सं० टी० पृष्ठ ११।

१ तथा च गर्गः—दुर्जने युक्तं यद्वत् कृतं याति च संज्ञयं। तद्वत् कोरो गुरुणा च प्रणामेन प्रणश्यति ॥१॥

२ प्रियवचनावसानः कोरो वशिष्ठजनानाम्' ऐसा मृ० मृ० पुस्तकमें पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

अर्थ:—वणिकोंका क्रोध प्रियभाषण पर्यन्त होता है—ये लोग मीठे वचनों द्वारा क्रोधको त्यागकर संतुष्ट होजाते हैं ॥३८॥

गर्ग^१ विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार इष्ट वस्तुके वियोगसे उत्पन्न हुआ दुःख उसके मिल जानेपर नष्ट होजाता है, उसीप्रकार वणिकोंका क्रोध उनसे मीठे वचन बोलनेसे नष्ट होजाता है ॥१॥'

वैश्योंकी क्रोध-शान्तिका उपाय:—

वैश्यानां समुद्धारकप्रदानेन कोपोपशमः^२ ॥३९॥

अर्थ:—जमींदार वैश्योंका क्रोध उनका कर्जा चुका देनेसे शांत हो जाता है ॥३९॥

भृगु^३ विद्वान्ने लिखा है कि 'यदि जमींदारके पिताका भी वैरी हो, जो कि उसे कुपित कर रहा हो परन्तु यदि वह उसके कर्जाको चुका देता है तो वह शांत होजाता है ॥१॥'

वणिकोंकी श्री-वृद्धिका उपाय:—

निरचलैः परिचितैश्च सह व्यवहारो वणिजां निधिः^४ ॥४०॥

अर्थ:—वैश्य लोग उन्हींके साथ कर्जा देनेका व्यवहार करते हैं, जिनके पास मकान और खेत आदि होते हैं और जो एक जगह स्थायी रीतिसे रहते हैं एवं जिनकी आमदनी और स्वर्ण-आदिसे परिचित होते हैं। ऐसा करनेसे—विश्वस्तोंको कर्जा देनेसे—भविष्यमें कोई खतरा (धन-हूवनेकी शंका) नहीं रहता किन्तु उनसे उन्हें प्रचुर धन मिलता है ॥४०॥

नीच जातिके मनुष्योंको वश करनेका उपाय:—

दण्डभयोपधिभिर्दशीकरणं नीचजात्यानाम्^५ ॥४१॥

अर्थ:—नीच पुरुषोंका वशीकरणमंत्र दंडका भय ही है ॥४१॥

गर्ग^६ विद्वान्ने लिखा है कि 'समस्त नीचजाति वालोंको जब तक दंडका भय नहीं दिखाया जाता तब तक वे वशमें नहीं होते; अत एव उन्हें दण्डका भय दिखाना चाहिये ॥१॥'

इति त्रयी-समुद्देशः ।

१ तथा च गर्गः—यथा प्रियेण दृष्टेन नश्यति व्याधिर्वियोगजः । प्रियाज्ञापेन तद्वद्वणिजां नश्यति भुव ॥१॥

२ 'उद्धारप्रदानं कोपोपशमो वैश्यानाम्' इस प्रकार सु. मू. पुस्तक में पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं ।

३ तथा च भृगुः—अपि चेत् पैत्रिको वैरो विशां कोषं प्रजायते । उद्धारकप्रलाभेन निःशेषो विलयं वजेत् ॥१॥

४ 'विश्वस्तैः सह व्यवहारो वणिजां निधिः' ऐसा सं० टीका पुस्तकमें पाठ है, परन्तु उक्त पाठ सु० मू० प्रतिने संकलन किया गया है, अर्थभेद कुछ नहीं ।

५ 'दण्डभयोपधि वशीकरणं नीचानां' ऐसा सु० मू० पुस्तकमें पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं ।

६ तथा च गर्गः—सर्वेषां नीचजात्यानां यावन्तो दृश्येद् भयम् । तावन्तो वशमायान्ति दर्शनीयं ततो भयम् ॥१॥

८-—वार्ता-समुद्देशः

मामा

वार्ता-समुद्देशः स्वयं वा वैश्योंकी जीविका:—

कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम्* ॥१॥

अर्थः—खेती, पशुपालन और व्यापार करना यह वैश्योंकी जीविका—जीवन-निर्वाहका साधन है।

भाषावै:—भगवज्जनसेनाचार्य ने कहा है कि इतिहासके आदिकालमें भगवान् ऋषभदेव तीर्थ-
व्रजकी जीवन-रहाके लिये उसे अस्ति—शस्त्र-धारण, मयि—लेखनकला, कृषि—खेती, विद्या, वा-
—व्यापार और शिल्पकला इन जीविकोपयोगी ६ साधनोंका उपदेश दिया था ॥१॥

लिङ्गार्थः—उक्त जीवन-निर्वाहके साधनोंमें से कृषि, पशुपालन और व्यापार यह वैश्य-वर्णकी
जीविका है ॥१॥

जीवन-निर्वाहके साधनोंकी वृद्धतिसे राजाको होनेवाला लाभः—

वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो गजः३ ॥२॥

अर्थः—जिस राजाके राज्यमें वार्ता—कृषि, पशुपालन और व्यापार-आदि प्रजाके जीविकोपयोगी
साधनों—की वृद्धति होती है, वहाँपर उसे समस्त विभूतियाँ (हाथी-घोड़े और सुवर्ण-आदि) प्राप्त
होती हैं ॥२॥

शुक्र-विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस राजाके राज्यमें शरत् और ग्रीष्म ऋतुमें खेतीकी फसल अच्छी
है और व्यापारकी वृद्धति होती है, उसे असंख्यात धर्म, अर्थ और भोगोपभोग प्राप्त होते हैं ॥१॥'

सांसारिक-सुखोंके साधनः—

तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सधन्युदपानं च ॥३॥

अर्थः—जिस गृहस्थके यहाँ खेती, गाय-भैंस, शाक-तरकारीके लिये मुन्दर बगीचा और मकानमें
वादीसे परिपूर्ण—भरा हुआ कुआ है उसे सांसारिक सुख प्राप्त होता है ॥३॥

शुक्र-विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस गृहस्थके यहाँ खेती, गाय-भैंस, शाक-तरकारीको बगीचा और
वादीका कुआ है, उसे स्वर्गके सुखोंसे क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं ॥१॥'

३. कृषिः पशुपालनं वणिज्या चेति वार्ता ऐसा पाठ मु० मू० प्रतिमें है उसका अर्थ यह है कि कृषि, पशुपा-
न और व्यापार ये प्रजाके जीवन-निर्वाहके साधन हैं।

४. वणिर्विद्या वणिज्यं शिल्पमेव वा । कर्मोणीमानि योदा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१॥

आदिपुराणे भगवज्जनसेनाचार्यः ।

५. अस्त्येसा मु० मू० प्रतिमें पाठ है अस्त्यु एकवचन-बहुवचनके सिवाय कोई अर्थ-मेव नहीं है।

६. तथा च शुकः—कृषिद्वयं वणिज्याश्च यस्य राष्ट्रे भवत्यमी । धर्मोपकामा मृतस्य तस्य स्युः संख्यया विमा ॥१॥

७. तथा च शुकः—कृषिगोशाकवाटान्न जलाभ्यसमन्विताः । एते यस्य भवत्येते स्वर्गलोकेन तस्य किम् ॥१॥

खेतीकी फसलके समय धान्य-संग्रह न करने वाले राजाकी हानि:—

विसाध्यराहस्तत्रपोषणे नियोगिनामुत्सवो महान् कोशक्षयः ॥४॥

अर्थ:—जो राजा सैनिकोंके भरण-पोषण करनेके लिये खेतीकी फसलके मौकेपर धान्यादिका संग्रह नहीं करता, उसके राजकीय कर्मचारियों—मंत्री आदि—को विशेष आनन्द होता है—ये लोग धान्यादि खरीदकर उसे बहुत तेजभावका बताकर गोलमाली करके बहुत धन हड़प कर जाते हैं तथा राजाका विशाल खजाना नष्ट होजाता है।

नारद* विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा शरद और ग्रीष्म ऋतुमें—अन्नकी दोनों फसलोंके समय—सैना वगैरहके निर्वाह के लिये अन्नका संचय नहीं करता, किन्तु सदा मोल खरीदता रहता है उसका खजाना नष्ट होजाता है ॥४॥'

निष्कर्ष:—इसलिये नीतिज्ञ राजाको विशाल सेनाके भरण-पोषणके लिये फसलके मौकेपर धान्यका संग्रह कर लेना चाहिये ॥४॥

आमदनीके बिना केवल सदा खर्च करनेवाले मनुष्यकी हानि:—

नित्यं हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते ॥५॥

अर्थ:—जो हमेशा संचित धन खर्च करता रहता है परन्तु नया धन बिल्कुल नहीं कमाता, उसका विशाल भी खजाना धीरे-धीरे नष्ट होजाता है। खजाना तो दूर रहे परन्तु विशाल सुमेरु पर्वतमें से भी हमेशा सुवर्ण निकाले जानेपर वह भी नष्ट होजाता है फिर राज-कोशका तो कहना ही क्या है? अर्थात् वह तो निश्चित ही नष्ट होजाता है ॥५॥

शुक्र* विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस मनुष्यको चार मुद्राओं—रुपयोंकी दैनिक आमदनी है और साढ़े पाँच मुद्राओंका खर्च है, वह धन-कुबेर होनेपर भी दरिद्रताको प्राप्त होता है ॥५॥'

धान्य-संग्रह न करके अधिक व्यय करनेवाले राजाकी हानि:—

तत्र सदैव दुर्भिक्षं यत्र राजा विसाधयति ॥६॥

अर्थ:—जो राजा अपने राज्यमें धान्यसंग्रह नहीं करता और अधिक व्यय करता है, उसके यहाँ सदा अकाल रहा करता है। क्योंकि उसे अपनी विशालसेनाके भरण-पोषण करनेके लिये अधिक अन्नकी आवश्यकता हुआ करती है; इसलिये जब वह राज्यमेंसे धान्य खरीद लेता है, तब उसकी प्रजाको अकाल का दुःख भोगना पड़ता है।

१ तथा च नारदः :— ग्रीष्मे शरदि यो नान्नं संगृह्णाति महीपतिः । नित्यं मूल्येन गृह्णाति तस्य कोशक्षयो भवेत् ॥४॥

२ तथा च शुक्रः :— आगमे यस्य चत्वारि निर्गमं सार्धपंचमः । स दरिद्रत्वमाप्नोति विमोक्षोऽपि स्थयं यदि ॥५॥

भारद्वाजः विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस देशमें राजा अकाल पड़नेपर अपने खजानेकी सम्पत्तिसे करीबकर प्रजाको देता है, तब उसकी प्रजा अकालके दुःखसे पीड़ित नहीं होती ॥१॥'

निष्कर्षः—इसलिये नीतिमान् राजाको अधिक धान्य-संग्रह करना चाहिये ॥६॥
राजाको धनकी लालसा होनेसे हानिः—

समुद्रस्य पिपासायां कुतो जगति जलानि ? ॥७॥

अर्थः—समुद्रको प्यासे रहनेपर संसारमें जल किस प्रकार पाये जासकते हैं ? नहीं पाये जासकते ।

भाषार्थः—शास्त्रोंमें उल्लेख है कि लवण समुद्रमें गंगा और सिंधु आदि नदियाँ अपनी १४ हजार वर्षक नदियों समेत प्रवेश करती हैं, ऐसी विशाल जल-राशिके होनेपर भी यदि समुद्र प्यासा रहे, तो संसारमें जल ही नहीं रह सकते; क्योंकि समुद्रकी प्यासको दूर करनेके लिये इससे अधिक जल-राशि नहीं पाई नहीं जाती । उसी प्रकार राजा भी यदि अचुर धन-राशिकी लालसा रखता हो—प्रजासे अधिक धन भी अधिक कर (टेक्स) लेनेकी लालसा रखता हो—तो फिर राष्ट्रमें सम्पत्ति किस प्रकार रह सकती है ? नहीं रह सकते ।

निर्णयः—अधिक टेक्स बढ़ानेसे समस्त राष्ट्र दरिद्र होकर नष्ट-भ्रष्ट होजाता है; अतएव न्याय-मूर्ति राजाको उचित कर ही प्रजासे लेना चाहिये; जिससे राष्ट्रकी श्रीवृद्धि होसी रहे ॥ ७ ॥

भारद्वाजः विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा प्रजाकी आमदनीके दृष्टे हिस्से भी अधिक कर (टेक्स) लेकर प्रजासे धन संग्रहण की लालसा रखता है उसका देश नष्ट हो जाता है और पश्चात् उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥१॥'

राज-भैक्ष आदि की रक्षा न करनेसे हानिः—

स्वयं जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्पिपासाऽप्रतिकारात् पापं च ॥८॥

अर्थः—राज-भैक्ष-आदि जीविकोपयोगी धनकी देख-रेख न करने वाले पुरुषको महान् आर्थिक-क्षति हानि उठानी पड़ती है एवं उनके मर जानेसे उसे अधिक मानसिक पीड़ा होती है तथा उन्हें भूख-प्यासे मरने का भय रहता है । अथवा राजनीतिक प्रकरणमें राज्य-भैक्ष-आदि जीवन-निर्वाहमें उप-योग्य सम्पत्तिकी रक्षा न करने वाले राजाको बड़ी आर्थिक क्षति—धनकी हानि—उठानी पड़ती है एवं उनका राज्य भी काय-कलविध होने—मरजानेसे उसको मानसिक-कष्ट होता है । क्योंकि गो-धनके अभाव में उनके राष्ट्रकी कृषि और व्यापार आदि जीविका नष्टप्राय होजाती है । जिसके फलस्वरूप प्रजाकी प्यासको दूर करनेके उपाय—कृषि व्यापार-आदि नष्ट होजानेसे उसे महान् पाप-बंध होता है ।

१. स्वयं च नारदः—दुर्मित्तोऽपि समुत्तमो भव राजा प्रयच्छति । निजाप्येया निजं संस्यं तदा लोको न पीड्यते ॥१॥

२. स्वयं च नारदः—पद्मभागाभ्यधिको दशहो यस्य राशः प्रतुष्टये । तस्य राष्ट्रं चयं याति राज्यं च तदनन्तरम् ॥२॥

३. 'क्षुत्पिपासाप्रतिकारात् पापं चेति' ऐसा मु० सू० और १० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थमेव

शुक्र^१ विद्वान्ने कहा है कि 'जो मनुष्य गाय-भैंस आदि पशुओंकी सँभाल—देख-रेख नहीं करता उसका वह गोधन नष्ट हो जाता है—अकालमें मृत्युके मुखमें प्रविष्ट होजाता है, जिससे उसे महान् पाप-बन्ध होता है ॥१॥'

निष्कर्ष;—राजाका कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रके जीवन-निर्वाहके साधन—कृषि और व्यापारोपयोगी गो-धनकी सदा रक्षा करे ॥८॥

वृद्ध-बाल-व्याधित-क्षीणान् पशून् बान्धवानिष पोषयेत् ॥९॥

अर्थ;—मनुष्यको अनाथ, माता-पितासे रहित, रोगी और कमजोर पशुओंकी अपने बँधुओंकी तरह रक्षा करनी चाहिये ॥९॥

व्यास^२ विद्वान्ने लिखा है कि 'जो दयालु मनुष्य अनाथ, माता-पितासे रहित, या लूले-लैंगड़े दीन व भूखसे पीड़ित पशुओंकी रक्षा करता है, वह चिरकाल तक स्वर्गके सुखोंको भोगता है ॥१॥

पशुओंके अकाल-मरणका कारण;—

अतिभारो महान् मार्गश्च पशूनामकाले मरणकारणम् ॥१०॥

अर्थ;—अधिक बोझ लादनेसे और अधिक मार्ग चलानेसे पशुओंकी अकाल मृत्यु होजाती है ॥१०॥

हारीत^३ विद्वान्ने लिखा है कि 'पशुओंके ऊपर अधिक बोझा लादना और ज्यादा दूर चलाना उनकी मौतका कारण है; इसलिये उनके ऊपर योग्य बोझा लादना चाहिये और उन्हें थोड़ा मार्ग चलाना चाहिये ॥१॥'

जिन कारणोंसे दूसरे देशोंसे माल आना बन्द हो जाता है;—

शुल्कवृद्धिर्वलात् परयग्रहणं च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः ॥११॥

अर्थ;—जिस राज्यमें दूसरे देशकी चीजोंपर ज्यादा कर—टेक्स—लगायी जाता हो तथा जहाँ के राज-कर्मचारीगण जबर्दस्ती थोड़ा मूल्य देकर व्यापारियोंसे वस्तुएँ छीन लेते हों, उस राज्यमें अन्य देशोंसे माल-आना बन्द हो जाता है ॥११॥

शुक्र^४ विद्वान्ने लिखा है कि 'जहाँपर राजकर्मचारी वस्तुओंपर टेक्स बढ़ाते हों और व्यापारियों के धनका नाश करते हों, उस देशमें व्यापारी लोग अपना माल बेचना बंद कर देते हैं ॥१॥'

एक बातका दृष्टान्तद्वारा समर्थन;—

क्राष्टपात्र्यामेकदैव पदार्थो रभ्यते ॥१२॥

१ तथा च शुक्रः—चतुष्पादिकं सर्वं स स्वयं यो न पश्यति । तस्य तत्राशमभ्येति ततः पापमवाप्नुयात् ॥१॥

२ तथा च व्यासः—अनाथान् विकलान् क्षीणान् क्षुत्परीतान् पशून्पि । दयावान् पोषयेद्यस्तु स स्वर्गे मोदने चिरम् ॥१॥

३ तथा च हारीतः—अतिभारो महान् मार्गः पशूनां मृत्युकारणम् । तस्मादर्हभावेन मार्गेणापि प्रयोजयेत् ॥१॥

४ तथा च शुक्रः—यत्र गृह्यन्ति शुल्कानि पुष्पा भूयोजिताः । अर्थहर्नि च कुर्वन्ति तत्र नायाति विक्रया ॥१॥

शब्दः—सकड़ीकी हाँड़ीमें एक ही बार पदार्थ पकाया जासकता है दूसरी बार नहीं; क्योंकि फिर होजायी है।

भाषार्थः—उसीप्रकार जिस राज्यमें दूसरे देशकी वस्तुओंपर अधिक टैक्स लगाया जाता हो और मूल्य बढ़ाकर लूट-मार करते हों, उसमें फिर दूसरे देशोंसे माल नहीं आसकता ॥१२॥

शुक्र विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस राज्यमें टैक्स बढ़ाया जाता है और मूल्य घटा दिया जाता है, वस्तु बेचनेवाले वणिज-जन स्वप्नमें भी प्रवेश नहीं करते ॥१॥'

जिस स्वासमें व्यापार्य—व्यापार नष्ट होजाता है उसका वर्णनः—

तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ॥१३॥

शब्दः—जिस राज्यमें तराजू, तोलनेके बाँट (गुज्जादि) और नापनेके पात्र—झोलादि—यथोचित नहीं रखे जाते—जहाँपर वणिजजन दूसरोंसे वस्तु खरीदनेके लिये अपनी तराजू और बाँटोंको और देते समय छोटे करते हैं, वहाँपर वणिज गुजारोंका व्यवहार—खरीदना-बेचना—नष्ट होजाता है।

भाषार्थः—जहाँपर व्यापारीगण खरीदते-बेचते समय अपने तराजू और बाँटों वगैरहको बढ़ा-चढ़ाते हैं, वहाँपर प्रजाको कष्ट होता है, इसलिये राजाको उनकी पूर्ण निगरानी रखनी चाहिये ॥१३॥

वर्ग विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस राज्यमें तराजू और तोलने-नाँपनेके बाँट बड़े-छोटे रक्खे जाते वहाँपर व्यापार नहीं होता ॥१॥

व्यापारियों द्वारा मूल्य बढ़ाकर संचित किये हुए धनसे प्रजाकी हानिः—

वणिग्जनकृतोऽर्थः स्थितानागन्तुकांश्च पीडयति* ॥१४॥

शब्दः—जिसके राज्यमें व्यापारी-गण वस्तुओं—अन्न-वस्त्रादि—का मूल्य स्वेच्छापूर्वक बढ़ाकर बेचते हैं, इससे वहाँकी प्रजाको और बाहरसे आये हुए लोगोंको कष्ट होता है—वरिद्ध होजानेसे होता है।

भाषार्थः—जहाँपर व्यापारी लोग मन-माना मूल्य बढ़ाकर वस्तुओंको बेचते हैं और कमसे कम खरीदते हैं, वहाँकी जनता वरिद्ध होजाती है, अतएव राजाको इसकी ठीक व्यवस्था करनी चाहिये ॥१४॥

हरीश विद्वान्ने कहा है कि 'व्यापारियोंद्वारा मूल्य बढ़ाकर संचित किया हुआ और राज-

१ व्या च शुक्रः—शुक्रकृदिर्मवेद्यत्र वलाम्मूर्त्य निपात्यते । स्वप्नेऽपि तत्र न स्थाने प्रविशेद् भाण्डविक्रयी ॥१॥

२ व्या च वर्गः—गुरुर्ध च लघुर्ध च तुलामानसमुद्भवम् । द्विमकारं भवेद्यत्र वाणिज्यं तत्र नो भवेत् ॥१॥

३ व्या च—‘वणिग्जनकृतोऽर्थः’ इत्यादि मु० सू० प्रतिमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है तथापि यह पाठ सं०

का पाठसे उत्तम है क्योंकि इसने निस्सन्देह सीधा अर्थ—वस्तुओंका मूल्य निकल आता है।

४ व्या च हरीशः—वणिग्जनकृतो योऽर्थोऽनुज्ञावच्च नियोगिभिः । भूषय पीडयेत् सोऽत्र तत्स्थानागन्तुकानपि ॥१॥

कर्मचारियों द्वारा रिश्वतमें इकट्ठा किया हुआ धन वहाँकी जनता और बाहरसे आये हुए लोगोंको निर्धन—
वरिद्ध बना देता है ॥१॥

वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करनेके विषयमें—

देश-काल-भांडापेक्षया वा सर्वाधो भवेत् ॥१५॥

अर्थः—समस्त वस्तुओं—अन्न, वस्त्र और सुवर्ण-आदि पदार्थों—का मूल्य देश, काल और
प्रादेशिके ज्ञानकी दृष्टिकोसे होना चाहिये :

भावार्थः—जो राजा यह जानता है कि मेरे राज्यमें या अमुक देशमें अमुक वस्तु उत्पन्न हुई है ? या
नहीं ? इसे 'देशापेक्षा' कहते हैं । एवं इस समय दूसरे देशोंसे हमारे देशमें अमुक वस्तु प्रविष्ट हो सकती
है ? अथवा नहीं ? इसे 'कालापेक्षा' कहते हैं । राजाका कर्तव्य है कि वह उक्त देश-कालादिकी अपेक्षाका
ज्ञान करके समस्त वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करे, जिससे व्यापारी लोग मन-चाहा मूल्य बढ़ाकर
प्रजाको निर्धन—वरिद्ध न बना सकें ॥१५॥

व्यापारियोंके छल-कपटपूर्ण व्यवहारमें राजाका कर्तव्यः—

पण्यतुलामानवृद्धौ राजा स्वयं जागृयात् ॥१६॥

अर्थः—राजाको उन व्यापारियोंकी जाँच-पड़ताल करनी चाहिये, जो कि बहुमूल्यवाली वस्तुओंमें
अल्प मूल्यवाली वस्तुओंकी मिलावट करते हों, दो प्रकारकी तराजुएँ रखते हों तथा नापने-तोलनेके बाँटों
आदि (प्रस्थ और गुज्जादि) में कमी-बेशी करते हों ।

शुक^१चिद्धान्ने लिखा है कि 'वणिक् लोग बहुमूल्यवाली वस्तुमें अल्पमूल्यवाली वस्तुकी मिलावट
करके दो प्रकारकी तराजुएँ रखकर तथा नापने-तोलनेके बाँटों आदिमें कमी-बेशी करके भोले भाले मनुष्यों
को ठगते रहते हैं । अतएव राजाको उनकी देख-रेख—जाँच पड़ताल-करनी चाहिये ॥१॥

निष्कर्षः—राजाको व्यापारियोंके द्वारा किये जानेवाले छल-कपट-पूर्ण व्यवहारों—बेचने या खरी-
दनेकी वस्तुओंको विविध उपायोंसे कमती-बढ़ती देना-आदि—के संशोधन करनेमें सदा सावधान रहना
चाहिये जिससे प्रजाको कष्ट न हो ॥१६॥

राजाको वणिक् लोगोंसे सावधान न रहनेसे हानिः—

न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतोहराः ॥१७॥

अर्थः—वणिक् लोगोंको छोड़कर दूसरे कोई प्रत्यक्ष चोर नहीं हैं ।

भावार्थः—वास्तविक चोर तो पीठ-पीछे चोरी करते हैं, परन्तु वणिक् लोग लोगोंके सामने नापने-
तोलनेके गज और बाटोंमें कमी-बेशी करके और बहुमूल्यवाली वस्तुमें अल्पमूल्यवाली वस्तुकी मिलावट
करके ग्राहकोंको ठगते हैं; इसलिये आचार्यश्रीने उन्हें 'प्रत्यक्षचोर' कहा है, अतएव राजाको उनकी कड़ी
निगरानी रखनी चाहिये ॥१७॥

१ उक्त पाठ मु० मू० पुस्तकसे संकलन किया गया है; क्योंकि सं० टी० पुस्तकमें 'देशकालभांडापेक्षया वा
सर्वाधो भवेत्' ऐसा शब्द है जिसका अर्थ-समन्वय ठीक नहीं होता था । सम्पादकः—

२ तथा च शुकः—भाण्डसंगतुलामानाद्विनाभिक्याद्वणिग्जनाः । वचयन्ति जनं मुग्धं तद्विषयं महीशुभा ॥१॥

राजभवेन 'विद्वान्ने लिखा है कि 'वणिक् लोग नापने-तोलनेके बाटोंमें गोलमाली करके, वस्तुओंका मूल्य और चतुराईसे विश्वास दिलाकर लोगोंके धनका अपहरण करते रहते हैं, अतएव ये वस्तुओंके मूल्यमें प्रत्यक्ष चोर कहे गये हैं ॥१॥'

जो लोगोंके द्वारा परस्परकी ईर्ष्यासे वस्तुओंका मूल्य बढ़ा देनेपर राजाका कर्तव्य:—

स्पर्द्धया मूलवृद्धिर्भाण्डेषु राज्ञो यथोचितं मूल्यं विक्रेतुः ॥१८॥

अर्थ:—यदि व्यापारी लोग परस्परकी ईर्ष्या-वश वस्तुओंका मूल्य बढ़ा दें—अपनी वस्तुओंको अधिक मूल्यसे बेचने लगें—उस समय राजाका कर्तव्य है कि वह उस बढ़ाये हुए मूल्यको व्यापारी-वर्गसे ले ले और व्यापारियोंको केवल उचित मूल्य ही देवे ॥१८॥

राजभवेन 'विद्वान्ने लिखा है कि 'व्यापारी वर्गके द्वारा स्पर्द्धासे बढ़ाया हुआ वस्तुओंका मूल्य राजाका कर्तव्य है और बेचनेवाले व्यापारीको केवल उचित मूल्य ही मिलना चाहिये ॥१९॥'

अल्पमूल्य वस्तुको अल्पमूल्यमें खरीदनेवाले व्यापारीके प्रति राजाका कर्तव्य:—

अल्पद्रव्येण महाभाण्डं गृह्णतो मूल्याविनाशेन तद्भाण्डं राक्षः ॥१९॥

अर्थ:—यदि किसी व्यापारीने—किसीकी बहुमूल्य वस्तु—सुवर्ण आदि—को धोखादेकर थोड़े मूल्यमें खरीदी ली हो, तो राजाको खरीदनेवालेकी वह—बहुमूल्य वस्तु जब्त कर लेनी चाहिये परन्तु बेचनेवालेको उसका अल्पमूल्य जितना उसे खरीददारने दिया था दे देना चाहिये ॥१९॥

राजभवेन 'विद्वान्ने भी उक्त बातका समर्थन करता है कि 'जब चोर या मूर्खमनुष्योंने किसी व्यापारीको बहुमूल्य वस्तु—सुवर्ण आदि—अल्पमूल्यमें बेच दी हो, तो राजाको उसका पता लगाकर खरीदनेवाले की वस्तु जब्त कर लेनी चाहिये और बेचनेवालेको अल्पमूल्य दे देना चाहिये ॥२०॥'

अन्यायकी उपेक्षा करनेसे हानि:—

अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति ॥२०॥

अर्थ:—जो राजा राष्ट्रमें होनेवाले अन्यायोंकी उपेक्षा करता है—अन्याय करनेवाले चोर-आदिको पकड़ दंड नहीं देता—उसका समस्त राज्य नष्ट होजाता है ॥२०॥

राजभवेन 'विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस देशमें राजा क्षमा-धारण करके अन्याय करनेवालोंका निग्रह—नहीं करता उसका देश-परंपरासे प्राप्त हुआ भी राज्य नष्ट होजाता है ॥२१॥'

अन्याय व दण्डभवेन:—मानेन किञ्चिन्मूक्येन किञ्चित्तुलयाऽपि किञ्चित् कलयाऽपि किञ्चित् ।

किञ्चित् किञ्चित् यदौतुकामाः प्रत्यक्षचौरा वणिजो नराणाम् ॥२१॥

अर्थ:—स्पर्द्धा निहित मूल्य भाण्डस्याप्यधिकं च यत् । मूल्यं भवति तद्भाण्डो विक्रेतुर्नर्भमानकम् ॥ १ ॥

अर्थ:—हं० टी० पृ० ६६ ।

अर्थ:—अन्यायात् भूमिषो यत्र न निषेधयति क्षमा । तस्य राज्यं क्षयं याति यत्रपि स्यात् क्रमागतम् ॥ २ ॥

राष्ट्रके शत्रुओंका निर्देश करते हैं:—

चौर-चरट-मक्षप-धमन—राजवन्तभाटविक्रतलाराक्षशालिकनियोगिग्रामकूटवाद्धिका हि राष्ट्रस्य कण्टकाः ॥ २१ ॥

अर्थ:—चोर, देशसे चोर निकाले हुए शराशूरी, खेतीकी या प्रजापत वगैरहकी नाप करनेवाले, व्यापारियोंकी वस्तुका मूल्य निश्चय करनेवाले, राजाके प्रेमपात्र, जंगलमें रहनेवाले भील वगैरह या जंगलकी रक्षामें नियुक्त किये गये अधिकारी, स्थानकी रक्षामें नियुक्त किये गये कोटपाल या पुलिस वगैरह, जुआरी या सेनापति, राज्यके अधिकारी वर्ग, पटवारी, बलवान् पुरुष तथा अन्न-संग्रह करके अकाल-दुर्भिक्षकी कामना करनेवाले व्यापारी लोग ये राष्ट्रके कण्टक—शत्रु हैं ।

भावार्थ:—चोर प्रजाका धनादि अपहरण करनेके कारण तथा अन्य लोग रिरिखत वगैरह लेकर या मौका पाकर बगावत करनेके कारण एवं अन्न संग्रह करके अकाल चाहनेवाले व्यापारी भी प्रजा को पीड़ित करनेसे राज्यके कण्टक—शत्रु कहे गये हैं ; क्योंकि ये लोग साम, दान, दण्ड और भेद-आदि उपायों से राष्ट्रमें उपद्रव करते हैं ; अतएव राजाको इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—यथासमय उनकी देख-रेख रखनी चाहिये और इनको अपराधानुकूल दंड देते रहना चाहिये ॥ २१ ॥

गुरु * विद्वान्ने लिखा है कि जो राजा चोर वगैरहको प्रत्यक्ष देख लेने पर भी उनसे अपने देशकी रक्षा नहीं करता—उनका निग्रह करके अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता उसका कुल-परम्परासे चला आया राज्य भी नष्ट होजाता है ॥ १ ॥

जिसप्रकारके राजाके होनेपर राष्ट्र-कण्टक नहीं होते:—

प्रतापवति राक्षि निष्ठुरे सति न भवन्ति राष्ट्रकण्टकाः ॥ २२ ॥

अर्थ:—जिस देशमें राजा प्रतापी (पुण्यशाली, राजनीतिविद्यामें कुशल और तेजस्वी) तथा कठोर-शासन करनेवाला होता है, उसके राज्यमें राष्ट्रकण्टक—प्रजाको पीड़ित करनेवाले अन्यायी और वगैरह नहीं होते ॥ २२ ॥

१ 'चौर-चरटाऽन्वयधमन-राजवन्तभाटविक-तलार-किराताक्षशालिक-नियोगि-ग्रामकूट-वाद्धिका हि राष्ट्रकण्टकाः' इस प्रकारका पाठ मु० मू० और भाण्डारकर रिसर्च गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी ६० लि० दो प्रतियों में वर्तमान है । इसका अर्थ:—चोर, गुप्तचर—जो नानाप्रकारकी वेष्ट-भूषा और भाषा आदि के द्वारा अपनेकी गुप्त रखकर देश, नगर, ग्राम और गृहादि में प्रविष्ट होकर वहाँ के गुप्त-वृत्तान्त को राजा के लिये निवेदन करते हों,

अन्वय-धमन—बंश की कीर्ति-गान करनेवाले चारण वगैरह, राजा के प्रेम-पात्र, आटविक—जंगलोंकी रक्षाके लिये नियुक्त किये हुए अधिकारी गण, तलार—छोटे स्थानों में नियुक्त किये हुए अधिकारी, भील, जुआरी, मंत्री और अमत्य-आदि अधिकारीगण, ग्रामकूट—पटवारी और अन्नका संग्रह करनेवाले व्यापारी ये ११ व्यक्ति राष्ट्रके कण्टक—शत्रु हैं—कांटों के समान राष्ट्र में उपद्रव करने वाले हैं ।

२—तथा च गुरु:—चौरादिकेभ्यो दष्टेभ्यो यो न राष्ट्रं प्ररक्षति । तस्य तन्नाशमाप्स्यति यदि स्थातितुपैतृकम् ॥ १०

३—'प्रतापवति कण्टकशोधनाधिकरवाजे राक्षि न भवन्ति' ऐसा मु० और पूनाकी ६० लि० मूल प्रतियोंमें पाठ है जिसका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त चोर वगैरह राष्ट्र-कण्टक-प्रतापी और कण्टकों—अन्यायी और अतृप्ततापियों—के निग्रह करनेके उपायोंको जाननेवाले राजाके होनेपर नहीं होते ।

आस'विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस देशमें राजा राजनीति-विद्यामें निपुण और विशेष प्रतापी है, उसका वह देश चोर आदि अन्यायियों द्वारा पीड़ित नहीं किया जाता ॥१॥'

द्वारा देशमें अकाल पैदा करनेवाले व्यापारियोंसे हानि:—

अन्यायवृद्धितो वार्द्धुपिकास्तत्र देशं च नाशयन्ति ॥ २३ ॥

भावार्थ:—पूर्वोक्त राष्ट्र-कण्टकोंमें से अन्नका संग्रह करके दुर्भिक्ष—अकाल—पैदा करनेवाले व्यापारी लोग—अन्यायकी वृद्धि करते हैं, इससे वे राष्ट्रके समस्त तंत्र—व्यवहार या चतुष्पद—आदि (गाय-पशुओं-आदि) तथा समस्त देशको नष्ट कर देते हैं।

अर्थ:—विद्वान् भी उक्त बातका समर्थन करता है कि 'जिस देशमें वार्द्धुपिक—अन्न-संग्रह द्वारा दुर्भिक्ष पैदा करनेवाले व्यापारी लोग—अनीतिसे अधिक संख्यामें बढ़ जाते हैं, वह देश नष्ट हो-जावे' एवं वहाँके गाय-भैंस-आदि पशुओंकी भी विशेष हानि—हानि होती है ॥ १ ॥'

मिथ्या:—अतः राजाको ऐसे अन्यायियोंकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये जिससे वे राष्ट्रमें दुर्भिक्ष न कर सकें ॥ २३ ॥

अन्न-संग्रह द्वारा राष्ट्रमें अकाल पैदा करनेवाले व्यापारियोंका कदा अलोचना:—

कार्यकार्योर्नास्ति दाक्षिण्यं वार्द्धुपिकानाम् ॥ २४ ॥

भावार्थ:—वार्द्धुपिकों—लोभवश राष्ट्रका अन्न-संग्रह करके दुर्भिक्ष पैदा करनेवाले व्यापारियों—के कार्य-कार्यमें लज्जा नहीं होती अथवा उनमें सरलता नहीं होती—वे कुटिल प्रकृतिवाले होते हैं।

भावार्थ:—अन्न-संग्रहकर्ता व्यापारियोंके साथ यदि उपकार भी किया जावे—उन्हें वृद्धित न हो जावे—तो भी वे कृतघ्नताके कारण लोभ-वश अपनी अन्न-संग्रहकी प्रकृतिको नहीं छोड़ते। एवं यदि उपकार किया जावे—उन्हें दृष्टिगत किया जावे तो भी वे निर्लज्ज होनेके कारण अपनी अन्न-संग्रहकी प्रकृति नहीं छोड़ते; अतएव राजाको उनकी कदापि उपेक्षा न करनी चाहिये—उन्हें इसदरहसे उपेक्षा चाहिये; ताकि भविष्यमें ऐसा नीतिविरुद्ध कार्य न कर सकें ॥ २४ ॥

द्वारा विद्वान्ने भी उक्त बातकी पुष्टि की है कि 'अन्न-संग्रह द्वारा दुर्भिक्ष पैदा करनेवाले या अन्न-संग्रह करनेवाले व्यापारियोंके साथ असंख्यातवार उपकार-अनुपकार भी किये जावें, तो भी वे कृतघ्न या सरल नहीं होते अर्थात् दृष्टिगत न किये जाने पर कृतघ्न और दृष्टिगत किये जाने पर सरल होते हैं ॥ १ ॥'

असंख्य व्यास:—यथोक्तनीतिनिपुणो यत्र देशे भवेन्नृपः। सप्रतापो विशेषेण चौराद्यैर्न स पीड्यते ॥१॥

अर्थ:—अन्यायवृद्धयो वार्द्धुपिकास्तत्र देशं च नाशयन्ति' इस प्रकार सु० व० ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, अतः अर्थ-भेद कुछ नहीं है।

अर्थ:—यत्र वार्द्धुपिका देशं अनीत्या वृद्धिमाययुः। सर्वलोकक्षयस्तत्र तिरश्चां च विशेषतः ॥ १ ॥

अर्थ:—वार्द्धुपिकस्य दाक्षिण्यं विद्यते न कथंचन। कृत्याकृत्यं तदर्थं च कर्तुं; संख्यविश्वजितैः ॥ १ ॥

शरीर-रक्षार्थं मनुष्य-कर्तव्यः—

अप्रियमप्यौषधं पीयते ॥ २५ ॥

अर्थः—शारीरिक स्वास्थ्य-रक्षाके लिये विवेकी मनुष्योंके द्वारा कड़वी औषधि भी —कड़वे क्वाथ(काढ़े) आवि भी पीजातो है, पुनः मीठी औषधिके बारेमें तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वह तो अवश्य सेवन की जाती है ।

भावार्थः—शिष्ट-पुरुष जिस प्रकार लोकमें अपने शारीरिक स्वास्थ्य—तन्दुरुस्तीके लिये कड़वी औषधिका भी सेवन करते हैं, उसीप्रकार उन्हें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक वृत्तिके लिये एवं ऐहिक तथा पारलौकिक सुख-प्राप्तिके लिये धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका अनुष्ठान परस्पर की बाधा-रहित करना चाहिये ॥ २५ ॥

नीतिकार वादीभसिंह सूरि^१ ने भी कहा है कि यदि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका परस्परकी बाधा-रहित सेवन किया जाय तो उससे मनुष्योंको बाधा-रहित सुखकी प्राप्ति होती है और क्रमसे मोक्षसुख भी प्राप्त होता है ॥ १ ॥

वर्ग^२ विद्वान् ने भी उक्त मान्यताका समर्थन किया है कि 'विद्वान् मनुष्यको सुख-सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी औषधियोंकी तरह धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥१॥'

पूर्वोक्त सिद्धान्तका समर्थनः—

अहिदष्टा शङ्खगुलिरपि प्लिवते ॥ २६ ॥

अर्थः—वह अंगुलि भी जिसमें सर्पके द्वारा बसी—काटी—जानेसे जहर चढ़ गया है, शेष शरीरको रक्षाके लिये काट दीजाती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार विषैली अंगुलि काट देनेसे शरीर स्वस्थ रहता है, उसीप्रकार अनुचित कृष्णा—जिससे राजदंढ-आदिका खतरा हो ऐसा लोभ—त्याग देनेसे ही शरीर स्वस्थ और मन निश्चिन्त रहता है ॥२६॥

किसी विद्वान् नीतिकार^३ ने भी कहा है कि 'बुद्धिमान पुरुषोंको शरीरकी रक्षाके लिये कृष्णा—लालच—नहीं करनी चाहिये । क्योंकि शरीरके विद्यमान रहनेपर धन प्राप्त होता है, परन्तु अन्यायका धन क्रमानेसे शरीर स्थिर नहीं रहता—राजदंढ आविके कारण नष्ट होजाता है ॥१॥'

इति वार्ता-समुद्देशः—

१ 'अप्रियमप्यौषधं पीयते' इसप्रकार मु० भू० प्रतिमें अशुद्ध पाठ है, मालूम पड़ता है कि लेखककी असावधानीसे ऐसा हुआ है, इसीसे अर्थ-समन्वय टीका नहीं होता । यदि इसके स्थानमें 'अप्रियेनाप्यौषधं पीयते' ऐसा पाठ होता, तो अर्थसमन्वय व्याकरण और सं० टी० पुस्तकके अनुकूल होसकता या कि रोगीके द्वारा भी इतरह की-कड़वी और मीठी-औषधि पीजाती है । सम्पादकः—

२ तथा च वादीभसिंह सूरिः—परस्पराधिरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते । अनेगैलमतः सौख्यमवर्गोऽप्यनुकमात् ॥१॥

३ तथा च वर्गः—धर्मार्थकामपूर्वैश्च भवजैवि विषैरपि । यथा सौख्यार्थिकं परयेत्तथा कार्यं विपरिचिता ॥ १ ॥

४ तथा च कारिणीनितिकारः—शरीरार्थं न कृष्णा च प्रकर्मन्वा विचक्षते । शरीरेण सत्ता विस्तं लभ्यते न तु तद्धनैः ॥१॥

६ दण्डनीति-समुद्देश ।

आह्वानः—

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥ १ ॥

अर्थः—जिसप्रकार आयुर्वेद-शास्त्रके अनुकूल औषधि-सेवनसे रोगीके समस्त विकृत दोष—वात, पित्त, कफादिका विकार एवं उससे होनेवाले बुखार-गलगण्डादि समस्त रोग—विशुद्ध—शान्त (नष्ट) हो जाते हैं, वही प्रकार अपराधियोंको दंड देनेसे उनके समस्त अपराध विशुद्ध—नष्ट हो जाते हैं ।

आलोचनाने भी कहा है कि 'अपराधियोंको दंड देनेसे राष्ट्र विशुद्ध—अन्यायके प्रचारमें रुकावट आती है, परन्तु दंड-विधानके बिना देशमें मात्स्यन्याय—बड़ी मछलीके द्वारा छोटी मछलीको मारना (बलवान् व्यक्तियोंके द्वारा निर्बलोंका सताया जाना—आदि अन्यायका प्रचार)की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है ॥ १ ॥'

अर्थः—समस्त राजतंत्र—राज्यशासन—दंडनीतिके आश्रयसे संचालित होता है । इसका मुख्य प्रयोजन—प्रजापीडक अन्यायी-आततायियों (दुष्टों) का संशोधन—निग्रह करना है । प्रायः प्रजापति दंडके भयसे ही अपने ९ कर्त्तव्योंमें प्रवृत्त और अकर्त्तव्योंसे निवृत्त होते हैं; इससे प्रजामें मात्स्यन्यायका प्रचार नहीं हो पाता और इसके परिणामस्वरूप अप्राप्त राज्यादिकी प्राप्ति, संरक्षितकी वृद्धि और वृद्धिगत इष्ट पदार्थोंको समुचित स्थानमें लगाना होता है ।

निष्कर्षः—अतः राष्ट्रको प्रजा-कण्टकोंसे सुरक्षित रखना, प्रजाको धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंका पालन कराना, उसे कर्त्तव्यमें प्रवृत्त और अकर्त्तव्यसे निवृत्त करना, विशाल राज्यसंग्रह द्वारा अप्राप्त राज्यादिकी प्राप्ति, प्राप्तकी रक्षा, रक्षितकी वृद्धि—आदि दंडनीतिका प्रधान उद्देश्य है । नीतिकार चाणक्य ने भी उक्त बातको स्वीकार किया है ॥ १ ॥

अर्थः—

वयादोषं दण्डप्रहायनं दंडनीतिः ॥ २ ॥

अर्थः—अपराधीको उसके अपराधके अनुकूल दण्ड देना दंडनीति है—जिस व्यक्तिने जैसा अपराध किया है, उसे उसके अनुकूल दण्ड देना वही दंडनीति है । उदाहरणमें—जैसे जुर्माना-योग्य अपराधीको अपराधानुसार जुर्माना करना न्यायोचित दंडनीति है और इसके विपरीत कारावास—जेलखाने—की सजा अन्यायपूर्ण—तीव्रण दंड है इत्यादि ।

अर्थः—अपराधियों को दण्डः स राष्ट्रश्च विशुद्धये । [विना येन न सन्देहो] मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥ १॥

अर्थः—उक्त श्लोकका सी सरा अर्थ 'विना येन च सन्देहो' ऐसा सं. टी० पुस्तकमें संकलित था जिसकी अर्थ-व्याख्या भी होती थी, अतः हमने उक्त संशोधन करके अर्थ-समन्वय किया है । सन्वादकः—

अर्थः—अपराधियों को दण्डः स राष्ट्रश्च विशुद्धये । [विना येन न सन्देहो] मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥ १॥

गुरु^१विद्वान् ने कहा है कि 'राजाको स्मृतिशास्त्रमें निर्देश किये हुए के अनुसार अपराधियोंको उनके अपराधानुकूल दंडदेना चाहिये, जो राजा इसमें न्यूनधिक--अमली-दण्डी--संश्लेषित है, वह अपराधियोंके पापोंसे क्षिप्त होजाता है; अतः वह विशुद्ध नहीं होता ॥ १ ॥'

विशद-विमर्शः—नीतिकार चाणक्य^२ ने भी कहा है कि 'राजाका कर्तव्य है कि वह पुत्र और शत्रु को उनके अपराधके अनुकूल पक्षपात-रहित होकर दंड देवे । क्योंकि अपराधानुकूल—न्यायोचित दंड ही इसलोक और परलोककी रक्षा करता है । दंडनीतिके आश्रयसे उसे प्रजाके धर्म, व्यवहार और चरित्रकी रक्षा करनी चाहिये । यद्यपि न्यायालयमें न्यायाधीश—जज—के सामने मुकदमें में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने २ पक्षको सच्चा कहते हैं एवं वकीलोंके द्वारा अपने २ पक्षको सत्य सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहते हैं । परन्तु उनमें से सच्चा एक ही होता है । ऐसी अवस्थामें दोनों पक्षोंको ठीक २ निर्णय करने वाले निम्न लिखित हेतु हो सकते हैं ।

१ दृष्टदोष—जिसके अपराधको देख लिया गया हो, २ स्वयंवाद—जो स्वयं अपने अपराधको स्वीकार कर लेवे, ३ सरलता पूर्वक न्यायोचित जिरह, ४ कारणोंका उपस्थित कर देना । ५ शपथ—कसम दिलाता । उक्त पाचों हेतु यथावश्यक अर्थके साधक हैं अर्थात् अपराधीके अपराधको समर्थन करने वाले हैं । वादी-प्रतिवादीयोंके परस्पर विरुद्ध कथनका यदि उक्त हेतुओं से निर्णय न होसके तो साक्षियों और खुफिया पुलिसके द्वारा इसका अनुसन्धान कर अपराधीका निश्चय करना चाहिये ।

निष्कर्षः—उक्त प्रबल युक्तियों द्वारा अपराधियोंके अपराधका निर्णय करके यथादोष दंडविधान करनेसे राष्ट्रकी सुरक्षा होती है, अतःअपराधानुरूप दंड विधानको 'दंडनीति' कहा गया है ॥ २ ॥

दंड-विधानका उद्देश्यः—

प्रजापालनाय राज्ञा दंडः प्रणीयते न धनार्थम् ॥३॥

अर्थः—राजाके द्वारा प्रजाकी रक्षा करनेके लिये अपराधियोंको दंडविधान किया जाता है, धन-प्राप्तिके लिये नहीं ।

१ तथा च गुरुः—

स्मृत्युक्तवचनैर्दण्डं हीनाधिक्यं प्रपातयन् । अपराधकर्पापेन क्षिप्यते न विशुद्ध्यति ॥ १ ॥

२ तथा च चाणक्यः—

दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति । राजा पुत्रे च शत्रौ च ययादोषं समं धृतः ॥ १ ॥

अनुशासद्धि धर्मेषु व्यवहारेण संस्थया । न्यायेन च चतुर्थेन चतुर्भूतां सहीं जयेत् ॥ २ ॥

दृष्टदोषः स्वयंवादः स्वपक्षपरपक्षयोः । अनुयोगार्जनं हेतुः शपथश्चाथसाधकः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तार्थव्याघाते धाक्षिण्यकारणे । चारुस्तान्च निष्पाते प्रवेष्टव्यः पराजयः ॥ ४ ॥

कौटिलीय अर्थशास्त्र धर्मस्थानीय तृ० अधि० अ० १ ।

शुक्र * विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा धनके लोभसे हीनाधिक—कमती-बढ़ती—जुमाना करता उसके राज्यकी वृद्धि नहीं होती और इसके परिणामस्वरूप उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—राजाको प्रजा-कण्टकों—दुष्टों—से राष्ट्र को सुरक्षित रखनेके लिये अपराधियोंको आरोप दंड देना चाहिये, धनदिके लोभसे नहीं ॥ ३ ॥

निष्कर्ष द्विद्वान्वेषी वैद्य और राजाकी कड़ी आलोचना—

स किं राजा वैद्यो वा यः स्वजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति ॥ ४ ॥

अर्थ—जो राजा अपने निर्वाहके लिये प्रजाजनोंमें दोषों-अपराधों-का अन्वेषण करता है—धनके लोभसे साधारण अपराधोंमें भी अधिक जुमाना-आदि करता है, वह राजा नहीं किन्तु प्रजाका शत्रु है। जो वैद्य अपने निर्वाहके लिये जनताके रोगोंका अन्वेषण करता है—रोगोंको बढ़ाने की औषधियाँ देता है—वह वैद्य नहीं किन्तु शत्रु है ॥ ४ ॥

शुक्र* नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा दूसरोंके कहने से प्रजाको दण्ड देता है उसका राज्य नष्ट होजाता है, इसलिये उसको सोच-समझ कर दंड देना चाहिये ॥ १ ॥

राजाको सैनिक शक्तिका संगठन प्रजामें अपराधोंका अन्वेषण करने के अभिप्राय से नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे प्रजा उससे असन्तुष्ट होकर शत्रुता करने लगती है और उसके परिणामस्वरूप उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥ २ ॥

राजाके द्वारा अप्राप्त—उपयोगमें न आने योग्य—धनः—

दंड-वृत्त-मृत-विस्मृत-चौर-पारदारिक-प्रजाविप्लवजानिं द्रव्याणि न राजा स्वयमुपभुञ्जीत ॥ ५ ॥

अर्थ—राजाको अपराधियोंके जुमानेसे आए हुए, जुआमें जीते हुए, लड़ाईमें भारे हुए, नदी, तालाब और रास्ता आदिमें मनुष्योंके द्वारा भूले हुए धनका और चोरोंके धनका तथा पति-पुत्रादि कुटुम्बीसे रहित स्त्रीका धन या रक्षक-हीन कन्याका धन और गदर बगैरहके कारण जनताके द्वारा छुटेहुए धनोंका उपयोग नही करना चाहिये।

भावार्थः—वस्तु प्रकारके धनको राजा स्वयं उपभोग न करे, परन्तु उसे लेकर उसका समाज और

अथ शुक्रः—यो राजा धनलोभेन हीनाधिककरप्रियः । तस्य राष्ट्रं भजेन्नाशं न स्यात् परमवृद्धिमतः ॥ १ ॥

अथ शुक्रः—यो राजा पराकाष्येन प्रजादंडं प्रयच्छति । तस्य राज्यं क्षयं प्राप्तिं तस्मात्प्राक्प्रदण्डयेत् ॥ २ ॥

विद्वान्वेषयति चेत् नृपस्तं न पोषयेत् । तस्य तन्नाशमन्वेति [तस्मात्प्राक्प्रदण्डयेत्] अत्र

उक्त श्लोक का अनुरूप चरण इसके संशोधित अर्थ परिवर्तित किया है; क्योंकि 'तं' हीन पुस्तक में अशुद्ध हो चुका था। अर्थात्—

राष्ट्रकी रक्षामें उपयोग करे ॥५॥

शुक^१ नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा धोर बगैरहके छोटे धनको अपने खजानेमें जमा करता है उसका समस्त धन नष्ट होजाता है ॥१॥'

अन्याय-पूर्ण दंडसे होनेवाली हानिका निर्देशः—

दुष्प्रणीतो हि दंडः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥६॥

अर्थः—जो राजा अज्ञानतापूर्वक काम और क्रोधके बशीभूत होकर दंडनीति-शास्त्रकी भयार्था—अपराधके अनुकूल पात्रादिका विचारकरके दंड देना—को उल्लंघन करके अनुचित ढंगसे दंड देता है उसमें समस्त प्रजाके लोग द्वेष करने लगते हैं ॥ ६ ॥

शुक^२ नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार छोटे मित्रकी संगतिसे समस्त सदाचार नष्ट होजाता है, उसीप्रकार अन्याय युक्त दंडसे—अनुचित जर्माना—आदि करनेसे—भिला हुआ राजाका समस्त धन नष्ट होजाता है ॥१॥ इसलिये विवेकी राजाको काम, क्रोध, और अज्ञानसे दिये गये दंड द्वारा संचित पाप-पूर्ण धनका छोटे मित्रकी तरह त्याग कर देना चाहिये ॥२॥

अपराधियोंको दंड-विधान न करनेसे हानिः—

अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुत्पादयति, बलीवानवलं प्रसति इति मान्म्यन्यायः ॥७॥

अर्थः—यदि अपराधियोंको दंड-प्रयोग सर्वथा रोक दिया जाय, तो प्रजामें मात्स्यन्याय—बड़ी मछली के द्वारा छोटी मछलीका खाया जाना—उत्पन्न होजायगा । अर्थात् जिसप्रकार बड़ी मछली छोटी मछलीको खाजाती है उसीप्रकार बलवान् पुरुष निर्बलोंको कष्ट पहुँचानेमें तत्पर होजावेगा ।

भावार्थः—इसलिये न्यायवान् राजाको अपराधके अनुकूल—न्याय युक्त—दंड देकर प्रजाकी श्रीवृद्धि करनी चाहिये ॥७॥

शुक^३ विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा पापयुक्त दंड देता है परन्तु दंड देने योग्य दुष्टों—अपराधियों—को दंडित नहीं करता, उसके राज्यकी प्रजामें मात्स्यन्यायका प्रचार होजाता है—सबल निर्बलको सताने लगता है और ऐसा होनेसे सर्वत्र अराजकता फैल जाती है ॥१॥

इति दंडनीति समुद्देशः ।

१ तथा च शुकः—दुष्प्रणीतानि कृष्याणि कोशे क्षिपति यो नृपः । स याति धनं एष्यगृहार्थं लब्धिर्यथा ? ॥१॥

२ तथा च शुकः—यथा कुमित्रसंगेन सर्वं शीलं विनश्यति । तथा पापोत्थदंडेन मित्रं नश्यति तद्वत् ।

किञ्चित्कामेन क्रोधेन किञ्चित्किञ्चित् जादयतः । तस्माद् दूरेण मत्तयाज्यं पापवित्तं कुमित्रवत् ॥२॥

३ तथा च शुकः—दण्ड्यं दण्डयति नो यः परदण्डनमन्विनः । तस्य राष्ट्रे न सन्देहः मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः ॥३॥

१० मंत्रि-समुद्देशः

बुद्धि-युक्त—मंत्री-आदिकी सलाह माननेवाले—राजाका निर्देशः—

मंत्रि-पुरोहित-सेनापतीनां यो युक्त-मुक्तं कराति स आहार्यबुद्धिः ॥१॥

अर्थः—जो राजा मंत्री, पुरोहित और सेनापतिके कहे हुए धार्मिक एवं आर्थिक सिद्धान्तोंका पालन करके आहार्यबुद्धि-युक्त कहते हैं।

निर्णयः—इसलिये राजाको अपने राज्यकी श्रीवृद्धिके लिये उक्त तीनोंकी योग्य बात माननी चाहिए ॥१॥

विद्वान् विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा मंत्री, पुरोहित तथा सेनापतिके हितकारक वचनोंको नहीं माने, वह दुर्योधन (धृतराष्ट्रका बड़ा पुत्र) राजाकी तरह नष्ट होजाता है ॥१॥'

आहार्यबुद्धियुक्त—प्रधानमंत्री-आदिके हितकारक उपदेश (सलाह) को माननेवाले—होनेके लिये द्वारा समर्थनः—

असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगाद् किमारीरति देवशिरसि ॥२॥

अर्थः—पुष्पमालाके आकारको प्राप्त हुए तंतु सुगन्धि-रहित होने पर भी पुष्पोंको संगति—संयोग—के देवताओंके शिर पर धारण नहीं किये जाते ? अवश्य किये जाते हैं।

अवधार्यः—जिसप्रकार लोकमें निर्गन्ध तंतु भी पुष्पोंके संयोगसे देवताओंके मस्तकपर धारण किये जाते हैं, वसीप्रकार मूल्य एवं असहाय राजा भी राजनीति विद्यामें निपुण और सुयोग्य मंत्रियोंकी अनुकूल सलाहोंके द्वारा अजेय होजाता है।

निर्णयः—प्रायः राजाकी बुद्धि कामत्रिलासके कारण नष्टप्राय और विभ्रम-युक्त होती है; अतएव अज्ञान, विमर्श, यान, आसन और द्वंद्वीभाव आदि पाङ्गुण्य-नीतिके प्रयोगमें गल्ली करने लगता है, तब वह मंत्री, पुरोहित और सेनापतिकी उचित सभ्यतिको मान लेता है, तब वह ठीक रास्तेपर चलता है और ऐसा होनेसे उसके राज्यकी श्रीवृद्धि होती है ॥२॥

'वसन्तभवेव' विद्वान्ने लिखा है कि 'साधारण मनुष्य भी उत्तम पुरुषोंकी संगतिसे गौरव—महत्त्व प्राप्त करते हैं, जिसप्रकार तंतु पुष्प-मालाके संयोगसे शिर पर धारण कर लिये जाते हैं ॥१॥'

विद्वान्ने द्वारा समर्थनः—

महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥३॥

अर्थः—अचेतन और प्रतिमाको आकृति-युक्त पाषाण भी विद्वानोंके द्वारा प्रतिष्ठित होनेसे देव हो जाता है—देवकी तरह पूजा जाता है। तब 'अचेतन पुरुषका महापुरुषोंकी संगतिसे उन्नत होजाना' इसे समझा ही क्या है ? अर्थात् अवश्य उन्नत होजाता है ॥३॥

अर्थः—जो राजा मंत्रिपूषाणां न करोति हितं वचः । स शीघ्रं नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः ॥१॥

अर्थः—वसन्तभवेवः—उत्तमानां प्रसङ्गेन लघवो यान्ति गौरवं । पुनमाजाप्रसङ्गेन सूत्रं शिरसि धार्यते ॥२॥

हारीत^१ विद्वानने लिखा है कि 'वचन' पुरुषोंमें स्थापित या प्रतिष्ठित पाषाण भी देव होजाता है, तब क्या उनकी संगतिसे मनुष्य उत्तम नहीं होसकता ? अवश्य होसकता है ॥१॥

निष्कर्षः—इसलिये राजाको या सर्व साधारण मनुष्योंको महापुरुषोंकी बात माननी चाहिये ॥३॥
उक्त सिद्धान्तका ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा समर्थनः—

तथा चानुश्रूयत विष्णुगुप्तमनुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्यपदमवासेति ॥४॥

अर्थः—इतिहास बताता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य (मगध नन्दका पुत्र) ने स्वयं राज्यका अधिकारी न होनेपर भी विष्णुगुप्त—चाणक्य नामके विद्वान्के अनुमहसे साम्राज्य पदको प्राप्त किया ॥४॥

शुक्र^२ नामके विद्वानने लिखा है कि 'जो राजा राजनीतिमें निपुण महामात्य—प्रधान मंत्री—की नियुक्ति करनेमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं करता, वह अकेला होनेपर भी राज्यश्रीको प्राप्त करता है। जिसप्रकार चन्द्रगुप्त मौर्यने अकेले होने पर भी राज्यपद प्राप्तके विद्वान् महामात्यकी सहायतासे राज्यश्रीको प्राप्त किया था ॥१॥'

प्रधान मंत्रीके सद्गुणोंका निर्देशः—

१ तथा च हारीतः—पाषाणोऽपि च विबुधः स्थापितो यैः प्रजायते । उत्तमैः पुरुषैस्तैस्तु किं न स्यात्मानुषोऽपरः ॥१॥

इतिहास बताता है कि ३२२ ई० पू० में नन्द वंशका राजा महापद्मनन्द मगधका सम्राट् था। नन्दवंशके राजा अत्यन्तारी शासक थे, इसलिये उनकी प्रजा उनसे अप्रसन्न होगई और अन्तमें विष्णुगुप्त—चाणक्य नामके ब्राह्मण विद्वान्की सहायतासे कुम वंशके अन्तिम राजाको उसके सेनापति चन्द्रगुप्त मौर्यने ३२२ ई० पू० में गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा। मैगास्थनीज नामक यूनानी राजदूतने जो कि चन्द्रगुप्तके दरबारमें रहता था, चन्द्रगुप्तके शासन प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है। इसने २४ वर्ष पर्यन्त नीतिन्यायपूर्वक राज्य शासन किया। क्यापरिसरनागर में भी लिखा है कि नन्द राजा के पास ६६ करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ थीं। अतएव इसका नाम नयनन्द था। इसी नन्दको मरवा कर चाणक्यने चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध की राजगद्दी पर बैठाया। किन्तु इतने विशाल साम्राज्यके अधिपति की मृत्युके बाद सरलतासे उक्त साम्राज्यको हस्तगत करना जरा टेढ़ा खीर था। नन्दके मंत्री राक्षस-आदि उसकी मृत्युके बाद उसके वंशजोंको राजगद्दी पर बिठा कर मगध साम्राज्यको उसी वंशमें रखनेकी चेष्टा करते रहे। इन मंत्रियोंने चाणक्य तथा चन्द्रगुप्तकी सम्मिलित शक्तिका विरोध बड़ी दृढ़तासे किया। कवि विशाखदत्त मुद्राराक्षसमें लिखने हैं कि शक, यवन, कम्बोज व पारसीक आदि जाति के राजा चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वरकी सहायता कर रहे थे। करीब ५-६ वर्षों तक चन्द्रगुप्तको नन्दवंशके मंत्रियोंने पाटलिपुत्रमें प्रवेश नहीं करने दिया, किन्तु विष्णुगुप्त-चाणक्य (काटिल्य) की कुटिल नीति के सामने इन्हें सिर झुकांना पड़ा। अन्तमें विजयी चन्द्रगुप्तने चाणक्य की सहायतासे नन्दवंशका मूलोच्छेद करके दुर्गाप्रसादमें बड़े सामगोइके साथ प्रवेश किया।

निष्कर्षः—चाणक्यने विपक्षियोंके प्रयोगसे नन्दोंको मरवाकर अपनी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले चन्द्रगुप्त मौर्यको मगधप्रान्तके साम्राज्य पद पर आसीन किया। इसका पूर्ण वृत्तान्त पाठकों को कवि विशाखदत्तके मुद्राराक्षसमें तथा अन्य कथासरित्सागर आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिये। विस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखना चाहने।

२ तथा च शुक्रः—महामर्षे बरो राजा निर्विकल्पं करोति यः । एकशोऽपि मही लेभे दीनोऽपि बृहत्तो यथा ॥२॥

आचारविशेषविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनमव्यभिचारिणमधीता

व्यवहारप्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्धं च धर्मिणं कुर्वीत ॥५॥

भावार्थ—बुद्धिमान् राजा या प्रजाको निम्नप्रकारके गुणोंसे विभूषित प्रधान मंत्री नियुक्त करना चाहिये—भाषाण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णोंमें से एक हो किन्तु शूद्र न हो, अपने देश आयावर्ष न हो, किन्तु विदेशका रहनेवाला न हो, सदाचारी अर्थात् दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति करनेवाला न हो, अविप्र आचरणवाला हो। जो कुलीन हो—जिसके माता और पिताका पक्ष (वंश) विशुद्ध हो (जो कि सदा सत्कर्म करनेवाले माता पितासे उत्पन्न हो)। जो जुआ खेलना, मद्यपान करना और पास्त्रीसेवन करनेवालोंसे दूर हो। जो द्रोह करनेवाला न हो—जो दूसरे राजासे मिलता हुआ न होकर केवल अपने देशकी सहायता के लिये ही भ्रष्टाचार हो। व्यवहार विद्यामें निपुण—नीतिज्ञ (जिसने समस्त व्यवहार शास्त्रों-नीतिशास्त्रों का अध्ययन किया हो)। युद्ध विद्यामें निपुण तथा शत्रु-चक्रास्त्र परीक्षामें निपुण हो अथवा कपटकारके कल-कपटसे रहित हो अर्थात् दूसरेके कपटको जाननेवाला होनेपर भी स्वयं कपट करनेवाला न हो।

भावार्थ—राजाको स्वयं प्रधान मंत्री द्विज, खेतीवासी, सदाचारी, कुलीन, व्यसनोसे रहित, स्वामीसे प्रेम करनेवाला, नीतिज्ञ, युद्ध-विद्या-विशारद और निष्कपट, इन नौ प्रकारके गुणोंसे विभूषित होना चाहिये। जो उसके राज्यकी चन्द्रवत् उन्नति (वृद्धि) होसकती है अन्यथा नहीं ॥५॥
इसके अतिरिक्त गुणोंमें से 'स्वदेशवासी' गुणका समर्थन—

समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान् ॥६॥

भावार्थ—समस्त पक्षपातोंमें अपने देशका पक्षपात प्रधान माना गया है।

इतिहास नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा अपने देशवासी मंत्रीको नियुक्त करता है, वह अधिकार आनेपर उससे मुक्त होजाता है ॥ १ ॥'

भावार्थ—राजमंत्रिके उक्त ६ गुणोंमें से 'अपने देशका रहनेवाला' यह गुण मुख्य माना गया है। क्योंकि दूसरे देशका मंत्री अपने देशका पक्ष करनेके कारण कभी राज्यका अहित भी कर सकता है। अतः राजा मंत्रीको अपने देशका निवासी होना आवश्यक है।

तिर्कर्ष—जहाँपर 'दूसरे देशका रहनेवाला मनुष्य राजमंत्री नहीं होसकता' इस बातका समर्थन किया है वहाँपर दूसरे देशका रहनेवाला व्यक्ति जो कि प्रजाके आचार-विचारसे शून्य है, शासक-प्रकार ही हो सकता है? एवं उसके शासनमें रहनेवाली प्रजाको किस प्रकार सुखका ज्ञान हो सकता है? क्योंकि दूसरे देशका निवासी शासक अपने देशके पक्षपातरूपी विशास होनेके कारण अपनी प्रजाका क्या हित कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। अतः राजा को पक्षपात स्वयं सोच सकते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—स्वदेशजममार्गः यः कुर्वन् वृत्तिविरहितः । आत्मकलेन सध्यामेव स तेन विमुक्तये ॥ १ ॥

दुराचारसे होनेवाली हानिका निर्देशः—

विषनिषेक इव दुराचारः सर्वान् गुणान् दूषयति ॥ ७ ॥

अर्थः—दुराचार—खोटा आचरण (कुत्सित और निध कर्मोंमें प्रवृत्ति) विष-भक्षणकी तरह समस्त गुणों नाश कर देता है,—अर्थात् जिसप्रकार विषका भक्षण जीवन नष्ट कर देता है उसी प्रकार दुराचार भी विद्या, कला और नीतिमत्ता, आदि मानवोचित गुणोंको अथवा राज्यकी वृद्धि और रक्षा करनेवाले संधि और विग्रह आदि बाह्यगुणको नष्ट कर देता है ।

अत्रि^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा दुराचारी मंत्रीको नियुक्त करता है, वह उसकी खोटी सलाह से अपने राजोचित सबगुणों—संधि—विग्रह आदि बाह्यगुण—को खोबैठता है—नष्ट कर डालता है ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—राजाका प्रधान मंत्री सदाचारी होना चाहिये, अन्यथा—उसके दुराचारी होनेपर राज्यवृद्धिका मूल (राजनैतिक ज्ञान) और सैनिक संगठन—आदि सद्गुणोंके अभावसे राज्यकी क्षति सुनिश्चित रहती है ॥ ७ ॥

प्रधान मंत्रीके कुलीन—उच्चकुलवाले—न होनेसे हानिः—

दुष्परिजनो मोहेन कुतोऽप्यपकृत्य न जुगुप्सते ॥ ८ ॥

अर्थः—नीच कुलवाला मंत्री राजासे द्रोह करके भी मोह के कारण किसी से भी लज्जा नहीं करता ।

यम^२ विद्वान्ने भी कहा है 'कि स्वामीके साथ द्रोह—जर्दार्ह—भगड़ा करने पर भी नीच, कुलवालेको लज्जा नहीं होती; अतः बुद्धिमान् राजाको नीच कुलका मंत्री नहीं बनाना चाहिये ॥ १ ॥'

भावार्थः—कुलीन पुरुष अज्ञानबश यदि कुछ दोष—अपराध करता है तो उसे क्षमा होती है, परन्तु नीच कुलवाला निर्लज्ज—वेशर्मा होता है; इसलिये राजाको उच्च कुलका मंत्री बनाना चाहिये ॥८॥ मद्यपान—आदि व्यसनोमें आसक्त मंत्रीसे होनेवाली हानि—

सव्यसनसचिवो राजारुद्व्यालगाज इव नासुलभोऽपायः^३ ॥ ९ ॥

अर्थः—जिस राजाका मंत्री जुआ, मद्यपान और परकलत्रसेवन—आदि व्यसनोमें फसा हुआ है, वह राजा पागल हाथीपर चढ़े हुए मनुष्यकी तरह रीझ नष्ट होजाता है ॥ ९ ॥

राजासे द्रोह करनेवाले मंत्रीका स्वरूपः—

किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते ॥ १० ॥

१ तथा च अत्रिः—दुराचारममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः । अपार्होस्तस्य मंत्रेण गुणान् सर्वान् प्रणाशयेत् ॥ १ ॥

२ तथा च यमः—अकुलीनस्य नो लज्जा स्वामित्रोहे कृते सति । [मंत्रिणं कुलहीनं च तस्मात्तस्याप्येदुषः] ॥ १ ॥

नोटः—इत श्लोकका तीसरा चरण संशोधित एवं परिवर्तित किया गया है तथा ४ वे चरणकी व्यवचना हमने स्वयं की है; क्योंकि सं० टी० पुस्तकमें अशुद्ध रूप हुआ था । सभादक—

३ 'सुलभापायः' ऐसा पाठ मु० और इ० लि० मू० प्रतियों में है, परन्तु अर्थ-मेद कुछ नहीं है ।

प्रश्न—उस मंत्री, मित्र या सेवकसे क्या लाभ है ? जो विपत्तिके समय अपने स्वामी या मित्रकी सहायता नहीं करता किन्तु उल्टा उससे द्रोह करता है, चाहे वह कितना ही विद्वान् और व्यवहारशील क्यों न हो ।

प्रश्नार्थ—जबकि स्वामीने जो कारनेदाले मंत्री और सेचकोंका रखना निरर्थक है; अतएव अपने राजभंडीको राज-द्रोही नहीं होना चाहिये ॥ १० ॥ -

राजा विहामने कहा है कि 'जो विपत्ति पड़नेपर द्रोह करता है, उस मंत्रीसे राजाका क्या लाभ है? वह सबस्त गुणोंसे विभूषित ही क्यों न हो ॥ १ ॥'

प्राप्तिका समयतः—

भोन्येऽसम्मतोऽपि हि सुलभो लोकः ॥ ११ ॥

१११. **वर्कः**—यह निश्चित है कि भोजनकी वेलामें बिना बुलाये आनेवाले लोग बहुत हैं । अर्थात्—सुखके लिये मंत्री लोग सहायक होजाते हैं किंतु दुःखमें कोई सहायक नहीं होता । अतएव विपत्तिमें सहायता देनेवाला पुरुष राजमंत्री पदके योग्य है अन्य नहीं ॥ ११ ॥

‘सर्वभूतेश्वर’ विद्वान्ने कहा है कि ‘धनादिक वैभवके प्राप्त होनेपर दूसरे लोग भी कुटुम्बियोंकी निवहार करते हैं; अतः राजाओंकी श्रिपत्तिके समय सहायता करने वाले मंत्रीका मिलना दुर्लभ है। इसीसे कलक भो क्यों न हो ॥१॥’

बंगाल-प्रशासनिक रहस्यको न जाननेवाले मंत्रीका दोष:—

किं तस्य भक्त्या यो न वेत्ति स्वामिनो हितोपायमहितप्रतीकारं वा ॥१२॥

शिवः—तो मंत्री अपने स्वामी की उन्नतिके उपाय (कोष-वृद्धि-आदि) और दुःखोंका प्रतीकार—शत्रु-विनाश-आदि—को नहीं जानता, किन्तु केवल भक्तिमात्र दिखाता है 'उस मंत्रीकी केवल भक्तिसे क्या फल है ? कोई लाभ नहीं ॥६२॥

साधारणः—जो व्यक्ति राजाका हित-साधन और अहित-प्रतीकारके उपायोंको नहीं जानता, किन्तु उसकी शक्तिमात्र करता है, उसे राजमन्त्री बनानेसे राज्यकी श्रीवृद्धि नहीं हो सकती, इसलिये राजा ऐसी-सी विद्यामें प्रवीण एवं कर्तव्य-निपुण पुरुषको मन्त्री पद पर नियुक्त करना चाहिये ॥१२॥

गुरुः—किं तेन मन्त्रिणा योऽथ व्यसने समुत्थिते । व्यभिचारं करोत्येव गुरौः सर्वैर्युतोऽपि वा ॥ १ ॥

“सर्वमिह हि सुखं लोकोः” इसप्रकारका वाक्यान्तर मु० एवं इ० लि० मू० प्रतियोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ है कि भोजन करनेवालोंकी सभामें बहुत से मनुष्य सरलतासे प्रविष्ट होजाने हैं। सारांश यह है कि सुखके समय में सब मिलना सुख है, परन्तु संकटके समय उनका मिलना दुर्लभ है।

निष्कर्षः—अतएव विपक्षिण सहायक पुरुष-भेद ही प्रधानमंत्री पदके योग्य है।

अथ ब्रह्मणे देवः—समृद्धिकाले संप्राप्ते परोऽपि स्वजनायने । अकुलीनोऽपि चामाश्वो दुर्लभः स मदीयताम् ॥१॥

गुरु' सिद्धान्तने कहा है कि 'जो व्यक्ति राजाकी धन-प्राप्तिके उपाय और उसके शत्रु-नाश पर ध्यान नहीं देता, उसके जाने हुए शिष्टाचार और नमस्कार आदि व्यवहारोंसे क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं ॥१५॥

रास्त्रविद्यामें निपुण होकरके भी भीरुता दिखानेवाले मंत्रीका दोषः—

किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मन्त्रिणा यस्यात्मरक्षणोऽप्यस्त्रं न प्रभवति ॥१६॥

अर्थः—जिसका रास्त्र—खड्ग और धनुष-आदि—अपनी रक्षा करनेमें भी समर्थ नहीं है ऐसे रास्त्र विद्यामें प्रवीण सहायक मंत्रीसे राजाका क्या लाभ होसकता है ? कोई लाभ नहीं होसकता ।

भावार्थः—जो व्यक्ति युद्ध-कलामें प्रवीण होकरके भी वीररस-पूर्ण—बहादुर है, वही राज-मंत्री होनेके योग्य है । परन्तु जो केवल रास्त्र-विद्यासे परिचित होकर कायरता दोषसे अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता वह (हरपोक) राजमंत्री होनेका अधिकारी नहीं है ॥१७॥

उपधा—शत्रु-चेष्टाकी परीक्षा का निमित्तः—

धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परितोषपरीक्षणमुपधा ॥१८॥

अर्थः—रात्रुके धर्म, अर्थ, काम और भयकी जानकारीके लिये—अमुक शत्रुभूत राजा धार्मिक है ? अथवा अधार्मिक है ? उसके स्वजानेमें प्रचुर सम्पत्ति है, अथवा नहीं ? वह कामान्ध है ? अथवा जितेन्द्रिय ? बहादुर है ? या हरपोक ? इत्यादि ज्ञान प्राप्त करनेके उद्देश्यसे गुप्तचरोंके द्वारा छलसे शत्रु-चेष्टाकी परीक्षा करना, यह 'उपधा' या 'उपाधि' नामका राज-मंत्रीका प्रधान सद्गुण है ।

भावार्थः—राजनीतिमें निपुण मंत्रीका कर्तव्य है कि शत्रुभूत राजाकी धर्म-निष्ठा या धर्म-शून्यताके ज्ञानके लिये धर्म-विद्यामें निपुण गुप्तचरको उसके यहाँ भेजकर उसकी राजपुरोहितसे मित्रता करावे और गुप्तचरसे कह रखे कि उसकी धार्मिकता या पापनिष्ठाकी हमें शीघ्र खबर दो । तदनन्तर शत्रुभूत राजाकी धार्मिकताका निश्चय होनेपर मंत्रीको अपने राजासे मिलकर उस शत्रु राजासे संधि कर लेनी चाहिये । यदि वह पापी प्रतीत हो तो उससे विग्रह—युद्ध करके अपने राज्यकी श्री-वृद्धि कर लेनी चाहिये । यह मंत्रीकी 'धर्मोपधा' शक्ति है ।

अर्थोपधा—इसीप्रकार मंत्री अर्थमें निपुण गुप्तचरको अपने देशकी वस्तुएँ लेकर बेचनेके बहाने से शत्रु के देश में भेजे । वह वहाँ जाकर शत्रु राजा के कोषाध्यक्ष से मित्रता करके कोष की शुद्धि का निश्चय करे । परचात् वापिस आकर मंत्री को सूचित कर देवे । यदि शत्रु राजा के पास कोष-धन-राशि अधिक है, तो मंत्री को उससे संधि कर लेनी चाहिये, यदि शत्रुका स्वजाना खाली हो रहा हो, तो उससे विग्रह करके राज्य की वृद्धि करनी चाहिये ।

१ तथा च गुरुः—किं तस्य व्यवहारार्थैर्विशतैः शुभकैरपि यो न चिन्तयते राक्षो धर्मोपायं विपुल्यम् ॥१॥

२ नु. मू. प्रति में 'अस्त्रज्ञेन' यह पद नहीं है ।

३ 'धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परितोषपरीक्षणमुपधा' ऐसा नु. एवं इ. लि. मू. प्रति में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

कामोपधा—इसी प्रकार काम शास्त्रमें प्रवीण गुप्तचर को भेजकर उसकी कंचुकीके साथ मित्रता कराके काम शुद्धिका निश्चय करें । यदि शत्रुराजा कामी हो—शत्रुकीइन परकलत्र-सेवन-आदि व्यवसनोंमें फंसा हुआ हो तो उससे युद्ध करना योग्य है । यदि जितेन्द्रिय हो तो संधि करने के योग्य है ।

भयोपधा—इसी प्रकार मंत्रीको शत्रु राजाके यहाँ शूरवीर और युद्धकलामें प्रवीण गुप्तचर भेजकर उसकी शत्रुके सेनापतिसे मित्रता करवाकर शत्रु राजाकी बहादुरी या डरपोकपनका निश्चय करें । यदि शत्रु राजा डरपोक हो तो मंत्रीको उसके साथ युद्ध छेड़ना चाहिये और यदि बहादुर हो तो उसमें संधि कर लेनी चाहिये ।

निष्कर्ष—इस प्रकार मंत्रीको चतुर गुप्तचरोंद्वारा शत्रु भूत राजाओंकी धार्मिक, आर्थिक, कामिक और भय सम्बन्धी शुद्धि का निश्चय करते रहना चाहिये । ऐसा करने वाला ही मंत्री पाङ्गुण्य—(संधि, विग्रह, यान और आमन-आदि) का उचित स्थानपर प्रयोग करके अप्राप्रराज्यकी प्राप्ति, प्राप्तकी सुरक्षा और रक्षितराज्यकी वृद्धि करनेमें समर्थ होता है ॥१४॥

शुक्र* विद्वानने कहा है 'कि राजमंत्रीको अपने-अपने विषयोंमें प्रवीण गुप्तचरोंको शत्रुभूतराजाके यहाँ भेजकर उसके पुरोहित से उसकी धर्म-शून्यता, कोषाध्यक्षसे निधेनता, कंचुकीसे विषयलम्पटता और सेनापतिसे डरपोकपनका निश्चय करके अपने राजासे सलाह करके उसके साथ विग्रह या युद्ध करना चाहिये ॥ १ ॥'

नीचकुलवाले मंत्रियोंके दोष:—

अकुलीनेषु नास्त्यपवादाद्भवम् ॥ १५ ॥

अर्थ:—नीचकुलवाले मंत्री आदि अपनी अपकीर्ति—लोकमें होनेवाली निन्दा—से नहीं डरते ।

भावार्थ:—नीच कुलका मंत्री लोकमें होनेवाली अपनी निन्दासे नहीं डरता, इसलिये वह कभी राजाका अनर्थ भी कर सकता है; अतएव राजाको कुलीन मंत्री रखना चाहिये । ॥ १५॥

मल्लभदेव* विद्वान्ने कहा है कि 'नीच कुलका व्यक्ति अपने अपकीर्तिपर ध्यान नहीं देता; इसलिये राजाको उसे मंत्री नहीं बनाना चाहिये ॥ १ ॥'

पूर्वाक्त बातका विशेष समर्थन:—

अलर्कविपक्वत् कालं प्राप्य विबुधैरे विजातयः ॥ १६ ॥

अर्थ:—नीचकुलवाले राजमंत्री वगैरह पुरुष कालान्तर में (राजाके ऊपर आपत्ति आनेपर) पातक कुलके विषयी तरह विरुद्ध होजाते हैं ।

* तथा च शुक्र:—जात्वाचरैः कथितोऽरिगम्यः धर्मार्थहीनो विषयी सभ्रीकः । पुरोहितार्थधिरतेः सकाशात्, स्त्रीरक्षकात् भैरवनेः स कार्यः ॥ १ ॥

२ तथा च मल्लभदेवः—कर्मविपक्वतां स न विनि वृक्षधत्तिवः । तस्मात्तु भूभुजा कार्यो मंत्री न कुलवर्जितः ॥ १ ॥

भावार्थः—जिसप्रकार पागल कुत्तेके दाँतका विष काटे हुये मनुष्यको उसी समय विकार पैदा नहीं करता; किन्तु वर्षाकाल आनेपर उसे कष्ट पहुँचाता है, उसी प्रकार कुलहीनमंत्री भी राजाके ऊपर आपत्ति पड़नेपर उसके पूर्वकृत दोषको स्मरण करके उससे विरुद्ध होजाते हैं; अतएव नीचकुल वाले मंत्रियोंका रखना राजाको अनुचित है ॥ १६ ॥

वादरायण^१ विद्वानने भी उक्त सिद्धान्तका समर्थन किया है कि 'जिस राजाके मंत्री नीचकुलके होते हैं, वे राजाके ऊपर विपत्ति आनेपर उसके द्वारा किये हुए पहले दोषको स्मरण करके उससे विरुद्ध होजाते हैं ॥ १ ॥

कुलीनमंत्रीका स्वरूपः—

तदमृतस्य विषत्वं यः कुलीनेषु दोषसम्भवः ॥ १७ ॥

अर्थः—कुलीन पुरुषोंमें विश्वासघात-आदि दोषोंका होना अमृतका विष होनेके समान है। अर्थात् जिस प्रकार अमृत विष नहीं हो सकता, उसी प्रकार उच्च कुलवालोंमें भी विश्वासघात आदि दोष नहीं हो सकते ॥ १७ ॥

रैभ्य^२ विद्वानने कहा है कि 'अदि अग्नि शीतल-ठंडी, चन्द्रमा उष्ण और अमृत विष होसके तब कहीं उच्च-कुलवालोंमें भी विश्वासघात-आदि दोष होसकते हैं। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि ठंडी नहीं हो सकती, चन्द्रमा गरम नहीं होसकता और अमृत विष नहीं होसकता, उसीप्रकार कुलीन पुरुष भी आपत्तिके समय अपने स्वामी-आदि से विरुद्ध होकर विश्वासघात-आदि दोष नहीं कर सकते ॥१८॥'

ज्ञानी मंत्रीका ज्ञान जिसप्रकार व्यर्थ होता हैः—

घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं मंत्रिणो यत्र न परप्रतियोधः ॥ १८ ॥

अर्थः—जिस ज्ञानके द्वारा दूसरोंको समझा कर सन्मार्ग पर न लगाया जाये, वह मंत्री या विद्वान् का ज्ञान घटमें रक्खे हुये दीपकके समान व्यर्थ है। अर्थात् जिसप्रकार उजालकर घड़े में स्थापित किया हुआ दीपक केवल घड़े को ही प्रकाशित करता है, परन्तु बाह्य वेशमें रहनेवाले पदार्थोंको प्रकाशित नहीं करता, इसलिये वह व्यर्थ समझा जाता है, उसीप्रकार मंत्री अपने राजाको और विद्वान् पुरुष दूसरों को समझानेकी कलामें यदि प्रवीण नहीं है, तो उसका ज्ञान निरर्थक है ॥१८॥

वर्ग विद्वानने कहा है 'कि जो मंत्री अनेक सद्गुणों से विभूषित होने पर भी यदि राजा को समझानेकी कलामें प्रवीण—चतुर नहीं है, तो उसके समस्त गुण घटमें रक्खेहुए दीपकके समान व्यर्थ हैं ॥१९॥'

शास्त्र ज्ञान की निष्फलताः—

तेषु शस्यमिव शास्त्रमपि निष्फलं येषां प्रतिपक्षदर्शनाद्भयमन्वयन्ति चेतांसि ॥ १९ ॥

१ तथा च वादरायणः—अमात्या कुलहीना ये मायवस्य भवन्ति ते । आपत्काले विरुध्यन्ते स्मरन्तः पूर्वदुष्कृतम् ॥२॥

२ तथा च रैभ्यः—घाद स्याच्छीतलो वह्निः सोष्णस्तु रजनोपतिः । अमृतं च विषं भावि तत्कुलीनेषु विप्रिया ॥१॥

३ तथा च वर्गः—सुगुणोऽपि यो मंत्री नृपं शक्नोति न बोधितुम् [निरर्थका भवन्त्यन्ते] गुणा घटप्रदीपवत् ॥१॥

नोटः—उक्त श्लोकके तीसरे चरणका पद्य-रचना हमने स्वयं की है, क्योंकि सं. टी० पुस्तक में नहीं था । सम्पादक—

अर्थ:—जिन वीर पुरुषोंके चित्त शत्रुओंको देखकर भयभीत होते हैं उनका शास्त्र-धारण जिस-प्रकार व्यर्थ है, उसीप्रकार जिन विद्वान् पुरुषोंके मन वादियों—विरुद्ध सिद्धान्तका समर्थन करनेवाले पुरुषों—को देखकर भयभीत होते हैं, उनका शास्त्रज्ञान भी निरर्थक है ॥१६॥

बादरायण^१ विद्वान्ते भी कहा है कि 'जिसप्रकार शास्त्र-विद्या में प्रवीण योद्धा पुरुष यदि शत्रुओं से डरता है, तो उसकी शास्त्रकला निरर्थक है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी यदि वादियोंके साथ शास्त्रार्थ-आदि करने में डरता है, तो उसका शास्त्रज्ञान भी निरर्थक है ॥१७॥'

जिस स्थिति में शास्त्र व शास्त्रज्ञान निरर्थक होता है:—

तच्छस्त्रं शास्त्रं वात्मपरिभवाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरं^२ ॥२०॥

अर्थ:—जिस वीर पुरुष का शास्त्र शत्रुओं के बढ़ते हुए वेग—आक्रमण—को नष्ट नहीं करता, उसका शास्त्र-धारण करना उसके पराभव—पराजय (हार) के लिये है। एवं जिस विद्वान् पुरुष का शास्त्र-ज्ञान वादियों के बढ़ते हुए वेग को नहीं रोकता, उसका शास्त्रज्ञान भी उसके पराजय का कारण होता है।

निष्कर्ष:—इसलिये वीर पुरुषको शास्त्रधारणका और विद्वान् पुरुष को शास्त्रज्ञानका क्रमशः उपयोग (शत्रु-निग्रह और प्रबल युक्तियों द्वारा अपने सिद्धान्तका समर्थन और परपक्ष-खंडन आदि)करना चाहिये अन्यथा—ऐसा न करनेसे उन दोनोंका पराजय अवश्यम्भावी है। ॥२०॥

नारद^३ विद्वान्ते भी कहा है कि 'जो योद्धा शत्रुके बढ़ते हुए आक्रमणको अपनी शास्त्र-कलाकी शक्तिसे नष्ट नहीं करता, वह लघुताको प्राप्त होता है। इसीप्रकार जो विद्वान् वादियोंके वेगको अपनी विद्वत्ताकी शक्तिसे नहीं रोकता, वह भी लघुताको प्राप्त होता है ॥२१॥'

कायर व मूर्ख पुरुषमें मंत्री-आदि पदकी अयोग्यता:—

न हि गली वलीवर्दो भारकर्मणि केनापि युज्यते ॥२१॥

अर्थ:—कोई भी विद्वान् पुरुष गायके बछड़ेको बोझा ढोनेमें नहीं लगाता।

भावाधे:—जिसप्रकार: बछड़ेको महान् बोझा ढोनेमें लगाने से कोई लाभ नहीं, उसीप्रकार कायर पुरुषको युद्ध करनेके लिये और मूर्ख पुरुषको शास्त्रार्थ करनेके लिये प्रेरित करनेसे कोई लाभ नहीं होता। इसलिये प्रकरणमें मंत्री को युद्धविद्या-प्रवीण व राजनीतिज्ञ होना चाहिये। कायर और मूर्ख पुरुष मंत्री पदके योग्य नहीं।

१ तथाच बादरायणः—यथा शास्त्रज्ञस्य शास्त्रं स्वर्थं विपुलताद् भयात् । शास्त्रज्ञस्य तथा शास्त्रं प्रतिवादि-भयाद् भवेत् ॥१॥

२ 'न तदस्त्रं' शास्त्रं वा, आत्मपरिभवाभावाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरं' ऐसा पाठ सु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जिसकी शस्त्र और शास्त्रकला क्रमशः शत्रुओं व वादियोंके प्रहार (हमला और लंछन) को नष्ट नहीं कर सकती, उसकी वह शस्त्र-शास्त्रकला अनुपयोगी होनेसे उसके पराजय को नहीं रोक सकती—उससे उसको विजयलक्ष्मी प्राप्त नहीं हो सकती।

३ तथा च नारदः—शत्रोर्वा वादिनो वाऽपि शास्त्रेणैवायुजेन वा । विजयमानं न हन्यादोत्रेण न लघुतां प्रजेत् ॥१॥

निष्कर्षः—अपरिपक्व होनेके कारण बड़बड़से घोभा दुवाना जिस प्रकार निरर्थक है, उसी प्रकार कायर और मूर्ख पुरुष को मंत्रीपर नियुक्त करना निरर्थक है ॥२१॥

राजाओं को षाड्गुण्य—सन्धि व विग्रह-आदि राजनैतिक कार्य—जिस विधि से करना चाहिये—

मंत्रपूर्वः सर्वोऽप्यारंभः क्षितिपतीनाम् ॥२२॥

अर्थः—राजाओं को अपने समस्त कार्यों (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, मंत्रय और द्वैधीभाव) का प्रारम्भ मंत्रपूर्वक—सुत्रोग्य मंत्रियोंके साथ निश्चय करके करना चाहिये ।

शुक्र^१ विद्वान्ने कहा है 'कि जो राजा मंत्रीके साथ बिना निश्चय किये ही सन्धि-विग्रह यान और आसन-आदि कार्य करता है, उसके वे कार्य नपुंसक-स्त्री के संभोगकी तरह निष्फल होजाते हैं ॥१॥'
मंत्र—मंत्री-आदि की सलाह—से होनेवाला लाभः—

अनुपलब्धस्य ज्ञानं, उपलब्धस्य निश्चयः, निश्चितस्य वलाधानं, अर्थस्य द्वैधस्य संशयच्छेदनं, एकदेशलब्धस्याशेषोपलब्धिरिति मंत्रसाध्यमेतत् ॥२३॥

अर्थः—सन्धि व विग्रह-आदि में उपयोगी एवं अज्ञात—बिना जाने हुए—या अप्राप्त (बिना प्राप्त किये हुए) शत्रु-सैन्य वगैरह कार्य का जानना या प्राप्त करना । जाने हुए कार्यका निश्चय करना अथवा प्राप्त किये हुए को स्थिर करना । निश्चित कार्यको दृढ़ करना या किसी कार्य में संदेह उत्पन्न होनेपर उसका निवारण करना । उदाहरणमें शत्रुभूत राजा के देश से आये हुए पहले गुप्तचरने शत्रु-सैन्य-आदि के बारे में कुछ और कहा तथा दूसरे ने उससे विपरीत कह दिया ऐसे अवसर पर तीसरे विश्वासपात्र गुप्तचर को मंजूर उक्त संशय का निवारण करना अथवा अमुक शत्रुभूत राजा से सन्धि करना चाहिये ? अथवा विग्रह—आदि करना चाहिए ? इस प्रकार का संशय उत्पन्न होनेपर प्रबल प्रमाणों से उसको निवारण करना और एक देश प्राप्त किये हुए भूमि-आदि पदार्थों को पूर्ण प्राप्त करना अथवा एक देश जाने हुए कार्यके शेष भाग को भी जान लेना ये सब कार्य राजाको मंत्र—मंत्री आदि की सलाह से सिद्ध करना चाहिए । अथवा उक्त मंत्रसे इन सब कार्योंकी सिद्धि होती है ।

गुरु^२ विद्वान्ने कहा है कि 'राजनीतिके विद्वान्-राजा को बिना जानी हुई शत्रु-सेना को गुप्तचरों के द्वारा जान लेनी चाहिये और जानने के पश्चात् यह निश्चय करना चाहिये कि हमारा कार्य (सन्धि और विग्रह-आदि) सिद्ध होगा ? या नहीं ? ॥१॥

निष्कर्षः—विजिगीषु राजा को अप्राप्त राज्यादि की प्राप्ति और सुरक्षा-आदिके लिये अत्यन्त बुद्धिमान व राजनीतिके धुरन्धर विद्वान् और अनुभवों मंत्री-मण्डलके साथ बैठकर मंत्र का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है ॥२३॥

१ तथाच शुक्रः—अमंत्रसंचिधैः सार्द्धं यः कार्यं कुरुते नृपः । तस्य तन्निष्फलं भावि पण्डितस्य सुरतं यथा ॥१॥

२ उक्त मंत्र मु० मू० पुस्तक से संकलन किया गया है, मं० टी० पु० में भी ऐसा ही पाठ है, परन्तु उसमें सन्धि-सहित है और कोई पार्थक्य नहीं है । सम्पादक—

३ तथा च गुरुः—अज्ञानं शत्रुसैन्यं च खमैर्ज्ञेयं विपरिचयता । तस्य विज्ञातकथ्यम्यकार्यं सिद्धं नवेति च ॥१॥

को संपुण या कर्तव्यः—

कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपददेशकालविभागो विनियोगसम्पदं च ये कुर्युस्ते मंत्रिणः ॥२४॥

अर्थ—जो बिना प्रारम्भ किये हुए कार्यों का प्रारम्भ करें, प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करें और जो पुरुष-द्रव्य-संपद के हों उनमें कुछ विशेषता लावें तथा अपने अधिकार का उचित स्थानमें प्रभाव दिखावें वे मंत्री कहते हैं ॥२४॥

विद्वान् ने कहा है कि 'जो कुशल पुरुष राजाके समस्त कार्योंमें विशेषता तथा अपने अधिकारका प्रभाव दिखानेमें प्रवीण हों, वे राजमंत्री होनेके योग्य हैं, और जिनमें उक्त कार्य करनेकी योग्यता नहीं है, वे मंत्रीके योग्य नहीं हैं ॥१॥'

मंत्रियोंके साथ किये हुए विचार—के अङ्गः—

कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपददेशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धि-
श्चेति पञ्चाङ्गो मंत्रः ॥२५॥

अर्थ—मंत्रके पांच अङ्ग होते हैं । १ कार्य के प्रारम्भ करनेका उपाय, २ पुरुष और द्रव्यसम्पत्ति, ३ काल का विभाग, ४ विनिपात-प्रतीकार और ५ कार्यसिद्धि ।

१ कार्य प्रारम्भ करनेका उपाय—जैसे अपने राष्ट्रको शत्रुओंने सुरक्षित रखनेके लिये उसमें खाई, किला और दुर्ग-आदि निर्माण करनेके साधनोंका विचार करना और दूसरे देशमें शत्रुभूत राजाके यहां से किम्वद-आदिके उद्देश्यसे गुप्तचर व दूत भेजना-आदि कार्योंके साधनोंपर विचार करना यह उपाय कहला अङ्ग है ।

किसी नीतिकारने कहा है कि 'जो पुरुष कार्य-प्रारम्भ करनेके पूर्व ही उसकी पूर्णताका उपाय—सामान्य आदि—नही सोचता, उसका वह कार्य कभी भी पूर्ण नहीं होता ॥१॥'

२ पुरुष व द्रव्यसम्पत्ति अर्थान्—यह पुरुष अमुक कार्य करनेमें निपुण है, यह जानकर उसे उस-कार्यमें नियुक्त करना तथा द्रव्य सम्पत्ति कि इतने धनसे अमुक कार्य सिद्ध होगा, यह क्रमशः 'पुरुष सम्पत्' और 'द्रव्य सम्पत्' नामका दूसरा मंत्राङ्ग है । अथवा स्वदेश-परदेशकी अपेक्षासे प्रत्येकके दो भेद होजाते हैं ।

आभरणार्थः—पुरुष—अपने देशमें दुर्ग आदि बनानेमें अत्यंत चतुर बढ़ई और लुहार-आदि और परदेशमें—कच्ची, पत्थर आदि । दूसरे देशमें पुरुष, संधि आदि करनेमें कुशल दूत तथा सेनापति और द्रव्य—सैन्य-सामान आदि ।

किसी नीतिकारने कहा है कि 'जो मनुष्य अपने कार्य-कुशल पुरुषको उसके करनेमें नियुक्त नहीं करता या उस कार्यके योग्य धन नहीं लगाता, उसमें कार्य-सिद्धि नहीं होपाती ॥१॥'

अथ शुकः—दशपन्ति विशेषं ये सर्वकर्मसु भूतेः । स्वाधिकारप्रभावं च मंत्रिणस्तेऽन्वया परे ॥१॥

अर्थ—कथं च कश्चिन्ननीतिवत्—कार्यारम्भे नोपायं तत्तत्तदर्थं च चिन्तयेत् । यः पूर्वं तस्य नो सिद्धि तत्कार्यं न सिद्धि ॥१॥

अथ शुकः—तस्यार्थं शुकं कथं वदते च तथा धनम् । योजयेत्-यो न कृष्येत् तत्सिद्धि तस्य नो व्रजेत् ॥१॥

३ देश और कालका विभाग—अमुक कार्य करनेमें अमुक देश व अमुक काल अनुकूल एवं अमुक देश और काल प्रतिकूल है। इसका विभाग (विचार) करना मंत्रका तीसरा अङ्ग है, अथवा अपने देश में देश (दुर्ग आदिके बनाने के लिये जनपदके बीचका देश) और काल—सुभिक्ष-दुर्भिक्ष तथा वर्षा । एवं दूसरेके देशमें सन्धि-आदि करनेपर कोई उपजाऊ प्रदेश और काल—आक्रमण करने या न करनेका समय कहलाता है, इनका विचार करना यह देश-काल विभाग नामका तीसरा मन्त्राङ्ग कहलाता है।

किसी विद्वान् ने कहा है 'कि जिसप्रकार नदीकी मछली जमीनपर प्राप्त होनेसे नष्ट होजाता है, उसी प्रकार राजा भी छोटे देशको प्राप्त होकर नष्ट होजाता है ॥१॥'

जिसप्रकार कौशा रात्रिके समय और उल्लू दिनके समय घूमता हुआ नष्ट होजाता है, उसीप्रकार राजा भी वर्षा-काल-आदि छोटे समयको प्राप्त होकर नष्ट होजाता है। अर्थात्-वर्षा-शत्रु-आदि कुमयमें लड़ाई करनेवाला राजा भी अपनी सेनाको निस्सन्देह कष्टमें डाल देता है ॥२॥

४ विनिपात प्रतीकार—आई हुई आपत्तियोंके नाशका उपाय चिन्तन करना। जैसे अपने दुर्ग-आदि पर आनेवाले या आये हुये विघ्नोंका प्रतीकार करना यह मंत्रका 'विनिपात प्रतीकार' नामक चौथा अङ्ग है।

किसी विद्वान् ने कहा है 'कि जो मनुष्य आपत्ति पड़नेपर मोह (अज्ञान)को प्राप्त नहीं होता और यथा-शक्ति उद्योग करता है, तब उस आपत्तिको नष्ट कर देता है ॥१॥'

५ कार्यसिद्धि—उन्नति, अवनति और सम-अवस्था यह तीन प्रकारकी कार्य-सिद्धि है। जिन सामा-दि उपायोंसे विजिगीषु राजा अपनी उन्नति, शत्रुकी अवनति या दोनोंकी सम-अवस्थाको प्राप्त हो, यह कार्य-सिद्धि नामका पाँचवाँ मन्त्राङ्ग है।

किसी विद्वान् ने कहा है 'कि जो मनुष्य साम, दान, दंड व भेद उपायोंसे कार्य-सिद्धि चिन्तन करता है और कहींपर उससे विरक्त नहीं होता, उसका कार्य निश्चयसे सिद्ध होजाता है ॥१॥'

निष्कर्षः—विजिगीषु राजाको समस्त मंत्री-मंडलसे या एकसे या दोसे उक्त पंचाङ्ग मंत्रका विचार वा तदनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥२॥

मंत्र—सलाह-के अयोग्यस्थानः—

आकाशे प्रतिशब्दयति चाश्रये मंत्रं न कुर्यात् ॥२६॥

अर्थः—जो स्थान चारों तरफ से खुला हुआ हो ऐसे स्थानपर तथा पर्वत व गुफा-आदि स्थानोंमें जहाँपर प्रतिध्वनि निकलती हो, राजा और मंत्री-आदिको मंत्रणा नहीं करनी चाहिये ॥२६॥

भावार्थः—गुप्त मंत्रणाका स्थान चारों ओरसे ढकाहुआ और प्रति ध्वनिसे रहित होना चाहिये

१ उक्तं च यतः—यथाश्च सैन्यवस्तोये स्थले मत्स्या विनश्यति । शीघ्रं तथा महीपालः कुदेषां प्रपद्ये मीदानाम् ॥

यथा काको निशाकाले कौशिकश्च दिवा चरन् । न विनश्यति कालेन तथा भूमी न मंशयः ॥२॥

२ उक्तं च यतः—आकालं तु सम्प्राप्तं यो न मोहं न प्रगच्छति । उद्यमं कुरुते शक्त्या स न मशयान् धुवाम् ॥

३ तथा चोक्तं—सामादिभिरुपायैर्वी कार्यसिद्धिं प्रचिन्तयेत् । न निर्वेगं क्वचिज्जाति तस्य ननु विदुषो न धृवं ॥१॥

मन्त्रणादि वातपीत का शब्द बाहर न आसके ॥२६॥

विद्वान्ने कहा है कि मन्त्रसिद्धि चाहनेवाले राजाको खुले हुए स्थानमें मन्त्रणा नहीं करनी चाहिये, जिस स्थानमें मन्त्रणाका शब्द टकराकर प्रतिध्वनि नहीं होती हो, ऐसे स्थानमें बैठकर मन्त्रणा करनी चाहिये ॥१॥

मन्त्रण के साधनः—

हस्तविकारकराभिनयाभ्यां प्रतिध्वानेन वा मनःस्थमप्यर्थमभ्युह्यन्ति विचक्षणाः ॥२७॥

चतुर द्रोण मन्त्रणा करनेवालों के मुस्त के विकारसे हस्तादिके संचालनसे, तथा प्रतिध्वनिरूप शब्दसे विवेचनासे गुप्त अभिप्रायको जान लेते हैं ।

अर्थात्—चतुर दूत राजाके मुखकी आकृति और हस्त-आवि अंगोंके संचालन-आदिसे उसके हृदय-का भाव आते हैं, अतएव राजाको दूतके समस्त ये कार्य नहीं करने चाहिये । अन्यथा मन्त्र प्रकाशित हो जाय ॥२७॥

‘अभ्युह्यन्ति’ विद्वान्ने कहा है कि ‘मुखकी आकृति, अभिप्राय, रसन, चेष्टा, भाषण और नेत्र तथा हस्त-आदिसे मनमें रहनेवाली गुप्त बात जान लीजाती है ॥१॥’

मन्त्र-विकारको सुरक्षित रखनेकी अवधिः—

आकार्यसिद्धेरक्षितव्यो मंत्रः ॥२८॥

अर्थः—जबतक कार्य सिद्ध न होजावे तब तक विवेकी पुरुषको अपने मन्त्रकी रक्षा करनी चाहिये । उसे प्रकाशित नहीं करना चाहिए, अन्यथा कार्य सिद्ध नहीं होपाता ॥२८॥

चतुर विद्वान्ने कहा है कि ‘विष-भक्षण केवल खानेवाले व्यक्तिको और खट्व-आदि-शस्त्रभी एक ही प्रकारसे मारते हैं; परन्तु धर्मका नाश या मन्त्रका भेद समस्त देश और सारी प्रजा-सहित राजाको नष्ट कर देता है ॥१॥’

मन्त्रण के स्थानमें मन्त्रणा करनेसे हानिः—

दिवा नक्तं वाऽपरीक्ष्य मन्त्रयमाणस्याभिमतः प्रच्छन्नो वा भिनत्ति मन्त्रम् ॥२९॥

अर्थः—दो व्यक्ति दिन या रात्रिमें मन्त्रणा करने योग्य स्थानकी परीक्षा किये बिनाही मन्त्र करता है तो मन्त्र प्रकाशित होजाता है, क्योंकि छिपा हुआ आत्मीय पुरुष उसे सुनकर प्रकाशित कर देता है ॥२९॥

मन्त्रण के समय द्वारा उक्त बातका समर्थनः—

चित् रजन्त्यां वटपृष्ठे प्रच्छन्नो वरुचिर-प्र-शि-खेति पिशाचेभ्यो वृत्तान्तमुपश्रुत्य चतुरक्षराद्यैः

सोऽथमेकं चकारेति ॥३०॥

अर्थः—जब पुरुषः—निराश्रयप्रदेशे तु मन्त्रः कार्यो न भुभुजा । प्रतिशब्दो न यत्र स्योन्मन्त्रसिद्धिः प्रवाच्यता ॥१॥

अर्थः—जब पुरुषः—आकार्यसिद्धेरक्षितव्यो मन्त्रः ॥२॥

अर्थः—जब पुरुषः—[एकं विषरसो हस्ति] शस्त्रेणैकैश्च वध्यते । सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं धर्मविप्लवः ॥३॥

नोटः—उक्त पद्यका प्रथम चरण संशोधन किया गया है संपादकः—

अर्थः—इतिहास प्रमाणमें बृद्धपुरुषोंके मुखसे सुना जाता है कि एक समय विशाच लोग हिरण्यगुप्त संबंधी वृत्तान्तकी गुप्त संव्रणा कर रहे थे, उसे रात्रिमें बटवृक्षके नीचे छिपे हुए वररुचि नामके मनुष्य (राज मंत्री)ने सुन लिया था; अतएव उसने हिरण्यगुप्तके द्वारा कहे हुए श्लोकके प्रत्येक पाद संबंधी एक २ अक्षरोंसे अर्थात्-चारों पादोंके चार अक्षरों—(अ-प्र-शि-ख)से पूर्ण (चारों पाद) श्लोककी रचना कर ली।

वररुचि का संक्षिप्त इतिवृत्त—यह नन्द नामके राजाका जो कि ३६२ ई० पू० में भारतका सम्राट हुआ है, मंत्री था।

एक समय नन्दराजाके पुत्र राजकुमार हिरण्यगुप्त वनमें कीड़ा करनेके लिये गया था। उसने रात्रिमें सोते हुए पुरुषको जो कि इसका मित्र था, खड्गसे मार डाला। उस पुरुषने मरते समय 'अ-प्र-शि-ख' यह पद उच्चारण किया, उसे सुनकर अपने प्रिय मित्रको धोखेसे मारा गया समझकर हिरण्यगुप्त मित्रके साथ द्रोह करनेके पापसे ज्ञान-शून्य, किर्तव्य विमूढ़ और अधिक शोकके कारण पागलकी तरह व्याकुल होकर कुछ काल तक स्वयं उसी जंगलमें भटकता रहा। पश्चात् राज-कर्मचारियों द्वारा यहाँ-वहाँ ढूँढे जानेपर मिला और इसलिये वे उसे राजा नन्दके पास ले गये। यह राजसभामें लाया गया। वहाँपर शोकसे पीड़ित होकर 'अ-प्र-शि-ख' अप्रशिख अक्षरोंका बार-बार उच्चारणकर लुब्ध हो रहा था, नन्दराजने उसके अर्थको न समझ कर मंत्री पुरोहित और सदस्योंसे पूछा कि इसके द्वारा उच्चारण किये हुए अ-प्र-शि-ख पदका क्या अर्थ है? परन्तु उसका अर्थ न समझनेके कारण लोग चुपकी साध गये। परन्तु उनमें से वररुचि नामका मंत्री बोला कि राजन् एक दो दिनके पश्चात् मैं इसका अर्थ बतलाऊँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह रात्रिमें उसी वनमें बटके वृक्षके नीचे जाकर छिप गया। वहाँपर उसने पिशाचोंके द्वारा उक्त वृत्तान्त (हिरण्यगुप्त-राजकुमारके द्वारा सोते हुए पुरुषका खड्गसे सिर काटा जाना) को सुना। पश्चात् प्रकरणका ज्ञान होजाने से उसने उक्त श्लोक के प्रत्येक चरणके एक २ अक्षरसे अर्थात्-चारों चरणोंके चार अक्षरोंसे राजसभामें जाकर निम्न प्रकार श्लोक बना दिया।

वररुचि^१ रचित श्लोकका अर्थः—'इसी तुम्हारे पुत्रने अर्थात्-नन्द राजाके पुत्र हिरण्यगुप्तने वनमें सोते हुए मनुष्यकी चोटी खींचकर खड्गसे उसका शिर काट डाला ॥१॥'

संव्रणा—गुप्त सलाह—के अयोग्य व्यक्ति—

न तैः सह मंत्रं कुर्यात् येषां पक्षीयेष्वपकुर्यात् ॥३१॥

अर्थः—राजाने जिनके बंधु-आदि कुटुम्बियोंका अपकार-अतिष्ठ (वध-बंधनादि) किया है, उसे उन विरोधियोंके साथ मंत्र-गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये, क्योंकि विरोधियोंके साथ मंत्रणा करनेसे उसके भेदका भय रहता है—मंत्र प्रकाशित होजाता है ॥३१॥

शुक्र^२ विद्वान्ने उक्त बातका समर्थन किया है कि 'राजाको उनके संबंधियोंके साथ कदापि मंत्र नहीं

१ वररुचिरचितः श्लोकः—अनेन तव पुत्रेण प्रमुप्तस्य धनान्तरे । शिखामाकम्भ पादेन खड्गेनोपहतशिरः । १।

नोटः—यह पाठ मु० मू० पुस्तकसे संकलन किया है सं० टी० पुस्तक में २२१ पाठ है देखा सं० टी० पु० ११२ पृष्ठ ।

२ तथा च शुक्रः—येषां वधादिकं कुर्यात्पक्षिवश्च विरोधिनां । तेषां संबंधिभिः सार्धं मंत्रः कार्यो न बहिर्चितः । १।

चाहिये, जिन विरोधियोंका उसने वध-बंधनादि अनिष्ट-बुरा किया हो ॥१॥

जिस समय न जाने योग्य व्यक्ति:—

अनायुक्तो मंत्रकाले न तिष्ठेत् ॥३२॥

अर्थ:—कोई भी व्यक्ति राजाकी आज्ञाके बिना मंत्रणाके समय बिना बुलाया हुआ उस स्थान पर न ठहरे। अर्थात् जो पुरुष राजाकी आज्ञाके अनुसार विचार करनेके लिये बुलाये गये हों, वे ही वहाँ पर, अन्य (बिना बुलाये हुए) व्यक्ति न जायें।

आचार्य:—राजाका प्रिय व्यक्ति भी यदि मंत्रणा-कालमें पहुंच जाता है, तो राजा मंत्रभेदकी शंकासे डरकर उससे दृष्ट (नाराज) हो जाता है ॥३२॥

गर्गः विद्वाण्ने भी कहा है कि जो व्यक्ति राजाकी मंत्र-वेलामें बिना बुलाया हुआ चला जाता है वह राजाको कोप-भोजन हो जाता है ॥१॥

मंत्रभेदको प्रकाशित करनेवाले दृष्टान्त:—

तथा च श्रूयते शुकसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेदः कृतः ॥३३॥

अर्थ:—बुद्ध पुरुषोंसे सुना जाता है कि पहिले कभी तोता मैना ने तथा दूसरे पशुओंने राजाको गुप्त मंत्रको प्रकाशित कर दिया था।

तिष्कर्ष:—अतः मंत्र स्थानमें पशु पक्षियों को भी नहीं रहने देना चाहिये ॥३३॥

मंत्रभेदके प्रकाशित होनेसे कष्ट होता है:—

मंत्रभेदादुत्पन्न व्यसनं दुष्प्रतिविधेयं स्यात् ॥३४॥

अर्थ:—गुप्त मंत्रणाके प्रकाशित हो जानेसे राजाको जो संकट पैदा होता है वह कठिनाईसे भी नष्ट नहीं हो सकता।

आचार्य:—इसलिये राजा को अपने मंत्रकी रक्षामें सदा सावधान रहना चाहिये। क्योंकि मंत्रभेदका दुर्निवार होता है।

गर्गः विद्वाण्ने कहा है कि मंत्रके भेद हो जानेसे राजाको जो संकट पैदा होता है, उसका नारा होना कठिन है अथवा वह कठिनाई से भी नष्ट नहीं होता ॥१॥

जिन कारणोंसे गुप्त मंत्रणा प्रकाशित होती है:—

इक्षितमाकारो मदः प्रमादो निद्रा च मंत्रभेदकारणानि ॥३५॥

अर्थ:—गुप्तमंत्रका भेद निम्नप्रकार पाँच बातोंसे होता है, अतएव उनसे सदा सावधान रहना चाहिये (१) इक्षित (गुप्त मंत्रणा करने वालेकी मूर्ख चेष्टा), (२) शरीरकी सौम्य या रौद्र-भयंकर आकृति (३) मद्यपान [४] प्रमाद-असावधानी करना और (५) निद्रा ॥३५॥

१ तथा च शुकः—यो राजा मंत्रवेलायामनाहतः परावृत्तिः । अतिप्रसादपुक्तोपि विमिश्रित्वं प्रजेषु सः ॥१॥

२ तथा च गर्गः—मंत्रभेदाच्च भूयस्य व्यसनं मंत्रनाशने । तत्कृच्छ्रान्नाशमभ्येति पृच्छेत् शान्दधवा य वा ॥१॥

उक्त पाँचोंके क्रमशः लक्षणः—

इङ्गितमन्यथावृत्तिः ॥ ३६ ॥

कोपसादजनितशरीरी निद्राशिराकारः ॥ ३७ ॥

पानस्त्रीसंगादिजनितो हर्षो मदः ॥ ३८ ॥

प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः ॥ ३९ ॥

अन्यथा चिकीर्षतोऽन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥ ४० ॥

निद्रान्तरितो [निद्रितः] ॥ ४१ ॥

अर्थः—गुप्त अभिप्रायको अभिव्यक्त (प्रकाश) करनेवालो शरीरकी चेष्टा 'इङ्गित' है। अथवा स्वाभाविक क्रियाओंसे भिन्न क्रियाओंके करनेको इङ्गित (चेष्टा) कहते हैं ॥ ३६ ॥

क्रोधसे होनेवाली भयंकर आकृति व प्रसन्नतासे होनेवाली सौम्य-आकृतिको 'आकार' कहते हैं। अथवा क्रोधसे होनेवाली मुखकी म्लानता एवं प्रसादसे होनेवाली मुखकी प्रसन्नताको 'आकार' कहते हैं ॥ ३७ ॥

मद्यपान व स्त्रीसंभोगसे होनेवाले हर्षको 'मद' कहते हैं ॥ ३८ ॥

अपने या दूसरोंके नामको भूल जाना या उसका अन्यथा कहना आदिमें कारण असावधानी को 'प्रमाद' कहते हैं ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार करनेयोग्य इच्छित कार्यको छोड़कर दूसरे कार्यको करने लगना ऐसी असावधानता-रूप प्रवृत्ति को भी 'प्रमाद' कहा गया है ॥ ४० ॥

गाढ़ नीदमें व्याप्त होनेको 'निद्रा' कहा है ॥ ४१ ॥

भावार्थः—उक्त पाँच बातें गुप्त मंत्रको प्रकाशित करती हैं।

उदाहरणार्थः—जब मंत्रया करते समय राजा-आदि अपने सुखादिकी विजातीय (गुप्त अभिप्राय को प्रकट करनेवाली) चेष्टा बनाते हैं, उससे गुप्तचर उनके अभिप्रायको जान लेते हैं। इसीप्रकार क्रोधसे उत्पन्न होनेवाली भयंकर आकृति और शान्तिसे होनेवाली सौम्य आकृतिको देखकर गुप्तचर जान लेते हैं, कि राजाकी भयंकर आकृति 'विग्रह' की और सौम्य आकृति 'संधि' की बता रही है। इसी प्रकार शराब पीना, आदि 'प्रमाद' और निद्रा आदि भी गुप्त रहस्यको प्रकाशित करने वाले हैं, अतएव इनको छोड़ देना चाहिये ॥ ३६-४१ ॥

१ यह सूत्र मु० ब० ६० लि० मूल प्रतियोंमें नहीं है किंतु सं० टी० पुस्तकमें होनेसे संकलन किया गया है और वह भी अधूरा था, जिसे पूर्ण कर दिया गया है। संपादकः—

विमर्शः—संभवतः 'निद्रा' प्रसिद्ध होनेसे आचार्यजीने उसका पृथक् लक्षण-निर्देश करना उचित न समझा हो। अतएव सं० टीकाकारने कम-प्राप्त होनेसे उसका लक्षण किया है।

निद्रान्तरितो इसके आगे यदि 'निद्रितः' ऐसा 'इतच्' प्रत्ययान्त पद और होता, तो विशेष उक्तम था। संपादकः—

वांसष्ठ^१ विद्वान् ने भी कहा है कि 'राजाको मंत्रणाके समय अपने मुखको आकृति शुभ और शरीर-को आकृति मीम्य रखनी चाहिये तथा निद्रा, मद और आलस्य छोड़ देना चाहिये ॥१॥'

मंत्र (निश्चित विचार) को शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत करनेका आदेश—

उद्धृतमन्त्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ॥४२॥

अर्थ—विजिगीषु विचार निश्चित होजानेपर उसे शीघ्रही कार्यरूपमें परिणत करनेका यत्न करे, इस में उसे आलस्य नहीं करना चाहिए। सारांश यह है कि मंत्रमें विलम्ब करनेसे उसके फूटनेका भय रहता है जिसमें कार्य-सिद्धि नहीं होपाती। अतः उसे शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत करना चाहिये ॥४२॥

कौटिल्य^२ ने भी कहा है कि 'अर्थका निश्चय करके उसको शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत करना चाहिये, मस्यको व्यर्थ विनाना श्रेयस्कर नहीं ॥१॥'

शुक^३ विद्वान् ने कहा है कि 'जो मनुष्य विचार निश्चित करके उसी समय उसका आचरण नहीं करता, उसे मंत्रका फल (कार्य-सिद्धि) प्राप्त नहीं होता ॥१॥'

निश्चित विचारके अनुसार कार्य न करने से हानि—

अननुष्ठाने ह्यत्रयत् किं मंत्रं यः ॥४३॥

अर्थ—विजिगीषुको कर्तव्य-पालनके बिना केवल निश्चित विचारसे आलसी विद्यार्थीकी तरह कोई लाभ नहीं होता—कार्य-सिद्धि नहीं होती। जिसप्रकार आलसी शिष्य गुरुसे मंत्र सीख लेता है, किन्तु तदनुकूल उप-व्यवहारका आचरण नहीं करता, अतः उसका मंत्र सीखना निष्फल है, वसीप्रकार विजिगीषु भी यदि मंत्रणाके अनुकूल कर्तव्यमें प्रवृत्त नहीं होता तो उसकी मंत्रणा भी व्यर्थ है ॥४३॥

शुक^४ विद्वान् ने कहा है कि 'जो विजिगीषु मंत्रका निश्चय करके उसके अनुकूल कार्य नहीं करता, उसका वह मंत्र आलसी छात्रके मंत्रकी तरह व्यर्थ होजाता है ॥१॥'

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा पुनः समर्थन—

न औषधिपरिज्ञानादेव व्याधिप्रशमः ॥४४॥

अर्थ—केवल औषधिके ज्ञानमात्रसे रोगकी शांति नहीं होसकती। सारांश यह है कि जिसप्रकार केवल औषधिके जानलेने मात्रसे व्याधियोंका नाश नहीं होता किन्तु उसके सेवनसे ही होता है, उसी प्रकार विचार-मात्रसे सन्धि व विमह आदि कार्य सिद्ध नहीं होसकते, किन्तु मंत्रणाके अनुकूल प्रवृत्ति करनेसे कार्य सिद्ध होते हैं ॥४४॥

१ तथा च वांसष्ठः—मंत्रावस्थां महीपेन कर्तव्यं शुभचेष्टितम् । आकारश्च शुभः कार्यस्थाय्यः निद्रामदाकलाः ॥१॥

२ तथा च कौटिल्यः—'अवानाथः कालं नातिक्रमेत्'—कौटिल्य अर्थशास्त्र मंत्राधिकार सूत्र ५० ।

३ तथा च शुकः—'यो मंत्रं मंत्रविद्यां तु नानुष्ठानं करोति च । तस्मिन्मन्त्रस्य मंत्रस्य जायते नात्र संशयः ॥१॥

४ 'अननुष्ठाने-युः बिना केवलतः किं मंत्रेण' इस प्रकार सू० व ६० लि० सू० प्रतियों में पाठ है, उसका अर्थ यह है कि कार्यरूप में परिणत बिना केवल निश्चित विचार से कोई लाभ नहीं ।

५ तथा च शुकः—'यो मंत्रं मंत्रविद्यां तु नानुष्ठानं करोति च । स तस्य व्यर्थो याति ह्यत्रयैव प्रमादिनः ॥१॥

नारद^१ विद्वान्ने कहा है कि 'जिसप्रकार दवाई के ज्ञान लेनेपर भी उसके भक्षण किये बिना व्याधि नष्ट नहीं होती, उसीप्रकार मंत्रको कार्य-रूपमें परिणत किये बिना केवल विचारमात्रसे कार्य-सिद्ध नहीं होता ॥१॥'

संसार में प्राणियोंका शत्रु—

नास्त्यविवेकात् परः प्राणिनां शत्रुः ॥४५॥

अर्थ—संसारमें नीतिशास्त्रके अज्ञानको छोड़कर प्राणियोंका कोई दूसरा शत्रु नहीं है। क्योंकि नैतिक अज्ञान ही मनुष्यको शत्रु से बध-बंधनादि कष्ट दिलाता है अथवा उससे सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं ॥४५॥

गुरु^२ विद्वान्ने कहा है कि 'अज्ञान (मूर्खता) प्राणियोंका महाशत्रु है, जिसके कारण मनुष्यको बध-बंधनादिके कष्ट भोगने पड़ते हैं ॥१॥'

स्वयं करने योग्य कार्यको दूसरोंसे करानेसे हानि—

आत्मसाध्यमन्येन कार्यशौषधमून्यादिव व्याधिं चिकित्सति ॥४६॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वयं करने योग्य कार्यको दूसरोंसे कराता है, वह केवल शौषधिके मूल्य-ज्ञानसे ही रोगका परिहार—नाश चाहता है। अर्थात् जिसप्रकार केवल दवाईकी कीमत समझ लेनेमात्रसे बीमारी नष्ट नहीं होती, उसीप्रकार स्वयं करने योग्य कार्यको दूसरोंसे करानेमें वह कार्य सिद्ध नहीं होता ॥४६॥

भृगु^३ विद्वान्ने कहा है कि 'जो मूर्ख मनुष्य स्वयं करने योग्य कार्य दूसरोंसे कराता है, वह दवाईके केवल मूल्य समझनेसे रोगका नाश करना चाहता है ॥१॥'

स्वामी की उन्नति-अवनतिका सेवकपर प्रभाव—

यो यत्प्रतिबद्धः स तेन सहोदयव्यथी ॥४७॥

अर्थ—जो सेवक जिस स्वामीके आश्रित है वह अपने स्वामीकी उन्नतिसे उन्नतिशील और अवनति से अवनतिशील होता है। सारांश यह है कि संसारमें सेवकके ऊपर उसके स्वामीकी आर्थिक-हानि और लाभका प्रभाव पड़ता है ॥४७॥

भागुरि^४ विद्वान् ने कहा है कि 'राजा तालाबके जल-समान है और उसका सेवक कमल-समूहके समान है, इसलिये राजाकी वृद्धिसे उसके सेवककी वृद्धि और हानिसे उसकी भी हानि होती है ॥१॥'

- १ तथा च नारदः—विज्ञाते मेवजे बहन् विना मर्धं न नरयति । व्याधिस्तथा च मंत्रेऽपि न सिद्धिः कुर्याद्वर्जिते ॥१॥
 २ तथा च गुरुः—अविवेकः शरीरस्थो मनुष्याणां महारिपुः । यश्चानुज्ञानमात्रोऽपि करोति बधबंधनम् ॥१॥
 ३ तथा च भृगुः—आत्मसाध्यं तु यत्कार्यं योऽन्यपाशङ्गं सुमन्थधीः । कारायति स व्याधिं नयेद् मेवजमून्यतः ॥१॥
 ४ तथा च भागुरिः—अरस्तोयसमो राजा भृगवः पद्माकरोपमः । नववृद्ध्या वृद्धिं मन्वेति तद्विनाशो विमरयति ॥१॥

स्वामीके आश्रयसे सेवकको लाभ—

स्वामिनाधिष्ठितो मेघोऽपि सिंहायते ॥४८॥

अर्थ—साधारण (कमजोर) मेढ़ा भी अपने स्वामीसे अधिष्ठित हुआ शेरके समान आचरण करता हुआ प्रकट होता है, फिर मनुष्यका तो कहना ही क्या है। सारांश यह कि साधारण सेवकभी अपने स्वामीकी सहायताको प्राप्तकर वीर होजाता है ॥४८॥

‘शङ्कर’ विद्वान्ने कहा है कि ‘जिसप्रकार साधारण कुत्ता भी अपने स्वामीको प्राप्तकरके शेरके समान आचरण करता है, उसीप्रकार साधारण कायर सेवक भी अपने स्वामीकी सहायतासे वीर हो जाता है ॥४९॥’

मंत्रणा-गुप्तसलाहके समय मंत्रियोंका कर्त्तव्य—

मंत्रकाले विगृह्य विवादः स्वैरालापश्च न कर्त्तव्यः ॥४९॥

अर्थ—मंत्रियोंको मंत्रणाके समय परस्परमें कलह करके वाद-विवाद और स्वच्छन्द बातचीत (हंसी-मजाक आदि) न करनी चाहिये। सारांश यह है कि कलह करने से वैर-विरोध और स्वच्छन्द-आनुभव शून्य-वार्तालाप से अनादर होता है, अतएव मंत्रियोंको मंत्रकी वेलामें उक्त बातें न करनी चाहिये ॥४९॥

‘शङ्कर’ विद्वान्ने कहा है कि ‘जो मंत्री मंत्र-वेला में वैर-विरोधके उत्पादक वाद-विवाद और हंसी-मजाक आदि करते हैं उनका मंत्र कार्य सिद्ध नहीं होता ॥५०॥’

मंत्रका प्रधान प्रयोजन—फल—

अविरुद्धैरस्वैरविहितो मंत्रो लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मन्त्रफलम् ॥५०॥

अर्थ—परस्पर वैर-विरोध न करनेवाले—प्रेम और सहानुभूति रखनेवाले और हंसी-मजाक आदि स्वच्छन्द (युक्ति व अनुभव-शून्य) वार्तालाप न करनेवाले (सावधान) मंत्रियोंके द्वारा जो मंत्रणा की जाती है, उससे थोड़ेसे उपायसे उपयोगी महान् कार्यकी सिद्धि होती है और यही (अल्प उपायसे महान् कार्यकी सिद्धि करना) मंत्रका फल या माहात्म्य है। सारांश यह कि थोड़े उपायसे थोड़ा कार्य और महान् कार्यको महान् कार्य सिद्ध होना, यह मंत्रशक्तिका फल नहीं है, क्योंकि वह तो मंत्रणाके बिना भी हो जाता है, परन्तु थोड़ेसे उपाय द्वारा महान् कार्यकी सिद्धि होना यही मंत्रशक्तिका माहात्म्य है ॥५०॥

‘शङ्कर’ विद्वान्ने कहा है कि ‘सावधान (बुद्धिमान) राज-मंत्री एकान्तमें बैठकर जो चाङ्गुण्य-संधि

‘स्वामिनाधिष्ठितो भूत्वा परस्मादपि कातरः । स्वपि सिंहायते यद्विजं स्वामिनमाश्रितः ॥५१॥’

‘शङ्कर’ विद्वान्ने कहा है कि ‘विरोधवाक्यद्वयानि मंत्रकाल उपस्थिते । ये कुर्युर्मन्त्रिणस्तेषां मंत्रकार्यं न सिद्ध्यति ॥५२॥’

‘शङ्कर’ विद्वान्ने कहा है कि ‘सावधानारच ये मंत्रं चकुरेकान्तमाश्रिताः । साधयन्ति नरेन्द्रस्य कृपाम् वक्ष्यन्तिविश्रितम् ॥५३॥’

‘शङ्कर’ विद्वान्ने कहा है कि ‘महतः कार्यस्य सिद्धिर्मन्त्रफलम्’ ऐसा मु० मू० व ह० श्लो० मू० प्रतियोगिमें पाठ है, परन्तु विशेष विवेचनसे पता चलता है कि यह गलत है ।

व विग्रह आदि—सम्बन्धी मंत्रणा करते हैं, उससे वे राजाके महान् कार्य (संधि और विग्रह आदि बाहुगुण्य) को बिना क्लेश से सिद्ध कर डालते हैं' ॥१॥

उक्त वाक्यका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

न खलु तथा हस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दास्या ॥५१॥

अर्थ—जिसप्रकार पृथ्वीमें गड़ी हुई विशाल पत्थरकी चट्टान तिरछी लकड़ीके यन्त्र विशेषसे शीघ्र ही थोड़े परिश्रमसे उठाई जा सकती है (स्थानसे हटाई जाती है-), उसप्रकार हाथोंसे महान् परिश्रम करनेपर भी नहीं उठाई जा सकती । इसीप्रकार मंत्रशक्तिसे महान् कार्य भी, थोड़े परिश्रमसे सिद्ध होजाते हैं, बिना मंत्रणाके कदाऽपि सिद्ध नहीं होसकते × ॥५१॥

हारीत* विद्वान्ने कहा है कि 'राजा जिस कार्य (अप्राप्त राज्यकी प्राप्ति-आदि) को युद्ध करके अनेक कष्ट उठाकर सिद्ध करता है उसका वह कार्य मंत्र-शक्ति रूप उपायसे सरलतासे सिद्ध होजाता है, अतएव उसे मंत्रियोंके साथ अवश्य मंत्रणा करानी चाहिये ॥१॥'

जिस प्रकारका मंत्री राजाका शत्रु होता है—

स मंत्री शत्रूयो नृपेच्छयाऽकार्यमपि कार्यरूपतयाऽनुशास्ति ॥५२॥

अर्थ—जो मंत्री राजाकी इच्छासे—उसकी आज्ञाके अनुसार चलनेके उद्देश्यसे—उसको अकर्त्तव्यका कर्त्तव्यरूपसे उपदेश देता है, वह राजाका शत्रु है । सारांश यह है कि अकर्त्तव्यमें प्रवृत्त होनेसे राजाकी अत्यन्त हानि होती है, इसलिये अकर्त्तव्यका उपदेश देनेवाले मंत्रीको शत्रु कहा गया है ॥५२॥

भागुरि* विद्वान्ने कहा है कि 'जो मंत्री राजाको अकर्त्तव्यका कर्त्तव्य और कर्त्तव्यका अकर्त्तव्य बसा देता है, वह मंत्रीके रूपमें शत्रु है ॥१॥'

मंत्रीका कर्त्तव्य—

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः * ॥५३॥

अर्थ—मंत्रीको राजाके लिये दुःख देना उत्तम है—अर्थात् यदि वह भविष्यमें हितकारक किन्तु

१ तथा च हारीतः—यत् कार्य साधयेत् राजा क्लेशैः संश्रामपूर्वकैः । मंत्रेण सुखसाध्यं तत्तस्मात्तन्त्रं प्रकारयेत् ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—अकर्त्तव्यं कर्त्तव्यरूपं च सायं चाकर्त्तव्यसंज्ञितं निवेदयति भूपस्य स वैरी मंत्रिरूपधक् ॥१॥

३ 'वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः' ऐसा सु० सू० च दृ० लि० मूल प्रतिषेधोक्तिपाठान्तर है ।

जिसका अर्थ यह है कि सच्चे मंत्रीका कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वामीको सदा तात्कालिक कठोर परन्तु भविष्यमें हितकारक उपदेश देवे । ऐसे अवसर पर राजाकी इच्छाके विरुद्ध उपदेश देनेसे कुछ दृष्ट राजाके द्वारा उसको

मरख-संकट भी उपस्थित होजावे तो भी उत्तम है परन्तु राजाकी इच्छानुकूल अहितकर उपदेश देकर उसे क्षति—हानि—पहुँचाना उत्तम नहीं है ।

—सम्पादक

अप्रिय लगनेवाले ऐसे कठोर वचन बोलकर राजाको दुःखी करता है तो उचित है, परन्तु तत्काल प्रिय लगने वाले, किन्तु भविष्यमें हानिकारक वचन बोलकर अकार्यका उपदेश देकर उसका नाश करना अच्छा नहीं ॥५३॥

‘मार्ग’ विद्वान्ने कहा है कि ‘मंत्रीको राजाके प्रति भविष्यमें सुखकारक किन्तु तत्काल पीड़ा-कारक वचनोंका बोलना अच्छा है, किन्तु तत्काल प्रिय और भविष्यमें सम्मानक वचनोंका बोलना अच्छा नहीं ॥१॥’

मंत्रीको आग्रह करके राजासे जो कर्त्तव्य कराना चाहिये—

पीयूषमपिवतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननं * ॥५४॥

अर्थ—जब बच्चा माताके स्तनोंका दूध नहीं पीता, तब क्या वह उसके गालोंमें धपपड़ लगाकर दूध नहीं पिलाती ? अवश्य पिलाती है । सारांश यह है कि जिसप्रकार माता बच्चेके हितके लिये तत्कालिक कठोर और भविष्यमें हितकारक व्यवहार करती है, उसीप्रकार मंत्रीको भी राजाकी हितके लिये भविष्यमें हितकारक और तत्कालमें कठोर व्यवहार करना चाहिये ॥५४॥

‘मार्ग’ विद्वान्ने भी कहा है कि ‘जिसप्रकार माता बच्चेको ताड़ना देकर दूध पिलाती है, उसी प्रकार मंत्री भी खोटे मार्गमें जाने वाले राजाको कठोर वचन बोलकर सम्मार्गमें लगा देता है ॥१॥’

मंत्रियोंका कर्त्तव्य—

मंत्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वात् केनचित् सह संसर्गं कुर्युः ॥५५॥

अर्थ—मंत्री लोग राजाके दूसरे हृदय रूप होते हैं—राजारूप ही होते हैं, इसलिये उन्हें किसीके साथ जोहादि सम्बन्ध न रखना चाहिये ॥५५॥

‘नीतिकार शुक्र’ ने भी कहा है कि ‘मंत्री लोग राजाओंके दूसरे हृदय होते हैं; इसलिये उनको उसकी हितके लिये दूसरेसे संसर्ग नहीं करना चाहिये ॥१॥’

राजाके सुख-दुःखका मंत्रियों पर प्रभाव—

राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मंत्रिशामनुग्रहविग्रहौ ॥५६॥

अर्थ—राजाकी सुख-सम्पत्ति ही मंत्रियोंकी सुख-सम्पत्ति है एवं राजाके कष्ट मंत्रियोंके कष्ट

‘नीतिकार शुक्र’ ने कहा है—‘यत् पीडाकरं वार्ष्यं पश्चिमासमुत्पादयति । मंत्रिणा भूमिपाशस्थेन च कष्टं यज्ञयानकम् ॥१॥’

‘पीयूषमपि पिबतः बालस्य किं न क्रियते कपोलहननम्’ । ऐसा मु० ब० ह० शि० भू० प्रतियोंमें पाठांतर है । अर्थ यह है कि बच्चा दूधको भी पी रहा है और यदि वह दूध उसके लिये अप्रिय—हानिकारक है, तो क्या पीने पर माताके द्वारा उसे मस्तकमें ताड़ना नहीं किया जाता ? अवश्य किया जाता है, उसीप्रकार मंत्री भी राजाकी हितके लिये भविष्यमें हानि-कारक उपदेश कदापि न देवे । —सम्पादक

‘नीतिकार शुक्र’ ने कहा है—‘जगन्नी बालकं पश्यन्त्या स्तन्यं प्रपाययेत् । एवमुपमार्गो राजा धार्यते मंत्रिणा यद्यि ॥१॥’

‘नीतिकार शुक्र’ ने कहा है—‘मंत्रिणः पश्चिमेन्द्राणां द्वितीयं हृदयं ततः । ततोऽन्येन न संसर्गस्तेः कार्यो नृपबुद्धये ॥१॥’

समझे जाते हैं। अथवा राजा जिस पुरुषका निग्रह (दंड देना) और अनुग्रह करता है, वह मंत्रियों के द्वारा किया हुआ ही समझना चाहिये। अर्थात् मंत्रियोंको पृथक् रूपसे उस पुरुषका निग्रह या अनुग्रह नहीं करना चाहिये। अन्यथा (यदि मंत्री लोग, राजाकी अवज्ञा करके उस पुरुषका अलगसे निग्रह या अनुग्रह करेंगे) 'ये मेरे राज्याधिकारको छीनना चाहते हैं' ऐसा समझकर राजा उसपर विश्वास नहीं करेगा ॥१६॥

हारीत^१ विद्वान्ने कहा है कि 'क्योंकि मंत्रीगण मदा राजाके हितैषी होते हैं; अतएव राजाकी उन्नतिसे मंत्रियोंकी उन्नति होती है एवं राजाके ऊपर क्रुष्ट पड़नेसे मंत्रियों को भी क्रुष्ट उठाना पड़ता है ॥१७॥'

कर्त्तव्य-परायण मंत्रियोंके कार्योंमें सकलता न होनेका कारण—

स दैवस्यापराधो न मंत्रिणां यत् सुघटितमपि कार्यं न घटते ॥१७॥

अर्थ—जो मंत्री राज-कार्यमें सावधान होते हैं, तथापि उनके द्वारा अच्छी तरह मंत्रणापूर्वक किया हुआ भी कार्य जब सिद्ध नहीं होता, उसमें उनका कोई दोष नहीं, किन्तु राजाके पूर्वजन्म संबंधी भाग्यका ही दोष समझना चाहिये ॥१७॥

भार्गव^२ विद्वान्ने कहा कि—'राजाके कार्यमें सावधान और हितैषी मंत्रियोंका जो कार्य सिद्ध नहीं होता, उसमें उनका कोई दोष नहीं, किन्तु भाग्यका ही दोष समझना चाहिये ॥१८॥'

राजाके कर्त्तव्यका निर्देश—

स खलु नो राजा यो मंत्रियोऽतिक्रम्य वर्तत ॥१८॥

अर्थ—जो राजा मंत्रियोंकी बातको उल्लङ्घन करता है—न उनकी बात सुनता है और न आचरण करता है, वह राजा नहीं रह सकता—उसका राज्य क्रमागत होने पर भी नष्ट हो जाता है ॥१८॥

भारद्वाज^३ विद्वान्ने कहा है कि 'जो राजा हितैषी मंत्रियोंकी बातको नहीं मानता, वह अपने पिता और दादासे चले आये क्रमागत राज्यमें घिरकाल तक नहीं ठहर सकता—उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥१९॥'

पुनः मंत्रणाका साहाय्य—

सुविवेचितान्मंत्राद्भवत्येव कार्यसिद्धिर्यदि स्वामिनो न दुराग्रहः स्यात् ॥१९॥

अर्थ—यदि राजा दुराग्रही—हठी न हो तो अच्छी तरह विचारपूर्वक किये हुए मंत्रसे अवश्य कार्य-सिद्धि होती है। सारांश यह कि जब मंत्रिमंडल अपनी सैनिक शक्तिको दृढ़ और शत्रुकी सैनिक शक्ति छोख देखता है, एवं देश कालका विचार करके सन्धि-विग्रहादि कार्य प्रारम्भ करता है,

१ तथा च हारीतः—राजः पुच्छ्या भवेत् पुष्टिः सचिवानां महत्तरा । व्यसनं व्यसनेनापि तेन तस्य हितारथे ॥१७॥

२ तथा च भार्गवः—मंत्रिणां सावधानानां यत्कार्यं न प्रसिद्धयति । तत् स दैवस्य दोषः स्यात् तेषां सुहितैषिणाम् ॥१८॥

३ तथा च भारद्वाजः—यो राजा मंत्रिणां वाक्यं न करोति हितैषिणां । न च त्रिदशैश्वरं राज्ये पितृपितामहेऽपि च ॥१९॥

तब उसकी अवश्य विजय होती है, परन्तु ऐसे अवसरपर राजाकी अनुमति होनी चाहिये, उसे दुरामहो नहीं होना चाहिये ॥५६॥

अधिपुत्रक^१ विद्वान्ने कहा कि 'यदि राजा मंत्रीके साथ हठ करने वाला नहीं है, तो अच्छी तरह विचार किये हुए मंत्रसे कार्यकी स्थायी सिद्धि होती है ॥५७॥'

पराक्रम-शून्य राजाकी हानि—

अविक्रमतां राज्यं वणिक्खञ्जयष्टिरिव ॥५८॥

अर्थ—जो राजा पराक्रम-रहित है उसका राज्य वणिक्—व्यापारी सेठके खज्जके समान व्यर्थ है । अर्थात् जिसप्रकार प्रहार-क्रियामें कुशलता न रखनेवाले सेठका खज्ज व्यर्थ है, उसीप्रकार पराक्रमसे शून्य राजाका राज्य भी व्यर्थ है, क्योंकि उसे पराक्रमी पुरुष जीत लेते हैं ॥५८॥

भारद्वाज^२ विद्वान्ने कहा है कि 'पराक्रम-शून्य राजाका कोई भी सन्धि-विग्रहादि काषे सेठके खज्जके समान व्यर्थ है; क्योंकि वह शत्रुओंसे पराजित होजाता है ॥५९॥'

नीति—सदाचार प्रवृत्तिसे लाभ—

नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलभ्यति ॥६०॥

अर्थ—नीतिशास्त्रका ज्ञान मनुष्यको करने योग्य कार्यके स्वरूपका बोध करा देता है ॥६०॥

गर्ग^३ विद्वान्ने कहा है कि 'माता भी मनुष्यका अहित कर सकती है, परन्तु अच्छी तरह विचार पूर्वक आचरणकी हुई नीति—सदाचार प्रवृत्ति—कदापि उसका अहित नहीं कर सकती । अनीति—दुराचार रूप प्रवृत्ति—मनुष्यको खाने हुए विषकलके समान मार डालती है ॥६१॥'

हित-प्राप्ति और अहित-त्यागका उपाय—

हिताहितप्राप्तिपरिहारो पुरुषकारायत्नः ॥६२॥

अर्थ—हितकारक—सुख देने वाली—वस्तुकी प्राप्ति करना और अहित—दुःख देनेवाली—वस्तुओं को छोड़ना यह आत्मशक्ति—पुरुषार्थके अधीन है । सारांश यह है कि जो वस्तु हितकारक होनेपर भी दुर्लभ होती है उसे नैतिक मनुष्य पुरुषार्थ—आत्मशक्ति—से प्राप्त कर लेता है । एवं जो वस्तु तत्कालमें लाभदायक होनेपर भी अहित—कलकालमें दुःखदायक—होती है, उसे यह जितेन्द्रिय हांकर—अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके—आत्मशक्तिसे छोड़ देता है ॥६२॥

वात्सरायण^४ विद्वान्ने कहा है 'कि उद्योगी मनुष्य आत्मशक्तिसे हितकारक वस्तु दुर्लभ होने परभी

१ तथा च अधिपुत्रकः—सुसंनितस्य मंत्रस्य सिद्धिर्भवति शाश्वती । यदि स्यात्ताम्यथाभावे मंत्रिया सह बाधिवः । १

२ तथा च भारद्वाजः—परेषां जायते साध्वो यो राजा विक्रमय्युतः । न तेन सिद्ध्यते किञ्चिदतिना भ्रेष्टिभ्यो यथा । २

३ तथा च गर्गः—मातापि विकृतिं धाति नैव नीतिः स्वनुष्ठिता । अनीतिर्भवेन्मर्त्यं किंवाकमिव भवितव्यम् ॥१॥

४ तथा च वात्सरायणः—हितं वाप्ययत्नानिहं दुर्लभं सुलभं च वा । आत्मशक्त्याप्ययत्नान्यो हितं नैव सुलभम् ॥१॥

श्रम कर लेता है और अहितकारक सुलभ होनेपर भी छोड़ देता है एवं लाभदायक और हितकारक कार्य में प्रवृत्ति करता है ॥१३॥

मनुष्य-कर्त्तव्य—

अकालसहं कार्यमद्यस्वीनं न कुर्यात्* ॥६३॥

अर्थ—जो कार्य विलम्ब करने योग्य नहीं है—शीघ्र करने योग्य है—उसके करनेमें विलम्ब (देरी) न करना चाहिये ॥६३॥

चारायण^१ विद्वान् ने कहा है कि 'विशेष सफल होनेवाले कार्यको यदि शीघ्र न किया जावे तो समय उसके फलको पीलेता है—विलम्ब करनेसे वह कार्य सिद्ध नहीं हो पाता ॥१॥'

समय चूक जाने पर किये गये कार्यका दोष—

कालातिक्रमाच्चञ्छेद्यमपि कार्यं भवति कुठारच्छेद्यं ॥६४॥

अर्थ—समय चूक जानेपर उसके द्वारा काटने योग्य—सरलता से किया जानेवाला—कार्यभी कुल्हाड़े से काटने योग्य—अत्यन्त कठिन—हो जाता है। मारांश यह है कि जो कार्य समयपर किया जाता है वह थोड़े परिश्रम से सिद्ध—सफल—हो जाता है, परन्तु समय चूक जानेपर उसमें महान् परिश्रम करना पड़ता है ॥६४॥

शुक^२ विद्वान् ने भी कहा है कि 'मामने उपस्थित हुए किसी कार्यको यदि उस समय न किया जावे तो थोड़े परिश्रम से सिद्ध होनेवाले उस कार्यमें महान् परिश्रम करना पड़ता है ॥१॥'

नीतिज्ञ मनुष्यका कर्त्तव्य—

को नाम सचेतनः सुखसाध्यं कार्यं कृच्छ्रसाध्यमसाध्यं वा कुर्यात् ॥६५॥

अर्थ—कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा ? जोकि सुखसे सिद्ध होनेयोग्य—सरल (थोड़े परिश्रमसे सिद्ध होनेयोग्य) कार्यको दुःखसे सिद्ध होनेयोग्य (कठिन) या असाध्य (विलकुल न सिद्ध होने योग्य) करेगा ? कोई भी नहीं करेगा ॥६५॥

गुरु^३ विद्वान् ने भी कहा है कि 'बुद्धिमान् पुरुषको सुलभ कार्य कठिन या दुर्लभ नहीं करना चाहिये ॥१॥'

* 'अकालसहं कार्यं यशस्वी विलम्बेन न कुर्यात्' ऐसा पाठ मु० ब० ह० लि० मू० प्रतियों में वर्तमान है, जो कि सं० टी० पुस्तकके पाठसे विशेष अस्वाभाविक है, उसका अर्थ यह है कि नीतिको कानना रखनेवाले मनुष्यको शीघ्र करने योग्य कार्य विलम्बसे न करना चाहिये ।

१ तथा च चारायणः—अस्य तस्य हि कार्यस्य सफलस्य विशेषतः । त्विप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तरफसम् ॥१॥

२ तथा च शुकः—तत्कृणाञ्चात्र यत् कुर्यात् किञ्चित् कार्यमुपस्थितम् । स्वल्पायामेन साध्यं चेत्तत् कृच्छ्रेण प्रसिद्धयति ॥१॥

३ तथा च गुरुः—सुखसाध्यं च यत् कार्यं कृच्छ्रसाध्यं न कारयेत् । असाध्यं वा मतिर्यस्य (भवेत्किञ्चित् निरर्गला) ॥१॥

संशोधित व परिवर्तित— सम्पादक—

मंत्रियोंके विषयमें विचार और एक मंत्रीसे हानि—

एको मंत्री न कर्त्तव्यः ॥ ६६ ॥

एको हि मन्त्री निखग्रहश्चरति मुह्यति च कार्येषु कृच्छ्रेषु ॥ ६७ ॥

अर्थ—राजाको केवल एक मंत्री नहीं रखना चाहिये, क्योंकि अकेला मंत्री स्वतन्त्र होनेसे निरङ्कुश होजाता है; इसलिये वह अपनी इच्छाके अनुसार राजाका विरोधी होकर प्रत्येक कार्यको कर डालता है, और कठिनतासे निश्चय करने योग्य कार्योंमें मोह—अज्ञानको प्राप्त होजाता है।

आप्त^१—प्रामाणिक—पुरुषोंने भी कहा है कि 'विद्वान् व्यक्ति भी अकेला कर्त्तव्यमार्गमें संदिग्ध रहता है, अतः राजाको एक मंत्री नहीं बनाना चाहिये ॥ ६६—६७ ॥'

नारद^२ विद्वान्ने कहा है कि 'राजासे नियुक्त किया हुआ अकेला मंत्री अपनी इच्छानुसार कार्योंमें प्रवृत्ति करता है, उसे राजासे डर नहीं रहता तथा कठिन कार्य करनेका निश्चय नहीं कर सकता ॥ १ ॥'

दो मन्त्रियोंसे हानि—

द्वावपि मन्त्रिणौ न कार्यौ ॥ ६८ ॥

द्वौ मन्त्रिणौ संहता राज्यं विनाशयतः ॥ ६९ ॥

अर्थ—राजा दो मंत्रियोंको भी सलाहके लिये न रखे; क्योंकि दोनों मंत्री आपसमें मिलकर राज्य को नष्ट कर डालते हैं ॥ ६८—६९ ॥

नारद^३ विद्वान्ने कहा है कि 'राजा यदि दो मंत्रियोंको सलाहके लिये रखे, तो वे परस्परमें मिलकर—सलाह करके—उसके धनको नष्ट कर डालते हैं ॥ १ ॥'

दोनों मन्त्रियोंसे होनेवाली हानि—

निगृहीतो तौ तं विनाशयतः ॥ ७० ॥

अर्थ—यदि दोनों मंत्रियोंका निग्रह किया जाता है, तो वे मिलकर राजाको नष्ट कर-देते हैं ॥ ७० ॥

गुरु^४ विद्वान्ने भी कहा है कि 'समस्त राज-कर्मचारी मंत्रियोंके अधीन होते हैं; अतः राजाके प्रतिद्वन्दी—विरोधी—मंत्री उनकी सहायतासे राजाको मार देते हैं ॥ १ ॥'

राजाको जितने मंत्री रखने चाहिये—

त्रयः पंच सप्त वा मन्त्रिणस्तैः कार्याः ॥ ७१ ॥

१ 'ज्ञातसारोऽपि कलत्रेकः संदिग्धे कार्यवस्तुनि' संगृहीतः—

२ तथा च नारदः—एको मन्त्री कृतो राजा स्वेच्छया परिवर्तते । न करोति भयं राजः कृत्येषु परिमुह्यति ॥ १ ॥

३ तथा च नारदः—मन्त्रिणां द्वितयं चेत् स्यात् कथंचित् पृथिवीपतेः । अन्योन्यं मन्त्रिणां तु कुरुते विमर्शार्थं ॥ १ ॥

४ तथा च गुरुः—भूपतेः सेवका ये स्युस्तेभ्युः सचिवसम्पत्ताः । तैस्तैः सहायतां नोतैर्हन्त्युस्तं प्राणवाज्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—राजाओंको तीन, पांच या सात मंत्री नियुक्त करने चाहिये। सारांश यह है कि विषम संख्यावाले मंत्रिमंडलका परस्परमें एक मत होना कठिन है; इसलिये वे राज्यके चिरुद्ध पक्षान्तर—यथावत बगैरह—करनेमें असमर्थ रहते हैं; अतः राजाको तीन, पांच या सात मंत्री रखनेका निर्देश किया गया है ॥ ७१ ॥

परस्पर ईर्ष्या करनेवाले मंत्रियोंसे हानि—

विषमपुरुषसमूहे दुर्लभमैकमत्यं* ॥ ७२ ॥

अर्थ—यदि राजा परस्परमें ईर्ष्या करनेवाले मंत्रि-मण्डलको नियुक्त करे, तो उसकी किसी योग्य राजकीय कायमें एक सम्मति होना कठिन है ॥ ७२ ॥

राजपुत्र^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'आपसमें ईर्ष्या करनेवालोंकी किसी कार्यमें एक सम्मति नहीं होती; इसलिये राजाको परस्परमें स्पर्द्धा (ईर्ष्या) न करनेवाले—पारस्परिक प्रेम व सहानुभूतिसे रहनेवाले—मंत्रियोंकी नियुक्ति करनी चाहिये ॥ १ ॥'

बहुत मंत्रियोंसे होनेवाली हानि—

बहुवो मंत्रिणः परस्परं स्वमतीरुत्कर्षयन्ति × ॥ ७३ ॥

अर्थ—परस्परमें ईर्ष्या रखनेवाले बहुतसे मंत्री राजाके समक्ष अपनी २ बुद्धिका महत्त्व प्रकट करके अपना २ मत पुष्ट करते हैं। सारांश यह है कि ईर्ष्यालु बहुतसे मंत्री अपना २ मत पुष्ट करनेमें प्रयत्नशील होते हैं, इससे राज-कार्यमें हानि होती है ॥ ७३ ॥

रैभ्य^२ विद्वान्ने कहा है कि 'जो राजा बहुतसे ईर्ष्यालु मंत्रियोंको रखता है, तो वे अपने २ मतको उत्कृष्ट समझ कर राज-कार्यको नष्ट कर डालते हैं ॥ १ ॥'

स्वेच्छाचारी मंत्रियोंसे हानि—

स्वेच्छन्दाश्च न विजृम्भन्ते ॥ ७४ ॥

अर्थ—स्वेच्छाचारी मंत्री आपसकी उचित सलाह नहीं मानते ॥ ७४ ॥

अग्नि^३ विद्वान्ने भी कहा है कि 'स्वेच्छाचारी मंत्री राजाके हितैषी नहीं होते और मंत्रणा करते हुए उचित बातको नहीं मानते ॥ १ ॥'

* उक्त सूत्रका यह अर्थ भी होसकता है कि विषम मंत्रिमण्डल (तीन, पांच या सात) के रहनेपर उसका परस्पर मिश्रकर राजाका प्रतिद्वंद्वी (विरोधी) होना दुर्लभ है, यह अर्थ भी प्राकरणिक है; क्योंकि ७१वें सूत्र द्वारा विषम मंत्रिमंडलके रखनेका आचार्यश्रीने स्पष्टनिर्देश किया है। सम्पादक—

१ तथा च राजपुत्रः—मिथः संस्पर्धमानानां मैकं संजायते मतं । स्पर्धाहीना ततः कार्या मंत्रिणः पृथिवीभुजा ॥ १ ॥

× 'बहुवो मंत्रिणः परस्परमतिभिर्हृत्कर्षयन्ति' ऐसा सुत्रमूल प्रतिमें पाठ है, परन्तु अभिप्राय दोनोंका एक है। सम्पादक—

२ तथा च रैभ्यः—बहुं रच मंत्रियो राजा सस्पृहं करोति यः । ध्वन्ति ते नृपकार्यं यत् स्वमंत्रस्थ कृता वराः ॥ १ ॥

३ तथा च अग्निः—स्वेच्छन्दा मंत्रिणा नूनं न कुर्वन्ति यथोचितं । मंत्रं मंत्रयमालाश्च भूपर्याहिताः स्मृताः ॥ १ ॥

राजा व मनुष्य-कर्त्तव्य—

यद्वहुगुणमनपायबहुलं भवति तत्कार्यमनुष्ठेयम् ॥७५॥

अर्थ—राजा या विवेकी मनुष्यको सम्पत्ति और कीर्ति-लाभ-आदि बहुत गुणोंसे युक्त (भेष्ठ) तथा

सहित—नित्य व कल्याणकारक कार्य करना चाहिये ॥७५॥

वैमिनि! विद्वानने भी कहा है कि 'महान् राज्यके इच्छुक राजाको जो र कार्य अधिक भेष्ठ और उत्तमसे रहित व कल्याणकारक हों उन्हें करना चाहिये ॥१॥

मनुष्य-कर्त्तव्य—

तदेव भुज्यते यदेव परिणमति ॥७६॥

अर्थ—जिसका परिपाक (पचना) अच्छी तरहसे होसके, वही प्रकृति-ऋतुके अनुकूल भोजन करना है । सारांश यह है कि नैतिक मनुष्यको पचनेवाले (निरन्तर विशुद्ध, पुण्य, यशस्य, और न्याय-समर्थ) भविष्यमें कल्याण-कारक) सत् कार्य करना चाहिये । उसे न पचनेवाले समाज-द्वन्द्व और अविद्या द्वारा अपकीर्तिको फैलानेवाले अन्धाय-युक्त असत् कार्योंसे सदा दूर रहना चाहिये । इसी प्रकार राजाको भी राज्यकी श्रीवृद्धिमें उपयोगी संधि और विग्रह-आदि कार्य इसप्रकार विशुद्ध मंत्रणा से करना चाहिये, जिससे उसका भविष्य उज्ज्वल—श्रेयस्कर हो । उसे भविष्यमें होनेवाली राज्य-क्षति के कार्यों से सदा दूर रहना चाहिये ॥७६॥

जिसप्रकारके मंत्रियोंकी नियुक्तिसे कोई हानि नहीं—

यथोक्तगुणसमवायिन्येकस्मिन् युगले वा मंत्रिणि न कोऽपि दोषः ॥७७॥

अर्थ—यदि मंत्रीमें पूर्वोक्त गुण (पांचमें सूत्रमें कहे हुए द्विज, स्वदेशवासी, मदाचारी, कुलीन, वृद्धसे रहित-आदि सद्गुण) बिद्यमान हों तो एक या दो मंत्रियोंकी भी नियुक्ति करनेसे राजाकी हानि नहीं होसकती । सारांश यह है कि पूर्वमें आचार्यश्री ने एक या दो मंत्रियोंके रखनेका निषेध किया है किन्तु अब बंधार्थ सिद्धान्त प्रगट करते हैं कि पूर्वोक्त गुणों से विभूषित एक या दो मंत्रियों के रखनेमें किसी भी हानि नहीं होसकती ॥७७॥

बहुतसे मूर्ख मंत्रियोंके रखनेका निषेध—

न हि महानप्यन्धसमुदायो रूपमुपलभेत ॥७८॥

अर्थ—बहुतसे भी अन्धोंका समूह रूपको नहीं जान सकता । सारांश यह है कि जिसप्रकार अन्ध-समुदाय हरित-पीतादि रूपको नहीं जान सकता, उसीप्रकार पूर्वोक्त गुणसे शून्य व मूर्ख मंत्रियोंका समूह भी राज्य-वृद्धिके उपायोंका यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता । अतएव नीतिज्ञ राजाको मूर्ख मंत्रियोंको नहीं रखना चाहिये ॥७८॥

नैमिनि!—यद्यप्येवमस्ति कृत्वा तत्तत्कार्यं सहोमुज्ज । नोपपातो भवेत्तत्र राज्यं विपुलमिच्छता ॥१॥

दोनों मंत्रियोंके रखनेसे कोई हानि नहीं इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

अचार्यवीर्यो धुर्यो किञ्च महति भारे नियुज्यते ॥७६॥

अर्थ—दोनों बेल यदि अधिक बलिष्ठ हों, तो क्या वे दोनों महान् बोझा ढोनेके लिए गाड़ी बगै-
रह में नहीं जोते जाते ? अवश्य जोते जाते हैं । सारांश यह है कि उसीप्रकार दो मन्त्री भी यदि पूर्वोक्त
गुणोंसे अलंकृत हों, तो वे भी राज्य-भारको वहन करनेमें समर्थ होसकते हैं; अतएव उक्त गुणोंसे युक्त
दो मन्त्रियोंके रखनेमें कोई हानि नहीं है ॥७६॥

बहुतसे सहायकोंसे लाभ—

बहुसहाये रक्षि प्रसीदन्ति सर्वे एव मनोरथाः ॥८०॥

अर्थ—जिस राजाके बहुतसे सहायक (राज्यमें सहायता देनेवाले भिन्न २ विभागोंके भिन्न २
प्रधान मन्त्री आदि) होते हैं, उसे समस्त अभिलषित पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ॥८०॥

वर्ग^१ विद्वान् ने कहा है कि 'जिसप्रकार मद-शून्य हाथी और दांतोंसे रहित सर्प सुशोभित व
कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, उसीप्रकार राजाभी सहायकोंसे रहित होनेपर शोभायमान और राजकीय
कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, इसलिये उसे बहुतसे सहायक रखने चाहिये ॥८१॥'

केवल मन्त्रीके रखनेसे हानि—

एको हि पुरुषः केषु नाम कार्येष्व्वात्मानं विभजते ॥८१॥

अर्थ—अकेला आदमी अपनेको किन २ कार्योंमें नियुक्तकर सकता है ? नहीं कर सकता । सारांश
यह है कि राजकीय बहुतसे कार्य होते हैं, उन्हें अकेला मन्त्री किसप्रकार सम्पन्न कर सकता है ? नहीं कर
सकता, अतएव अलग-अलग विभागोंके लिये बहुतसे मन्त्री-आदि सहायक होने चाहिये ॥८१॥

जैमिनि^२ विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा अपनी मूर्खतासे एक मन्त्रीको ही रखता है व दूसरे सहा-
यकोंको नहीं रखता, इससे उसके बहुतसे राजकार्य नष्ट होजाते हैं ॥८१॥'

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवतिच्छाया × ॥८२॥

१ 'अचार्यवीर्यो धुर्यो किं महति भारे न नियुज्यते' ऐसा सु० मू० पु० में पाठ है, जो कि सं० टो० पु० के पाठसे
अन्वय (व्याकरणके अनुकूल) है, परन्तु सारांश दोनोंका एक सा है । संपादक—

१ तथा च वर्गः—मदहीनो यथा नागो वंशहीनो यथोरगः । असहायस्तथा राजा तत् कार्यं बह्वश्च ते ॥८१॥

२ तथा च जैमिनिः—एकं यः कुरुते राजा मन्त्रिष्वं मन्त्रिभूतः । तस्य भूरीणि कार्याणि लोदन्ति च तदाश्रयात् ॥८१॥

संशोधित व परिचित । संपादक—

× किमेकशाखाशाखिनो महतोऽपि भवतिच्छाया ? ऐसा सु० व ह० जि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु विशेष अर्थमें
नहीं है । संपादक—

अर्थ—क्या केवल एक शाखावाले वृक्षसे अधिक छाया होसकती है ? नहीं होसकती, उसीप्रकार मन्त्रियों राज्यके महान् कार्य सिद्ध नहीं होसकते ॥८२॥

अत्रि विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार एक ही शाखा (डाली) वाले वृक्षसे छाया नहीं होती, उसीप्रकार अकेले मन्त्रियोंसे राज-कार्य सिद्ध नहीं होसकते ॥१॥'

आपत्तिकालमें सहायकोंकी दुर्लभता—

कार्यकाले दुर्लभः पुरुषसमुदायः ॥८३॥

अर्थ—आपत्तिकाल आनेपर कार्य करनेवाले सहायक पुरुषोंका मिलना दुर्लभ होता है । अतएव राजा या राजा कार्यमें सहायक पुरुषोंको पहलेसे ही संग्रह करे । सारांश यह है कि यद्यपि भविष्य-कालमें आपत्तिसे बचाव करनेके लिए पहलेसे सहायक पुरुषोंके रखनेमें अधिक धनराशिका व्यय होता है, तथापि नैतिक पुरुष उसकी परवाह न करें । क्योंकि धन-व्ययकी अपेक्षा सहायक पुरुषोंके संग्रहकी योजनाओंने अधिक महत्व दिया है और इसीकारण विजिगीषू राजालोग भविष्यमें होनेवाले शत्रुओंके विपरीत आपत्तिसे राष्ट्रको सुरक्षित रखनेके लिये विशाल नैतिक-संगठन करनेमें प्रचुर धनराशिके व्ययकी ओर ध्यान नहीं देते । क्योंकि आपत्तिकाल आनेपर उसीसमय सहायक पुरुषोंका मिलना कठिन होता है ॥८३॥

किसी विद्वान् नीतिकार ने कहा है कि 'शत्रुकी पुरुषोंको आपत्तिसे छुड़कारा पानेके लिये पहलेसे सहायक पुरुष रखने चाहिये, क्योंकि आपत्ति पड़नेपर तत्काल उनका मिलना दुर्लभ होता है ॥१॥'

पहलेसे ही सहायक पुरुषोंका संग्रह न करनेसे हानि—

दीप्ते गृहे कीदृशं कूपखननम् ॥८४॥

अर्थ—मकानमें आग लगजानेपर उसे बुझानेकी तत्काल पानीके लिए कुआ खोदना क्या उचित है ? नहीं । सारांश यह है कि जिसप्रकार मकानमें लगी हुई आगको बुझानेके लिए वही समय कुआ खोदना व्यर्थ है, उसीप्रकार आपत्ति आनेपर उसे दूर करनेके लिए सहायक-संग्रह व्यर्थ है ॥८४॥

नीतिकार चाणक्य ने कहा है कि 'नैतिक पुरुषको पहलेसे ही विपत्तिके नाशका उपाय चिंतन करलेना चाहिए, अकस्मात् मकानमें आग लग जानेपर कुएँका खोदना उचित नहीं ॥१॥'

धन-व्ययकी अपेक्षा सहायक पुरुषोंके संग्रहकी विशेष उपयोगिता—

न धनं पुरुषसंग्रहाच्चहृ मन्तव्यं ॥८५॥

अर्थ—सहायक पुरुषोंके संग्रहकी अपेक्षा धनको उत्कृष्ट नहीं समझना चाहिए । इसलिए धनाभि-लाषी एवं विजिगीषू राजाओं को सहायक पुरुषोंका संग्रह करना चाहिए ॥८५॥

१ तथा च अत्रिः—यदीकशास्त्रदृष्ट्या नैवव्याप्यं प्रजायते । तर्पेकमंत्रिणा राजः सिद्धिः कृत्येषु नो भवेत् ॥१॥

२ उक्तं च—अग्ने-अग्ने मकर्त्तव्याः सहायाः सुविचेकिभिः । आपत्ताशयं ते अस्माद् दुर्लभा व्यस्तमे स्थिते ॥१॥

३ तथा च चाणक्यः—विपदानां प्रतीकारं पूर्वमेव प्रचिन्तयेत् । न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते सहसा गृहे ॥१॥

शुक^१ विद्वान्ने कहा है कि 'राजाको सहायक पुरुष-श्रेष्ठोंके बिना धन नहीं मिलता; इसलिये सम्पत्तिके अभिलाषी राजाओंको सदा वीर पुरुषोंका संग्रह करना चाहिये ॥ १ ॥'

उक्त वातका समर्थन—सहायक पुरुषोंको धन देनेसे लाभ—

सत्त्वेनै वीजमिव पुरुषेषूत्तं कार्यं शतशः फलति * ॥ ८६ ॥

अर्थ—उत्तम उपजाऊ खेतमें बोए हुए बीजकी तरह सत्पुरुषों (सहायक कार्यपुरुष—मंत्री, सेनापति और अर्थ-सचिव-आदि) को दिया हुआ धन निस्सन्देह अनेक फल देता है—अनेक आर्थिक लाभ—वगैरह प्रयोजनोंको सिद्ध करता है। सारांश यह है कि जिसप्रकार उपजाऊ पृथिवीमें बोए गये धान्यादिके बीज प्रचुर धान्य-राशिको उत्पन्न करते हैं, उसीप्रकार मंत्री, अमात्य, पुरोहित और सेनापति-आदि सहायक पुरुषोंको दिया हुआ धन भी प्रचुर धन-राशिको उत्पन्न करता है; अतएव विजिगीषु राजा या नैतिक पुरुष सहायक सत्पुरुषोंके संग्रहकी अपेक्षा धनको अधिक न समझे ॥ ८६ ॥

जैमिनि^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'उत्तम मनुष्यको दिया हुआ धन और सौंपा हुआ कार्य उपजाऊ भूमिमें बोई हुई धान्यके समान निस्सन्देह सैकड़ों फल (असंख्य धन-आदि) देता है ॥ १ ॥'

कार्य पुरुषोंका स्वरूप—

बुद्धावर्थे युद्धे च ये सहायास्ते कार्यपुरुषाः ॥ ८७ ॥

अर्थ—बुद्धि, धन और युद्धमें जो सहायक होते हैं वे कार्यपुरुष हैं। सारांश यह है कि राजाओंको राजनैतिक बुद्धि प्रदान करनेवाले प्रधान मंत्री और पुरोहित आदि, सम्पत्तिमें सहायक अर्थ-सचिव वगैरह और युद्धमें सहायक सेनासचिव-आदि इनको 'कार्यपुरुष' कहते हैं, अन्यको नहीं ॥ ८७ ॥

शौनक^३ विद्वान्ने कहा है कि 'जो राजाको कर्त्तव्य (संधि-विग्रहादि) में अज्ञान होनेपर बुद्धि, संकट पड़ने पर धन एवं शत्रुओंसे लोहा लेनेके समय सैनिक शक्ति देकर उसकी सहायता करते हैं, उन्हें (प्रधान मंत्री, अर्थसचिव और सेनासचिव-आदि को) 'कार्यपुरुष' माना गया है ॥ १ ॥'

जिस समयमें जो सहायक होते हैं—

खादनवारायां को नाम न सहायः X ॥ ८८ ॥

अर्थ—भोजनके समय कौन सहायक नहीं होता? सभी सहायक होते हैं। सारांश यह है कि

१ तथा च शुकः—न बाह्यं पुरुषैर्दायां धनं भूपस्य जायते । तस्माद्वसार्थिना कार्यः सर्वदा वीरसंग्रहः ॥ १ ॥

* 'सत्त्वेनै वीजमिव कार्यपुरुषेषूत्तं धनं शतशः फलति' इसप्रकार का सु० मू० च इ० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

२ तथा च जैमिनिः—सक्रे योजितं कार्यं धनं च शतशः भवेत् । सुत्वेनै वापितं यद्वत् सस्यं सद्गदसंशयं ॥ १ ॥

३ तथा च शौनकः—मोहे यच्छन्ति ये बुद्धिमर्थे कृच्छं तथा धनं । वैरिसंघे सहायन्ते ते कार्यपुरुषा मतरः ॥ १ ॥

X 'खादनवारायां न को नाम कस्य न सहायः' तथा सु० मू० पुस्तकमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

सम्पत्तिके समय सभी पुरुष सहायक होजाते हैं, परन्तु अब मनुष्यके ऊपर आपत्ति पड़ती है तब कोई सहायता नहीं करता; इसीलिये आपत्ति आनेके पूर्व ही सहायक पुरुषोंका संग्रह कर लेना श्रेष्ठ है ॥ ८८ ॥

वर्ग* विद्वान्ने भी कहा है कि 'जब गृहमें धन होता है, तब साधारण व्यक्ति भी मित्र होजाता है, परन्तु धनके नष्ट होजाने पर बन्धु जन भी तरकाल शत्रुता करने लगते हैं ॥ १ ॥'

जिसप्रकारके पुरुषको मन्त्रणा करनेका अधिकार नहीं—

भाद्र इवाश्रोत्रियस्य न मंत्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो मनुष्य धार्मिक क्रियाकांडोंका विद्वान् नहीं है, उसको जिसप्रकार भाद्रक्रिया (भद्रासे किया जानेवाला दान पुण्य) करानेका अधिकार नहीं है, उसीप्रकार राजनीति-ज्ञानसे शून्य—मूर्ख—मंत्रीको भी मन्त्रणा (उचित सलाह) का अधिकार नहीं है ॥ ८९ ॥

मूर्ख मंत्रीका दोष—

किं नामान्धः पश्येत् ॥ ९० ॥

अर्थ—क्या अंधा मनुष्य कुछ देख सकता है ? नहीं देख सकता । सारांश यह है कि वसीप्रकार अंधेके समान मूर्ख मंत्री भी मंत्रका निश्चय नहीं कर सकता ॥ ९० ॥

शौनक* विद्वान्ने भी कहा है कि 'यदि अंधा पुरुष कुछ घट-पटादि वस्तुओंको देख सकता हो, तब कहीं मूर्ख मंत्री भी राजाओंके मंत्रको जान सकता है ॥ १ ॥'

मूर्ख राजा और मूर्ख मंत्रीके होनेसे हानि—

किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते ॥ ९१ ॥

अर्थ - यदि अंधे मनुष्यको दूसरा अंधा जेजाता है, तो भी क्या वह सममार्ग (गड्ढे और कंकड़-पथरोंसे रहित एकसे रास्ते) को देख सकता है ? नहीं देख सकता । सारांश यह है कि वसीप्रकार यदि मूर्ख राजा भी मूर्ख मंत्रोंकी सहायतासे सवि-विग्रहादि राजकार्योंकी मन्त्रणा करे, तो क्या वह उसके फल (विजयलक्ष्मी व अर्थ-लाभ-आदि) प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता ॥ ९१ ॥

शुक्र* विद्वान्ने भी कहा है कि 'यदि अन्ध मनुष्य दूसरे अन्धके द्वारा खींचकर मार्गमें जेजाया जावे, तथापि यदि वह (अन्ध) ठीक रास्तेको देख सके, तब कहीं मूर्ख राजाभी मूर्ख मंत्रीकी सहायता से मंत्र—राजकीय उचित सलाह—का निश्चय कर सकता है । सारांश यह है कि उक्त दोनों कार्य असंभव हैं, इसलिये राज-मंत्रीको राजनीतिका विद्वान् होना चाहिये ॥१॥'

१ तथा च वर्गः—यदा ह्यान्मन्दिरे क्षयमीत्यदन्कोऽपि सुहृज्जवेत् । वित्तकमे तथा वन्धुरतत्त्वचाद् दुर्जनायते ॥ १ ॥

१ तथा च शौनकः—यद्यन्धो वीचयते किञ्चिद् घटं वा पश्येत् च । तदा मूर्खोऽपि यो मंत्री मंत्रं पश्येत् स भूयताम् ॥१॥

२ 'न अन्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते' ऐसा मु० च ६० छि० मू० प्रतियोगे पाठ है, परन्तु अर्थ-मेव

कृष्य नहीं । संपादक—

३ तथा च शुक्रः—अन्धेनाकृष्यमाणोऽत्र वेदन्धो मार्गवीचकः । अन्धेनमूर्खमूपोऽपि मंत्रं वेत्त्यशमन्त्रियः ॥१॥

मूर्ख मंत्रीसे कार्य-सिद्धि निश्चित नहीं है, इसका दृष्टान्तों द्वारा समर्थन—

तदन्धवर्तकीयं काकतालीयं वा यन्मूर्खमंत्रात् कार्यसिद्धिः ॥६२॥

अर्थ—मूर्ख मंत्रीकी मंत्रणा—सलाहसे भी कभी किसी समय कार्य-सिद्धि होजाती है, परन्तु वह अन्धके हाथ आई हुई बटेर—(चिड़िया विशेष)—को न्यायके समान अथवा काकतालीय न्याय (ताड़वृक्षके नीचेसे उड़कर जानेवाले कौएको उसीसमय उस वृक्षसे गिरनेवाले ताड़फलकी प्राप्ति रूप न्याय) के समान सार्वकालिक—सदा होनेवाली और निश्चित नहीं होती। अर्थात्—जिसप्रकार अन्धके हाथोंमें कभी किसी समय भाग्योदय से बटेर पक्षी अचानक आजाता है परन्तु उसका मिलना सदा व निश्चित नहीं है।

अथवा जिसप्रकार ताड़वृक्षके नीचे से उड़कर जानेवाले कौएके मुखमें उसीसमय उस वृक्षसे गिरनेवाले ताड़फलका प्राप्त होना, कभी उसके भाग्योदय से होजाता है, परन्तु सार्वकालिक व निश्चित नहीं है, उसीप्रकार राजाको भी भाग्योदय से, मूर्ख मंत्रीकी मंत्रणाने कार्यसिद्धि होजाती है, परन्तु वह सदा और निश्चित नहीं होती।

स्पष्टीकरण—अन्धके हाथमें प्राप्त हुई बटेर-न्याय—कभी बटेर (चिड़िया विशेष) अन्धके शिर पर बैठ जाती है। वह 'मेरे शिरपर क्या चीज आपड़ी' ? ऐसा समझकर उसे अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लेता है, यह 'अन्धके हाथमें आई हुई बटेर-न्याय' है प्रकरणमें जिसप्रकार यद्यपि बटेरकी प्राप्ति चक्षुष्मान् (आँखोंवाले) पुरुषकी तरह अन्धको भी हुई, परन्तु अन्धको उसकी प्राप्ति कदाचित् भाग्योदय से होती है, सदा व निश्चित रीतिसे नहीं। उसीप्रकार राजाको भी मूर्ख मंत्रीकी मंत्रणा से कदाचित् भाग्योदय से कार्य-सिद्धि होसकती है, परन्तु वह सार्वकालिक और नियत नहीं।

इसीप्रकार काकतालीयन्याय—ताड़ वृक्षमें चिरकालसे फल लगता है और वह कभी ताड़ वृक्ष से टूट कर गिरते समय उसके नीचे मार्ग से जाते हुए कौएके मुखमें भाग्योदयसे प्राप्त होजाता है उसे 'काकतालीयन्याय' कहते हैं। उक्त प्रकरणमें जिसप्रकार ताड़ वृक्षके फलकी प्राप्ति कौएको कभी भाग्योदय से होजाती है, परन्तु वह सार्वकालिक और नियत नहीं, उसीप्रकार मूर्ख मंत्रीकी मंत्रणासे राजाको भी कदाचित् भाग्योदय से कार्यसिद्धि होसकती है, परन्तु सदा और निश्चित नहीं होसकती ॥६२॥

गुरु विद्वान्ते भी कहा है कि 'मूर्खकी मंत्रणासे किसीप्रकार जो कार्य-सिद्धि होती है, उसे अन्धके हाथमें आई हुई बटेर-न्याय एवं काकतालीय-न्यायके समान कदाचित् और अनिश्चित समझनी चाहिये ॥६३॥'

मूर्ख मंत्रियोंको मंत्र-ज्ञान जिसप्रकार का होता है—

स घृणाचरन्यायो यन्मूर्खेषु मंत्रपरिज्ञानम् ॥६३॥

१ तथा च गुरुः—अन्धवर्तकमेवैतत् काकतालीयमेव च । यन्मूर्खमंत्रतः सिद्धिः कथंचिदपि जायते ॥१॥

॥ मु० मू० प्रतिमें 'कार्यपरिज्ञान' ऐसा पाठ है, उसका अर्थ-कर्तव्य-निश्चय है, विशेष अर्थमें कुछ नहीं। संपादक—

कर्म—मूर्ख मनुष्यको मंत्रणाका ज्ञान घुणाक्षरन्यायके समान कदाचित् होजाता है, परन्तु निश्चित नहीं है ।

विशेष—घुणाक्षरन्याय—घुण (कोड़ाविशेष) लकड़ीको घीरे २ खाता है, उससे उसमें विषित्र होजाती है, उनमेंसे कोई रेखा कदाचित् अक्षराकार (क, ख-आदि अक्षरोंकी आकृतिवाली) होजाती है उसे 'घुणाक्षरन्याय' कहते हैं । उक्त प्रकरणमें जिसप्रकार घुणसे लकड़ीमें अक्षरका बनना कदाचित् होता है, उसीप्रकार मूर्ख पुरुषसे मंत्रणाका ज्ञान भी कदाचित् भाग्योदयसे होसकता है, परन्तु निश्चित व सदा नहीं होसकता ॥६३॥

गुरु विद्वान् ने भी कहा है कि 'मूर्ख मनुष्योंको मंत्र (सलाह) का ज्ञान घुणाक्षरन्यायके समान कदाचित् होता है, परन्तु निश्चित न होनेसे उसे ज्ञान नहीं कहा जासकता ॥६१॥'

शास्त्रज्ञानसे शून्य मनकी कर्त्तव्य-विमुखता—

धनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत् ॥६४॥

कर्म—शास्त्रज्ञानसे शून्य जहात्मक मन ज्योति-रहित नेत्रके समान कितना कर्त्तव्य-बोध कर सकता है, नहीं कर सकता । सारांश यह है कि जिसप्रकार अन्धा पुरुष ज्योति-हीन नेत्रोंके द्वारा घट-पटादि वस्तुओंको नहीं देख सकता, उसीप्रकार जिस मनुष्यका मन शास्त्रज्ञानके संस्कारसे शून्य है, वह भी कर्त्तव्यका निश्चय नहीं कर सकता ॥६४॥

गुरु विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार ज्योति-हीन बहुत किसी भी घट-पटादि वस्तुको नहीं देख पाता, उसीप्रकार शास्त्र ज्ञानसे शून्य मन भी मंत्रणाका निश्चय नहीं कर सकता ॥६१॥'

सम्पत्ति-प्राप्तिका उपाय—

स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति न पुनरभिजात्यं पांडित्यं वा ॥६५॥

कर्म—स्वामीकी प्रसन्नता सम्पत्तिको पैदा करती है, कुलीनता व विद्वत्ता नहीं । अर्थात्—चाहित सम्पत्ति कितना ही विद्वान् और उच्च कुलका क्यों न हो, परन्तु यदि उससे उसका स्वामी प्रसन्न नहीं है, तो वह कदापि धन प्राप्त नहीं होसकता ॥६५॥

गुरु विद्वान् ने कहा है कि 'संसारमें बहुतसे कुलीन और विद्वान् पुरुष दरिद्र दिखाई देते हैं, परन्तु कृपा राजाकी कृपा है, वे मूर्ख व कुल-हीन होनेपर भी धनाढ्य देखे जाते हैं ॥६१॥'

मूर्खमूर्खोंके स्वभावका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

हरकथं लोकोऽपि कालकूटः काल एव ॥६६॥

कर्म व गुरु—वन्मूर्खेषु परिज्ञानं जायते मंत्रसंभवम् । स हि घुणाक्षरन्यायो न तज्ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥६७॥

कर्म व गुरु—काकोरहित नेत्रं यथा किञ्चित् पश्यति । तथा शास्त्रविहीनं वन्मतो मंत्रं न पश्यति ॥६८॥

कर्म व गुरु—कुलीना पण्डिता दुःस्था दृश्यन्ते बहुषो जनाः । मूर्खाः कुलविहीनारश्च धनाढ्या राजवत्सवन् ॥६९॥

अर्थ—शिवजीके श्वेत कण्ठमें लगा हुआ भी विष विषही है। अर्थात् वह अपने नाशकारक स्वभावको नहीं छोड़ सकता अथवा कृष्णसे श्वेत नहीं होमकता। सारांश यह है कि जिसप्रकार विष शिवजीके अत्यन्त श्वेत कंठके आश्रयसे अपने प्राण-घातक स्वभावको नहीं छोड़ सकता, उसीप्रकार ब्रह्म-मूर्ख मनुष्यभी राज-मंत्री आदि ऊँचे पदोंपर अधिष्ठित होनेपर भी अपने मूर्खता-पूर्ण स्वभावको नहीं छोड़ सकता ॥ ६६ ॥

सुन्दरसेन^१ विद्वान् ने भी कहा है कि 'वस्तुका स्वभाव उपदेशसे बदला नहीं जासकता, क्योंकि जल भी गरम होजानेपर पुनः अपने शीतल स्वभावको प्राप्त होजाता है ॥१॥'

मूर्ख मंत्रियोंको राज्य-भार सौंपनेसे हानि—

स्वधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारोपणम् ॥६७॥

अर्थ—जो राजा मूर्ख मंत्रियोंको राज्य-भार समर्पण करता है, वह अपने नाशके लिए की गई मंत्र-सिद्धिके समान अपना नाशकर डालता है। सारांश यह है कि जिसप्रकार कोई मनुष्य अपने शत्रु-वध करनेके उद्देश्यसे मंत्रविशेष सिद्ध करता है, उसके सिद्ध होजानेपर शत्रु-वध करनेके लिए एक विशेष प्रगट होता है, परन्तु यदि शत्रु जप, होम और दानादि करनेसे विशेष बलवान् होता है, तब वह पिशाच शत्रुको न मारकर उल्टा मंत्रसिद्धि करनेवालेको मार डालता है, उसीप्रकार राजाभी मूर्ख मंत्रियोंको राज्य-भार सौंपनेसे अपना नाश कर डालता है ॥६७॥

शुक्र^२ विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा अपना राज्य-भार मूर्ख मंत्रियोंको सौंप देता है, वह अपना नाश करनेके लिये मंत्रविशेष सिद्ध करता है ॥१॥'

कर्तव्य-विमुख मनुष्यके शास्त्रज्ञानकी निष्फलता—

अकार्यवेदिनः किं बहुना शास्त्रेण ॥६८॥

अर्थ—जो मनुष्य कर्तव्य (हित-प्राप्ति व अहित-परिहार) को नहीं जानता—बतुर नहीं है, उसका बहुत शास्त्रोंका अभ्यास व्यर्थ है ॥६८॥

रैभ्य^३ विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो व्यक्ति कर्तव्य-परायण नहीं, उसका बड़ा हुआ बहुत शास्त्रोंका अभ्यास भस्ममें हवन करनेके समान व्यर्थ है ॥१॥'

१ तथा च सुन्दरसेनः—[स्वभावो नोपदेशेन] शक्यते कर्तुं सम्यथा । सुतप्तान्यपि तीयानि पुनर्गच्छन्ति शीतलाम् ॥१॥
नोट—उक्त श्लोकका प्रथम चरण संशोधित एवं परिवर्तित किया गया है; क्योंकि सं० टी० पुस्तकमें अष्टम सुद्धित था । सम्पादक—

२ तथा च शुक्रः—मूर्खमंत्रिषु यो भारं [राजोत्थं संप्रयच्छति] । आत्मनाशाय कुर्यात् स उत्थापयति भूमिपः ॥१॥
नोट—उक्त पद्यका दूसरा चरण संशोधित किया गया है । सम्पादक—

३ तथा च रैभ्यः—म कार्यं यो निजं वेत्ति शास्त्राभ्यासेन तस्य किं । [बहुनाऽपि वृक्षार्धेन] यथा भस्महुतेन च ॥१॥
नोट—उक्त पद्यका तीसरा चरण संशोधित किया गया है । सम्पादक—

गुणहीन मनुष्यकी कड़ी आलोचना—

गुणहीन धनुः पिंजनादपि कष्टम् ॥६६॥

अर्थ—जिसप्रकार खोरी-शून्य धनुषको शत्रु पर प्रहार करनेके लिये चढ़ाना व्यर्थ है, उसीप्रकार जो मूर्खज्ञान, सदाचार और वीरता-प्रभृति गुणोंसे शून्य (मूर्ख) है, उसको केवल स्वांस लेने मात्रसे लाभ है ? कोई लाभ नहीं—उसका जन्म निरर्थक है ॥६६॥

‘वैमिनि’ विद्वान् ने भी कहा है कि ‘गुण-शून्य राजा खोरी-रहित धनुषके समान निरर्थक है ॥६॥’

राज-मंत्रीके महत्वका कारण—

चक्षुष इव मंत्रिणोऽपि यथार्थदर्शनमेवात्मगौरवहेतुः ॥१००॥

अर्थ—जिसप्रकार नेत्रकी सूक्ष्मदृष्टि उसके महत्व-प्रशंसाका कारण होती है, उसीप्रकार राज-मंत्री भी यथार्थदृष्टि (सन्धि-विग्रह-आदि कार्य-साधक मंत्रका यथाभेदान्) उसको राजा द्वारा गौरव प्राप्त करने का कारण होती है ॥१००॥

‘वैमिनि’ विद्वान् ने भी कहा है कि ‘जिसप्रकार सूक्ष्मदृष्टि-युक्त नेत्रोंको लोकमें प्रशंसा होती है, उसी-प्रकार मंत्रस्थानमें चतुर मंत्रोंकी भी राजा द्वारा प्रशंसा की जाती है ॥१॥’

मंत्र-सलाहके अयोग्य व्यक्ति—

शस्त्राधिकारिणो न मंत्राधिकारिणः स्युः ॥१०१॥

अर्थ—शस्त्र-संचालन करनेवाले—केवल वीरता प्रकट करनेवाले—क्षत्रिय लोग मंत्रणा करनेके योग्य नहीं हैं ॥१०१॥

‘वैमिनि’ विद्वान् ने कहा है कि ‘राजाको मंत्रणा-निश्चय करनेके लिये क्षत्रियोंको नियुक्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे केवल युद्ध करनेकी सलाह देना जानते हैं ॥१॥’

पुष्पक वातका समर्थन—

क्षत्रियस्य परिहरतोऽप्यायात्युपरि भंडनं ॥१०२॥

अर्थ—क्षत्रियको रोकने पर भी केवल कलह करना ही सुकृता है, अतः उसे मंत्री नहीं बनाना चाहिये ॥१०२॥

गुणहीन धनुः पिंजनादप्यधिक ? निहृष्टम् । वेला पाठान्तर सु० सू० प्रतिमें है । यद्यपि अर्थमेव कुछ नहीं है, किन्तु इसकी अपेक्षा उक्त सं० टी० पुस्तकका पाठ अच्छा है । सम्पादक—

‘वैमिनि’—गुणहीनरूप यो राजा स व्यर्थरचापयष्टिचत् ॥६॥

‘वैमिनि’—सूक्ष्माक्षोकस्य नेत्रस्य यथा संसा प्रजायते । मंत्रिणोऽपि सुमंत्रस्य तथा सा नृपसंभवा ॥१॥

‘वैमिनि’—मंत्रस्थाने न कर्तव्याः क्षत्रियाः दृढिबीभुजा । यतस्ते केवलं मंत्रं प्रपश्यन्ति रथोज्ज्वलम् ॥१॥

वगे^१ विद्वान्ने कहा है कि 'क्षत्रियका क्षात्र-तेज रोकने पर भी प्रायः करके युद्ध करनेके लिये प्रवृत्त करता है; इसलिये उसे मंत्रणाके कार्यमें नहीं रखना चाहिये ॥ १ ॥'

क्षत्रियोंकी प्रकृति—

शस्त्रोपजीविनां कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्तं न जीर्यति ॥ १०३ ॥

अर्थ—शस्त्रोंसे जीविका करनेवाले (क्षत्रियों) को लड़ाई किये बिना खाया हुआ भोजन भी नहीं पचता; अतः क्षत्रिय लोग मंत्री पदके योग्य नहीं ॥ १०३ ॥

भागुरि^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'शस्त्रोंसे जीविका करनेवाले क्षत्रियोंको किसीके साथ युद्ध किये बिना पेटका अन्न भी नहीं पच पाता ॥ १ ॥'

गर्व—अभिमान—करनेवाले पदार्थ—

मंत्राधिकारः स्वामिप्रसादः शस्त्रोपजीवनं चेत्येकैकमपि पुरुषमुसेत्कथति किं पुनर्न समुदायः ॥ १०४ ॥

अर्थ—मंत्री-पदकी प्राप्ति, राजाकी प्रसन्नता व शस्त्रोंसे जीविका करना (क्षत्रियपन) इनमें से प्राप्त हुई एक २ वस्तु भी मनुष्यको उन्मत्त—अभिमानो बना देती है, पुनः क्या उक्त तीनों वस्तुओंका समुदाय उन्मत्त नहीं बनाता ? अवश्य बनाता है ॥ १०४ ॥

शुक^३ विद्वान्ने कहा है कि 'राजाकी प्रसन्नता, मंत्री-पदका मिलना और क्षत्रियपन इनमेंसे एक २ वस्तु भी मनुष्यको अभिमान पैदा करती है, पुनः जिसमें ये तीनों हों उसका तो कहना ही क्या है ? ॥ १ ॥'

अधिकारी(मंत्री वगैरह)का स्वरूप—

नालम्पटोऽधिकारी * ॥ १०५ ॥

अर्थ—जो मनुष्य निःस्पृह (धनादिकी चाह नहीं रखनेवाला) होता है, वह अधिकारी (मंत्री-आदि कर्मचारी) नहीं होसकता । सारांश यह है कि अमात्य-आदि कर्मचारी अवश्य धनादिकी लाकसा रखेंगे ॥ १०५ ॥

बलभद्र^४ विद्वान्ने भी कहा है कि 'धनादिकी चाह न रखनेवाला व्यक्ति मंत्री-आदि अधिकारी नहीं होता, बेष-भूपासे प्रेम रखनेवाला काम-वासनासे रहित नहीं होता, मूर्ख पुरुष प्रियवादी नहीं होता और स्पष्टवादी धोखेबाज नहीं होता ॥ १ ॥'

१ तथा च वगैः—अथिमायमपि प्रायः क्षात्रं तेजो विवर्धते । युद्धार्थं तेन संरक्ष्यः क्षत्रियो मंत्रकर्मणि ॥ १ ॥

२ तथा च भागुरिः—शस्त्रोपजीविनामवमुदरस्थं न जीर्यति । पायत् केनापि नो युद्धं साधुनापि समं भवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुकः—नृपप्रसादो मंत्रित्वं शस्त्रजीवनं स्मयं क्रियात् । एकैकोऽपि नरस्यात्र किं पुनर्न ते प्रयः ॥ १ ॥

* 'न लम्पटो अधिकारी भवति' ऐसा मु० सू० मतमें पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि स्त्री व धनादिका सोभी पुरुष अधिकारी—मंत्री आदिके पदमें नियुक्त करने योग्य—नहीं है ।

४ तथा च बलभद्रः—निःस्पृहो नाधिकारी स्वाध्याकासी मयकनप्रियः । मविद्वजः प्रियं मूयात् स्फुटवक्ता न बंधकः ॥ १ ॥

धन-लम्पट राज-मन्त्रीसे हानि—

मन्त्रिणोऽर्थग्रहणालालसायां मतौ न राज्ञः कार्यमर्थो वा ॥ १०६ ॥

अर्थ—जिसके मंत्रीकी बुद्धि धन-ग्रहण करनेमें लम्पट—आसक्त होती है, उस राजाका न तो कोई कार्य ही सिद्ध होता है और न उसके पास धन ही रह सकता है ॥ १०६ ॥

गुरु^१ विद्वान्ने कहा है कि 'जिस राजाका मंत्री धन-ग्रहण करनेकी लालसा रखता है; उसका कोई भी राज-कार्य सिद्ध नहीं होता और उसे धन भी कैसे मिल सकता है ? नहीं मिल सकता ॥ १ ॥'

उक्त बातकी दृष्टान्त द्वारा पुष्टि—

वरणार्थं प्रेषित इव यदि कन्यां परिणयति तदा वरयितुस्तप एव शरणम् ॥ १०७ ॥

अर्थ—जब कोई मनुष्य किसीकी कन्याके साथ विवाह करनेके उद्देश्यसे कन्याको देखनेके लिये अपने संबंधी (मामा, बंधु, चाचा और दूत-आदि) को भेजता है और वह वहाँ जाकर स्वयं उस कन्याके साथ यदि अपना विवाह कर लेता है, तो विवाहके इच्छुक उस भेजनेवालेको तपश्चर्या करनी ही श्रेष्ठ है; क्योंकि स्त्रीके बिना तप करना उचित है। प्रकरणमें उसीप्रकार जिस राजाका मंत्री धन-लम्पट है, उसे भी अपना राज्य छोड़कर तपश्चर्या करना श्रेष्ठ है; क्योंकि धनके बिना राज्य नहीं चल सकता और धनकी प्राप्ति मन्त्री-आदिको सहकारितासे होती है ॥ १०७ ॥

गुरु^२ विद्वान्ने कहा है कि 'जिस राजाका मंत्री कुत्तेके समान शक्ति व सज्जनोंका मार्ग (देक्स-आदिके द्वारा अप्राप्त धनकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा-आदि) रोक देता है, उसकी राज्य-स्थिति कैसे रह सकती है ? नहीं रह सकती ॥ १ ॥

उक्त बातका अन्य दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

स्थाल्येव भक्तं चेत् स्वयमरनाति कुतो भोक्तुर्भक्तिः ॥ १०८ ॥

अर्थ—यदि थाली अन्न-आदि भोजनको स्वयं खाजावे, तो खानेवालेको भोजन किसप्रकार मिल सकता है ? नहीं मिल सकता। उसीप्रकार यदि मंत्री राज्य-द्रव्यको स्वयं हड़प करने लगे तो फिर राज्य किसप्रकार चल सकता है ? नहीं चल सकता ॥ १०८ ॥

विदुर^३ विद्वान्ने कहा है कि 'जिस गायके समस्त दूधको उसके बछड़ेने चखा देकर पी बांटा है, तब उससे स्वामीकी दूधिके लिये झाँझ किसप्रकार उत्पन्न होसकती है ? नहीं होसकती, इसीप्रकार जब राज-मंत्री राजकीय समस्त धन हड़प कर लेता है, तब राजकीय व्यवस्था (शिष्टपालन-दुष्ट

१ तथा च गुरुः—यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहणालालसः । तस्य कार्यं न सिद्धयेत् भूमिपत्य कुतो धनं ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—निरुद्धि सतां मार्गं स्वयमाहित्य शक्तिः । स्वाकारः सचिदो यस्य तस्य राज्यस्थितिः कुतः ॥ १ ॥

३ तथा च विदुरः—दुग्धमाकृत्य चाभ्येन पीतं बत्सेन गौ यदा । तदा तर्कं कुतस्तस्याः स्वामिनस्तृप्तये भवेत् ॥ १ ॥

निग्रह-आदि) किसप्रकार होसकती है ? नहीं होसकती । इसलिये राजमंत्री धन-लम्पट नहीं होना चाहिये ॥ १ ॥

पुरुषोंकी प्रकृति—

तावत् सर्वोऽपि शुचिर्निःस्पृहो यावन्न परवरस्त्रीदर्शनमर्थागमो वा ॥ १०६ ॥

अर्थ—तब तक सभी मनुष्य पवित्र और निर्लोभी रहते हैं, जब तक कि उन्होंने दूसरोंकी उरकृष्ट और कमन्तीय कान्ताओं (स्त्रियों) व धन-प्राप्तिको नहीं देखा ॥ १०६ ॥

बर्ग^१ विद्वान्ने कहा है कि 'जब तक मनुष्य दूसरेकी स्त्री और धनको नहीं देखता, तभी तक पवित्र और निर्लोभी रह सकता है, परन्तु इनके देखने से उसके दोनों गुण (पवित्रता व निर्लोभीपन) नष्ट होजाते हैं ॥१॥'

निर्दोषीको दूषण लगाने से हानि—

अदृष्टस्य हि दूषणं सुमध्यालप्रबोधनमिव ॥११०॥

अर्थ—निर्दोषी पुरुषको दूषण लगाना, सोते हुए सर्प या व्याघ्रको जगानेके समान हानिकारक है । अर्थात् जिसप्रकार सोते हुए सर्प या व्याघ्रको जगानेसे जगानेवालेकी मृत्यु होती-है, उसीप्रकार निर्दोषीको दूषण लगानेसे मनुष्यकी हानि होती है; क्योंकि ऐसा करनेसे निर्दोषी व्यक्ति बैर-विरोध करके उसकी यथाशक्ति हानि करनेमें प्रयत्नशील रहता है ॥११०॥

गुरु^२ विद्वान्ने कहा है कि 'जो मुख् किसी निर्दोषी शिष्ट पुरुषको दूषण लगाता है, वह अपनी मृत्यु करानेके लिये सोते हुए सर्प या व्याघ्रको जगानेके समान अपनी हानि करता है ॥११॥'

जिसके साथ मित्रता न करनी चाहिये—

येन सह चित्तविनाशोऽभूत्, स सन्निहितो न कर्षव्यः ॥१११॥

अर्थ—जिसके व्यवहार से मन फट चुका हो, उसके साथ मित्रता न करनी चाहिये ॥१११॥

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण—

सकृद्विघटितं चेतः स्फटिकवलयमिव कः सन्धातुमीश्वरः ॥ ११२ ॥

अर्थ—बैर-विरोधके कारण एकबार फटे हुए मनको स्फटिकमणिके कङ्कण समान कौन जोड़नेमें समर्थ है ? कोई नहीं ॥११२॥

१ 'अर्थाधिगमो वा' ऐसा मू० मू० प्रतिमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं । सम्पादक—

२ तथा च बर्गः—तावच्छुचिर्बलीभः स्यात् तावन्नेचेत् परस्त्रियं । विषं च दर्शनात्ताभ्यां द्वितीयं तत् प्रथमवति ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—सुखसुखमहिं मुखो व्याघ्रं वा यः प्रबोधयेत् । स साधोर्दूषणं दद्याद्विदोषस्यात्ममृत्यवे ॥१॥

० उक्त सूत्र सं० टी० पुस्तकमें न होनेपर भी प्राकरणिक होनेके कारण सु० मू० व इ० लि० मू० प्रतियोंमें वर्तमान होने से संकलन किया गया है । सम्पादक—

जैमिनि^१ विद्वान्ने कहा है कि 'जिसप्रकार लोकमें दूटा हुआ पाषाण-कंकण पुनः जुड़ नहीं सकता, उसीप्रकार पूर्व वैरके कारण दूषित—प्रतिकूलताको प्राप्त हुआ—शत्रुका चित्त पुनः अनुराग-युक्त नहीं होसकता ॥११॥

जिस कारण से स्नेह नष्ट होता है—

न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्युपकारेण ॥११३॥

अर्थ—महान् उपकारसे भी मनमें उतना अधिक स्नेह उपकारीके प्रति नहीं होता, जितना अधिक मन थोड़ासा अपकार (द्रोह-आदि) करने से फट जाता है ॥११३॥

वात्सरायण^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'लोकमें थोड़ासा अपकार करनेसे जैसा अधिक वैर-विरोध उत्पन्न होजाता है, वैसा बहुत उपकार करनेसे भी स्नेह नहीं होता ॥११॥'

शत्रुओंके कार्य—

सूचीमुखसर्पवन्मानपकृत्य विरमन्त्यपराद्धाः ॥११४॥

अर्थ—शत्रुलोग दृष्टि-विषवाले सर्पकी तरह अपकार किये बिना विभ्राम नहीं लेते ॥११४॥

भृगु^३ विद्वान्ने कहा है कि 'जिसप्रकार दृष्टिविष-युक्त सर्प देखने मात्रसे अपकार (जहर पैदा करके मारना) पैदा करता है, उसीप्रकार सभी शत्रु लोग भी अपकारसे रहित नहीं होते, अर्थात् ये भी महान् अपकार करते हैं ॥११॥'

काम-वेग से हानि—

अतिवृद्धः कामस्तथास्ति यन्न करोति ॥११५॥

अर्थ—कामी पुरुष अत्यन्त बड़ी हुई कामवासनाके कारण संसारमें ऐसा कोई अकार्य नहीं, जिसे नहीं करता। अर्थात् सभी प्रकारके निन्दनीय व धृष्टित कार्य करता है ॥ ११५ ॥

उक्त बातका पौराणिक दृष्टान्तमात्रा द्वारा समर्थन—

श्रूयते हि किल कामपरवशाः प्रजापतिरात्मदुहितरि, हरिर्गोपिबधूषु, हरः शान्तनु-
कलत्रेषु, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चन्द्रश्च बृहस्पतिपरन्यां मनश्चकारेति ॥११६॥

अर्थ—पुराणोंमें प्रसिद्ध है कि मरुताजी कामके बशीभूत होकर अपनी सरस्वती नामकी पुत्रीमें, कृष्ण

१ तथा च जैमिनिः—पाषाणघटितस्यात्र सन्धिर्भग्नश्च नो यथा । कंकणस्येव चित्तस्य तथा वै दूषितस्य च ॥११॥

२ तथा च वात्सरायणः—न तथा जायते स्नेहः प्रभूतैः सुकृतैर्बहुः । स्वल्पेनाप्युपकारेण यथा वैरं प्रजायते ॥११॥

३ तथा च भृगुः—यो दृष्टिविषः सर्पो दृष्टस्तु चिकृष्टिं भजेत् । तथापराधिनः सर्वे न स्तुर्विहृतिवर्जिताः ॥११॥

स्वालोक की स्त्रियोंमें, शिवजी गंगा नामकी शान्तनुकी स्त्रीमें, इन्द्र गौतमकी स्त्री अहल्यामें और चन्द्र धारानामकी वृद्धपत्नी की स्त्रीमें आशक्त हुए ॥११६॥

मनुष्योंकी धन-वाञ्छाका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

अथेषूपभोगरहितास्तर वोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः ॥११७॥

अर्थ—जब कि वृक्ष अपने धन—पुष्प-फलादि-का उपभोग नहीं करते, तथापि वे भी धनके इच्छुक होते हैं। अर्थात् स्वयं पुष्प व फलशाली होनेकी इच्छा रखते हैं, पुनः धनका उपभोग करनेवाले मनुष्योंका तो कहना ही क्या है? वे तो अवश्य धनके इच्छुक होते हैं, क्योंकि उन्हें उसका उपभोग (शरीर-यात्रादि) करना पड़ता है ॥११७॥

जैमिनि^१ विद्वान्ने कहा है कि 'जो वृक्ष अपने मनसे स्वयं उपभोग-रहित हैं, वे भी धनके इच्छुक देखे जाते हैं— वे भी पुष्प-फलादिकी वाञ्छा करते हैं, पुनः मनुष्योंका तो कहनाही क्या है ॥१॥'

लोभका स्वरूप—

कस्य न धनलाभाल्लोभः प्रवर्तते ॥११८॥

अर्थ—संसारमें धन मिलने से किसे उसका लोभ नहीं होता? सभीको होता है ॥११८॥

वर्ग^२ विद्वान्ने कहा है कि 'जब तक मनुष्योंको धनादि प्राप्त नहीं होते, तब तक उन्हें लोभ भी नहीं होता। अन्यथा—(यदि यह बात नहीं है, तो) वनमें रहनेवाला मुनि भी धान-ग्रहण न करे ॥ १ ॥'

जितेन्द्रियकी प्रशंसा—

स खलु प्रस्यद्यं दैवं यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यकी चित्तवृत्ति अन्य-धनके समान पर-स्त्रियोंके देखने पर भी लालसा-रहित है, वह प्रत्यक्ष देवता है मनुष्य नहीं, क्योंकि उसने असाधारण धर्म (परस्त्री परधनका त्यागरूप) का अनुष्ठान किया ॥ ११९ ॥

वर्ग^३ विद्वान्ने कहा है कि 'जिस महापुरुषका मन पर-कलत्र व पर-धन देख जेनेपर भी विकार-युक्त नहीं होता, वह देवता है मनुष्य नहीं ॥ १ ॥'

संतोषी पुरुषोंका कार्यारम्भ—

समायक्ययः कार्यारम्भो रामसिकानाम् ॥ १२० ॥

१ उक्त कथानक अजैन पुराण ग्रन्थों से आगती चाहिये।

१ तथा च जैमिनिः—अर्थ तेऽपि च वाञ्छन्ति ये वृक्षा आत्मचेतसा। उपभोगैः परित्यक्ताः किं पुनर्मनुष्याश्च ये ॥१॥

२ तथा च वर्गः—तावन्न जायते लोभो यत्कलामो न विद्यते। मुनिर्यदि वनस्थोऽपि दानं गृह्णाति नाम्यथा ॥१॥

३ तथा च वर्गः—परदम्ये कलत्रे च यस्य रहो महात्मनः। न मनो विकृतिं याति स देवो न च मानवः ॥ १ ॥

अर्थ—संतोषी पुरुष जो कार्य आरम्भ करते हैं, उसमें उन्हें आमदनी व स्वर्ध बराबर होता है तथापि सन्तुष्ट रहते हैं ॥ १२० ॥

हारीत^१ विद्वान्ने कहा है कि 'संतोषी पुरुष जिस कार्यमें आमदनी व स्वर्ध बराबर है और यदि वह हाथसे निकल रहा है, तो भी वे उसे संतोष पूर्वक करते रहते हैं, फिरभी नहीं छोड़ते ॥ १ ॥'

महामूर्खोंका कार्य—

बहुक्लेशेनाल्पफलः कार्यारम्भो महामूर्खाणाम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—महामूर्ख मनुष्य जो कार्य आरम्भ करते हैं, उसमें उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं और फल बहुत थोड़ा मिलता है ॥ १२१ ॥

वर्ग^२ विद्वान्ने कहा है कि 'लोकमें महामूर्ख पुरुष अधिक क्लेश-युक्त और अल्पफलवाले कार्य करते हैं और उनसे वे विरक्त नहीं होते ॥ १ ॥'

अधम पुरुषोंका कार्यारम्भ—

दोषमयस्य कार्यारम्भः कापुरुषाणाम् A ॥ १२२ ॥

अर्थ—कुत्सित-निंद्य पुरुष दोषोंके भयसे (इस कार्यके करनेमें यह दोष है और अधम कार्यमें यह दोष है इत्यादि दोषोंके डरसे) किसीभी कार्यको शुरू नहीं करते। सारांश यह है कि अधम पुरुष आलसी, अविद्यमान व डरपोक होते हैं; इसलिये वे दोषोंके डरसे कार्यारम्भ नहीं करते ॥ १२२ ॥

वर्ग^३ विद्वान्ने भी कहा 'कि कुत्सित पुरुष भयभीत होकर कर्त्तव्यमें दोषोंका स्वर्ध पितवन करते हुए अपने कार्य भी नहीं करते ॥ १ ॥'

मय-शङ्काका त्यागपूर्वक कर्त्तव्य-प्रवृत्ति—

मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न क्रियते B ॥ १२३ ॥

इस सूत्रका यह अर्थ भी होसकता है कि जो लोग कोबादि कषायोंके आघेगमें आकर बिना विचारे कार्य करते हैं, उनके आघातदि कार्यमें आमदनी और स्वर्ध बराबर होता है। सम्पादक—

अर्थ व हारीतः—आयम्ययौ समौ स्यातां यदि कार्यो विमरयति । ततस्तोषेया कुर्वन्ति भूयोऽपि न त्यजन्ति तम् ॥ १ ॥

अर्थ व वर्गः—बहुक्लेशानि कृत्यानि स्वल्पभावानि चक्रतुः ? । महामूर्खतया चेऽत्र न निर्देहं ब्रजन्ति च ॥ १ ॥

अर्थ व वर्गः—कार्यदोषान् विचिन्वन्तो मराः का पुरुषाः स्वर्ध । शुभं भावयाम्यपि अस्ता [न कृत्यानि प्रकुर्वन्ति] ॥ १ ॥

अर्थ व वर्गः—अस्य पद्यका अर्थ आमूल चूल्ह (पूरा) परिवर्तन किया जाता, तब कहीं छन्दशास्त्रानुकूल होसकता था, परन्तु

इसमें सं० टीकाकारके उद्धरणको ज्यों का त्यों सुरक्षित रखनेके अभिप्रायसे केवल क्रियापद (पञ्चकतुः) का जो

कि विचक्रत अष्टुद था, परिवर्तन किया है और बाकीका ज्यों का त्यों संरक्षन किया है। सम्पादक—

अर्थ व वर्गः—सन्तीति किं कृषिर्न क्रियते' इसप्रकार सु० व द० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

अजीर्णं भयात् किं भोजनं परित्यज्यते A ॥ १२४ ॥

अर्थ—द्विरणोंके डरसे क्या खेती नहीं कीजाती ? अचश्य कीजाती है । अजीर्णके डरसे क्या भोजन करना छोड़ दिया जाता है ? नहीं छोड़ा जाता । सारांश यह है कि जिसप्रकार द्विरणोंके डरसे खेती करना नहीं छोड़ा जाता और अजीर्णके भयसे भोजन करना नहीं छोड़ा जाता, उसीप्रकार विघ्नोंके डरसे सज्जन लोग कर्त्तव्य-पथको नहीं छोड़ते ॥ १२३-१२४ ॥

कार्यारम्भमें विघ्नोंकी विद्यमानता—

स खलु कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति B ॥ १२५ ॥

अर्थ—जिसको कार्यारम्भमें विघ्न नहीं होते, क्या लोकमें ऐसा कोई पुरुष हुआ है ? होगा ? या है ? न हुआ, न होगा, न है ॥ १२५ ॥

भागुरि^१ विद्वान्ने कहा है कि 'उद्योगीको लक्ष्मी मिलती है । कुस्मित पुरुष—आलसी लोग—भाग्य-भरोसे रहते हैं, इसलिये भाग्यको छोड़कर आत्म-शान्त से उद्योग करो, तथापि यदि काय-सिद्ध नहीं होती, इसमें कर्त्तव्यशील पुरुषका कोई दोष नहीं किन्तु भाग्यका ही दोष है ॥ १ ॥'

दुष्ट अभिप्राय-युक्त पुरुषोंके कार्य—

आत्मसंशयेन कार्यारम्भो व्यालहृदयानाम् * ॥ १२६ ॥

अर्थ—साँप व श्वापद (हिंसक जन्तुओं) के समान दुष्ट हृदय-युक्त पुरुष ऐसे निन्द्य कार्य (चोरी-वगैरह) प्रारम्भ करते हैं, जिनसे उन्हें अपने नाशकी संभावना रहती है ॥ १२६ ॥

शुक^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'सर्प या श्वापद तुल्य दुष्ट हृदय-युक्त राजाओंके सभी कार्य उनके घातक होते हैं ॥ १ ॥'

महापुरुषोंके गुण व मृदुता लाभका क्रमशः विवेचन—

दुर्मौल्वमासन्नशूरत्वं रिपौ प्रति महापुरुषाणां ॥ १२७ ॥

A 'अजीर्णं भयात् खलु भोजनं परित्यज्यते' ऐसा सु० व ह० छि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

B 'स खलु किं कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्याप्रत्यवायः कार्यारम्भः' इसप्रकार सु० व ह० छि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर वर्तमान है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

१ तथा च भागुरिः—यस्मिन्ममो भवति तं सम्प्रेति लक्ष्मी, देवेन देवमिति कापुरुषा वदन्ति । देवं निहत्वा कुत्र पौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १ ॥

२ 'आत्मसंशयेन कार्यारम्भो व्यालहृदयानाम्' ऐसा सु० व ह० छि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य परिपक्वबुद्धि—विचारशील नहीं हैं उन्हें कार्य-प्रारम्भमें अपनी गड़बड़ [यह कार्य मुझसे होगा ? या नहीं ? इस प्रकारकी आशङ्का] हुआ करता है ।

३ तथा च शुकः—ये व्यालहृदया भूपास्तेषां कर्माणि यानि च । आत्मसन्देहकारीणि तानि स्थितिलिप्ताणि च ॥ १ ॥

अलवन्माद बोपेतः A पृथूनपि भूभृतो भिनत्ति ॥१२८॥

अर्थ—महापुरुष दूरवर्ती शत्रु से भयभीत होते हैं—उससे युद्ध नहीं करते, परन्तु शत्रु के निकट आने पर अपनी वीरता दिखाते हैं ॥१२७॥

गीतेशान्त्र' में कहा है कि 'बुद्धिमान् पुरुष सामपूर्वक वपःयो से युद्ध करना छोड़े और कभी भान्य युद्ध करना पड़े तो जलिक सैनिक तकि युक्त होकर होतशस्त्रिके साथ युद्ध करे ॥१॥

जब तक शत्रु सामने नहीं आया, तभी तक उससे डरे और सामने आने पर निडर होकर युद्ध प्रहार करे ॥२॥'

जिसप्रकार कोमल जल-प्रवाह विशाल पर्वतोंको उखाड़ देता है, उसीप्रकार कोमल राजा भी महारक्षित-शाली शत्रु-राजाओंको नष्ट कर डालता है ॥ १२८ ॥

गुरु' विद्वान्ने भी कहा है कि 'मृदुता (नम्रता) गुण से महान् कार्य भी सिद्ध होते हैं, क्योंकि जल-प्रवाहके द्वारा कठोर पर्वत भी विदारण कर दिये जाते हैं ॥ १॥'

प्रिय वचनों से लाभ, गुप्त रहस्य-प्रकाशकी अवधि व महापुरुषोंके वचन क्रमशः—

प्रिय'वदः शिखीव सदपानपि द्विषत्सर्पानुत्सादयति B ॥१२९॥

नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा स्वहृदयं प्रकाशयन्ति महानुभावाः ॥१३०॥

वीरवृक्षवत् फलसम्पादनमेव महतामालापः C ॥१३१॥

अर्थ—प्रियवादी पुरुष मोरके समान अभिमानी शत्रु रूपी सर्पोंको नष्ट कर देता है ॥१२९॥

गुरु' विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार मयूर मधुर स्वरसे वर्ष-युक्त सर्पोंको नष्ट कर देता है, उसीप्रकार मीठे वचन बोलनेवाला राजा भी अहंकारी शत्रुओंको निस्सन्देह नष्ट कर डालता है ॥१॥

उत्तम पुरुष दूसरोंके हृदयकी अच्छी या बुरी बात जानकरके ही अपने मनकी बात प्रगट करते हैं ॥ १३० ॥

अलवन्माद बोपेतः इत्यादि मु० मू० प्रतिमें पाठान्तर है, परन्तु अर्थ-मेव कुछ नहीं ।

अर्थ व वक्तो गीतौ—युद्धं परित्यजेन्नोमानुपायैः सामपूर्वकैः । कदाचिज्जायते वै वादीनेनापि वशाधिकः ॥१॥

आवत् परस्य मेतन्मयं वाक्को दर्शनं भवेत् । दर्शने तु पुनर्जाते प्रहृतं व्यमशंकितैः ॥२॥

वक्ता व गुरुः—आद'वेनापि सिद्ध्यन्ति कार्याणि सुगुरुवयपि । यतो जलेन भिद्यन्ते पर्वता अपि निष्ठुराः ॥१॥

जब पाठ शिखी व पूना स्त्रायमे रोको ह० लि० मू० प्रतियोंसे संकलन किया गया है । 'प्रिय'वदः शिखीव द्विषत्सर्पानुत्सादयति' ऐसा सं० टी० पु० में पाठ है, इसका अर्थ भी पूर्वोक्त समझना चाहिये । संपादक—

'वीरवृक्षवत् फलसम्पादनमेव महतामालापः' ऐसा उक्त मु० प्रतियोंमें सुन्दर पाठ है । संपादक—

वक्ता व गुरुः—यो राजा मृदुवाक्यः स्यात्सदपानपि विद्विषः । स निहन्ति न सन्देहो मयूरो भुजगानिव ॥१॥

भृगु^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'सज्जन लोग दूसरोंके अच्छे या बुरे प्रयोजनको बिना जाने या समझे अपना मानसिक अभिप्राय प्रकाशित नहीं करते ॥११॥'

महापुरुषोंके वचन दूधवाले वृक्षकी तरह फलदायक होते हैं। अर्थात् जिसप्रकार दूधवाले वृक्ष उत्तम मिष्ट फल देते हैं, उसीप्रकार सज्जन पुरुषोंके वचन भी उत्तम २ फलदायक (ऐहिक और पारत्रिक कल्याण देनेवाले) होते हैं ॥१२॥'

वर्ग^२ विद्वान्ने कहा है कि 'जिसप्रकार दूधवाला वृक्ष शीघ्र उत्तम फल देता है, उसीप्रकार सज्जन पुरुषोंके वचन भी निस्सन्देह उत्तम फल देते हैं ॥१॥'

नीचप्रकृति मनुष्य और महापुरुषका क्रमशः स्वरूप—

दुरारोहपादप इव दंडाभियोगेन फलप्रदो भवति नीचप्रकृतिः ॥१३॥

स महान् यो विपत्सु धैर्यमवलम्बते ॥१३॥

अर्थ—जिसप्रकार अधिक ऊँचाई व कंटक-आदिके कारण चढ़नेके अयोग्य वृक्ष (आम-आदि) लाठी आदिके प्रहारों से ताड़ित किये जानेपर फलदायक होते हैं, उसीप्रकार नीचप्रकृतिका मनुष्य भी दंडित किये जाने पर काबूमें आता है साम-दान से नहीं ॥१३॥

भागुरि^३ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार शत्रु और न चढ़ने योग्य वृक्ष दंडसे ताड़ित किये जानेपर फल देता है, उसीप्रकार नीच मनुष्य भी दंडनीति से ही बरा होता है ॥१॥'

जो आपत्तिमें धैर्य, धारण करता है वही महापुरुष है ॥१३॥

गुरु^४ विद्वान्ने कहा है कि 'जो राजा आपत्ति-काल आनेपर धैर्य-धारण करता है वह पृथिवी-तल में महत्त्व प्राप्त करता है ॥१॥'

समस्त कार्योंमें असफल बनानेवाला दोष व कुलीन पुरुषका क्रमशः स्वरूप—

उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः ॥१३४॥

शरद्वघना इव न खलु घृथालापा गलगर्जितं कुर्वन्ति सत्कुलजाताः ॥१३५॥

१ तथा च भृगुः—अज्ञांवा परकार्यं च क्षुभं वा यदि चाक्षुभं । अन्येषां न प्रकाशेयुः सन्तो नैव निजाशयः ॥१॥

२ तथा च वर्गः—आलापः साधुलोकानां फलदः स्यादसंशयम् । अग्निरेवैव काशेन क्षीरवृक्षो यथा तथा ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—यच्चबाहो यथारातिदुरारोहो महीरुहः । तथा फलप्रदो भूय नीचप्रकृतिरत्र यः ॥१॥

४ तथा च गुरुः—आपत्कालेऽत्र संप्राप्तौ धैर्यमावलम्बते हि यः । स महत्त्वमवाप्नोति पार्थिवः पृथिवीतले ॥१॥

△ 'शरद्वघना इव न तु खलु घृथा गलगर्जितं कुर्वन्त्यकुलीनाः' इस प्रकारका वाटान्तर सु० मू० प्रतिमें है, जिसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार शरदकालीन वादल गरजते हैं, बरसते नहीं, उसीप्रकार नीचकुलके पुरुष व्यर्थ बकबाद करते हैं, कर्तव्यपासन नहीं करते ।

अर्थ—अधीरता (धक्काना—ठ्ठाकुल होना) मनुष्यकी समस्त कार्य-सिद्धिमें अत्यन्त बाधक है अर्थात्—जो मनुष्य कर्त्तव्य करते समय ठ्ठाकुल होजाता है, उसका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता; अतः कर्त्तव्यमें उतावली करना उचित नहीं ॥१३४॥

गुरु^१ विद्वान्ने कहा है कि 'लोगोंका अधीरता दोष समस्त कार्योंकी सिद्धिमें बाधक है और बहुत से राजकीय कार्योंमें उसके हुए राजाओंकी कार्य-सिद्धिमें तो वह विशेष रूपसे बाधा डालता है ॥१॥'

कुलीन पुरुष शरत्कालीन बादलोंकी तरह व्यर्थ बकवाद करनेवाले और गरजनेवाले नहीं होते। अर्थात्—जिसप्रकार शरत्-कालके बादल केवल गरजते हैं बरसते नहीं, उसीप्रकार कुलीन उत्तम पुरुष व्यर्थ नहीं बोलते किन्तु अच्छे २ पुण्य व यशस्य कार्य करके दिखाते हैं ॥ १३५ ॥

गौतम^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाओंको जलवृष्टि-रहित व व्यर्थ गरजनेवाले शरत् कालीन बादलोंके समान निरर्थक बोलनेवाले नहीं होना चाहिये ॥ १ ॥'

अच्छी-बुरी वस्तु व दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

न स्वभावेन किमपि वस्तु सुन्दरमसुन्दरं वा, किन्तु यदेव यस्य प्रकृतितो भाति तदेव तस्य सुन्दरम् ॥ १३६ ॥

न तथा कपूररेणुना प्रीतिः केतकीनां वा, यथाऽमेधयेन ॥ १३७ ॥

अर्थ—अच्छापन व बुरापन केवल पुरुषोंकी कल्पनामात्र है; क्योंकि संसारमें कोई वस्तु अच्छी और बुरी नहीं है, किन्तु जो जिसको प्रकृति-अनुकूल होनेसे रुचती है, वह उसकी अपेक्षा सुन्दर है यदि वह निष्कृष्ट ही क्यों न हो ॥ १३६ ॥

जैमिनि^३ विद्वान्ने भी कहा है कि 'संसारमें कोई वस्तु प्रिय व अप्रिय नहीं है, परन्तु जो मनको प्रिय मालूम होती है वह निष्कृष्ट होनेपर भी सुन्दर है ॥ १ ॥'

मक्खियोंको जिसप्रकार मल-मूत्रसे प्रीति होती है, वैसी कपूर-धूलि व केतकी पुष्पोंसे नहीं होती ॥१३७॥

अत्यन्त क्रोधी तथा विचार-शून्य पुरुषकी और परस्परकी गुप्त बात कहनेसे हानिका क्रमशः—

अतिक्रोधनस्य प्रभुत्वमग्नौ पतितं लवणमिव शतधा विशीर्यते ॥१३८॥

१ तथा च गुरुः—ठ्ठाकुलत्वं हि लोकानां सर्वकृत्येषु बिम्बकृतं । पार्थिवानां विशेषेण [येषां कार्याणि भूरिशः] ॥१॥७

नोट—उक्त श्लोकका अर्थ संशोधित किया गया है । सम्पादक—

२ तथा च गौतमः—वृथास्वापेनं भाष्यं च भूमिपालैः कदाचन । यथा शरद्वचना कुयुंस्तोयवृष्टिविवर्जिताः ॥१॥ संशोधित-

३ तथा च जैमिनिः—सुन्दरासुन्दरं लोके न किञ्चिदपि विद्यते । निष्कृष्टमपि तच्छ्रेष्ठं मनसः प्रतिभाति यद् ॥ १ ॥

सर्वान् गुणान् निहन्त्यनुचितज्ञः ॥ १३६ ॥

परस्परं मर्मकथनयात्मविक्रम एव A ॥ १४० ॥

अर्थ—अत्यन्त क्रोध करनेवाले मनुष्यका ऐश्वर्य अग्निमें पड़े हुए नमकके समान सैकड़ों प्रकारसे नष्ट होजाता है ॥ १३८ ॥

ऋषिपुत्रक* विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार अग्निमें पड़ा हुआ नमक नष्ट होजाता है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधी राजाका ऐश्वर्य नष्ट होजाता है ॥ १ ॥'

योग्य-अयोग्यके विचारसे शुभ्य पुरुष अपने समस्त हानानि गुणोंको नष्ट कर देता है ॥ १३९ ॥

नारद* विद्वान् ने भी कहा है 'जिसप्रकार नपुंसक पुरुषको युवती स्त्रियाँ निरर्थक हैं, उसीप्रकार समस्त गुणोंसे विभूषित पुरुष भी यदि समयानुकूल कर्त्तव्यको नहीं जानता, तो उसके समस्त गुण निरर्थक होजाते हैं ॥ १ ॥'

जो पुरुष परस्परको गुप्त बात कहते हैं, वे अपना २ पराक्रम ही दिखाते हैं। सारांश यह है कि जिसकी गुप्त बात प्रकट कीजाती है, वह भी ऐसा ही करनेको तत्पर होजाता है; अत एव वे दोनों दूसरोंके समक्ष अपना पराक्रम दिखाकर अपनी हानि करते हैं ॥ १४० ॥

जैमिनि* विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो मनुष्य लड़ाई-मगाड़ा करके दूसरेका गुप्त रहस्य प्रकट करदेता है, तो दूसरा भी इसके गुप्त रहस्यको प्रकट किये बिना नहीं रहता; अत एव नैतिक पुरुषको किसीका गुप्त मंत्र नहीं फोड़ना चाहिये ॥ १ ॥'

शत्रुओंपर विश्वास करनेसे हानि—

तदजाकुपणीयं यः परेषु विश्वासः ॥ १४१ ॥

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—अतिक्रोधी महीपादः प्रभुत्वस्य विनाशकः । लवणस्य यथा वह्निर्मध्ये निरतितस्य च ॥१॥

२ तथाच नारदः—गुह्यैः सर्वैः समेतोऽपि वेत्ति कांक्षोचितं न च । कृथा तस्य गुणा सर्वे यथा वचस्य धोषितः ॥१॥

A परस्परं मर्मकथनमात्मविक्रमः—इसप्रकार सु० मू० प्रतिमें और 'परस्परमर्मकथनमात्मविक्रमः' इसप्रकार पूना गवर्न० लायबेरीकी इ० क्रि० मू० प्रतियोंमें पाठांतर है, इसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य अपनी गुप्त बात दूसरेसे कह देता है, वह उसके लिये अपने आपको बेच देता है। क्योंकि गुप्त बात कहनेवालेको उससे हमेशा यह डर बना रहता है कि यदि वह मुझसे विद्वद् होजायगा, तो मेरे मन्त्र—गुप्त रहस्य—को फोड़कर मुझे मरवा डालेगा अथवा मुझे अधिक हानि पहुँचायगा; अत एव उसे सदा उसकी आज्ञानुकूल चतना दबता है, इसलिये दूसरेको अपना गुप्त रहस्य प्रकट करना उसे अपनेको बेच देनेके समान है। निष्कर्षः—अतः नैतिक व्यक्ति अपने गुप्त रहस्यको सदा गुप्त रखे।

३ तथा च जैमिनिः—परस्य धर्मभेदं च कुरुते कलहाश्रयः । तस्य सोऽपि करोत्येव तस्मात्प्रभं न नेदधेत् ॥ १ ॥

अर्थ—शत्रुओं पर विश्वास करना 'अजाकुपाणीयक' न्यायके समान घातक है ॥१४१॥

नीतिकार चाणक्य ने भी कहा है कि 'नैतिक पुरुषको अविश्वासी—धोखेबाज पर विश्वास नहीं करना चाहिए और विश्वासीपद भी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि विश्वास करनेसे उत्पन्न हुआ भय मनुष्यको जड़मूलसे नष्ट कर देता है ॥१॥'

चंचलचित्त और स्वतन्त्र पुरुषकी हानि क्रमशः—

क्षणिकचित्तः किञ्चिदपि न साधयति ॥१४२॥

स्वतन्त्रः सदसाकारित्वात् सर्वं विनाशयति ॥१४३॥

अर्थ—जिसका चित्त चंचल है वह किसी भी कार्यको सिद्ध नहीं कर सकता ॥१४२॥

हारीत विद्वान् ने भी कहा है कि 'चंचल बुद्धिवाले मनुष्यका कोई भी सूक्ष्म कार्य थोड़ासा भी सिद्ध नहीं होता, इसलिये यश चाहनेवालोंको अपना चित्त स्थिर करना चाहिए ॥१॥'

जो राजा स्वतन्त्र होता है—राजकीय कार्योंमें मंत्री आदिकी योग्य सलाह नहीं मानता—वह बिना सोचे-समझे अनेक कार्योंको एकही कालमें आरम्भ करनेके कारण अपने समस्त राज्यको नष्ट कर डालता है ॥१४३॥

नारद विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा स्वतन्त्र होता है, वह मंत्रियोंसे कुछ नहीं पूछता और स्वयं राजकीय कार्य करता रहता है, इसलिये वह निरचयसे अपने राज्यको नष्ट कर देता है ॥१॥'

ॐ 'अजाकुपाणीयका स्पर्शोक्तम्—

किसी समय किसी भूले व हिसक बटोहीने वनमें विचरता हुआ बकरीका भ्रूण देखा । वह स्वार्थ-वश उस भ्रूणके एक दृष्ट-पुष्ट बकरीको बहुतसे कोमल और हरे पत्ते खिलाते लगा, इससे बकरी उसके पीछे २ चलने लगा । कुछ दूरीपर वह उसके पक्ष करमेकी दृष्टिसे किसी हथियारको छूँने तापर हुआ । परचाय उसे दब-धोंगसे एक काज जिसे उसने पूर्वमें ही गाय रखवा था, मिला । परचाय उसने अज्ञसे उस बकरीको कात्त कर मजबूत कर लिया, इसे 'अजाकुपा-णीय' कहते हैं । सारांश यह है कि जिमप्रकार बकरी अपने शत्रु (बटोही) पर विश्वास करनेसे मार डाला गया, उसी प्रकार जो मनुष्य शत्रुपर विश्वास करता है, वह उसके द्वारा मार दिया जाता है; अतएव नैतिक मनुष्यको शत्रुओं पर कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये ।

१ तथा च चाणक्यः— न विश्वसेदविश्वस्ते विरहस्तेऽपि न विश्वसेत् । विश्वासाज्जयमुत्पन्नं मूढादपि विक्रमति ॥१॥

ॐ 'क्षणिकः किञ्चिदपि न साधयति' देखा भू० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-सेव कुछ नहीं ।

२ तथा हारीतः—चञ्चलचित्तस्य नो किञ्चित् कार्यं किञ्चित् प्रसिद्ध्यति । सुसूक्ष्ममपि तत्तस्मात् स्थिरं कार्यं यशोऽर्जितम् ॥१॥

३ तथा च नारदः— यः स्वतन्त्रो भवेद्राजा सचिवात्त च पृच्छति । स्वयं कृत्यानि कुर्वीतः स राज्यं नारायेद् भुवम् ॥१॥

आलस्य-असावधानी से हानि तथा मनुष्य-कर्त्तव्य कमराः—

अलसः सर्वकर्मणामनधिकारी ॥१४४॥

प्रमादवान् भवत्यवश्यं सिद्धिषां वशः ॥१४५॥

कमप्यात्मनोऽनुकूलं प्रतिकूलं न कुर्यात् ॥१४६॥

प्राणादपि प्रत्यवायो रक्षितव्यः A ॥१४७॥

अर्थ—आलसी पुरुष समस्त राजकीय-आदि कार्योंके अयोग्य होता है ॥१४४॥

राजपुत्र* विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा छोटे २ कार्योंमें भी आलसी अधिकारियों—मंत्री-आदि—को नियुक्त करता है उसके समस्त कार्य सिद्ध नहीं होते ॥१॥'

जो मनुष्य कर्त्तव्य-पालनमें सावधान वा उत्साही नहीं है, वह शत्रुओंके वश होजाता है ॥१४५॥

जैमिनि* विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा छोटे २ कार्योंमें भी शिथिलता करता है, वह महान् ऐश्वर्य-युक्त होकरके भी शत्रुओंके अधीन होजाता है ॥१॥'

नैतिक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि किसी भी अनुकूल-मित्रको शत्रु न बनावे ॥१४६॥

राजपुत्र* विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा मित्रको शत्रु बनाता है, उसे इस मूर्खताके कारण अनेक कष्ट व अपकीर्ति उठानी पड़ती है ॥१॥'

मनुष्यको प्राणोंसे भी अधिक अपने गुप्त रहस्यको रक्षा करनी चाहिए ॥१४७॥

भागुरि* विद्वान् ने कहा है कि 'राजाको अपने जीवनसे भी अधिक अपने गुप्त रहस्य सुरक्षित रखने चाहिये, क्योंकि शत्रुओंको भाखूम होजानेपर वे लोग प्रविष्ट होकर उसे मार डालते हैं ॥१॥'

A 'प्राणादपि प्रत्यवायो न रक्षितव्यः' इसप्रकार सु० सू० व ह० छि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि अपनेमें दोष होनेपर भी क्या प्राण-रक्षाका कार्य नहीं करना चाहिये ? अक्षरार्थ करना चाहिये । सारांश यह है कि इसमें प्राणरक्षा और सं० टी० पुस्तकके पाठमें अपने गुप्तरहस्यकी रक्षा मुख्य है । सम्पादक—

१ तथा च राजपुत्रः—आलस्योपहतान् षोऽत्र विद्वान् अत्यधिकारिणः । सूक्ष्मेऽपि च कृत्येषु न सिद्ध्यन्तेऽपि तस्य हि ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—सुसूक्ष्मेऽपि कृत्येषु शैथिल्यं कुरुतेऽत्र यः । स राजा विपुलरथः स्यात् [प्रभूतविभवोऽपि सन्] ॥१॥
अतुल्यं चरकं संशोभितं च परिवर्तितं । सम्पादक—

३ तथा च राजपुत्रः—मित्रत्वे वर्त्तमानं चः शत्रुकर्म क्रियावृत्तिः । स मूर्खो भवत्येव राजा अपवादात् च गच्छति ॥१॥

४ तथा च भागुरिः—आत्मविक्षिप्तं प्ररञ्जेत जीवादपि महीपतिः । यतस्तेन प्रकृष्येन प्रचिरम जगति शत्रवः ॥१॥

अपनी शक्ति न जानकर बलिष्ठ शत्रुके साथ युद्ध करनेसे हानि व आपद्मस्त राजाका धर्म कमरा:—

आत्मशक्तिमज्जानतो विग्रहः क्षयकाले कीटिकानां पक्षोत्थानमिव ॥ १४८ ॥

कालमलभमानोऽपकर्तारि साधु वर्तेत ॥ १४९ ॥

अर्थ—ओ राजा अपनी सैनिक व कोश-शक्तिको न जानकर बलवान् शत्रुके साथ युद्ध करता है, विनाशकालमें पक्षोंके पङ्क्त उठानेकी तरह अपना नाश कर डालता है। सारांश यह है कि जब भी शत्रुके विनाशकाल आता है—जब वे दीपककी लौमें जल-भुनकर मरने लगते हैं—उससमय अपने को छोड़ो, वसीप्रकार राजाका जब विनाशकाल आता है, उस समय उसकी बुद्धि बलवान् शत्रुके साथ करने तत्पर होती है ॥ १४८ ॥

मुद्ग'विद्याने कहा है कि 'जिसप्रकार मदनोन्मत्त हाथी अचल (टढ़) और बहुत ऊँचे पहाड़को चढ़ा करवा है, तब उसके दाँत (खीसें) टूट जाते हैं और वापिस लौट जाता है, वसीप्रकार ओ राजा जो शत्रुकोश-शक्तिसे स्थिर, वृद्धिगत तथा बलवान् शत्रुके साथ युद्ध करता है, उसे भी अपनी शक्ति नष्ट होकर वापिस लौटना पड़ता है ॥ १ ॥'

विजिगीषुको जब तक अनुकूल समय प्राप्त न हो, तब तक उसे शत्रुके साथ शिष्टताका व्यवहार करना चाहिये—उससे मैत्री कर लेनी चाहिये। सारांश यह है कि विजिगीषुको हीनशक्तिके साथ युद्ध और शत्रु शक्ति-युक्तके साथ सन्धि करनी चाहिये ॥ १४९ ॥

मागुरि'विद्याने कहा है कि 'विजिगीषुको बलिष्ठ शत्रु देखकर उसकी आज्ञानुसार चलना चाहिये, शत्रु शक्ति-संपन्न होजाने पर जिसप्रकार पत्थरसे घड़ा फोड़ दिया जाता है, वसीप्रकार शत्रुको नष्ट कर देना चाहिये ॥ १ ॥'

इस बातका दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन व अभिमानसे हानि कमरा:—

किन्तु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनं ॥ १५० ॥

मदीयस्तरुणामहीन् चालयन्पुनर्मूलयति ॥ १५१ ॥

उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ॥ १५२ ॥

अर्थ—मनुष्य ईधनको आगमें जलानेके उद्देश्यसे क्या शिर पर धारण नहीं करते? अवरण करते हैं। सारांश यह है कि जलाने-योग्य ईधनको शिर-बहनके समान पूर्वमें शत्रुसे शिष्ट व्यवहार करना चाहिये, परन्तु जबसर पाकर शक्ति-संचय होनेपर उससे युद्ध करना चाहिये ॥ १५० ॥

आ व मुक्तः—अथर्व प्रोक्तं योऽत्र रिपुं याति यथाचक्षत् । शीर्षदग्धो निवर्तेत स यथा मत्तवारधः ॥ १ ॥

आ व मागुरिः—यथाचक्षत् रिपुं दग्ध्वा तस्य शब्दोऽनुवर्तयेत् । यथाप्लवा स पुनस्तं च भिग्यात् कु'भमिवाप्लवा ॥ १ ॥

शुक्र^१विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार मनुष्य लकड़ियोंको जलानेके उद्देश्यसे पहले उन्हें अपने मस्तकपर वहन करता है, उसीप्रकार विजिगीषुको पूर्वमें शत्रुको सम्मानित करके पश्चात् शक्ति-संचय करके उसका वध करना चाहिये ॥ १ ॥'

नदीका वेग (प्रवाह) अपने तटके वृक्षोंके श्वरण—जड़ें—प्रक्षालन करता हुआ भी उन्हें जड़से उखाड़ देता है। सारांश यह है कि उसीप्रकार विजिगीषुका कर्त्तव्य है कि वह शत्रुके साथ पूर्वमें शिष्ट व्यवहार करके पश्चात् उसके उन्मूलनमें प्रयत्न करे ॥१५१॥'

शुक्र^२विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार नदीका वेग—प्रवाह—तटवर्ती वृक्षोंके पाद—जड़ें चोटा हुआ भी उनका उन्मूलन करता है, उसीप्रकार बुद्धिमानोंको पहले शत्रुओंको सम्मानित करके पश्चात् वध करना चाहिये ॥ १ ॥'

अभिमानि पुरुष अपने हाथमें आये हुए कार्य—सन्धि-आदि द्वारा होनेवाले अर्थ-लाभादि प्रयोजन—को नष्ट कर डालता है ॥ १५२ ॥

शुक्र^३विद्वान्ने भी कहा है कि 'विजिगीषुको शत्रुसे प्रिय वचन बोलना चाहिये और विलासकी तरह चेष्टा करनी चाहिये परन्तु जब शत्रु इसके ऊपर विश्वास करने लगे, तब जिसप्रकार विलास मौका पाकर घूँटका हनन कर देता है, उसीप्रकार इसे भी उसका हनन कर देना चाहिये ॥ १ ॥'

शत्रु-विनाशके उपायको जाननेवालेका लाभ, उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन व नैतिककर्त्तव्य—

नाल्यं महद्वापक्षोपायज्ञस्य A ॥ १५३ ॥

नदीपूरः सममेवोन्मूलयति [तीरजवृक्षांद्द्विपान्] ॥ १५४ ॥

धुक्तमुक्तं वचो बालादपि गृह्णीयात् ॥ १५५ ॥

अर्थ—शत्रु-विनाशके उपाय—सन्धि-विग्रहादि—जाननेवाले विजिगीषुके सामने न हीनशक्ति शत्रु ठहर सकता है और न महाशक्ति-शाली ॥१५३॥

शुक्र^४विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा शत्रु-वधके उपाय बलीमूर्ति जानता है, उसके सामने

१ तथा च शुक्रः—दन्धुं वहति काष्ठानि तथापि शिरसा नरः । एवं मान्धोऽपि बैरी यः पश्चाद्भयः स्वच्छिन्नतः ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—बालयज्ञपि वृक्षांहीनवीणेनः प्रवाहायेत् । पूजयिष्यापि गृह्ण्य कञ्चुर्धन्यो विचक्षयैः ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—वचनं कृपणं ज्ञेयात् कुर्यान्मार्जारवेष्टितम् । विश्वस्तमन्धुवन्धुम् 'ततस्त' तु निपातयेत् ॥ १ ॥

A 'नाल्यं महद्वापक्षोपायज्ञस्य' इसप्रकार सु० व द० कि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति क्रोध-शान्तिके उपाय—सस्त्रज्ञ व नैतिकज्ञान-आदि—से अनभिज्ञ है, उसे 'यह शत्रु महान्—प्रचुरशक्तिशाली है अथवा क्षुब्ध-हीनशक्ति-युक्त है' इस प्रकारका विवेक नहीं होता ।

४ तथा च शुक्रः—बधोपायान् विजानाति शत्रूणां धृतिवीर्यतः । तस्याग्रे च महात् शत्रुस्तिष्ठते न कुतो जयः ॥ १ ॥

महाम्—प्रचुर सैनिकशक्ति-सम्पन्न—शत्रु नहीं ठहर सकता पुनः हीनशक्तिवाला किसप्रकार ठहर सकता है ? नहीं ठहर सकता ॥ १ ॥'

जिसप्रकार नदीका पूर तटवर्ती तृण व वृक्षोंको एक साथ उखाड़ कर फेंक देता है, उसीप्रकार शत्रु-विनाशके उपायोंको जाननेवाला विजिगीषु भी अनेक सफल—अव्यर्थ—उपायोंसे महाशक्तिशाली व हीनशक्ति-युक्त शत्रुओंको परास्त कर देता है ॥ १५४ ॥

गुरु^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार नदीका पूर तटवर्ती तृण व वृक्षोंको उखाड़ देता है, उसी-प्रकार शत्रुओंसे मिथवादी बुद्धिमान् राजा भी शत्रुओंको नष्ट कर देता है ॥ १ ॥'

नैतिक मनुष्यको न्याय-युक्त योग्य वचन बच्चेसे भी ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ १५५ ॥

विदुर^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार धान्यकी ऊखी बटोरनेवाला पुरुष उसे खेतसे संचय कर लेता है, उसीप्रकार चतुर मनुष्यको भी बच्चे की सार बात मान लेनी चाहिये, उसे छोटा समझकर उसकी न्याय-युक्त बातकी अवहेलना (तिरस्कार) नहीं करनी चाहिये ॥ १ ॥'

उक्त बातका दृष्टान्तमाला द्वारा समर्थन व निरर्थक वाणीसे वक्ताकी हानि—

रवेरविषये कि न दीपः प्रकाशयति ॥१५६॥

अल्पमपि वातायनविवरं बहूनुपलम्भयति ॥१५७॥

पतिवरा इव परार्थाः खलु वाचस्तारुण्यं निरर्थकं प्रकाशयमानाः

शपयन्त्यवश्यं जनयितारं ॥१५८॥

अर्थ—जहाँपर सूर्य-प्रकाश नहीं है, वहाँ क्या दीपक पदार्थोंको प्रकाशित नहीं करता ? अवश्य करता है । उसीप्रकार ज्ञान-बुद्धोंके अभावमें बालक या मूर्ख पुरुषभी न्याय-युक्त बात बोल सकता है, अतः उसकी कही हुई युक्ति-युक्त बात शिष्ट पुरुषोंको अवश्य मान लेनी चाहिये ॥१५६॥

जिस प्रकार भरोला—रोशनदान—छोटा होनेपर भी गृहवर्ती बहुतसे पदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसीप्रकार बालक या अज्ञ भी नैतिक बात कह सकता है, अतः शिष्योंको उसकी नीति-पूर्ण बात स्वीकार करनी चाहिये ॥१५७॥

हारीत^३ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार छोटासा रोशनदान दृष्टिगोचर हुआ बहुतसी वस्तुएँ प्रकाशित करता है, उसीप्रकार बालक या अज्ञद्वारा कहे हुए युक्ति-युक्त वचन भी लाभदायक होते हैं ॥१॥'

१ तथा च गुरुः—पाथिवो सुदुर्बलमैशः शत्रूनालापयेत् सुभीः । नाशं नयेच्छमैस्तांश्च तीरजान् सिन्धुपरष्व ॥१॥ संशोभित

२ तथा च विदुरः—लघुं मत्वा प्रकापेत् बालकस्यापि विशेषतः । वत्सारं भवति तद्भावात् शिक्षाहारी शिक्षं यथा ॥१॥

३ तथा च हारीतः—गवाकविषरं सूक्ष्मं यद्यपि स्मादिसोक्तं । प्रकाशयति यज्ञं तद्भावात्प्रजास्पतम् ॥१॥

जिसप्रकार अपनी इच्छानुकूल पतिको चुननेवाली कन्याएं दूसरोंको शीजाने पर (पिताद्वारा उनकी इच्छा-विरुद्ध दूसरोंके साथ विवाही जाने पर) पिताको तिरस्कृत करती हैं या उसकी हँसी कराती हैं, उसीप्रकार भोताओंकी इष्ट प्रयोजन-सिद्धि करनेवाली वक्ताकी वाणी भी जब निरर्थक कही जाती है, तब वह वक्ताको तिरस्कृत करती है अथवा उसकी हँसी-मजाक कराती है। निष्कर्ष यह है कि नैतिक वक्ताको भोताओंके इष्ट प्रयोजन-साधक, तात्त्विक और मधुर वचन बोलना चाहिये एवं उसे निरर्थक वचन कहना छोड़ देना चाहिये, जिससे उसका तिरस्कार और हँसी-मजाक न होने पावे। अथवा जिसप्रकार विवाह-योग्य कन्याएं अपने पतिकी इष्ट प्रयोजन-सिद्धि करनेवाली होती हैं, उसीप्रकार वक्ताकी वाणी भी भोताओंकी इष्टप्रयोजन-सिद्धि करनेवाली होती है परन्तु जब वक्ता नीति-विरुद्ध और निरर्थक वाणी बोलता है, तब उससे उसका तिरस्कार या हँसी-मजाक किया जाता है ॥१५॥

वर्ग^१ विद्वान् ने भी कहा है 'जो मनुष्य निरर्थक वाणी बोलता है उसकी हँसी होती है। जिसप्रकार स्वयं पतिको चुननेवाली कन्याएं अपने पिताका जो कि उन्हें दूसरोंके साथ विवाहना चाहता है, आदर नहीं करती ॥१॥'

मूर्ख वा जिद्दीको उपदेश देनेसे हानि क्रमशः—

तत्र युक्तमप्युक्तमयुक्तसमं यो न विशेषज्ञः A ॥१५६॥

स खलु पिशाचकी B बातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति ॥१६०॥

अर्थ—जो मनुष्य वक्ताके कहे हुए वचनोंपर विशेष विचार (इसने अमुक बात मेरे हितकी कही है—इत्यादि) नहीं करता—जो मूर्ख है, उसके सामने उचित बात कहना भी अनुचितके समान है, क्योंकि उसका कोई फल नहीं होता। सारांश यह है कि मूर्खको हितोपदेश देना व्यर्थ है ॥१५६॥

वर्ग^२ विद्वान् ने भी कहा है कि 'मूर्खको उपदेश देना जंगलमें रोनेके समान व्यर्थ है, क्योंकि वह उससे हित-अहितका विचार नहीं करता; इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको उससे बातचीत नहीं करनी चाहिए ॥१॥'

जो वक्ता उस भोतासे बातचीत करता है जो कि उसकी बातको सुनना नहीं चाहता, उसकी जोग इसप्रकार निम्ना करते हैं कि इस वक्ताको पिशाचने जकड़ लिया है या इसे बातोल्लव्य समिपात रोग होगा है, जिससे कि यह निरर्थक प्रकाप कर रहा है ॥१६०॥

१ तथा वर्गः—बुधावापं च यः कुर्यात् स पुमान् दास्यतां व्रजेत् । पतिवरा पिता पददम्बस्थार्थे कुर्यात् ॥१॥ संक्षो०

A 'तत्र युक्तमप्युक्तमयुक्तसमं यो न विशेषज्ञः' इसप्रकारका पाठान्तर मु० व ह० खि० मू० प्रतिषेधोंमें विद्यमान है, जिसका अर्थ यह है कि मूर्खके समक्ष योग्य वचन कहना भी नहीं कहनेके समान है।

B मु० व ह० खि० मू० प्रतिषेधोंमें 'पितृकी' ऐसा पाठान्तर है जिसका अर्थ 'पानी' है।

२ तथा च वर्गः—अरचयद्वितं तस्यात् बन्मूर्खस्थोपद्विरथते । द्विताद्वितं न ज्ञानाति जल्पितं न कदाचन ॥१॥

भागुरि' विद्वान् ने कहा है 'जो वक्ता उसकी बात न सुननेवाले मनुष्यके सामने बोलता है वह मूर्ख है, क्योंकि वह निसन्देह जंगलमें रोता है ॥१॥'

नीति-शून्य पुरुषकी हानि व कृतघ्न सेवकोंकी निन्दा क्रमशः—

विध्याप्यतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धिः A ॥१६१॥

जीवोत्सर्गः स्वामिपदमभिलषतामेव B ॥१६२॥

अर्थ—नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषकी बढ़ती तत्काल बुझते हुए दीपककी बढ़तीके समान उसको जड़-मूलसे नष्ट करनेवाली होती है। अर्थात् जिसप्रकार बुझनेवाला दीपक अधिक प्रकाश करके समूल नष्ट होजाता है, वसीप्रकार अन्यायी मनुष्य भी अन्याय-संचित धनादिसे तत्काल उन्नतिशीलता मालूम पड़ता है, परन्तु राजदंड-आदिके खतरे से खाली न होनेके कारण अन्तमें वह जड़-मूलसे नष्ट होजाता है ॥१६१॥

नारद' विद्वान् ने भी कहा है कि 'अन्यायी मनुष्योंकी जो ऐसी दरीरह अन्यायसे बढ़ती होती है उसे बुझनेवाले दीपककी बढ़तीके समान विनाशका कारण समझनी चाहिये ॥१॥'

जो सेवक—अमात्य-आदि—कृतघ्नताके कारण अपने स्वामीके राज्यपदकी कामना करते हैं, उनका विनाश-मरण होता है। सारांश यह है कि सेवकोंको अपने स्वामी-पद (राज्यपद) की कामना नहीं करनी चाहिये ॥१६२॥

तीव्रतम अपराधियोंको मृत्यु-दंड देनेसे लाभ व शुद्ध राज-कर्मचारी क्रमशः—

बहुदोषेषु वशदुःस्वप्रदोऽपायोऽनुग्रह एव ॥१६३॥

स्वामिदोषस्यदोषाभ्यामुपहतवृत्तयः क्रुद्ध-सुब्ध-भीतावमानिताः कृत्वाः ॥१६४॥

अर्थ—तीव्रतम अपराधियोंका विनाश राजाको कष्टभरके किये कष्टदायक होता है, परन्तु यह उसका उपकार ही समझना चाहिये, क्योंकि इससे राजकी भीवृद्धि होती है ॥१६३॥

१ तथा च भागुरिः—अभोतुः पुरतो वाक्यं यो वरेदविचक्षकः । अरक्षकदितं सोऽत्र कुस्ते मात्र संशयः ॥१॥

A 'विध्याप्यतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धिः' ऐसा पाठान्तर मु० व ह० कि० मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार बुझनेवाले या बहुत चोमी रोशनीवाले दीपकका कोई उपयोग नहीं है, उसीप्रकार अन्यायी पुरुषकी वृद्धिका कोई उपयोग—हित-प्राप्ति-आदि—नहीं है।

B 'जीवोत्सर्गः स्वामिपदमभिलषतामेव' इस प्रकार मु० व ह० कि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है। जिसका अर्थ यह है कि राजाको उसका बुरा चाहनेवाले विरोधियोंका नाश कर देना चाहिये।

२ तथा च नारदः—जीर्णानिभिः समृद्धिर्वा पुरुषाणां प्रजायते । ज्योतिष्कस्येव सा नृपिर्भासकाय उपस्थिते ॥१॥

हारीत^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाओंको उन पापियों—अत्यन्त भयानक अपराधियों—को मार देना चाहिये, चाहे वे उनके कुटुम्बी होनेके कारण अवध्य—मृत्यु-दण्डके अयोग्य भी हों। क्योंकि पापियोंका नाश क्षणभरके लिये दुःखदायक होने पर भी अविचारमें कृत्याद्य-कारण होता है ॥१॥'

मंत्री, अमात्य और सेनाध्यक्ष-आदि राज्याधिकारियोंमें से राज-दोष (क्रोध व ईर्ष्या-आदि) और स्वयं किये हुए अपराधोंके कारण जिनकी जीविका (वेतनादि) नष्ट कर दी गई है, वे क्रोधी, लोभी, भीत और विरक्त होते हैं, उन्हें 'कृत्या'के समान महाभयङ्कर^२ जानना चाहिये। अर्थात् जिसप्रकार जारण-मारणदि मंत्रों से अयथाविधि किया हुआ यज्ञ क्षुब्ध (असन्तुष्ट) होनेपर यज्ञ करनेवालेका घातक होता है, उसीप्रकार पृथक्करण (नौकरीसे हटाना) और अपमानादिसे क्षुब्ध—असन्तुष्ट हुए राज-कर्मचारी भी राज-घातक होते हैं। निम्नसे यह है कि नीतिज्ञ राजाको उन क्षुब्ध हुए अधिकारी वगैरे सदा सावधान रहना चाहिये एवं आगेके सूत्रमें कहे हुए नैतिक उपायों से उन्हें वश करना चाहिये ॥१६४॥

नारद^३ विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाको पूर्वमें अधिकारी-पद पर नियुक्त किये हुए मंत्री-आदि राज-कर्मचारियोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—अपने वशमें करना चाहिये, यदि वे राज-घातक नहीं हैं, तो उन्हें अपने २ पदोंपर नियुक्त कर देना चाहिये ॥१॥'

पूर्वोक्त क्षुब्ध राज-कर्मचारियोंका वशीकरण व राजाका मंत्री-आदिके साथ वर्तव्य क्रमः—

अनुवृत्तिरभयं त्यागः सत्कृतिरच कृत्यानां वशोपायाः A ॥१६५॥

अथलोभविरागकारणानि प्रकृतीनां न इर्यात् ॥१६६॥

अर्थ—पूर्वोक्त कृत्या समान राज्य-क्षति करनेवाले कारण-वश क्षुब्ध हुए अधिकारियों (मंत्री व सेनाध्यक्ष-आदि) को वश करनेके निम्नप्रकार उपाय हैं। १ उनकी इच्छानुकूल प्रवृत्ति करना (यदि वे पुनः अपने पदों पर नियुक्त होना चाहें, तो नियुक्त करना आदि) २ अभयदान (जीविकाके बिना पारिव्रज्य-दोष से भयभीतोंको पुनः जीविका पर लगाना) ३ त्याग—अभिलषित धन देना और ४ सत्कार—तिरस्कर्तों का सम्मान करना।

विमर्शः—नीतिज्ञ राजाका कर्तव्य है कि वह कारण-वश क्षुब्ध हुए पूर्वोक्त क्रोधी, लोभी, भीत व विरक्त अधिकारियोंमें से क्रोधी और लोभी कर्मचारियोंको पूर्वकी तरह नौकरीसे पृथक् रखे; क्योंकि उन्हें पुनः नियुक्त करने से उसकी तथा राज्यकी क्षति होनेकी संभावना रहती है, तथा जीविकाके बिना

१ तथा च हारीतः—अवध्या अपि ध्यास्ते ये तु पापा निजा अपि । क्षुब्धः से च तेषां च परचातस्यै यसे भवेत् ॥१॥

२ तथा च नारदः—तेष्वेवसीथाः सचिवाः साधिकाराः कुताश्च ये । योजनीयाः स्वकृत्ये ते न चेत् स्युर्वधकारिणः ॥१॥

A उक्त सूत्र सं० टी० पुस्तकमें नहीं है, परन्तु सू० व ह० जि० सू० प्रतियोंसे संकलन किया गया है और वास्तवमें प्राकरणिक तर्क क्रम-प्राप्त भी है। संपादक—

मयभीत हुए कर्मचारियोंको पुनः उनके पदोंपर आसीन कर देवे, क्योंकि ऐसा करने से वे कृतज्ञताके कारण बगावत नहीं कर सकते एवं उसे तिरस्कृतोंको घृणा करनेके लिये उनका सन्मान करना चाहिये ॥१६५॥

राजाका कर्त्तव्य है कि जिन कारणों से उनकी प्रकृति—मंत्री और सेनापति—आदि राज्यके अङ्ग—नष्ट और विरक्त—कर्त्तव्य-व्युत् होती हो, उन्हें न करे एवं लोभके कारणों से पराङ्गमुख होकर उबारवा से काम लेवे ॥१६६॥

वसिष्ठ* विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाको अमात्य-आदि प्रकृतिके नष्ट और विरक्त होनेके साधनों का संग्रह तथा लोभ करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृतिके दुष्ट—नष्ट और विरक्त होने से राज्यकी हानि किस प्रकार हो सकती है ? नहीं हो सकती ।

प्रकृति-क्रोधसे हानि च अवध्य अपराधियोंके प्रति राज-कर्त्तव्य क्रमशः—

सर्वकोपेभ्यः प्रकृतिकोपो गरीयान् ॥१६७॥

आचिकित्स्यदोषदुष्टान् खनिदुर्गं सेतुबन्धाकरकर्मन्तिरेषु वल्लेशयेत् ॥१६८॥

अर्थ—शत्रु-आदि से होनेवाले समस्त क्रोधोंकी अपेक्षा मंत्री व सेनापति-आदि प्रकृतिका क्रोध राजाके लिये विशेष कष्टदायक होता है। निष्कर्ष यह है कि राज्यरूपी वृक्षका मूल अमात्यादि प्रकृति होती है, अतः उसके विकृत होनेपर राज्य नष्ट होजाता है, अतः राजाको उसे सन्तुष्ट रखनेमें प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥१६७॥

राजपुत्र* विद्वान्ने भी कहा है कि 'अमात्य-आदि प्रकृतिके लोग सदा राजाओंके सभी छिद्र—दोष जानते हैं, अतएव विरुद्ध हुआ प्रकृति वर्ग शत्रुओंको राज-दोष बताकर उनसे राजाको मरवा देता है ॥१॥'

राजाका कर्त्तव्य है कि वह जिनके अपराध कौटुम्बिक-संबंध-आदिके कारण द्वाह करनेके अयोग्य हैं—दूर नहीं किये जासकते (जिन्हें बंध-बंधनादि द्वारा दंडित नहीं किया जासकता) ऐसे राज-दोही महान् अपराधियोंको तालाब-खाई खुदवाना, किलेमें रखकर काम कराना, नदियोंके पुल बंधवाना और खानियोंसे लोहा-प्रभृति धातुएं निकलवाना-इत्यादि कार्योंमें नियुक्त कर क्लेशित करे ॥१६८॥

शुक्र* विद्वान्ने भी उक्त बातकी पुष्टि की है कि 'जो महापराधी राज-वंशज होनेसे बंध करनेके

१ तथा च वसिष्ठः—यस्य लोभो विरागश्च प्रकृतीनां न शस्यते [कुलस्तासां प्रक्षोभेण] राज्यवृद्धिः प्रजायते ॥१॥

द्वितीयचरण संशोधित पुनः परिष्कृतम् । सम्पादक—

१ तथा च राजपुत्रः—राजां विद्वानि सर्वाणि विदुः प्रकृतयः सदा । निवेद्य तानि शत्रुभ्यस्ततो नाशं तयन्ति तम् ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—अवध्या ज्ञातयो ये च बहुदोषा सर्वान्ति न । कर्मन्तिरेषु नियोज्यान्ते येन मरुच्यमनान्विताः ॥१॥

योग्य नहीं हैं, उन्हें राजाको भिन्न २ कार्यों (तालाब-खुदवान्त-आदि) में नियुक्त करके क्लेशित—दुःखी करना चाहिये ॥१॥

कथा-गोष्ठीके अयोग्य व उन्ने साथ कथा-गोष्ठी करनेसे हानि कमशः—

अपराधैरपराधकैश्च सह गोष्ठीं न कुर्यात् A ॥१६६॥

ते हि गृहप्रविष्टसर्पवत् सर्वव्यसनानामागमनद्वारं ॥१७०॥

अर्थ—राजाको अपराधी व अपराध करानेवालोंके साथ कथा-गोष्ठी (वार्तालाप-सहवास) नहीं करनी चाहिये । सारांश यह है कि अपराध करने व करानेवाले (वैरी) उच्छूखल, छिद्रान्वेषी और भयङ्कर बैर-विरोध करनेवाले होते हैं । अतः राजाको शत्रु-कृत उपद्रवों से बचाव करनेके लिये उनके साथ कथा-गोष्ठी करनेका निषेध किया गया है ॥१६६॥

नारद^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो अपने ऐश्वर्यका इच्छुक है, उसे सजा पाये हुए (वैरी) व अपराधियोंके साथ कथा-गोष्ठी नहीं करनी चाहिये ॥१॥'

निश्चय से वे लोग—दृष्टित व अपराधी पुरुष—गृहमें प्रविष्ट हुए सर्पकी तरह समस्त आपत्तियोंके आनेमें कारण होते हैं । अर्थात्—जिसप्रकार घरमें घुसा हुआ साँप घातक होता है, उसी-प्रकार सजा पाये हुए और अपराधी लोग भी वार्तालाप-सहवासको प्राप्त हुए छिद्रान्वेषण द्वारा शत्रुओं से मिल जाते हैं; अतः राजाको अनेक कष्ट पहुंचानेमें समर्थ होने से घातक होते हैं ॥१७०॥

शुक्र^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार मकानमें प्रविष्ट हुआ साँप निरन्तर भय उत्पन्न करता है, उसीप्रकार गृह-प्राप्त दृष्टित व अपराधी लोगभी सदा भय पैदा करते रहते हैं ॥१॥'

क्रोधीके प्रति कर्तव्य, उससे हानि व जिसका गृहमें आगमन निष्फल है, कमशः—

न कस्यापि क्रुद्धस्य पुरतस्तिष्ठेत् ॥१७१॥

क्रुद्धो हि सर्प इव यमेवाग्रे पश्यति तत्रैव रोषविषमुत्सृजति ॥१७२॥

अप्रतिविधातुरागमनाद्वरमनागमनम् ॥१७३॥

अर्थ—नैतिक पुरुषको किसी भी क्रोधी पुरुषके सामने नहीं ठहरना चाहिये । अभिप्राय यह है कि क्रोधसे अन्धबुद्धि-युक्त पुरुष जिस किसी (निरपराधीको) भी अपने सामने खड़ा हुआ देखता है, उसे मार डालता है, इसलिये उसके सामने ठहरनेका निषेध किया गया है ॥१७१॥

A अपराधैरपराधकैश्च सहवासं न कुर्यात् इसप्रकार सु० व ह० लि० सू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

१ तथा च नारदः—परिभूता मरा ये च क्रुद्धो वैश्च पराभवः । न तैः सह क्रियाद् गोष्ठीं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—यथाहिर्मन्दराविष्टः करीत सततं भयं । अपराध्याः सद्गोषाश्च तथा तेऽपि गृहागताः ॥१॥

गुरु' विद्वान्ते भी कहा है कि 'जैसे अन्धा पुरुष कुपित होने पर जो भी उसके सामने खड़ा रहता है, उसे मार देता है, उसीप्रकार क्रोधसे अन्धा पुरुष भी अपने सामने रहनेवाले व्यक्ति को मार देता है, अतः उससे दूर रहना चाहिये ॥१॥'

क्योंकि क्रोधी पुरुष जिस किसीको सामने देखता है, उसीके ऊपर सपके समान रोषरूपी जहर फैक देता है। अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार साँप निरपराधीको भी डस लेता है, उसीप्रकार क्रोधसे अन्धा पुरुष भी निपराधीको भी मार देता है, इसलिये उसके पास नहीं जाना चाहिये ॥१५२॥

जो मनुष्य प्रयोजन सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है, उसका प्रयोजनार्थीके गृह आनेकी अपेक्षा न आना ही उत्तम है, क्योंकि उसके निरर्थक आनेसे प्रयोजनार्थी—कार्य-सिद्धि चाहने वाले—का व्यर्थ समय नष्ट होनेके सिवाय कोई लाभ नहीं ॥१५३॥

भारद्वाज* विद्वान्ते भी कहा है कि 'किसी प्रयोजन-सिद्धिके लिये बुलाया हुआ मनुष्य (वैद्य-आदि) यदि उसकी प्रयोजनसिद्धि (रोग-निवृत्ति-आदि) नहीं कर सकता तो उसके लानेसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि वह (निरर्थक व्यक्ति) केवल प्रयोजनार्थीके समयको व्यर्थ नष्ट करता है ॥१॥'

इति मन्त्रिसमुद्देश ।

— X —



१ तथा च गुरुः—यथान्धः कुपितो ह्य्यात् यच्चैवाग्रे व्यवस्थितः । क्रोधान्धोऽपि तथैवात्र तस्मात् दूरतस्थयेत् ॥१॥

* तथा च भारद्वाजः—प्रयोजनार्थीसमीपे यः कार्यं न करे याचयेत् । कार्योन्नेयार्थि क्रियेन व्यर्थोपस्थितकारिणः ॥१॥

११ पुरोहित-समुद्देश ।

—X—

पुरोहित (राज-गुरु) का लक्षण या गुण य मंत्री-पुरोहितके प्रति राज-कर्त्तव्य क्रमशः—

पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दंडनीत्यामभिविनीतमापदां
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्यात् ॥ १ ॥

राज्ञो हि मंत्रिपुरोहितौ मातापितरौ, अतस्तौ न केचिद्वाञ्छितेषु विस्तरयेत्^A ॥२॥

अर्थ—जो कुलीन, सदाचारी और छह वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष), चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद व सामवेद अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग), ज्योतिष, निमित्तज्ञान और दंडनीति विद्यामें प्रवीण हो एवं दैवी (उल्कापात, अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियोंके दूर करनेमें समर्थ हो, ऐसे विद्वान् पुरुषको राजपुरोहित—

राज-गुरु बनाना चाहिये ॥१॥

शुक्र^१ विद्वान्ने भी कहा है कि राजाओंको देवता व आकाश से उत्पन्न हुए एवं पृथिवीपर होने-वाले समस्त उपद्रव और सभी प्रकारकी आपत्तियों (शारीरिक बुखार-गल गंढादि, मानसिक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक—व्याघ्रादि-जनित पीड़ा और आधिदैविक—आकस्मिक पीड़ा-आदि) को शान्तिके लिये पुरोहित नियुक्त करना चाहिये ॥१॥

निश्चयसे मंत्री-पुरोहित हितैषी होनेके कारण राजाके माता-पिता हैं, इसलिये उसे उनको किसी भी अभिलषित पदार्थमें निराश नहीं करना चाहिये ॥२॥

शुक्र^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'मंत्री-पुरोहित राजाके माता-पिताके समान हैं, अतः वह उन्हें किसी भी प्रकार से मन-चाहे पदार्थोंमें आशाहीन (निराश) न करे ॥१॥'

१ तथा च शुक्रः—दिव्यान्तरिक्षमौमानामुत्पातानां प्रशान्तये । तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूयैः पुरोहितः ॥१॥

A उक्त क्रियापदके स्थानमें प्रायः सभी सू० प्रतिषेधोंमें 'विस्तरयेत् दुःखयेद्दुर्विनयेद्वा' ऐसा उक्त पाठान्तर वर्तमान है,

जिसका अर्थ क्रमशः प्रतिकूल, दुःखी और अपमानित करना है, शेष-अर्थ पूर्ववत् है ।

२ तथा च गुरुः—संयां मातृपितृभ्यां च राजो मंत्री पुरोहितौ । अतस्तौ वाञ्छितैरर्थैर्न कश्चिद्विस्तरयेत् ॥१॥

आपत्तियोंका स्वरूप वा भेद एवं राज-पुत्रकी शिक्षा क्रमशः—

अमानुष्योऽग्निरवर्षमतिवर्ष^१ मरकी दुर्भिक्षं सस्योपघातो जन्तुसर्गो व्याघ्रि-भूत-

पिशाच-शाकिनी-सर्प-व्याल-मूषक-क्षोभश्चेत्यापदः ॥३॥

शिक्षालापक्रियाक्षमो राजपुत्रः सर्वासु लिपिसु प्रसंख्यानं पदप्रमाण-

प्रयोगकर्मणि नीत्यागमेषु रत्नपरीक्षायां सम्भोग-

प्रहरणोत्थास्यविद्यासु च साधु विनेतव्यः ॥४॥

अर्थ—उल्कापात—विजली गिरना, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, महामारी रोग, दुर्भिक्ष—अकाल, टिड्डी वगैरह से धान्य-नाश, हिंसक जीवोंके छूटनेसे होनेवाली पीड़ा, बुखार-गलगांछादि शारीरिक रोग, भूत, पिशाच, शाकिनी, सर्प और हिंसक जन्तुओंसे होनेवाली पीड़ा और मूषकोंकी अचुरतासे होनेवाला कष्ट—प्लेगकी बीमारी वगैरह आपत्तियाँ हैं। निष्कर्ष यह है कि प्रकरणमें राज-पुरोहितको उक्त प्रकारकी राष्ट्र पर होनेवाली दैवी-मानुषी आपत्तियोंका प्रतीकार करनेमें समर्थ होना चाहिये ॥३॥

राजा अपने राजकुमारको पहले पब्लिक सभाओंके योग्य वक्तृत्व-कलामें प्रवीण बनावे। पश्चात् सनस्त भाषाओंको शिक्षा, गणितशास्त्र, साहित्य, न्याय, व्याकरण, नीतिशास्त्र, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र शस्त्र-विद्या, और हस्ती-अश्वादि वाहन विद्यामें अच्छीतरह प्रवीण बनावे ॥४॥

राजपुत्र^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसका राजकुमार विद्याओंमें प्रवीण नहीं व मूर्ख है, उसका राज्य सुशिक्षित राजकुमारके बिना निस्सन्देह नष्ट होजाता है ॥१॥'

गुरु-सेवाके साधन, विनयका लक्षण व उसका फल क्रमशः—

अस्वातन्त्र्यमुक्तकारित्वं नियमो विनीतता^A च गुरुपासनकारणानि ॥५॥

व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ॥६॥

पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ॥७॥

अर्थ—स्वच्छन्द न रहना, गुरुकी आज्ञा-पालन, इन्द्रियोंका बशीकरण, अहिंसादि सदाचार-प्रवृत्ति एवं नम्रताका व्यवहार, ये गुण गुरु-सेवाके साधन हैं—शिष्यकी उक्त सत्प्रवृत्तिसे गुरु प्रसन्न रहते हैं ॥५॥

१ तथा च राजपुत्रः—कुमारो यस्य मूर्खः स्वाप्तविद्यासु विचक्षणः । तस्य राज्यं विनश्येत्तदप्राप्त्या नात्र संशयः ॥१॥

A इसका स्थानमें मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें 'विनीततायर्थश्च' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ नम्रता और धन देना है।

अर्थात् नम्रताका वर्तव्य करना और धन देनेसे गुरु प्रसन्न रहते हैं वाकी अर्थ पूर्ववत् है। सम्पादक—

गौतम^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो शिष्य सदा गुरुकी आज्ञा-पालन व अपनी इच्छानुकूल प्रवृत्ति-निरोध करता है और विनय व श्रद्धापूर्वक श्रम करता होता है, उसे विद्या-प्राप्तिमें सफलता होती है ॥१॥'

व्रत-पालन—अहिंसा, सत्य व अचौर्य-आदि सदाचार प्रवृत्ति, विद्याध्ययन और आयुमें बड़े पुरुषोंके साथ नमस्कारादि नम्रताका वर्तन करना विनय गुण है। सारांश यह है कि व्रती, विद्वान् व वयोवृद्ध (माता-पिता आदि) पुरुष जो कि क्रमशः सदाचार-प्रवृत्ति, शास्त्राध्ययन और हित-चितवन आदि सद्गुणों से विभूषित होनेके कारण श्रेष्ठ माने गये हैं, उनको नमस्कारादि करना विनय गुण है ॥६॥

गर्ग^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो व्रत-पालनसे उत्कृष्ट एवं विद्याध्ययनसे महान् और वयोवृद्ध है, उसकी भक्ति करना 'विनय' कहा गया है ॥१॥'

अतो महापुरुषोंकी विनयसे पुण्य-प्राप्ति, विद्वानोंकी विनयसे शास्त्रोंका वास्तविक स्वरूप-ज्ञान एवं माता-पिता-आदि वयोवृद्ध हितैषियोंकी विनयसे शिष्ट पुरुषोंके द्वारा सन्मान मिलता है ॥७॥

विद्याभ्यासका फल—

अभ्यासः कर्मसु कौशलमुत्पादयत्येव यद्यस्ति तज्ज्ञेभ्यः सम्प्रदायः ॥८॥

अर्थ—यदि विद्या-जिज्ञासु पुरुषोंके लिये विद्वान् गुरुओंकी परम्परा चली आरही है तो उस क्रमसे किया हुआ विद्याभ्यास कर्त्तव्य-पालनमें चतुरता उत्पन्न करता है। अभिप्राय यह है कि विद्वान् गुरुओंकी परम्परापूर्वक किये हुए विद्याभ्याससे शास्त्रोंका यथार्थ बोध होता है, जिससे अनुपम कर्त्तव्य-पालनमें निपुणता प्राप्त करता है ॥८॥

शिष्य-कर्त्तव्य (गुरुकी आज्ञा-पालन, रोष करनेपर जवाब न देना व प्रश्न करना-आदि) क्रमशः—

गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यप्राधर्मानुचिताचारात्मप्रत्यवायेभ्यः^A ॥९॥

१ तथा च गौतमः—सदादेशकरो यः स्थानं स्वेच्छका न प्रवर्तते । विनयप्रतयवाच्यः स शिष्यः सिद्धिभाग्यमेव ॥१॥

२ तथा च गर्गः—व्रतविद्याभिका ये च तथा च धर्मसाधिकाः । सत्केवां क्रियते भक्तिविनयः स उदाहृतः ॥१॥

A गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यप्राधर्मानुचिताचारात्' ऐसा सु० व ह० कि० मू० प्रतिपादित पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि शिष्यको गुरुके वचन उल्लंघन नहीं करने चाहिये, परन्तु अधम व नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति संबंधी वचनोंके उल्लंघन करनेमें कोई दौष नहीं है।

युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थवादी ॥१०॥

गुरुजनरोषेऽनुत्तरदानमभ्युपपत्तिश्चापधम् ॥११॥

शत्रूणामभिमुखः पुरुषःश्लाघ्यो न पुनर्गुरुणाम् ॥१२॥

आराध्यं न प्रकोपयेद्यसावाश्रितेषु कन्याशशंसी ॥१३॥

गुरुमिरुक्तं नातिक्रमितव्यं, यदि नैहिकामुश्रिकफलविलोपः ॥१४॥

सन्दिहानो गुरुमकोपयन्नापृच्छेत् ॥१५॥

गुरुणां पुरतो न यथेष्टमासितव्यम् ॥१६॥

नानभिवादोवाध्यायाद्विधामाददीत् ॥१७॥

अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ॥१८॥

सहाध्यायिषु बुद्ध्यतिशयेन नाभिभूयेत ॥१९॥

प्रज्ञयातिशयानो न गुरुमवज्ञायेत् ॥२०॥

अर्थ—अधर्म, अनुचित-आचार—नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति और अपने सत्कर्तव्योंमें विघ्नकी बातोंको छोड़कर बाकी सभी स्थानोंमें शिष्यको गुरुके वचन उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥६॥ यदि शिष्य गुरुसे

A 'प्रत्यर्थवादी' गुरुमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थो वादी वा स्यात्' इसप्रकार का पाठान्तर मु० पृ० ६० जि० सू० प्रतियोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जब आज्ञाकारी शिष्य गुरु से शत्रुता व वाद-विवाद नहीं करता, तथापि गुरुजन अयोग्यता-आदिके कारण उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि में विघ्न-बाधाएं उत्पन्न करते हैं, ऐसे अवसर पर शिष्यको उनपर भद्रा रखनी चाहिये, क्योंकि गुरुजन ही उस विषयमें योग्य-अयोग्यका निर्णय कर सकते हैं।

B 'कन्याशशंसी' इसप्रकारका पाठ उक्त सू० प्रतियोंमें है, परन्तु अर्थमेव कुछ नहीं।

C उक्त पाठ उक्त सू० प्रतियोंमें संकलन किया गया है।

E मु० पृ० ६० जि० सू० प्रतियोंमें उक्त सूत्रके पर्याय 'यद्युक्ति-जाति-श्रुताभ्यामाधिक्यं समाभरत्वं वा' इसप्रकारका अधिक पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि यदि शिष्य अपने गुरुकी अपेक्षा बुद्धत्वकला, जाति और विद्वत्ता से अधिक या समान है, तथापि उसे गुरुको नमस्कार किये बिना विद्या प्रदत्त नहीं करना चाहिये।

F 'नाभ्यसूयेत्' ऐसा पाठ उक्त सू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ—इष्ट्या नहीं करनी चाहिये रोष पूर्वकत्।

G 'अवज्ञायेत्' ऐसा पाठ उक्त सू० प्रतियोंमें है जिसका अर्थ अज्ञित करना है, रोष पूर्वकत्।

शत्रुता और वाद-विवाद करने वाला नहीं है, तो उसके योग्य-अयोग्य कर्त्तव्यको गुरु ही जानता है ॥१०॥ गुरुजनोंके कुपित होनेपर शिष्यको जवाब न देना और उनकी सेवा करना उनके क्रोध-शान्तिको औपधि है ॥११॥ शत्रुओंके सामने जानेवाला—उत्से लड़ाई-भगड़ा करने वाला—पुरुष प्रशंसनीय है, किन्तु गुरु-जनोंके सामने जानेवाला—उत्से शत्रुता व वाद-विवाद करनेवाला शिष्य प्रशंसाके योग्य नहीं—निन्द्य है ॥१२॥ यदि पूज्य (गुरु-आदि) अपने अधोन रहनेवाले शिष्यादिकी कल्याण-कामना करता है, तो उसे कुपित—नाराज—नहीं करना चाहिये ॥१३॥ जो इसलोक व परलोक सम्बन्धी सुखके नष्ट करने की इच्छा नहीं करते उन्हें गुरुजनोंकी कही हुई बात उल्लंघन नहीं करनी चाहिये ॥१४॥ सन्देह-युक्त शिष्य गुरुको कुपित (नाराज) न करके नम्रतासे प्रश्न पूछे ॥१५॥ शिष्योंको गुरुजनोंके सामने अपनी इच्छानुसार (उद्-बद्धतापूर्वक) नहीं बैठना चाहिये ॥ १६॥ गुरुको नमस्कार किये बिना उससे विद्याग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१७॥

वसिष्ठ* विद्वान् ने भी कहा है कि, 'जिसप्रकार शूद्र वेदश्रवण नहीं कर सकता, उसीप्रकार गुरुको नमस्कार न करनेवाले उद्विग्न छात्रको भी विद्या प्राप्त नहीं होसकती ॥१८॥'

शिष्यको विद्याध्ययन करनेके सिवाय दूसरा कार्य, शारीरिक व मानसिक चपलता तथा चित्त-प्रवृत्तिको अन्यत्र लेजाना ये कार्य नहीं करने चाहिये ॥१९॥

गौतम* विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो शिष्य पठन-कालमें दूसरा कार्य चपलता और चित्तको प्रवृत्तिको अन्यत्र लेजाता है, वह मूर्ख रह जाता है ॥२०॥'

वीर्यबुद्धि छात्रको अपने सहपाठियोंका तिरस्कार नहीं करना चाहिये ॥२१॥

गुरु* विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो छात्र गुरुसे विद्या पढ़ना चाहता है और यदि वह अपने सहपाठियोंकी अपेक्षा वीर्यबुद्धि है, तथापि उसे उनका पराभव—तिरस्कार नहीं करना चाहिए ॥२२॥'

शिष्यका कर्त्तव्य है कि वह गुरुकी अपेक्षा विशेष विद्वान् होनेपर भी उसका तिरस्कार न करे ॥२३॥

भृगु* विद्वान् ने कहा है कि 'जो छात्र अधिक बुद्धिमान् होनेपर अपने गुरुको अनादर दृष्टि में देखता है, वह मरकर नरक जाता है और संसारमें अपकीर्ति प्राप्त करता है ॥२४॥'

१ तथा च वसिष्ठः—नमस्कारं विना शिष्यो यो विद्याग्रहणं क्रियात् । गुरोः स तां न चाप्नोति शूद्रो वेदश्रवणं यथा ।

२ तथा च गौतमः—अन्यकार्यं च चापल्यं तथा चैदाग्याचिततां । प्रस्तावे पठनस्यास्य चः करोति जगं भवेत् ।

३ तथा च गुरुः—न सदाध्यायिनः कुर्यात् पराभवसमन्वितान् । स्वबुद्धयतिशयेनात्र यो विद्यां वाञ्छति प्रभो ।

४ तथा च भृगुः—बुद्ध्याधिकस्तु यस्मात्तां गुरुं परयेदवज्ञया । स प्रेत्य नरकं याति वाच्यतामिह भूतले ॥२४॥

माता-पितासे प्रतिकूल पुत्रकी कड़ी आलोचना और पुत्रकर्त्तव्य क्रमशः—

स किमभिजातो मातरि यः पुरुषः शूरो वा पितरि ॥२१॥

अनभुजातो न क्वचिद् व्रजेत् ॥२२॥

मार्गमचलं जलाशयं च नैकोऽवगाहयेत् A ॥२३॥

अर्थ—जो मनुष्य माता-पिताके साथ वैर-विरोध करके अपनी वीरता प्रकट करता है, क्या वह कुलीन कहा जासकता है ? नहीं कहा जासकता । अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्यको अपनी कुलीनता प्रगट करनेके लिए माता-पिताकी भक्ति करनी चाहिये ॥२१॥

मनु^१ विद्वान् ने भी कहा है कि 'सच्चा पुत्र वही है, जो माता-पितासे किसी प्रकारका द्वेष नहीं करता, परन्तु जो उनमें द्वेष करता है, उसे दूसरेका वीर्य समझना चाहिये ॥१॥'

पुत्रको माता-पिताकी आज्ञाके बिना कहीं न जाना चाहिये ॥२२॥

वसिष्ठ^२ विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो पुत्र माता-पिताकी आज्ञाके बिना सूक्ष्म कार्य भी करता है, उसे कुलीन नहीं समझना चाहिये ॥१॥'

पुत्रको माता-पिता व साथियोंके बिना—अकेला—किसी मार्गमें नहीं जाना चाहिये, व पहाड़-पर नहीं चढ़ना चाहिये और न कुआ-बावड़ी आदि जलाशयमें प्रविष्ट होना चाहिये ॥२३॥

गुरु^३ विद्वान् ने भी कहा है कि 'माता-पितासे रहित—अकेले—पुत्रको बाणको-रूप-आदि जलाशयमें, तथा मार्ग और पहाड़में प्रवेश नहीं करना चाहिये ॥१॥'

गुरु, गुरु-पत्नी, गुरु-पुत्र व सहपाठीके प्रति छात्र-कर्त्तव्य क्रमशः—

पितरमिव गुरुमुपचरेत् ॥२४॥

गुरुपत्नीं जननीमिव पश्येत् ॥२५॥

गुरुमिव गुरुपुत्रं पश्येत् ॥२६॥

सब्रह्मचारिणि बान्धव इव स्निह्येत् ॥२७॥

A 'अवगाहयेत्' इसपुकार का पाठ मु० व इ० लि० मू. प्रतियों में उपलब्ध है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है ।

१ तथा च मनुः— न पुत्रः पितरं द्रष्टुं मातरं न कथंचन । यत्नयाद्वेषसंयुक्तस्तं विन्यादन्यरेतसं ॥१॥

२ तथा च वसिष्ठः—पितृमातृग्रामादेशमगृहीत्वा करोति यः । सुसूक्ष्माण्यपि कृत्यानि स कुलीनो भवेन्न हि ॥१॥

३ तथा च गुरुः—राषीकृपादिकं यच्च मार्गं वा यदि चाचले । नैकोऽवगाहयेत् पुत्रः पितृमातृविषजिषः ॥१॥

अर्थ—शिष्यको गुरुकी पिताके सदृश सेवा करनी चाहिये ॥२४॥

भारद्वाज^१ विद्वान् ने कहा है कि 'जो छात्र गुरुकी पिताके समान भक्ति करता है, वह समस्त विद्याएं प्राप्तकर ऐहिक व परलौकिक सुख प्राप्त करता है ॥१॥'

शिष्य गुरु-पत्नीको माताके समान पूज्य समझे ॥२५॥

याज्ञवल्क्य^२ विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो छात्र गुरु-पत्नीको भोग-लालसासे देखता है, वह नरक जाता है और उसे विद्या प्राप्त नहीं होती ॥१॥'

छात्र गुरु-पुत्रको गुरुके सदृश पूज्य समझे ॥२६॥

वादरायण^३ विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो शिष्य गुरु-पुत्रकी गुरुके समान सेवा करता है, उसके लिये गुरु प्रसन्न होकर अपनी समस्त विद्या पढ़ा देता है ॥१॥'

छात्रको अपने सहपाठी ब्रह्मचारीसे बन्धुकी तरह स्नेह करना चाहिये ॥२७॥

मनु^४ विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार भाईसे स्वाभाविक प्रेम किया जाता है, उसीप्रकार शिष्यको अपने सहपाठी विद्यार्थीके साथ स्वाभाविक प्रेम करना चाहिये ॥१॥'

शिष्यकर्त्तव्य (ब्रह्मचर्य व विद्याभ्यास) व अतिथियोंसे गुप्त रखने योग्य बात क्रमशः—

ब्रह्मचर्यभाषोऽष्टाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य ॥२८॥

समविद्यैः सहाधीतं सर्वदाभ्यस्येत् ॥२९॥

गृहदौःस्थित्यमागन्तुकानां पुरतो न प्रकाशयेत् ॥३०॥

अर्थ—छात्र सोलह वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य अत धारण करे, परन्थात् इसका गो-दानपूर्वक विवाह-संस्कार होना चाहिये ॥२८॥ ब्रह्मचारी छात्रको सहपाठियोंके साथ पढ़े हुए शास्त्रका सदा अभ्यास करना चाहिये ॥२९॥ नैतिक मनुष्यको अपनी गृह-विपत्ति (दरिद्रता-आदि) अतिथियोंके समक्ष प्रकाशित नहीं करनी चाहिये ॥३०॥

१ तथा च भारद्वाजः—योऽन्तेवासी पितुर्पदं गुरोर्भक्तिं समाचरेत् । स विद्यां प्राप्य निःशेषां लोकद्वयमवाप्नुयात् ॥१॥

२ तथा च याज्ञवल्क्यः—गुरुभार्यां च यः परयेद् दृष्ट्वा चात्र सकामया । स शिष्यो वरकं वाति न च विद्यामवाप्नुयात् ॥१॥

३ तथा च वादरायणः—यथा गुरुं तथा पुत्रं यः शिष्यः समुपाचरेत् । [तस्य रुष्टो गुरुः कृत्स्नां] निजं विद्यां निवेदयेत् ॥१॥

तृतीय चरण संशोधित । संपादक—

४ तथा च मनुः—यथा भ्रातुः प्रकर्तव्यः [स्नेहोऽत्र निनिबन्धनः] । तथा स्नेहः प्रकर्तव्यः शिष्येण ब्रह्मचारिणः ॥१॥

द्वितीय चरण संशोधित व परिवर्तित । सम्पादक—

परगृहमें प्रविष्ट हुए पुरुषोंकी प्रवृत्ति व महापुरुषका लक्षण कमराः—

परगृहे सर्वोऽपि विक्रमादित्यायते ॥३१॥

स सखु महान् यः स्वकार्येष्विव परकार्येषुत्सहते * ॥३२॥

अर्थ—सभी मनुष्य दूसरोंके गृहमें आकर उसका धनादि-व्यय करानेके लिये विक्रमादित्य राजाकी बहार होजाते हैं—धनाढ्योंका अनुकरण करने लगते हैं ॥३१॥ जो अपने कार्य समान दूसरोंके उत्साहपूर्वक करता है, वही महापुरुष है ॥३२॥

बादीमसिंह सूरिने कहा है कि 'परोपकारी सज्जन पुरुष अपनी आपत्तिपर दृष्टि नहीं डालते ॥३॥'

दूसरोंके कार्य-साधनमें लोकप्रवृत्ति जैसी होती है—

परकार्येषु को नाम न शीतलः ॥३३॥

अर्थ—कौन पुरुष दूसरोंके कार्य-साधनमें ठंडा—आलसी (उद्योग-शून्य) नहीं होता ? सभी होते हैं ॥३३॥

राज-कर्मचारी-प्रकृति, धनिक कृपणों की गुणगानसे हानि व धनाभिलाषीको संतुष्ट करना कमराः—

राजासक्तः को नाम न साधुः ॥३४॥

अर्थपरेष्वनुनयः केवलं दैन्याय ॥३५॥

को नामार्थार्थी प्रणामेन तुष्यति ॥३६॥

अर्थ—कौनसा राज-कर्मचारी राजाके समीप जाकर सज्जन नहीं होता ? सभी होते हैं। चाराश यह है कि ये लोग दंड-भयसे कृत्रिम सज्जन होते हैं, न कि स्वाभाविक ॥३४॥ प्रयोजन-वश धनाढ्य कृपण अनुनय (गुण-गान-आदि) करनेसे केवल दीनता ही प्रगट होती है, न कि अर्थ-लाभादि प्रयोजन-वश ॥३५॥ कौन धनाभिलाषी पुरुष केवल प्रणाम मात्रसे संतुष्ट होता है ? कोई नहीं ॥३६॥

सखु महान् यः स्वकार्येषु उत्सहते' इसप्रकार मू० प्रतिर्पेजि पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो अपने कार्य-साधनमें उत्साह रखता है वही महापुरुष है परन्तु सं०टी० पुस्तकका पाठ उत्तम व इदमप्रिय है। संपादक—
बादीमसिंहसूरिः—स्वापदे न हि पश्यन्ति सन्तः पाराध्वतत्पराः ॥३॥ द्रष्टव्यवामणी—

राज-कर्मचारियोंमें समदृष्टि, दरिद्रसे धनग्रहण और असमर्थको प्रयोजन कहना क्रमशः—

आश्रितेषु कार्यतो विशेषकरणोऽपि॥ दर्शनप्रियात्तापनाभ्यां

सर्वत्र समवृत्तिस्तत्र वर्द्धयति अनुरञ्जयति च ॥३७॥

तनुधनादर्थग्रहणं मृतमारणमिव ॥३८॥

अप्रतिविधातरि कार्यनिवेदनमरण्यरुदितमिव ॥३९॥

अर्थ—राजाका कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित अमात्य-आदि प्रकृतिके साथ अनुरक्त दृष्टि और मधुरभाषण-आदि शिष्ट व्यवहार समान रखे। क्योंकि पक्षपात-शून्य समदृष्टिसे राजतंत्रकी श्रीवृद्धि होती है व समस्त प्रकृति—अमात्य-आदि—उससे अनुरक्त रहती है। यदि उसमेंसे किसी कमचारी द्वारा उसकी विशेष प्रयोजन-सिद्धि हुई हो, तो उसे एकान्तमें पारितोषिक-प्रदान द्वारा प्रसन्न करे, परन्तु उसका पक्षपात प्रकाशित नहीं होने पावे, अन्यथा अन्य प्रकृतिके लोग राजासे द्वेष करने लगते हैं ॥३७॥ दरिद्र मनुष्यसे धन लेना मरे हुएको मारनेके समान कष्टदायक है। सारांश यह है कि राजा धनिकोंसे ही टेक्स घसूल करे, गरीबोंसे नहीं, क्योंकि उन्हें विशेष कष्ट होता है ॥३८॥ जिसप्रकार जंगलमें रुदन करना व्यर्थ है, उसीप्रकार प्रयोजन-सिद्धि करनेमें असमर्थ पुरुषके लिये अपना प्रयोजन कहना निरर्थक है ॥३९॥

तुलसीदास^१ कवि ने भी कहा है कि नैतिक पुरुषको दूसरेके गृह जाकर अपना दुःख प्रगट नहीं करता चाहिये, क्योंकि इससे गम्भीरता नष्ट होती है और प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता ॥१॥

हठीको उपदेश, कर्त्तव्यज्ञान-शून्यको शिक्षा, विचार-शून्य (मूर्ख) को योग्य बात कहना और नीच पुरुषका उपकार करना इनकी क्रमशः निष्फलता—

दुराग्रहस्य हितोपदेशो बधिरस्याग्रतो गानमिव × ॥४०॥

अकार्यज्ञस्य शिक्षणमन्धस्य पुरतो नर्तनमिव + ॥४१॥

अविचारकस्य युक्तिकथनं तुषकण्डनमिव ॥४२॥

नीचेषूपकृतमुदके विशीर्णं लवणमिव ॥४३॥

१ 'आश्रितेषु कार्यतो विशेषकरणं' इत्यादि सं० टी० पु० में पाठ है, परन्तु हमने उक्त पाठ मु० व इ० लि० मू० प्रतियोंसे संकलन किया है। सम्पादक—

१ तथा च तुलसीदासः कविः—तुलसी पर घर जायके दुःख न दीजे रोय। भरस गमावे आपना बात न बुझे कोय ॥१॥ संगृहीत—

× + उक्त दोनों सूत्र मु० मू० प्रतिये नहीं हैं, परन्तु अन्य इ० लि० मू० प्रतियोंमें वर्धमान हैं। सम्पादक—

अर्थ—इठमाही पुरुषको हितका उपदेश देना बहरेके सामने गीत गानेके समान निष्फल है ॥४०॥
कर्त्तव्यज्ञान-शून्य—मूर्ख पुरुषको शिक्षा देना अन्धके सामने नाचनेके समान व्यर्थ है ॥४१॥ जिसप्रकार
भूसेका कूटना निरर्थक है, उसीप्रकार विचार-शून्य—मूर्खको योग्य बात करना व्यर्थ है ॥४२॥

विद्वानों^१ ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार सर्पको दूध पिजाना विष-वर्द्धक है, उसीप्रकार मूर्खको
उपदेश देना दुःखदायक है ॥१॥'

नीच मनुष्यके साथ किया हुआ उपकार पानीमें फेंके हुए नमककी तरह नष्ट होजाता है । सारांश
यह है कि नीच मनुष्य प्रत्युपकार करनेके अक्षय्य अर्थात् पहुँचाने तत्पर रहता है ॥४३॥

वादीभसिंहसूरि^२ ने भी कहा है कि जिसप्रकार सांपको पिलाया हुआ दूध विष-वर्द्धक होता है,
उसीप्रकार नीच मनुष्यके साथ किया हुआ उपकार अपकार—हानिके लिये होता है ॥१॥

मूर्खको समझानेमें परिश्रम, परोक्षमें उपकार करना व विना मौकेकी बात कहना इनकी निष्फलता
और उपकारको प्रगट करनेसे हानि क्रमशः—

अविशेषज्ञे प्रयासः शुष्कनदीतरणमिव ॥४४॥

परोक्षे किलोपकृतं सुप्तसंवाहनमिव ॥४५॥

अकाले विज्ञप्तमूषरे कृष्टमिव ॥४६॥

उपकृत्योद्धाटनं वैरकरणमिव ॥४७॥

अर्थ—मूर्ख पुरुषको समझानेमें परिश्रम करना सूखी नदीमें तैरनेके समान निष्फल है ॥४४॥ जो
मनुष्य पीठ पीछे किसीका उपकार करता है, वह सोते हुए के पैर दाबनेके समान व्यर्थ कष्ट उठाता है ।
सारांश यह है कि यद्यपि पीठ पीछे उपकार करनेसे भी भलाई होती है परन्तु उसे मात्रा नहीं रहता कि
किसने मेरा उपकार किया है ? इसलिये वह कभी भी उपकारीका प्रत्युपकार नहीं करता, इसलिये परोक्षमें
उपकार करना निरर्थक है ॥४५॥ विना मौकेकी बात कहना ऊपर जमीनमें बीज बोनेके समान निरर्थक है
अतः अवसर पर बात कहनी चाहिये ॥४६॥ जो पुरुष किसीकी भलाई करके उसके सामने प्रगट करता है,
वह उससे वैर-विरोध करनेके समान है ॥४७॥

१ उक्तं च—उपदेशो हि मूर्खाणां केवलं दुःखवर्द्धनं । पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्द्धनम् ॥१॥ संगृहीत—

२ तथा च वादीभसिंहसूरिः—उपकारोऽपि नीचानामपकाराय कल्पते । पद्मगेन पयः पीतं त्रिपथ्यैव हि वर्द्धनम् ॥१॥

उपकार करनेमें असमर्थ की प्रसन्नता-आदि निरर्थक कार्य क्रमशः—

अफलवतः प्रसादः काशकुसुमस्येव* ॥४८॥

गुणदोषावनिश्चित्यानुग्रहनिग्रहविधानं ग्रहामिनिवेश इव ॥४९॥

उपकारापकारात्तमर्थस्य तेषामेव करणानास्तद्विपर्ययनिवेद ॥५०॥

अर्थ—उपकार करनेमें असमर्थ पुरुषका प्रसन्न होना कास—घासविशेष—के पुष्प समान निरर्थक है। अर्थात् नदीके तटवर्ती कास (तृणविशेष) में फूल ही होते हैं, फल नहीं होते, अतः जिसप्रकार कासका फूल निष्फल—फल-रहित—होता है, उसीप्रकार उपकार करनेमें असमर्थ पुरुषका प्रसन्न होना निष्फल—अर्थ-लाभार्थि प्रयोजन-रहित होता है ॥४८॥

किसी विद्वान्^१ ने भी कहा है कि जिस मनुष्यके असन्तुष्ट—नाराज—होनेपर किसी प्रकारका भव नहीं है और संतुष्ट होनेपर धन-प्राप्ति नहीं होती व जो उपकार-अपकार नहीं कर सकता, वह नाराज होनेपर भी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं कर सकता ॥५१॥

नैतिक मनुष्यको किसीके गुण-दोषका निश्चय करके उसका क्रमशः उपकार-अनुपकार करना चाहिये। अर्थात् उसे गुणवान्—शिष्ट पुरुषका उपकार और दुष्ट पुरुषका अपकार करना चाहिये, परन्तु जो इससे विपरीत प्रवृत्ति करता है—गुण-दोषका निश्चय किये बिना ही किसीके अनुग्रह-निग्रह (उपकार-अपकार) में प्रवृत्त होता है, वह राहु-केतु या भूत-पिशाचके द्वारा व्याप्त पुरुषके समान कष्ट उठाता है। अर्थात् जिसप्रकार राहु-केतु इन अशुभ ग्रहोंसे या पिशाचादिके आक्रमणसे मनुष्य पीड़ित होता है, उसी प्रकार गुण-दोषकी परीक्षा किये बिना किसीका उपकार-अनुपकार करनेवाला मनुष्य भी अनेक कष्ट भोगता है ॥४९॥ जो मनुष्य उपकार करनेमें समर्थ नहीं है, उसे संतुष्ट करनेका प्रयत्न करना और अपकार करनेमें असमर्थको असन्तुष्ट करना अपनी हँसी करानेके सदृश है। सारांश यह है कि जिसप्रकार अपनी हँसी कराना अनुचित है, उसीप्रकार उपकार करनेमें असमर्थको संतुष्ट करना और अपकार करनेमें असमर्थको असन्तुष्ट करना अनुचित है, अतः नैतिक व्यक्ति अपने उपकारीको संतुष्ट और अपकारीको असन्तुष्ट रखे, जिसके परिणामस्वरूप वह संतुष्ट से उपकार प्राप्त कर सके और असन्तुष्ट से अपनी हानिका बचाव कर सके ॥५०॥

* 'अफलवतो नृपतेः प्रसादः काशकुसुमस्येव' इसप्रकारका पाठ मृ० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ राज-पक्षमें पूर्ववत् समझना चाहिये। सम्याएक—

१ उक्तं च—यस्मिन् कष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव भगागमो । अनुग्रहोनिग्रहो नास्ति स रुधः किं करिष्यति ॥१॥संगृहीत—

झूठी पहचान करी बतानेवालोंकी एवं उदार-धनकी प्रशंसापूर्वक कृपण-धनकी कर्मशः कड़ी आलोचना—

ग्राम्यस्त्रीविद्रावणकारि गल्लगर्जितं ग्राम्यशूराणाम् ॥५१॥

स विभवो मनुष्याणां यः परोपयोग्यो न तु यः स्वस्यैवोपभोग्यो व्याधिरिव ॥५२॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वयं दरपोक है किन्तु झूठी शूरता दिखाकर ऊपरो भय दिखाते हैं, उनके भयङ्कर चिल्लाने से केवल ग्रामीण स्त्रियाँ ही भयभीत होते हैं, अन्य नागरिक मनुष्य नहीं ॥५१॥ मनुष्योंका वही धन प्रशंसनीय है, जो दूसरों द्वारा भोग जासके, किन्तु जिसको धनी पुरुष रोग समान स्वयं भोगता है वह कृपण-धन निन्ध है ॥५२॥

वस्त्रभक्षेय^१ विद्वान् ने भी कहा है कि 'उस कृपण-लक्ष्मीसे क्या लाभ है ? जो कि कुलवधू-समान केवल उसीके द्वारा भोगी जाती है और जो सर्वसाधारण वेश्याकी तरह पथिकों द्वारा नहीं भागी जाती ॥१॥'

ईर्ष्यालु गुरु, पिता, मित्र तथा स्वामीकी कड़ी आलोचना कर्मशः—

स किं गुरुः पिता सुहृद्वा योऽभ्यस्ययाऽभं बहुदोषं बहुषु

वा दोषं प्रकाशयति न शिष्ययति च ॥५३॥

स किं प्रभुर्यश्चिरसेवकेष्वेकमप्यपराधं न सहते ॥५४॥

अर्थ—वह गुरु, पिता व मित्र निन्ध वा शत्रु सदृश है, जो कि ईर्ष्यावश अपने बहुदोषी शिष्य, पुत्र व मित्रके दोष दूसरोंके समक्ष प्रगट करता है और उसे नैतिक शिक्षण नहीं देता ॥५३॥

गौतम^२ विद्वान् ने कहा है कि 'गुरुको ईर्ष्यावश अपने शिष्यके दोष बहुत मनुष्योंके समक्ष प्रकाशित नहीं करने चाहिये, किन्तु उसे हितकी शिक्षा देनी चाहिये ॥१॥'

वह स्वामी निन्ध है, जो कि अपने चिरकालीन सेवकका एक भी अपराध क्षमा नहीं करता ॥५४॥

शुक^३ विद्वान् ने भी कहा है कि 'स्वामीको उस सेवकका, जो कि भक्त होकर चिरकालसे उसकी सेवा कर रहा है, केवल एक दोषके कारण निग्रह नहीं करना चाहिये ॥१॥'

इति पुरोहित-समुद्देश ।

१ तथा च वस्त्रभक्षेयः—किं तथा क्रियते लक्ष्म्या वा बभूविष केनजा । या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥१॥

२ तथा च गौतमः—शिष्या दद्यात् स्वशिष्यस्थ तद्दोषं न प्रकाशयेत् । ईर्ष्यागर्भे भवेद्यस्य प्रभूतस्य जनाग्रतः ॥१॥

३ तथा च शुकः—हिरकभक्षरौ भूत्वाो भवितुमुक्तः प्रसेवयेत् । न तस्य निग्रहः कार्षो दोषस्यैकस्य कारणात् ॥१॥

१२ सेनापति-समुद्देश—

सेनापतिके गुण-दोष व राज-सेवककी उन्नति क्रमशः—

अभिजनाचारप्राज्ञानुरागशौचशौर्यसम्पन्नः प्रभाववान्, बहुबान्धवपरिवारो, निखिलनयोपायप्रयोगनिपुणः समभ्यस्तसमस्तबाहनायुधयुद्धलिपिभाषात्मपरिज्ञानस्थितिः सकलतन्त्रसामन्ताभिमतः, साङ्ग्रामिकाभिरामिकाकारशरीरो, भर्तु-रादेशाभ्युदयहितवृत्तिषु निर्विकल्पः स्वामिनात्मधन्मानार्थप्रतिपत्तिः, राजचिह्नैः सम्भावितः, सर्वक्लेशायाससहः, इति सेनापतिगुणाः ॥१॥

स्वैः परैश्च प्रधृष्यप्रकृतिरप्रभाववान् स्त्रीजितत्वमौद्वत्यं व्यसनिताऽक्षयव्यय-प्रवासोपहतत्वं तन्त्राप्रतीकारः सर्वैः सह विरोधः परपरीवादः परुषभाषित्वमनुचित-ज्ञताऽसंधिभागित्वं स्वातन्त्र्यात्मसम्भावनोपहतत्वं स्वामिकार्यव्यसनोपेक्षः सह-कारिकृतकार्यविनाशो राजहितवृत्तिषु चैर्ष्यालुत्वमिति सेनापतिदोषाः ॥२॥

स चिरं जीवति राजपुरुषो यो नगरनापित इधानुवृत्तिपरः × ॥३॥

अर्थ—जिसमें निम्नप्रकारके गुण वर्तमान हों, उसे सेनाध्यक्ष-पदपर नियुक्त करना चाहिये। कुशीन, आचार-व्यवहार-सम्पन्न, राज-विद्याप्रवीण (विद्वान्), स्वामी व सेवकोंसे अनुरक्त, पवित्रहृदय, बहुपरिवारयुक्त, समस्त नैतिक उपाय (साम-दानादि) के प्रयोग (अग्नि व जलःस्तम्भनप्रभृति) करनेमें कुशल, जिसने समस्त हाथी, घोड़े आदि वाहन, खज्जादिशस्त्र-संचालन, युद्ध और भिन्न देशवर्ती भाषाओंका

⊗ इसके परचाय 'स्वैः परैश्चामधृष्यप्रकृतिः' इतना अधिक पाठान्तर मू० प्रतिषेधोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि जिसकी प्रकृति-व्यथानपुंसक—भारतीय—राष्ट्रीय और बाहरके शत्रुओं द्वारा पराजित न कीजायके।

× इसके परचाय 'सर्वासु प्रकृतिषु' इतना अधिक पाठ मू० प्रतिषेधोंमें है, जिसका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये।

सम्पादक—

ज्ञान प्राप्त किया हो, आत्मज्ञानी, समस्तसेना व अमात्यप्रभृति प्रधान राज-सेवकोंका प्रेमपात्र, जिसका शरीर यादवाओंसे जोड़ा लेनेकी शक्ति-सम्पन्न और मनोज्ञ (युद्ध करनेमें उत्साही) हो, स्वामीकी आज्ञा-पालन, युद्धमें विजय प्राप्ति व राष्ट्रके हित-चितवनमें विकल्प रहित, जिसे स्वामीने अपने समान समझकर सम्मानित व धन देकर प्रतिष्ठित किया हो, तन्त्र-धामरादि राज-चिन्होंसे युक्त और समस्त प्रकारके कष्ट व खेदोंकी सहन करनेमें समर्थ ये सेनाध्यक्षके गुण हैं । साक्षात् यह है कि उक्त गुण-विभूषित वीर पुरुषको सेनाध्यक्ष-पदपर नियुक्त करनेसे विजयीपुको विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है ॥१॥

शुक्र^१विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा समस्त गुण-विभूषित सेनाध्यक्षकी नियुक्ति करता है, वह शत्रु-कृत पराभव प्राप्त नहीं करता ॥ १ ॥'

जिसकी प्रकृति (प्रधान पुरुष) आत्मीय व दूसरे शत्रु-ओंसे पराजित होसके, तेज-शून्य, स्त्रीकृत उप-द्रवोंमें वश किया जानेवाला (जितेन्द्रियता-शून्य), अभिमानी, व्यसनासक्त, मर्यादासे बाहर धनव्ययी, चिरकाल पर्यन्त परदेशवासी, दरिद्र, सैन्यापराधी, सबके साथ बैर-विरोध करनेवाला, अनुचित बातको जाननेवाला, अपनी आयको अकेला खाने वाला, स्वच्छन्द प्रकृति-युक्त, स्वामीके कार्य व आपत्तियोंका उपेक्षक, युद्ध-सहायक योद्धाओंका कार्य-विघातक और राज-हित चिन्तकोंसे ईर्ष्यालु ये सेनापतिके दोष हैं । अभिप्राय यह है कि उक्त दोष-युक्त पुरुषको सेनाध्यक्ष बनानेसे राज्य-क्षति होती है ॥ २ ॥

गुरु^२विद्वान्ने कहा है कि 'जो मन्दबुद्धि राजा सेनापतिके दोष-युक्त पुरुषको सेनापति बनाता है, वह सेनापति प्रचुर सैनिक शक्ति युक्त होनेपर भी विजयभी प्राप्त नहीं कर सकता ॥ १ ॥'

जो राज-सेवक राजकीय प्रधान पुरुषोंकी नाईकी तरह विनय करता है, वह चिरकाल तक सुखी रहता है । अर्थात् जिसप्रकार नाई नगरमें प्रविष्ट होकर समस्त मनुष्योंके साथ विनयका वर्ताव करनेसे जीवन-निर्वाह करता हुआ सुखी रहता है, उसीप्रकार राजकीय पुरुषोंके साथ विनयशील राजसेवक भी चिरकाल तक सुखी रहता है ॥ ३ ॥

शुक्र^३विद्वान्ने कहा है कि 'जो राज-सेवक राजकीय प्रकृतिकी सदा विनय करता है वह राजाका प्रेम-पात्र होकर चिरकाल तक सुखी रहता है ॥ १ ॥'

इति सेनापति-समुद्देश ।

१ तथा च शुक्रः—सर्वगुणैः सम्पन्नैर्सेनामायं करोति यः । भूमिपालो न जानोति स शत्रुभ्यः पराभवम् ॥१॥

२ तथा च गुरुः—सेनापतिं स्वदोषाग्र्यं यः करोति स मन्दधीः । न जयं लभते संख्ये बहुसेनोऽपि स क्वचित् ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—सेवकः प्रकृतीनां यो नम्रतां याति सर्वदा । स नन्दति चिरकालं भूपस्थापि प्रियो भवेत् ॥१॥

१३ दूत-समुद्देश ।

दूतका लक्षण, गुण व भेद कमलाः—

अनासक्त्यर्थेषु दूतो मंत्री ॥ १ ॥

स्वामिभक्तिरन्यसनिता दातव्यं शुचित्वममूर्खता × प्रागल्भ्यं प्रतिमानवत्वं चान्तिः
परममवेदित्वं जातिश्च प्रथमे दूतगुणाः ॥ २ ॥

स त्रिविधो निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति ॥ ३ ॥

यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निसृष्टार्थः, यथा कृष्णः पाण्डवानाम् ॥४॥

अर्थ—जो अधिकारी दूरदेशवर्ती राजकीय कार्य—सन्धि-विग्रहादि—का साधक या प्रदर्शक होनेके कारण मंत्री समान होता है, उसे 'दूत' कहते हैं ॥ १ ॥

राजपुत्र^१ विद्वान् ने कहा है कि 'राजाका अन्य देशसंबन्धी कार्य—सन्धि-विग्रहादि—दूत द्वारा ही सिद्ध होता है; अतः वह (दूत) मंत्रीतुल्य उसे सिद्ध करता है ॥ १ ॥'

स्वामी-भक्त, शूत-कीड़न-मथपानादि व्यसनोंमें अनासक्त, चतुर, पवित्र (निर्लोभो व निर्मल शरीर तथा विशुद्ध वस्त्र-युक्त), विद्वान्, उदार, बुद्धिमान्, सहिष्णु, शत्रु-रहस्यका ज्ञाता और कुलीन ये दूतके मुख्य गुण हैं ॥ २ ॥

शुक्र^२ विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा चतुर, कुलीन, उदार एवं अन्य दूतोचित गुणोंसे युक्त दूतको भेजता है, उसका कार्य सिद्ध होता है ॥ १ ॥'

ॐ 'अनासक्त्यर्थेषु दूतो मंत्री' इस प्रकारका पाठान्तर सू० प्रतियोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जो अधिकारी शीघ्र करने योग्य कार्य—सन्धि-विग्रहादि—का साधक, या प्रदर्शक होनेके कारण मंत्री-सुख्य है उसे 'दूत' कहते हैं ।

× इसके स्थानमें 'अमूर्खता' ऐसा पाठ सू० प्रतियोंमें पाया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि राज-दूतको रोगादिके कारण हीनशक्ति नहीं होना चाहिये, शेष अर्थ पूर्ववत् है ।

१ तथा च राजपुत्रः—देशान्तरस्थित कार्यं दूतद्वारेण सिद्ध्यति । तस्माद् दूतो यथा मंत्री तत्कार्यं हि प्रसाधयेत् ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—दत्तं जात्यं प्रगल्भं च, दूतं यः प्रेषयेत्तुः । अन्यैश्च स्वगुणैर्युक्तं तस्य कृत्यं प्रसिद्ध्यति ॥ १ ॥

दूत तीन प्रकारके होते हैं । १ निःसृष्टार्थ २ परिमितार्थ ३ शासनहर ॥ ३ ॥ जिसके द्वारा निश्चित करने हुए सन्धि-विग्रहको उसका स्वामी प्रमाण मानता है, वह 'निःसृष्टार्थ' है, जैसे पाण्डवोंका कृष्ण । अभिप्राय यह है कि कृष्णने पाण्डवोंकी ओर से जाकर कौरवोंसे विग्रह—युद्ध—निश्चित किया था, उसे पाण्डवोंको प्रमाण मानना पड़ा; अतः कृष्ण पाण्डवोंके 'निःसृष्टार्थ' राज-दूत थे । इसीप्रकार राजा द्वारा भेजे हुए संदेश और शासन—लेख—को जैसेका तैसा शत्रुके पास कहने या देनेवालेको क्रमशः 'परिमितार्थ' व 'शासनहर' जानना चाहिये ॥ ४ ॥

भृगु^१विद्वान् ने कहा है कि 'जिसका निश्चित वाक्य—सन्धि-विग्रहादि—अभिलिखित न होने पर भी राजाद्वारा उल्लङ्घन न किया जासके उसे नीतिज्ञोंने 'निःसृष्टार्थ' कहा है ॥ १ ॥ जो, राजाद्वारा कहा, हुआ संदेश—वाक्य—शत्रुके प्रति यथार्थ कहता है, उससे हीनाधिक नहीं कहता, उसे 'परिमितार्थ' जानना चाहिये ॥ २ ॥ एवं जो राजाद्वारा लिखा हुआ लेख यथावत् शत्रुको प्रदान करता है, उसे नीतिज्ञोंने 'शासनहर' कहा है ॥ ३ ॥'

दूत-कर्तव्य (शत्रु-स्थानमें प्रवेश व प्रस्थानके नियम-आदि)क्रमशः—

अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥ ५ ॥

मत्स्वामिनाऽसंधातुकामो रिपुर्मां विलम्बयितुमिच्छतीत्यननुज्ञातोऽपि दूतोऽपसरेश्च

गूढपुरुषान्वाऽवसर्पयेत् ॥ ६ ॥

परेणाशु प्रेषितो दूतः कारणं विमृशेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—दूत शत्रु द्वारा अज्ञात होकर—उसकी आज्ञाके बिना—न तो शत्रु-स्थानमें प्रविष्ट हो और न वहाँसे प्रस्थान करे । सारांश यह है कि जब दूत शत्रुकी आज्ञा-पूर्वक प्रवेश या प्रस्थान करता है, तब उसे अपने घातका भय नहीं रहता ॥ ५ ॥

गुरु^२विद्वान् ने कहा है कि 'जो दूत शत्रुकी आज्ञा बिना ही उसके स्थानमें प्रवेश या प्रस्थान करता है, वह वधको प्राप्त होता है ॥ १ ॥'

जब दूतको यह निश्चय होजाये कि यह शत्रु मेरे स्वामीसे सन्धि नहीं करेगा किन्तु युद्ध करनेका

१ तथा च भृगुः—यद्वाक्यं नान्यथाभावि प्रभोर्यद्यप्यमीप्सितम् । निःसृष्टार्थः स विज्ञेयो दूतो नीतिविचक्षणीः ॥ १ ॥

यत् प्रोक्तं प्रभुणा वाक्यं तत् प्रमाणां वदेत् यः । परिमितार्थ इति ज्ञेयो दूतो नान्यं वतीति यः ॥ २ ॥

प्रभुणा लेखितं यच्च तत् परस्य निवेदयेत् । यः शासनहरः सोऽपि दूतो ज्ञेयो नयान्वितः ॥ ३ ॥

२ तथा च गुरुः—शत्रुणा योऽपरिज्ञातो दूतस्तत्स्थानमाविशेत् । निर्गच्छेद्वा ततः स्थानात् स दूतो वधमाप्नुयात् ॥ १ ॥

इच्छुक है और इसीकारण मुझे यहाँ रोक रहा है, तब उसे शत्रुकी आज्ञाके बिना ही वहाँसे प्रस्थान कर देना चाहिये या स्वामीके पास गुप्तदूत भेज देना चाहिये ॥ ६ ॥

हारीत^१ विद्वान् ने कहा है कि 'चतुर दूत शत्रुको अपने स्वामीसे युद्धकरनेका इच्छुक जानकर शत्रुकी आज्ञाके बिना ही अपने स्वामीके स्थानपर पहुँच जावे या गुप्त दूत भेज देवे ॥ १ ॥'

यदि शत्रुने दूतको देखकर ही वापिस लौटा दिया हो, तो दूत उसका कारण सोचे ॥ ७ ॥

गर्ग^२ विद्वान् ने भी कहा है कि 'शत्रु द्वारा शीघ्र वापिस भेजा हुआ दूत उसका कारण जानकर स्वामीका हित करे ॥ १ ॥'

दूतका स्वामी-हितोपयोगी कर्त्तव्य—

कृत्यापग्रहाऽकृत्योत्थापनं सुतदायादावरुद्धोपजापः स्वमण्डलप्रविष्टगूढपुरुषपरिज्ञानम-
न्तपालाटविक्रकोशदेशतन्त्रमित्रावबोधः कन्यारत्नवाहनविनिश्चायणं स्वाभीष्टपुरुषप्र-
योगात् प्रकृतिसोभकरणं दूतकर्म ॥ ८ ॥

मन्त्रिपुरोहितसेनापतिप्रतिवद्धपूजनोपचारविश्रम्भाभ्यां शत्रोरितकृत्यव्यतामन्तः सारतां
च विद्यात् ॥ ९ ॥

स्वयमशक्तः परेणोक्तमनिष्टं सहेत ॥ १० ॥

गुरुषु स्वामिषु वा परिवादे नास्ति क्षान्तिः ॥ ११ ॥

अर्थ—दूत स्वामी-हितार्थ शत्रु-राजाके यहाँ ठहरकर निम्नप्रकार कर्त्तव्य-पालन करे । १ नैतिक उपाय द्वारा शत्रु-कार्य—सैनिक-संगठन-आदि—को नष्ट करना, २ राजनैतिक उपाय द्वारा शत्रुका अनर्थ करना—शत्रु-विरोधी—क्रुद्ध, लुब्ध, भीत और अभिमानी—पुरुषोंको सामन्दान द्वारा बशमें करना-आदि, ३ शत्रुके पुत्र, कुटुम्बी व जेतखानेमें बन्दीभूत मनुष्योंमें द्रव्य-दानादि द्वारा भेद उत्पन्न करना, ४ शत्रु द्वारा अपने देशमें भेजे हुए गुप्त पुरुषोंका ज्ञान, ५ सीमाधिप, आटविक (भिल्लादि), कोश देश, सैन्य और मित्रोंकी परीक्षा, ६ शत्रु राजाके यहाँ वर्तमान कन्यारत्न तथा हाथी-घोड़े आदि वाहनोंको निकालनेका प्रयत्न अथवा गुप्तचरों द्वारा स्वामीको बताना, ७ शत्रु-प्रकृति (मंत्रो-सेनाध्यक्ष-आदि)में गुप्तचरोंके प्रयोग द्वारा सोभ उत्पन्न करना ये दूतके कार्य हैं ॥ ८ ॥

१ तथा च हारीतः—असम्भानं परं शत्रुं वृत्तो ज्ञात्वा विचक्षणः । अनुष्ठतोऽपि गृहं गच्छेद् गुप्तान् वा प्रेषयेच्चरात् ॥ १ ॥

२ तथा च गर्गः—शत्रुणा प्रेषितो वृत्तो यच्छीघ्रं प्रविशन्तमेव । कारणं चैव विज्ञाय कुर्यात् स्वामिहितं ततः ॥ १ ॥

दूत शत्रु के मंत्री, पुरोहित और सेनाध्यक्षके समीपवर्ती पुरुषोंको धन-दान द्वारा अपनेमें विश्वास उत्पन्न कराकर शत्रु-हृदयकी गुप्त बात—युद्धादि—व उसके कोश-सैन्यके प्रमाणका निश्चय करे ॥ ६ ॥

दूत शत्रु के प्रति स्वयं कठोर वचन न कहकर उसके कहे हुए कठोर वचन सहन करे ॥ १० ॥
शक्र^१ विद्वान् ने कहा है कि लक्ष्मी चाहनेवाला दूत शत्रु से कर्कश वचन न कहकर उसके कठोर वचन सहें और उत्तर न देवे ॥ १ ॥^२

जब दूत शत्रु-मुखसे अपने गुरु व स्वामीकी निन्दा सुने तब उसे शान्त नहीं रहकर उसका यथा-योग्य प्रतीकार करना चाहिये ॥ ११ ॥

जैमिनि^३ विद्वान् ने कहा है कि 'जो पुरुष शत्रु से की हुई अपने गुरु व स्वामीकी निन्दा सुनकर कुपित नहीं होता, वह नरक जाता है ॥ १ ॥'

निरर्थक विलम्बसे हानि—

स्थित्वापि गियासतोऽवस्थानं केवलमुपक्षयहेतुः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य स्थित होकरके भी किसी प्रयोजन—अर्थ-लाभादि—सिद्धिके लिये देशान्तरमें गमन करनेका इच्छुक है, यदि वह किसी कारणवश—आलस्य-आदिके कारण—रुक जाता है या जानेमें विलम्ब कर देता है, तो इससे उसके धन-लाभादि प्रयोजन नष्ट होजाते हैं; अत एव नैतिक व्यक्तिको गन्तव्य स्थानमें अवश्य जाना चाहिये ।

रैभ्य^४ विद्वान् ने भी कहा है कि 'नैतिक पुरुष गन्तव्य स्थानमें जानेसे विलम्ब न करे, अन्यथा उसकी धन-क्षाति होती है ॥ १ ॥' राजनैतिक-प्रकरणमें अभिप्राय यह है कि जो विजिगीषु स्थित होकरके भी शक्ति-संचय—सैनिक-संगठन-आदि करके शत्रुपर चढ़ाई करनेके उद्देश्यसे शत्रु-देशमें जानेका इच्छुक है, यदि वह वहाँ नहीं जाता या विलम्ब कर देता है, तो उसके धन-जन-आदिकी क्षति होजाती है; क्योंकि शत्रु उसे हीनशक्ति समझकर उस पर चढ़ाई कर देता है, जिसके फलस्वरूप उसके धन-जनकी क्षति होती है ॥ १२ ॥

दूतोंसे सुरक्षा व उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

वीरपुरुषपरिवारितः शूरश्रुवान्तरितात् दूतान् परयेत् ॥ १३ ॥

श्रूयते हि किल चाणिक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जवान ॥ १४ ॥

१ तथा च शुकः—असमर्थेन दूतेन शत्रोरेषत् पुरुषं वचः । तत् कन्वयं न दातव्यमुत्तरं विप्रमिच्छता ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—गुरोर्वा स्वामिनो वापि कृतां निन्दां परेण तु । यः श्रूयते न कुप्येच्च स पुमान्मरकं वजेत् ॥ १ ॥

३ तथा च रैभ्यः—अवश्यं यदि गन्तव्यं तत्र कुर्याद्विलम्बनम् । गन्तव्यमेव नो चेन्न तस्मादनपरिज्ञयः ॥ १ ॥

अर्थ—विजिगीषुको स्वयं बहादुर सैनिकोंसे घिरा रहकर और शत्रु-देशसे आये हुए दूतोंको भी वीर सैनिकोंके मध्यमें रखकर उनसे वार्तालाप आदि करना चाहिये। सारांश यह है कि विजिगीषु कभी भी अरक्षित अवस्थामें—पलटनके पहरेके बिना—शत्रु-देशसे आये हुए दूतोंसे संभाषण-आदि न करे अन्यथा वह उनके खतरेसे खाली नहीं रह सकता ॥ १३ ॥

नारद^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'चिरकालीन जीवनकी कामना करनेवाला विजिगीषु बहुतसे वीर सैनिकोंसे घिरा रहकर शत्रु-दूतोंको देखे ॥ १ ॥' इतिहास बताता है कि आर्य चाणक्य (ई०से ३३० वर्ष पूर्वकालीन सम्राट् चन्द्रगुप्तका मंत्री) ने तीक्ष्णदूत—विषकन्याके प्रयोगद्वारा अरक्षित नन्द राजाको मार डाला था ॥ १४ ॥

शत्रु-प्रेषित लेख-उपहारके विषयमें राज-कर्तव्य व दृष्टान्त द्वारा स्पष्टोक्ति कर्मशः—

शत्रुप्रहितं शासनमुपायनं च स्वैरपरोक्षितं नोपाददीत ॥ १५ ॥

श्रूयते हि किल स्पर्शविषयासिताद्भुतवस्त्रोपायनेन करहाटपतिः कैटभो

वसुनामानं राजानं जघान ॥ १६ ॥

आशीविषविषधरोपेतरत्नकरण्डकप्राभृतेन च करवालः करालं जघानेति ॥ १७ ॥

अर्थ—विजिगीषु राजा शत्रुद्वारा भेजे हुए लेख व उपहार आत्मीयजनों—प्रामाणिक राजवैद्य-आदि—से बिना परीक्षा किये हुए स्वीकार न करे ॥ १५ ॥

शुक्र^२ विद्वान्ने कहा है कि 'राजाको शत्रु-प्रेषित पत्र व उपहार जब तक वैद्यादि आप्त—प्रामाणिक-पुरुषों द्वारा परीक्षित न किये जायें तब तक ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥'

नीतिविद्या-विशारदोंकी परम्परासे सुना जाता है कि करहाट देशके राजा कैटभने वसुनामके प्रतिद्वन्दी राजाको दूतद्वारा भेजे हुए व फैलनेवाले विषसे वासित (वासना दिये गये—बार२ भिगोये हुए) बहुमूल्य वस्त्रोंके उपहार-भेंट द्वारा मार डाला। सारांश यह है कि वसुराजाने विष-दूषित उन बहुमूल्य वस्त्रोंको आप्तपुरुषों द्वारा परीक्षित किये बिना ज्यों ही धारण किया, त्यों ही वह तत्काल काल-कवलित होगया। अतः शत्रु-कृत खतरेसे सुरक्षित रहनेके लिये विजिगीषुको शत्रु-प्रेषित उपहार आप्तपुरुषों द्वारा परोक्षित होनेपर ही ग्रहण करना चाहिये ॥ १६ ॥ इसी प्रकार करवाल नामके राजाने कराल नामके शत्रु राजाको दृष्टिविषयाले सर्पसे व्याप्त रत्नोंके पिटाग्रेकी भेंट भेजकर मार डाला। सारांश यह है कि ज्यों ही कराल राजाने शत्रु-प्रेषित उन रत्न-पिटोरेको खोला त्योंही वह उसमें वर्तमान दृष्टिविष सर्पके

१ तथा च नारदः—परदूतान् नृपः पश्येद् वीरैर्बहुभिरावृतः । शूरैरन्तर्गतस्तेषां चित्तं जीविषुमिच्छया ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—यावत् परोक्षितं न स्वीक्षितं प्राप्नुतं तथा । शत्रोरभ्यागर्षं राजा तावद्वाप्यं न तद्ववेत् ॥ १ ॥

विषसे तत्काल दोर्घनिद्रा(भृत्य)को प्राप्त होगया; अतः राजाको शत्रु-प्रेषित उपहार आप्त-परीक्षित द्वारा स्वीकार करना चाहिये ॥ १७ ॥

दूतके प्रति राज-कर्तव्य—उसका बध न करना, दूत-लक्षण व दूतवचन-श्रवण क्रमशः—

महत्पराधेऽपि न दूतमुपहन्यात् A ॥ १६ ॥

उद्धृतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजानः B ॥ १६ ॥

तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः ॥ २० ॥

किं पुनर्ब्राह्मणः ॥ २१ ॥

अवध्यभावो दूतः सर्वमेव जल्पति ॥ २२ ॥

कः सुधीर्दूतवचनात् परोत्कर्षं स्वापकर्षं च मन्येतः C ॥ २३ ॥

अर्थ—राजाका कर्तव्य है कि वह दूत द्वारा महान् अपराध किये जानेपर भी उसका बध न करे १५

गुरु-विद्वान्ने कहा है कि 'राजा यदि अपनी भलाई चाहता है तो उसे दूतद्वारा गुरुतर अपराध किये जानेपर भी उसका उस समय बध नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥'

वीर सैनिकोंद्वारा शस्त्र संचालित किये जानेपर भी—घोर युद्ध-आरम्भ होनेपर भी राजा लोग उत्तमवशेष होते हैं—दूत-वचनों द्वारा ही अपनी काय-सिद्धि (सन्धि-विग्रहादिसे विजयलक्ष्मी प्राप्त करना) करते हैं। अभिप्राय यह है कि युद्धके पश्चात् भी दूतोंका उपयोग होता है; अतः दूत बध करनेका अपराध है ॥ १६ ॥

गुरु-विद्वान्ने कहा है कि 'महाभयङ्कर युद्ध आरम्भ होनेपर भी दूत राजाओंके समस्त सन्धि-आदि कार्योंके निमित्त विचरते रहते हैं; अतः एव राजाको उनका बध नहीं कराना चाहिये ॥ १ ॥'

‘अवध्यभावे दूतमपि हन्येत’ इसप्रकारका पाठान्तर मु० व ह० वि० मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि दूत द्वारा गुरुतर अपराध या अपकार किये जानेपर राजाको उसका बध कर देना चाहिये।

इस मू०का ‘उद्धृतेषु’ पद मू० प्रतियोंसे संकलित किया गया है, सं० टी०पु० में ‘उद्धृतेषु’ ऐसा पाठ है, अर्थ-संदेह कुछ नहीं।

‘कः सुधीर्दूतमुक्तात् शयानात्’ इत्यादि पाठान्तर मू० प्रतियोंमें वर्तमान है, परन्तु अभिप्रायमें कोई भेद नहीं। सम्यादक—

उक्ता व गुरुः—दूत न पापिंशो हन्यादपराधे गरीयसि । कृतेऽपि तरुण्यात्तस्य यदोच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ १ ॥

उक्ता व गुरुः—अपि सद्यःप्राप्तकालेऽपि वर्तमाने सुदारुणे । सर्वमपि संमुखा दूता [बधं तेषां न कारयेत्] ॥ १ ॥ सं०

यदि दूतोंके मध्यमेंसे चाण्डाल भी दूत बनकर आये हों, तो वे भी बध करनेके अयोग्य हैं उन्नवर्णवाले माह्यण दूतोंका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वे तो सर्वथा बध करने अयोग्य होते हैं २०-२१

शुक्र^१विद्वान्ने भी कहा है कि 'दूतोंमें यदि चाण्डाल भी हों तो राजाको अपनी कार्य-सिद्धिके लिये उनका बध नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥'

दूत राजा द्वारा बध करनेके अयोग्य होता है, इसलिये वह उसके समक्ष सभी प्रकारके—सत्य, असत्य, प्रिय व अप्रिय—वचन बोलता है; अतः राजाको उसके कठोर वचन सहन करना चाहिये ॥२२॥

कौन बुद्धिमान् राजा दूतके वचन सुनकर शत्रुकी उन्नति और अपनी अवनति मानता है ? कोई नहीं मानता । अभिप्राय यह है कि राजाको दूत द्वारा प्रगट हुई शत्रु-वृद्धि प्रामाणिक—सत्य—नहीं माननी चाहिये ॥ २३ ॥

वसिष्ठ^२विद्वान्ने भी कहा कि 'बुद्धिमान् राजाको ईर्ष्या छोड़कर दूत द्वारा कहे हुए प्रिय और अप्रिय सभी प्रकारके वचन सुनने चाहिये ॥ १ ॥'

दूतके प्रति शत्रु-रहस्यज्ञानार्थ राज-कर्त्तव्य व शत्रु-लेख—

स्वयं रहस्यज्ञानार्थं परदूतो नयार्थः स्त्रीभिरुभयचेतनैस्तदुगुणाचारशीलानुवृत्तिभिर्वा
धंचनीयः ॥ २४ ॥

चत्वारि वेष्टनानि खड्गमुद्रा च प्रतिपक्षलेखानाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—राजाका कर्त्तव्य है कि वह शत्रु-राजाका गुप्त रहस्य—सैन्यशक्ति-आदि जाननेके लिये उसके दूतको नीतिज्ञ वेश्याओं, दोनों तरफसे वेतन पानेवाले दूतों तथा दूतके गुण, आचार व स्वभावसे परिचित रहनेवाले दूत-मित्रों द्वारा वशमें करे ॥ २५ ॥

शुक्र^३विद्वान्ने कहा है कि 'राजाको शत्रु-दूतका रहस्य जिसके द्वारा शत्रु उन्नतिशील हो रहा है, जाननेके लिये वेश्याओं, दोनों तरफसे वेतन पानेवाले तथा दूत-प्रकृतिसे परिचित व्यक्तियों द्वारा प्रयत्न-शील रहना चाहिये ॥ १ ॥'

विजिगीषुको शत्रु-राजाके पास भेजे हुए लेखों—पत्रादि-में चार वेष्टन व उनके ऊपर खड्गकी मुद्रा (मुहुर)लगा देनी चाहिये, जिससे वे मार्गमें न खुलने पावें ॥ २५ ॥

इति दूतसमुद्देशः ।

१ तथा च शुक्रः—अन्तावसायिनो वेऽपि दूतानां प्रभवन्ति च । अवध्यास्तेऽपि भूतानां स्वकार्यपरिसिद्धये ॥ १ ॥

२ तथा च वसिष्ठः—ओतव्यामि महीपेन दूतवाक्यान्यशेषतः । विज्ञेनेर्ष्यां परित्यज्य सुशुभान्यशुभान्यपि ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—दूतस्य यद्रहस्यं च तद्वेदयोभयचेतनैः । तच्छ्रीर्लैर्वा परिज्ञेयं येन शत्रुः प्रसिद्धयति ॥ १ ॥

१४ चारसमुद्देश ।

गुप्तचरोंका लक्षण, गुण, वेतन व उसका फल क्रमशः—

स्वपरमराडलकार्याकार्यावलोकने चाराः खलु चतुर्विधितिपतीनाम् ॥ १ ॥

अलौक्यममानन्दमनुरागावित्पन्नमभूत्कार्यं चारसुखाः ॥ २ ॥

तुष्टिदानमेव चाराणां वेतनम् ॥ ३ ॥

ते हि तल्लोभात् स्वामिकार्येषु त्वरन्ते ॥ ४ ॥

अर्थ—गुप्तचर स्वदेश-परदेशसंबंधी कार्य-अकार्यका ज्ञान करनेके लिये राजाओंके नेत्र हैं । अभिप्राय यह है कि राजा लोग गूढ़पुरुषों द्वारा ही अपने व दूसरे देश संबंधी राजकीय वृत्तान्त जानते हैं, स्वयं नहीं ॥ १ ॥

गुरु^१विद्वान्ने कहा है कि 'राजा लोग दूरदेशवर्ती होकरके भी स्वदेश-परदेश संबंधी कार्य-अकार्य गुप्तचरों द्वारा जानते हैं ॥ १ ॥'

संतोष, आलस्यका न होना—इत्माह अथवा निरोगता, सत्यभाषण और विचार-शक्ति ये गुप्तचरोंके गुण हैं ॥ २ ॥

भागुरि^२विद्वान्ने कहा है कि 'जिन राजाओंके गुप्तचर आलस्य-रहित—उत्साही, संतोषी, सत्यवादी और उर्ध्वगति-युक्त होते हैं, वे (गुप्तचर) अवश्य राजकीय कार्य सिद्ध करनेवाले होते हैं ॥ १ ॥'

कार्य-सिद्धि होजानेपर राजाद्वारा जो संतुष्ट होकर प्रचुर धन दिया जाता है, वही गुप्तचरोंका वेतन है, क्योंकि उस धनप्राप्तिके लोभसे वे लोग अपना स्वामीकी कार्य-सिद्धि शीघ्रतासे करते हैं ॥ ३-४ ॥

गौतम^३विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो गुप्तचर राजासे संतुष्ट होकर दिया हुआ प्रचुर धन प्राप्त करते हैं, वे उत्कण्ठित होकर राजकीय कार्य शीघ्र सिद्ध करते हैं ॥ १ ॥'

१ इत्माह गुरुः—स्वमनस्य परे श्रेय कार्याकार्यं च यज्जवेत् । अरैः पश्यन्ति यद्भूषा सुदूरमपि संस्थिताः ॥ १ ॥

२ तथाच भागुरिः—अनालस्यमलौक्यं च सत्यवादिष्वमेव च । ऊहकत्वं भवेद्येषां ते चराः कार्यसाधकाः ॥ १ ॥

३ तथा च गौतमः—स्वामिमुष्टिं प्रदानं ये प्राप्नुवन्ति समुत्सुकाः । ते तत्कार्याणि सर्वाणि चराः सिद्धिं नयन्ति च ॥ १ ॥

गुप्तचरके वचनोंपर विश्वास, गुप्तचर-रहितकी हानि व उसका दृष्टांत द्वारा समर्थन क्रमशः—

असति संकेते त्रयाणामेकवाक्ये संग्रत्ययः + ॥५॥

अनवमर्षो हि राजा स्वैः परैश्चात्तिमुन्धीयते ॥६॥

किमस्त्ययामिकस्य निशि कुशलम् ॥७॥

अर्थ—यदि राजाको गुप्तचर द्वारा कही हुई बातोंमें भ्रम या सन्देह उत्पन्न होजाये, तो तीन गुप्तचरों की कही हुई एकसी बात मिलनेपर उसे प्रमाण माननी चाहिये ॥५॥

भागुरि^१ विद्वान् ने कहा है कि 'जब गुप्तचरोंके वाक्य निश्चित (विश्वासके योग्य) न हों, तब राजाको तीन गुप्तचरोंकी कही हुई एकसी बात सत्य मान लेनी चाहिये ॥५॥'

निश्चयसे जिस राजाके यहां गुप्तचर नहीं होते वह स्वदेश और परदेश सम्बन्धी शत्रुओं द्वारा आक्रमण किया जाता है, अतः विजिगीषुको स्वदेश-परदेशमें गुप्तचर भेजना चाहिये ॥६॥

चारायण^२ विद्वान् ने भी कहा है कि 'राजाओंको वैद्य, ज्योतिषी, विद्वान्, स्त्री, संपेरा और शराबी आदि विविध गुप्तचरों द्वारा अपनी तथा शत्रुओंकी सैन्यशक्ति जाननी चाहिये ॥६॥'

क्या द्वारपालके बिना धनाढ्य पुरुषका रात्रिमें कल्याण होसकता है ? नहीं होसकता । उसीप्रकार गुप्तचरोंके बिना राजाओंका कल्याण नहीं होसकता ॥७॥

वर्ग^३ विद्वान् ने कहा है कि 'जिसप्रकार रात्रिमें द्वारपालके बिना धनाढ्यका कल्याण नहीं होता, उसीप्रकार चतुर गुप्तचरोंके बिना राजाका भी कल्याण नहीं होसकता ॥७॥'

+ असति संकेते त्रयाणामेकवाक्ये संग्रत्ययः' इसप्रकार मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, किन्तु अर्थ-भेद नहीं ।
नोट—उक्त सूत्रका यह अभिप्राय भी है कि जब राजा परिचित स्थानमें संकेत—शक्तिग्रह करके गुप्तचर भेजे, तो उसकी कही हुई बात प्रमाण मान लेनी चाहिये परन्तु जहां बिना संकेत किये ही भेजे, ऐसे अवसर पर पारितोषिक-खोमसे गुप्तचर मिथ्याभाषण भी कर सकता है, इसलिये वहां तीनोंकी एकसी बात मिलनेपर उसपर विश्वास करलेना चाहिये । सम्पादक—

१ तथा च भागुरिः—असंकेतेन चाराणां यदा वाक्यं प्रतिष्ठितम् । त्रयाणामपि तत्सत्यं विज्ञेयं पृथिवीभुजा ॥५॥

२ तथा च चारायणः—वैद्यसंवत्सराचार्यैश्चरैर्ज्ञेयं निजं धनम् । वामादिरिषिकोन्मत्तैः परेषामपि शुभुजाम् ॥६॥

३ तथा च वर्गः—यथा प्राहुरिकैर्धोऽहं राज्ञी जैर्म न जायते । चारैर्विना न भूपस्य तथा ज्ञेयं विचक्षणैः ॥ ७ ॥

गुप्तचरोंके भेद और उनके लक्षण—

छात्र*कापटिकोदास्थित-गृहपति-वैदेहिक-तापस-किरात X यमपट्टिकाहितुण्डिक-
शौण्डिक-शौमिक-पाटञ्चर-विट-विदूषक-पीठमर्द्-नर्तक-गायन-वादक-वाग्जीव-
न-गणक शाकुनिक-भिषगैन्द्रजालिक-नैमित्तिक-सुदारालिक-संवादक-तीक्ष्ण + -
कूर्-जड़-सूक-बधिरान्धछात्रावस्थायियायिभेदेनावसर्पवर्गः ॥८॥

परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः ॥९॥

यं कमपि समयम्नस्थाय प्रतिपन्नछात्रवेषकः कापाटिकः ॥१०॥

प्रभूतान्तेवासी प्रज्ञातिशयधुक्तो राज्ञा परिकल्पितवृत्तिरुदास्थितः ॥११॥

गृहपतिवैदेहिकौ ग्रामकूटश्रेष्ठिनौ ॥१२॥

वाह्यव्रतविद्याभ्यां लोकदम्भहेतुस्तापसः ॥१३॥

अन्पाखिलशरीरावयवः किरातः ॥१४॥

यमपट्टिको गलश्रोणिकः प्रतिगृहं चित्रपटदर्शी वा ॥१५॥

अहितुण्डिकः सर्पक्रीडाप्रसरः ॥१६॥

शौण्डिकः कन्यपालः ॥१७॥

शौमिकः सपायां पटावरणेन रूपदर्शी ॥१८॥

पाटञ्चरश्चौरो बन्दीकारो वा ॥१९॥

व्यसनिनां प्रेक्षानुजीवो विटः । २०॥

सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः ॥२१॥

कामशास्त्राचार्यः पीठमर्द्ः ॥२२॥

* मू० प्रतियोंमें 'छात्र' पद नहीं है ।

X इसके पर्याय 'मू० प्रतियोंमें आक्षिपक' पद है, जिसका अर्थ—छूत-की-बाँमें निपुण गुप्तचर है ।

+ इसके पर्याय 'मू० प्रतियोंमें 'रसद' पाठ है जिसका अर्थ—आजसो गुप्तचर है ।

गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्त्याजीवी नर्तको नाटकाभिनयरङ्गनर्तको वा ॥२३॥

रूपाजीवावृत्त्युपदेष्टा गायकः ॥२४॥

गीतप्रबन्धगतिविशेषवादकचतुर्विधातोद्यप्रचारकुशलो वादकः ॥२५॥

वाग्जीवी वैयालिकः सूतो वा ॥२६॥

गणकः संख्याविदुदैवज्ञो वा ॥२७॥

शाकुनिकः शकुनवक्ता ॥२८॥

भिषगायुर्वेदविद्वैद्यः शस्त्रकर्मविच्च ॥२९॥

ऐन्द्रजालिकतन्त्रयुक्त्या मनोविस्मयकरो मायावी वा ॥३०॥

नैमित्तिको लज्यवेधी दैवज्ञो वा ॥३१॥

महासाहसिकः सूदः ॥ ३२ ॥

विचित्रभक्ष्यप्रणेता आरालिकः ॥ ३३ ॥ अङ्गमर्दनकलाकुशलो भारवाहको वा

संवादकः ॥ ३४ ॥

द्वयहेतोः कृच्छ्रेण कर्मणा यो जीवितविक्रयी स तीक्ष्णोऽसद्वनो वा ॥३५॥

बन्धुस्नेहरहिताः क्रूराः ॥३६॥ अलसाश्च रसदाः ॥ ३७ ॥

जड़-मूक-बाधिरान्धाः प्रसिद्धाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—गुप्तचरो (गुप्तिया पुलिस)के निम्नप्रकार ३४ भेद हैं, उनमें कुछ अवस्थायी (जिन्हें राजा अपने ही देशमें मंत्री व पुरोहित-आदि की जाँचके लिये नियुक्त करता है) और कुछ यायी (जिन्हें शत्रु-राजाके देशमें भेजा जाना है) होते हैं। छात्र, कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहिक, तापस, किरात, यमपट्टिक, अहिनुष्टिक, शौरिष्टिक, शौभिक, पाटशर, बिट, विदूषक, पीठमह, नर्तक, गायन, वादक, वाग्-जीवन, गणक, शाकुनिक, भिषग्, ऐन्द्रजालिक, नैमित्तिक, सूद, आरालिक, संवादक, तीक्ष्ण, क्रूर, रसद, जड़, मूक, बाधिर, और अन्ध ॥ ८ ॥

दूसरोंके गुप्त रहस्यका ज्ञाता व प्रतिभाशाली गुप्तचरको 'छात्र' कहते हैं ॥ ६ ॥ किसी भी शास्त्रको पढ़कर छात्र-वेशमें रहनेवाले गुप्तचरको 'कापटिक' कहते हैं ॥ १० ॥ बहुतमी शिष्य-मण्डली सहित, तीक्ष्ण बुद्धि-युक्त (विद्वान्) और जिसकी जीविका राजा द्वारा निश्चित

११ ॥ जो गुप्तचरको 'अदास्थित' कहते हैं ॥ ११ ॥ कृपक-वेशमें रहनेवाला 'गृहपति' और मेठके
 १२ ॥ गुप्तचर 'वैदेहिक' कहा जाता है ॥ १२ ॥ कपट-युक्त (बनावटी) व्रत विद्या द्वारा ठगनेवाले
 १३ ॥ गुप्तचरको 'तापस' कहा है ॥ १३ ॥ जिसके समस्त शरीरके अङ्गोपःङ्ग (हस्त-
 १४ ॥) सबमें छोटे हों, उस (बोने) गुप्तचरको 'किरात' कहते हैं ॥ १४ ॥ प्रत्येक गृहमें जाकर चित्रपट—
 १५ ॥ काटो हुई तस्वीर-दिखानेवाला अथवा गला फाड़कर चिल्लानेवाला (कोटपाल-बेरो) गुप्तचर 'यम-
 १६ ॥ ' है ॥ १५ ॥ सर्प-क्रोड़में चतुर—सपेरेके वेषमें वर्तमान-गुप्तचर 'अद्विष्ट' कहा गया है
 १७ ॥ ॥ सरास वेषनेवालेके वेषमें वर्तमान गुप्तचरको 'शौण्डिक' कहा है ॥ १७ ॥ जो गुप्तचर रात्रिमें ना-
 १८ ॥ चों में पड़ा लगाकर नाटकका पात्र बनकर अनेक रूप प्रदर्शन करता है, उसे 'शौभिक' कहते हैं ॥ १८ ॥
 १९ ॥ जो किसीके वेषमें वर्तमान गुप्तचरको 'पाटञ्चर' कहते हैं ॥ १९ ॥ जो गुप्तचर व्यभिचार-आदि
 २० ॥ में प्रवृत्ति करनेवाले व्यभिचारियों आदि को बेरया-आदिके यहां भेजकर अपनी जीविका करता
 २१ ॥ है, उसे 'विट' कहते हैं ॥ २० ॥ सभी दर्शकों या श्रोताओं को हंसानेकी
 २२ ॥ प्रयत्नसे गुप्तचर 'विदूषक' है ॥ २१ ॥ कामशास्त्र (वात्स्यायनकामसूत्र-आदि) के विद्वान् गुप्तचरको
 २३ ॥ 'व्यास' कहते हैं ॥ २२ ॥ जो गुप्तचर कमनीय व स्त्रीवेष-प्रदर्शक वस्त्र—साड़ी-जम्बर-आदि पहनकर
 २४ ॥ अपनी जीविका करता हो अथवा नाटककी रङ्गभूमिमें सुन्दर वेष-भूषासे अलङ्कृत होकर भावप्रदर्शन
 २५ ॥ करनेवाला हो उसे 'नर्तक' कहते हैं ॥ २३ ॥ जो बेरयाओंकी जीविका—पुरुष-वशीकरण द्वारा
 २६ ॥ करता हो व संगीतकला-आदिका उपदेश देनेवाला हो, उसे 'गायक' कहते हैं ॥ २४ ॥ गीत संबंधी प्रबन्धोंकी
 २७ ॥ प्रशंसाको बजानेवाला और चारों प्रकारके—तब, अवनद्य, घन व सुषिर (मृदङ्ग-आदि) वाद्य बजाने-
 २८ ॥ में प्रवीण गुप्तचरको 'वादक' कहते हैं ॥ २५ ॥ जो स्तुति पाठक या बन्दी बनकर राजकीय प्रयोजन-
 २९ ॥ में काम करता है, उसे 'वाग्जीवी' कहते हैं ॥ २६ ॥ गणित शास्त्रका वेत्ता अथवा ज्योतिष विद्याके विद्वान्
 ३० ॥ को 'गणक' कहते हैं ॥ २७ ॥ शुभ-अशुभ लक्षणोंसे शुभाशुभ फल बतानेवालेको 'राकुनिक' कहते
 ३१ ॥ हैं ॥ २८ ॥ अष्टाङ्ग आयुर्वेदका ज्ञाता व शस्त्रचिकित्सा-प्रवीण गुप्तचरको 'भिक्षु' कहते हैं ॥ २९ ॥
 ३२ ॥ जो कर्मशास्त्रमें कही हुई युक्तियों द्वारा मनको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला हो अथवा मायाचारी हो उसे
 ३३ ॥ 'मायाक' कहते हैं ॥ ३० ॥ निशाना मारनेमें प्रवीण—धनुर्धारी अथवा निमित्तशास्त्रके विद्वान् गुप्तचर-
 ३४ ॥ को 'धनुर्धर' कहते हैं ॥ ३१ ॥ पाक-विद्या-प्रवीण गुप्तचरको 'सूद' कहते हैं ॥ ३२ ॥ नाना प्रकारकी भोज्य-
 ३५ ॥ पद्यों बतानेवाले गुप्तचरको 'आराजिक' कहते हैं ॥ ३३ ॥ हाथ-पैर आदि अङ्गोंके दाबनेकी कलामें निपु-
 ३६ ॥ न्नाकार होतेवाले (कुलीके भेषमें रहनेवाले) गुप्तचरको 'संवाहक' कहते हैं ॥ ३४ ॥ जो गुप्तचर धन-लोभ-
 ३७ ॥ में अहित कार्योंसे अपनी जीविका करते हैं, यहां तक कि कभी २ अपने जीवनको भी खतरेमें डाल-
 ३८ ॥ देते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ३९ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४० ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४१ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४२ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४३ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४४ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४५ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४६ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४७ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४८ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ४९ ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-
 ५० ॥ जाते हैं, अन्वयार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकाबला करनेमें तत्पर हो-

‘तोरण’ कहा गया है ॥ ३५ ॥ जो गुप्तचर अपने बंधुजनोंसे प्रेम नहीं करता, उसे ‘क्रूर’ कहते हैं ॥ ३६ ॥ सर्वथा पातनमें प्रस्ताव न रखनेवाले आलसी गुप्तचरोंको ‘रसद’ कहते हैं ॥ ३७ ॥ मूर्खको ‘जड़’ गूंगेको ‘मूक’ बहिरेको ‘बधिर’ और अंधेको ‘अंध’ कहते हैं परन्तु ये स्वभावसे मूर्ख, गूंगे बहरे और अन्धे नहीं होते, किन्तु कपटसे अपनी प्रयोजन-मिद्धिके लिये होते हैं ॥ ३८ ॥

शुक* विद्वानने भी कहा है कि ‘जिस राजाके यहां स्वदेशमें ‘स्थायी’ और शत्रु देशमें ‘यायी’ गुप्तचर भूमते रहते हैं, उसके राज्यकी वृद्धि होती है ॥ १ ॥

इति चारसमुद्देश—

—❀—

१५—विचार-समुद्देश

विचार पूर्वक कर्त्तव्य-प्रवृत्ति, विचार-प्रत्यक्षका लक्षण व ज्ञानमात्रसे प्रवृत्ति-निवृत्ति क्रमशः—

नाविचार्यं कार्यं किमपि कुर्यात् ॥ १ ॥

प्रत्यक्षानुमानाभिमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः ॥ २ ॥

स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥ न ज्ञानमात्रत्वात् प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ॥ ४ ॥

स्वयं दृष्टेऽपि मतिर्विशुद्ध्यति संशेते विपर्यस्यति वा किं पुनर्न परोपदिष्टे वस्तुनि ॥ ५ ॥

अर्थ—नैतिक पुरुष विना विचारे—विना मोचे-समके (प्रत्यक्ष, प्रामाणिक पुरुषोंके वचन व युक्ति द्वारा निर्णय किये विना) कोई भी कार्य न करे ॥ १ ॥

जैमिनि* विद्वानने कहा है कि ‘प्रजा द्वारा प्रतिष्ठा चाहनेवाला राजा सूक्ष्म कार्य भी विना विचारे न करे ॥ १ ॥

सत्य—यथार्थ (जैसीकी सैसी) वस्तुकी प्रतिष्ठा (निर्णय) प्रत्यक्ष, अनुमान व आशय इन तीन प्रमाणों से होती है, न कि केवल एक प्रमाणसे। इसलिये उक्त प्रत्यक्षादि तीनों प्रमाण द्वारा जो सत्य वस्तुकी प्रतिष्ठाका कारण है उसे ‘विचार’ कहते हैं ॥ २ ॥

१ तथा च शुकः—स्थायिनो यायिनश्चारा यस्य संपन्नि मूपतेः । स्वपक्षे परपक्षे वा तस्य राज्यं विवर्द्धते ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—अपि स्वल्पतरं कार्यं नाविचार्यं समाचरेत् । यदीच्छेत् सर्वलोकस्य संसा राजा विशेषतः ॥ १ ॥

गुरु^१विद्वान्ने भी कहा है कि 'प्रत्यक्षदर्शी, दार्शनिक व प्रामाणिक पुरुषों द्वारा किया हुआ विचार प्रतिष्ठित—सत्य व मान्य होता है, अतः प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण द्वारा किये हुए निर्णयको यथार्थ विचार' कहते हैं ॥ १ ॥

बसु-आदि इन्द्रियों द्वारा स्वयं देखने व जाननेको 'प्रत्यक्ष' कहा है ॥ ३ ॥ बुद्धिमान् विचारक पदार्थोंको दितकारक पदार्थोंमें प्रवृत्ति और अहितकारक पदार्थोंसे निवृत्ति सिर्फ ज्ञानमात्रसे नहीं करनी चाहिये । उदाहरणमें जैसे किसी मनुष्यने भृगुतृष्णा—सूर्य-रश्मियोंसे व्याप्त बालुका-पुच्छमें जल मान लिया परचात् उसे उस भ्रान्त विचारको दूर करनेके लिये अनुमान प्रमाणसे यथार्थ निर्णय करना चाहिये कि क्या महास्थलमें भीष्म जलमें जल होसकता है ? नहीं होसकता । परचात् उसे किसी विश्वासी पुरुषसे पूछना चाहिये कि क्या वहां जल है ? परचात् उसके मनाई करनेपर वहांसे निवृत्त होना चाहिये । सारांश यह है कि विचारक व्यक्ति सिर्फ ज्ञान मात्रसे किसी भी पदार्थमें प्रवृत्ति या निवृत्ति न करे ॥ ४ ॥

गुरु^२विद्वान्ने भी कहा है कि 'बुद्धिमान् पुरुषको सिर्फ देखनेमात्रसे किसी पदार्थमें प्रवृत्ति या उसमें निवृत्ति नहीं करनी चाहिये, जब तक कि उसने अनुमान और विश्वासी शिष्ट पुरुषों द्वारा वस्तुका यथार्थ निर्णय न कर लिया हो ॥ १ ॥'

क्योंकि जब स्वयं प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थमें बुद्धिको मोह—अज्ञान, संशय और भ्रम होता है, तब क्या दूसरोंके द्वारा कहे हुए पदार्थमें अज्ञान आदि नहीं होते ? अवश्य होते हैं ॥ ५ ॥

गुरु^३विद्वान्ने भी उक्त बातको पुष्टि की है कि 'क्योंकि स्वयं देखी और सुनी हुई वस्तुमें मोह—अज्ञान व संशय होजाता है, इसलिये सिर्फ एक ही बुद्धिसे पदार्थका निश्चय नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥'

(विचारज्ञ-लक्षण, बिना विचारे कार्य करनेसे हानि व राज्य-प्राप्तिके बिन्दु क्रमशः—

स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ॥ ६ ॥

अतिरभसात् कृतानि कार्याणि किं नामानर्थ न जनयन्ति ॥ ७ ॥

अविचार्य कृते कर्मणि यत् परचात् प्रतिविधानं गतोदके सेतुबन्धनमिव ॥ ८ ॥

आकारः शौर्यमायतिर्विनयश्च राजपुत्राणां भाविनो राज्यस्य लिङ्गानि ॥ ९ ॥

१ तथा च गुरुः—एवानुमानागमजैर्यो विचारः प्रतिष्ठितः । स विचारोऽपि विज्ञेयस्त्रिभिरेतैश्च यः कृतः ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—एवमात्रात् कर्तव्यं समनं वा निवर्तनम् । अनुमानेन नो यावदिदृक्वाक्येन भाषितम् ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—मोहो वा संशयो वाथ दृष्टभुतविषयः । यतः संशयते तस्मात् तामेकां न विभावयेत् ॥ १ ॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रत्यक्ष द्वारा जानो हुई वस्तुको भी अच्छी तरह परीक्षा—संशय, भ्रम व अज्ञान-रहित निश्चय—करके उसमें प्रवृत्ति करता है, उसे निश्चयसे विचारज्ञ—विचारशास्त्रका वेत्ता कहते हैं ॥६॥

अधिपुत्रक^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो व्यक्ति स्वयं देखी हुई वस्तुकी अच्छी तरह जाँच किये बिना उसका निश्चय नहीं करता—जाँच पूर्वक ही निर्णय करता है, उसे 'विचारज्ञ' जानना चाहिये ॥१॥

बिना विचारे—अत्यन्त उतावलीसे किये हुए कार्य लोकमें कौन से अन्तर्—हानि (उष्ट्र प्रयोजन-क्षति) उत्पन्न नहीं करते ? सभी प्रकारके अन्तर् उत्पन्न करते हैं ॥ ७ ॥

भागुरि^२ विद्वान्ने कहा है कि 'विद्वान् सार्थक या निरर्थक कार्य करते समय सबसे पहले उसका परिणाम—फल प्रयत्नसे निश्चय कर लेना चाहिये । क्योंकि बिना विचार पूर्वक अत्यन्त उतावलीसे किये हुए कार्योंका फल चारों तरफसे विपत्ति-युक्त होनेसे हृदयको संतापित करनेवाला और कीलेके समान चुभनेवाला होता है ॥ १ ॥'

जो मनुष्य बिना विचारे उतावलीमें आकर कार्य कर बैठता है और पश्चात् उसका प्रतीकार (इलाज—अन्तर् दूर करनेका उपाय) करता है, उसका वह प्रतीकार उपयोगी जल-प्रवाहके निकल जानेपर पश्चात् उसको रोकनेके लिये पुल या बंधान बाँधनेके सदृश निरर्थक होता है, इसलिये नैतिक पुरुषको समस्त कार्य विचार पूर्वक ही करना चाहिये ॥ ८ ॥

शुक^३ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो मनुष्य समस्त कार्य करनेके पूर्व उनका प्रतीकार—अन्तर्-परिहार नहीं सोचता और पश्चात् सोचता है, उसका ऐसा करना पानीका प्रवाह निकल जानेपर पश्चात् बंधान बाँधनेके समान निरर्थक होता है ॥ १ ॥'

शारीरिक मनोह्र आकृति, पराक्रम, राजनैतिक-ज्ञान-सम्पत्ति, प्रभाव (सैन्य व कोशशक्तिरूप तेज) और नम्रता, राजकुमारोंमें वर्तमान ये सदगुण उन्हें भविष्यमें प्राप्त होनेवाली राज्यश्रीके अनुमापक चिन्ह हैं ॥ ९ ॥

राजपुत्र^४ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिन राज-पुत्रोंमें शारीरिक सौन्दर्य, वीरता, राजनैतिक ज्ञान, सैनिक व कोश सम्बन्धी बुद्धि और विनयशीलता ये गुण पाये जायें, तो वे भविष्यमें राजा होते हैं ॥१॥'

१ तथा च अधिपुत्रकः—विचारज्ञः स विशेषः स्वयं दृष्टं अपि वस्तुनि । तावन्नो निश्चयं कुर्याद् यावन्नो साधु वीक्षितम् ।

२ तथा च भागुरिः—सगुणमविगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ, परिक्षतिरवधार्यं यत्नतः परिहृतेन ।

अतिरभसकृतानां कर्मणामविपक्षेर्भवति हृदयदाही शब्दयुक्त्यो विपाकः ॥ १ ॥

३ तथा च शुकः—सर्वेषामपि कार्याणां यो विधानं न चिन्तयेत् । पूर्वं पश्चाद् मवेद् व्यर्थं सेतुनेष्टे व्योदके ॥ १ ॥

४ तथा च राजपुत्रः—आकाशे विक्रमो बुद्धिविस्तारो नम्रता तथा । बालानामपि येषां स्युस्तं स्युं भूपः नृपारमजाः ॥१॥

अनुमानका लक्षण व फल, भवितव्यता-प्रदर्शक चिह्न तथा बुद्धि-प्रभाव क्रमशः—

कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमानम् ॥ १० ॥ संभावितैकदेशो नियुक्तं विधात् ॥ ११ ॥

प्रकृतेर्विकृतिदर्शनं हि प्राणिनां भविष्यतः शुभाशुभस्य चापि लिङ्गम् ॥ १२ ॥

य एकस्मिन् कर्मणि दृष्टबुद्धिः पुरुषकारः स कथं कर्मान्तरेषु न समर्थः ॥ १३ ॥

अर्थ—बहुत कार्योंमेंसे किये हुए कार्य-द्वारा बिना किये हुए कार्यका बुद्धिसे निश्चय करना 'अनुमान' है। सारांश यह है कि किसीसे कीहुई एकदेश कार्य-सिद्धि द्वारा उसमें पूर्ण कार्य-सिद्धिकी सामर्थ्यका निश्चय करना अनुमान है। क्योंकि जो मनुष्य एकदेश कार्य-सिद्धि करनेमें कुशल होता है, उसे अनुमान प्रमाण द्वारा पूर्णकार्य-सिद्धिमें समर्थ मान लेना चाहिये ॥ १०-११ ॥

प्रकृति (शुभ-अशुभ स्वभाव) से विकृति (विकारयुक्त-बदलना) दिखाई देना प्राणियोंके भविष्यकालीन अच्छी-बुरी होनहारका ज्ञापक चिह्न है। सारांश यह है कि जब कोई पुरुष नैतिकमार्ग-सदाचारसे अनीति—दुराचारमें प्रवृत्त हुआ दिखाई देवे तो समझ लेना चाहिये कि इसकी होनहार बुरी है। इसीप्रकार जब कोई मनुष्य सरसङ्ग-आदि द्वारा अनीतिसे नीतिमें प्रवृत्त हुआ प्रतीत हो तो उसकी होनहार अच्छी समझनी चाहिये ॥ १२ ॥

नारद* विद्वान्ने भी कहा है कि 'जब मनुष्योंका शुभभाव पापमें प्रवृत्ति करने लगता है, तब उनका अतिष्ठ (बुरा) होता है और जब उनका अशुभ भाव शुभमें प्रवृत्ति होने लगता है तब उनका कल्याण होता है ॥ १ ॥'

जो मनुष्य अपनी बुद्धि और पौरुष (उद्योग) एक कार्य सिद्धि करनेमें सफल कर चुका है, वह दूसरे कार्य सिद्धि करनेमें क्यों नहीं समर्थ होसकता? अवश्य होसकता है। अर्थात् संभव है कि बुद्धिमान पुरुष किसी दूसरे अपरिचित कार्यमें कुशल न हो तथापि वह अपनी बुद्धिके प्रभावसे उस कार्यको सफल कर सकता है ॥ १३ ॥

जैमिनि* विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसकी बुद्धि और पौरुष एक कार्यमें सफल देखे जाचुके हैं, उसे उसी अनुमान प्रमाणसे दूसरा कार्य सिद्ध करनेमें भी समर्थ जानना चाहिये ॥ १ ॥'

आगम और आप्तका लक्षण, निरर्थक बाखी, वचनोंकी महत्ता, कृपण-धनको कड़ी आलोचना और जनसाधारणकी प्रवृत्ति क्रमशः—

१ तथा च नारदः—शुभभावो मनुष्याणां यदा पापे प्रवर्तते । पापो वाय शुभे तस्थ तदा अलिप्तं शुभं भवेत् ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—पूर्वं यस्य मतिर्दृष्टा पुरुषार्थोऽपरस्तथा । परस्मात्तेजानुमानेन तस्य ज्ञेया समर्थता ॥ १ ॥

आप्तपुरुषोपदेश आगमः ॥ १४ ॥

यथानुभूतानुमितश्रुतार्थानिसंवादिवचनः पुमानाप्तः ॥ १५ ॥

सा वाचुक्ताऽप्यनुक्तस्या, यत्र नास्ति सद्युक्तिः ॥ १६ ॥

वक्तुर्गुणगौरवाच्चनगौरवम् ॥ १७ ॥

किं मितपक्षेषु धनेन चाण्डालसरसि वा जलेन यत्र सतामनुपभोगः ॥ १८ ॥

लोको मतानुगतिको यतः सदुपदेशिनीमपि कुटिनीं तथा न प्रमाणयति यथा
गोधनमपि आक्षणम् ॥ १९ ॥

अर्थ—आप्त(वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी तीर्थङ्कर प्रभु अथवा आगमानुकूल सत्यवक्ता शिष्टपुरुष)
के उपदेशको 'आगम' कहते हैं ॥ १४॥

जो अनुभव, अनुमान एवं आगम प्रमाण द्वारा निश्चित किये हुए पदार्थोंको तदनुकूल—बिरोध-
शून्य—वचनों द्वारा निरूपण करता है, उस यथार्थवक्ता तीर्थङ्कर महापुरुषको वा उक्त गुण-सहित प्रामा-
णिक शिष्ट पुरुषको 'आप्त' कहते हैं ॥ १५ ॥

हारीत^१विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो पुरुष सत्यवक्ता, लोक-मान्य, आगमानुकूल पदार्थोंका निरू-
पण करनेवाला और मिथ्यावादी नहीं है, उसे 'आप्त' कहते हैं ॥ १॥'

वक्ता द्वारा कही हुई जिस वाणीमें प्रशस्त युक्ति—कहे हुए पदार्थको समर्थन करनेवाले वचन व
शोभन-अभिप्राय—नहीं है, वह कही हुई भी बिना कही हुईके समान है ॥ १६ ॥

हारीत^२विद्वान् ने कहा है कि 'वक्ताकी जो वाणी युक्ति-शून्य और ओताओके अल्प या अधिक
प्रयोजनको समर्थन करनेवाली नहीं है, उसे जंगलमें रोनेके समान निरर्थक जाननी चाहिये ॥ १॥'

वक्ताके गुणों—विद्वत्ता व नैतिक प्रवृत्ति-आदि—में महत्ता होनेसे उसके कहे हुए वचनोंमें महत्ता—
प्रामाणिकता व मान्यता होती है ॥ १७ ॥

रैभ्य^३विद्वान् ने भी कहा है कि 'यदि वक्ता गुणवान् होता है तो उसके वचन भी गुण-युक्त होते
हैं और जो सभाके मध्य निरर्थक प्रलाप करता है उसकी हँसी होती है ॥ १॥'

१ तथा च हारीतः—यः पुमान् सत्यवादी स्यात्तयालोकस्य सम्मतः । श्रुतार्थो यस्य नो वाक्यमन्यथातः स उच्यते ॥ १ ॥

२ तथा च हारीतः—सा प्राग्युक्तिपरित्यक्ता कायेस्वादिप्रसक्तस्य वा । सा प्रोक्तापि कृथा श्रेया त्वरस्यरुदितं यथा ॥ १ ॥

३ तथा च रैभ्यः—अर्थात् यथा गुणमयुजो वक्ता वाक्यं च यद्गुणम् । मुखो वा हास्यतां याति सभासभ्ये प्रजल्पितम् ।

जिसप्रकार चाण्डालके सरोवरका पानी अधिक मात्रामें होने पर भी शिष्ट पुरुषोंके उपयोगमें न आनेके कारण व्यर्थ है, उसीप्रकार कृपण-धन भी राज्योंके उपयोगमें न आनेसे व्यर्थ है ॥ १८ ॥

नारद^१विद्वान् ने कहा है कि 'सज्जनोंके उपभोग-शून्य चाण्डाल-तालाबके पानी समान कृपण-धनसे क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं ॥ १ ॥'

जनसाधारण एक दूसरेकी देखादेखी करते हैं—यदि कोई मनुष्य किसी शुभ-अशुभ मार्गसे जाता है तो उसे देखकर दूसरे लोग भी बिना परीक्षा किये ही उसका अनुकरण करने लगते हैं। क्योंकि यदि ब्रह्म धर्मका उपदेश देती है तो उसे कोई प्रमाण नहीं मानता और यदि गो-घातक ब्राह्मण धर्मका उपदेश देता है, तो लोग उसकी बात प्रमाण मानते हैं ॥ १६ ॥

गीतम^२विद्वान् ने भी कहा है कि 'बेरया धार्मिक होनेपर भी यदि धर्मोपदेश देती है तो उसे कोई नहीं पृच्छता और गो-हत्या करनेवाला ब्राह्मण यदि धर्मका उपदेश देता है तो उसको सब प्रमाण मानते हैं ॥ १ ॥'

किसी विद्वान् ने भी कहा है कि जनसमूह वास्तविक कर्त्तव्य-मार्गपर नहीं चलते किन्तु एक दूसरेकी देखादेखी करनेवाले होते हैं। बालुका—रेतमें लिङ्गका चिन्ह बनानेसे मेरा (कथा-नायकका) तांबेका वर्तन नष्ट होगया ॥ १ ॥'

इति विचार-समुद्देशः ।

—ॐ—

१ तथा च नारदः—किं कीनाशधनेनात्र किमन्यजतद्वागजम् । सतिष्ठ यदि नो भोग्यं साधूनां संगमायते ॥ १ ॥

२ तथा च गीतमः—कुहिनी धर्ममुक्तापि यदि स्वादुपदेशिनी । न च तौ कोऽपि पृच्छेत जगो गोष्मं द्विजं वया ॥ १ ॥

३ तथा चोक्तं—मत्तानुगतिको छोको न लोकः पारमार्थिकः । बालुकासिङ्गमात्रेण गते मे ताज्जभाजमम् ॥ १ ॥

४ कथानक—कोई दरिद्र ब्राह्मण हाथमें ताज्ज-वर्तन लेकर समुद्र तटपर स्नानार्थ गया। उसमें उसे चोरीके भयसे समुद्र-तट पर लुका न रखकर बालु कोदकर उसके बीचमें गाव दिया और स्मृतिके लिये उसकी रेतके ऊपर लिङ्गका चिन्ह बनाकर स्नान करने लगा गया। इसी अवसर पर बहुतसे लोग वहाँ स्नान करनेके लिये आये व ब्राह्मण-रचित हुए बालुका-लिङ्गको देखकर 'इस पर्वमें यही कथायाकारक है' ऐसा समझकर उन्होंने वहाँपर बहुतसे बालुका-लिङ्ग बना दिये। ऐसा होनेसे वह ब्राह्मण अपने बनाये हुए बालुका-लिङ्गको न समझ सका; अतएव उसका ताज्ज-मय वर्तन न मिलानेसे नष्ट होगया। निष्कर्ष यह है जनसाधारण परीक्षक नहीं होते किन्तु एक दूसरेकी देखादेखी करते हैं।

संगृहीत—

१६—व्यसन-समुद्देश ।

व्यसन-लक्षण, भेद, सहज व्यसन-निवृत्ति, शिष्ट-लक्षण व कृत्रिम व्यसनोपनिवृत्ति—

व्यस्यति पुरुषं श्रेयसः इति व्यसनम् ॥ १ ॥ व्यसनं द्विविधं सहजमाहार्यं च ॥ २ ॥

सहजं व्यसनं धर्माभ्युदयहेतुभिरधर्मजनितमहाप्रत्ययाप्रतिपादनैरुपाख्यानेयोगपुरुषै-
श्च प्रशमं नयेत् ॥ ३ ॥

परचित्तानुकूल्येन तदभिलषितेषूपानेन विरक्तिजननहेतवो योगपुरुषाः ॥ ४ ॥

शिष्टजनसंसर्गदुर्जनाऽसंसर्गाभ्यां पुण्यतममहापुरुषचरितोन्थिताभिः कथाभिगदाय
व्यसनं प्रतिवर्जनीयात् ॥ ५ ॥

अर्थ—जो दुष्कर्म—घृत-क्रीड़न व मद्यपानादि—मनुष्यको कल्याण-मार्गसे गिराते हैं, उन्हें 'व्यसन' कहते हैं ॥ १ ॥

शुक्र^१विद्वान् ने कहा है कि 'मनुष्य जिस असत्प्रवृत्तिसे निरन्तर उत्तमस्थानसे जघन्यस्थानको प्राप्त होता है उसे विद्वानोंको 'व्यसन' जानना चाहिये ॥ १ ॥'

व्यसन दो प्रकारके हैं—१ सहज—स्वाभाविक (जन्मसे ही उत्पन्न होनेवाले दुःख) २ आहार्य—
कुसंगके कारण उत्पन्न होनेवाले (मद्यपान-परकलत्र-संवन-आदि) ॥ २ ॥ मनुष्यको स्वाभाविक व्यसनयम
व स्वर्गके उत्पादक कल्याण-कारक पदार्थों (विशुद्ध भाव-आदि)के चितवन, पापोंसे उत्पन्न हुए महादोषोंका
कथन-श्रवण, तथा उन दोषोंके निरूपक चरित्र-(रावण-दुर्योधन-आदि अशिष्ट पुरुषोंके भयङ्कर चरित्र)
श्रवण द्वारा एवं शिष्ट पुरुषोंकी सङ्गतिसे नष्ट करना चाहिये ॥ ३ ॥

गुरु^२विद्वान् ने भी कहा है कि 'धर्मसे सुखी व पापसे दुःखी होनेवाले शिष्ट-दुष्ट पुरुषोंके चरित्र-
श्रवण व महापुरुषोंके सत्सङ्गसे स्वाभाविक व्यसन नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥'

जो व्यसनी पुरुषके हृदय-प्रिय बनकर अनेक नैतिक उपाय द्वारा उसे उन अभिलषित वस्तुओं—
मद्य-पानादि—में जिनमें उसे व्यसन (निरन्तर आसक्ति) उत्पन्न हुआ है, विरक्ति उत्पन्न करते हैं—छुड़ा
देते हैं—उन्हें योग (शिष्ट) पुरुष कहते हैं ॥ ५ ॥

१ तथा च शुकः—उत्तमादधर्मस्थानं यदा गच्छति मानवः । तदा तद्व्यसनं ज्ञेयं बुधैस्तस्य निरन्तरम् ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—अनेकाभ्युद्यो यस्य प्रत्ययवभवधमनाः । तं धृत्वा सहजं यानि व्यसनं योगिसहनः ॥ ४ ॥

हारोत्^१विद्वान् ने भी शिष्ट पुरुषोंका इसीप्रकार लक्षण किया है ॥ १ ॥

बुद्धिमान् मनुष्यको शिष्ट पुरुषोंकी सङ्गति और दुष्टोंकी कुसङ्गतिके त्याग द्वारा एवं जिन उत्तम कथानकोंमें प्राचीन महापुरुषोंका आदर्श चरित्र-चित्रण किया गया है, उनके पाठ-श्रवण द्वारा अपने कृत्रिम—कुसङ्ग-जनित—व्यसनोंका नाश कर देना चाहिये ॥ ५ ॥

शुक^२विद्वान् ने भी इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

निजस्त्री-आसक्ति, मद्य-पान, मृगया (शिकार), द्यूत, पैशुन्य प्रभृति १८ प्रकारके व्यसन—

स्त्रियमतिशयेन भजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥६॥ सौम्यधातुक्षयेण सर्वधातुक्षयः ॥७॥ पानशौण्डरिचतविभ्रमान् मातरमपि गच्छति ॥८॥ मृगयासक्तिः स्तेनव्यालद्विषहायादानामामिषं पुरुषं करोति ॥९॥ द्यूतासक्तस्य किमप्यकृत्यं नास्ति^३ ॥१०॥ मातर्यपि हि मृतायां दीव्यत्येव हि कितवः ॥११॥ पिशुनः सर्वेषामविश्वासं जनयति ॥१२॥ दिवास्वापः गुप्तव्याधिव्यालानामुत्थापनदंडः सकलकार्यान्तरायश्च ॥१३॥ न परपरीवादात् परं सर्वचिद्वेषणभेषजमस्ति ॥१४॥ तौर्यत्रयासक्तिः प्राणार्थमानैर्वियोजयति^४ ॥१५॥ वृथाख्या नाविधायकमप्यनर्थं विरमति ॥१६॥ अतीवेष्यालुं स्त्रियो धनन्ति त्यजन्ति वा पुरुषम् ॥ १७ ॥ परपरिग्रहाभिगमः कन्यादूषणं वा साहसम् ॥१८॥ यत् साहसं दशमुखदण्डिकाविनाशहेतुः सुप्रसिद्धमेव ॥१९॥ यत्र नाहमस्मीत्यध्यवसायस्तत् साहसम् ॥२०॥ अर्थदूषकः कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनम् ॥२१॥ अतिव्ययोऽपाप्रव्ययश्चार्थदूषणम् ॥२२॥ हर्षामर्षाभ्यामकारणं वृणाङ्कुरमपि नोपहन्यात्किंपुनर्मर्त्यम् ॥२३॥ श्रूयते किल निष्कारणभूतावमानिनी वातापिरिव्वलश्च द्वावसुरावभस्त्याशनाद्विनेशतुरिति ॥२४॥ यथादोषं कोटिरपि गृहीता न दुःस्वायते । अन्यायेन पुनस्तृणशलाकापि गृहीता प्रजाः खेदयति ॥ २५ ॥ तरुच्छेदेन फलोपभोगः सकृदेव ॥२६॥ प्रजाविभवो हि स्वामिनोऽद्वितीयो भाण्डागारोऽतो

१ तथा च हारीतः—परचित्तानुकूल्येन विगतिं व्यसनात्मके । जनयन्तीष्टनाशेन ते श्रेया योगिनो नराः ॥ १ ॥

२ तथा च शुकः—आहार्यव्यसनं नश्येत् [सत्सङ्गेनाहितासितम्] महापुरुषवृत्तान्तैः श्रुतैश्चैव पुरातनैः ॥१॥ सं०प०

३ 'नास्त्यकृत्यं द्यूतासक्तस्य' इसप्रकारका मू० प्रतियोगिं पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं ।

४ 'तौर्य त्रिकासक्तिः कं नाम प्राणार्थमानैर्न वियोजयति' इसप्रकारका पाठ मू० प्रतियोगिं है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं ।

युक्तिस्तमुपभुञ्जीत ॥२७॥ राजपरिगृहीतं तृणमपि काञ्चनीभवति [जायते पूर्वसञ्चितस्या-
प्यर्थस्यापहाराय'] ॥२८॥ वाक्पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते ॥ २९ ॥

जातिवयोवृत्तविद्यादोषाणामनुचितं वचो वाक्पारुष्यम् ॥३०॥ श्वियमपत्यं मृत्यं च तपो-
कस्या विनयं ग्राहयेद्यथा हृदयप्रविष्टाच्छन्यादिव न ते दुर्ममायन्ते ॥ ३१ ॥

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणमक्रमेण दण्डपारुष्यम् ॥३२॥ एकेनापि व्यसन्नोपहतश्चतुरङ्गोऽपि
राजा विनश्यति, किं पुनर्नाष्टादशभिः ॥ ३३ ॥

अर्थ—अपनी स्त्रीको अधिक मात्रामें सेवन करनेवाला मनुष्य अधिक वीर्य धातुके क्षय होजानेसे
असमयमें वृद्ध या नपुंसक होजाता है ॥ ६ ॥

धन्वन्तरि^१ विद्वान्के उद्धरणका भी यही उक्तिवाक्य है ॥ १ ॥

क्योंकि स्त्री सेवनसे पुरुषको शुक्र (वीर्य) धातु क्षय होती है, इससे शरीरमें वर्तमान वाक्की
समस्त छद्म धातुएँ—रस, रुधिर, मांस, मेद व अस्थि-आदि नष्ट होजाती हैं। निष्कर्ष यह है कि नैतिक
पुरुषको वीर्यरक्षार्थ ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये अथवा अपनी स्त्रीको अधिक मात्रामें सेवनका त्याग
करना चाहिये ॥ ७ ॥

वैद्यक^२ विद्वान्ने भी वीर्य-क्षयसे इसीप्रकार हानि बताकर वीर्यरक्षा करनेवाले शेरकी हाथीसे
अधिक बलिष्ठताका निरूपण किया है ॥ १-२ ॥

मद्यपी-शरावी-पुरुष मानसिक विकार-वशा(नशेमें आकर) माताको भी सेवन करने लगता है।
अतः ऐसे अनर्थकारक मद्यका त्याग करना श्रेयस्कর है ॥ ८ ॥

नारद^३ विद्वान्ने भी इसीप्रकार मद्य-पानके दोष बताकर उसके त्याग करनेमें प्रवृत्त किया है ॥ ९ ॥

१ कोष्ठाङ्कित पाठ सू० प्रतियोगिमें नहीं है। इसके पर्याय 'येन हृदयसन्तापो जायते तद्वचनं वाक्पारुष्यम्' ऐसा सू०
प्रतियोगिमें अधिक पाठान्तर वर्तमान है, जो कि क्रम-ग्राह्य एवं उपयुक्त भी है, जिसका अर्थ यह है कि जिस व्यक्ति
वचनसे हृदय संतापित हो उसे 'वाक्पारुष्य' कहते हैं।

२ तथा च धन्वन्तरिः—अकालं जरसा युक्तः पुरुषः स्त्रीनिषेधयात् । अथवा यक्ष्मण्या युक्तस्तस्माद् युक्तं निषेधयेत् ॥ १ ॥

३ तथा च वैद्यकः—सौम्यधातुष्वपि पुंसां सर्वधातुक्षयो यतः । तस्मात्तं रक्षयेद् यस्मान्मुखोपधेदं न कारयेत् ॥ १ ॥

सौम्यधातुवलात् सर्वे यस्तदन्तो हि भ्रातवः । [तं रक्षति यतः सिंहो] लघुस्तुक्केन सोऽधिकः ॥ २ ॥

४ तथा च नारदः—यदा स्यान्मयमजस्तु कुर्जनोऽपि पुमांस्तदा । मातरं भजते मोहात्तस्माद्युक्तं निषेधयेत् ॥ १ ॥

शिकार खेलनेमें आसक्त पुरुष, चोर-डाकू, मिह-व्याघ्रादि हिंसक जन्तु, शत्रु और कुटुम्बियों द्वारा मार डाला जाता है ॥ १ ॥

भारद्वाज^१ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जुआरी पुरुष लोकमें ऐसा कौनसा अनर्थ (पाप) है जिसमें गड़बड़ न करता हो; क्योंकि निश्चयसे माताके मर जाने पर भी जुआरी पुरुष जुआ खेलता रहता है। सारांश यह है कि जुआरी कर्त्तव्य-बोधसे विमुक्त होकर अनर्थ करता रहता है। अतः जुआका त्याग ही श्रेयस्कर है ॥ १०-११ ॥

शुक^२ विद्वान्ने कहा है कि 'यदि जुआरी मनुष्य प्रेम-वश कभी अपनी प्रियाकी ग्रन्थि स्पर्श करता है तब उसकी स्त्री 'कहीं यह मेरी सुन्दर साड़ी अपहरण करके आपके दावमें न लगा देवे' इस डरसे उसे विलकुल नहीं चाहती ॥ १ ॥'

चुगलखोर अपने ऊपर सभी पुरुषोंका अविश्वास उत्पन्न करता है। अर्थात् वह अपने कपट-पूर्ण वार्ताव (चुगली करने) के कारण लोकमें किसीका भी विश्वास-पात्र नहीं रहता ॥ १२ ॥

वसिष्ठ^३ विद्वान्ने भी राजाके समस्त चुगली करनेवाले को सभी का अविश्वास-पात्र कहा है ॥ १ ॥

दिनमें शयन शरीरमें छिपे हुए अनेक रोगरूपी सर्पोंको जगानेका कारण और समस्त कार्य-सिद्धिमें बाधक है। निष्कर्ष यह है कि स्वास्थ्य व कार्य-सिद्धि चाहनेवाले व्यक्तिको प्रीष्म-ऋतुको छोड़कर अन्य ऋतुओंमें दिनमें नहीं सोना चाहिये ॥ १३ ॥

धन्वन्तरि^४ विद्वान्ने भी प्रीष्म-ऋतुको छोड़कर अन्य ऋतुओंमें दिनमें सोनेवालेके रोग-वृद्धि व मृत्यु होनेका निरूपण किया है ॥ १ ॥

लोकमें पर-निंदाको छोड़कर सबसे द्वेष उत्पन्न करानेवाली कोई औषधि नहीं है। अर्थात् जो मनुष्य पर-निंदा करता है, उससे सभी लोग द्वेष करने लगते हैं। अथवा जो मनुष्य पर-निंदा करता है, उस निंदा-निवृत्तिकी निंदा किये जानेवाले पुरुषकी प्रशंसाको छोड़कर अन्य कोई अमोघ औषधि नहीं है

१ तथा च भारद्वाजः—युगपदायसनोपेतः पुरुषो बध्माप्नुयात् । औरव्यालारिदायावपार्षदिकतमस्य च ॥१॥

२ तथा च शुकः—साधुरागोऽपि चेत्तीर्थे पत्न्याः स्पृशति कर्हिचित् । मृतविश्लेष्यते साधुर्बन्धाहरणशक्या ॥१॥

३ तथा च वसिष्ठः—विद्वानपि कुक्षीनोऽपि राजाभे चैव पैशुभम् । यः करोति नरो मूर्खस्तस्य कोऽपि च विरवसेत् ॥१॥

४ तथा च धन्वन्तरिः—प्रीष्मकालं परित्यज्य प्रीष्मकाले दिक्षा श्रयेत् । तस्य रोगाः प्रवर्जन्ते धैः स याति यमात्मनम् ॥ १ ॥

उदाहरणार्थ—जब सोहन मोहनको निंदा हमारे सामने करता है तब हमें चाहिये कि हम उस समय मोहन को अधिक प्रशंसा करें; ताकि वह उसकी निंदा करना छोड़ दे ॥ १४ ॥

हारीत^१ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

गान-श्रवण, मृत्यु-दर्शन, व वादित्र-श्रवणमें आसक्त हुआ कौन पुरुष अपने प्राण, धन और मान-मर्यादा को नष्ट नहीं करता ? अर्थात् सभी नष्ट करते हैं अतः विवेकीको उक्त गान - श्रवण आदिमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥१५॥ निरर्थक यहाँ वहाँ घूमने-फिरनेवाला व्यक्ति अपूर्ण अनर्थ(महान् पाप)किये बिना विभ्राम नहीं लेता । अर्थात् निष्प्रयोजन फिरनेवाला सभी पापोंमें फँस जाता है, अतः अर्थ-लाभादि प्रयोजन शून्य फिरनेका त्याग करना चाहिए ॥ १६ ॥

भृगु^२ विद्वान् ने भी निरर्थक फिरने वाले के विषय में यही कहा है ॥ १ ॥

जो लोग अपनी स्त्रियोंसे अत्यंत ईर्ष्या (हाद-द्वेष) करते हैं, उन्हें स्त्रियाँ छोड़ देती हैं या मार डालती हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति स्त्रीसे प्रेमका वर्ताव करे ॥ १७ ॥

भृगु^३ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

दूसरोंकी स्त्रियोंका सेवन और कन्याओं को दूषित (सेवन) करना 'साहस' है जिसके द्वारा रावण और दारिद्वक्यको मृत्यु-दण्ड प्राप्त हुआ था यह पुराणोंमें प्रसिद्ध ही है ॥१८-१९॥

भारद्वाज^४ विद्वान् ने भी परकलत्र-सेवन व कन्या-दूषण को दुःख देनेवाला निरूपण किया है ॥१॥

भृगु^५ विद्वान् ने भी 'साहस' का यही लक्षण निर्देश किया है ॥१॥

जो मनुष्य आमदनी से अधिक खर्च व अपात्र-दान करता है, वह कुचेर समान धनाढ्य होने पर भी दरिद्र होजाता है पुनः साधारण व्यक्ति का दरिद्र होना स्वाभाविक है ॥२०॥

हारीत^६ विद्वान् के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

१ तथा च हारीतः—अयम्याधिपरीतस्य यथा नास्त्यत्र मेघजम् । परीवादप्रयोगस्य स्तुतिं मुक्त्वा न मेघजम् ॥१॥

२ तथा च भृगुः—वृथादनं नरो योऽत्र कुरुते बुद्धिबर्जितः । अनर्थं प्राप्नुयाद्वा द' यस्य भ्रान्तो न सम्पते ॥१॥

३ तथा भृगुः—ईर्ष्याधिकं त्यजन्तिस्म ज्ञप्तिं वा पुरुषं स्त्रियः । कुलोद्भूता अपि प्राधः किं पुनः कुकुलोद्भवाः ॥१॥

४ तथा च भारद्वाजः—अन्यमार्यापहारो यस्तथा कन्याप्रदूषणम् । तत् साहसं परिज्ञेयं लोकद्वयभयप्रदम् ॥१॥

५ तथा च भृगुः—अज्ञोऽहम्पारमनो मृत्युं यस् कर्म क्रियते नरैः । तत्साहसं परिज्ञेयं रौद्रकर्मणि निर्भयम् ॥१॥

६ तथा च हारीतः—अतिव्ययं च योऽर्थस्य कुरुते क्लिप्तं तदा । दरिद्रोऽप्यहः स स्याद्वनदोऽपि न किं परः ॥१॥

आमदनोंसे अधिक धन-उपग्रह करना व अपात्रों को धन-आदि देना अथेदूषण है ॥ २२ ॥ नैतिक पुरुष अहङ्कार व क्रोधवश निष्प्रयोजन धास का अंकर भी नष्ट न करे, फिर मनुष्य के विषयमें तो कहना ही क्या है । अर्थात् उसका सताना या बध करना महाभयङ्कर है ॥ २३ ॥

भारद्वाज^१ विद्वान् ने भी तिष्कारण कष्ट देने या बध करनेके विषय में यही कहा है ॥ ११ ॥

बृद्ध-परम्परासे पुराण ग्रन्थोंके आधारसे सुना जाता है कि निष्प्रयोजन प्रजा को पीड़ित करने वाले 'धातापि' व 'इत्यल' नामके दो असुर 'अगस्त्य' नामके सन्यासी द्वारा नष्ट हुए ॥ २४ ॥

यदि राजा द्वारा अपराधीके अपराधानुकूल न्यायोचित जुर्माना आदि करके करोड़ रुपए भी ले लिए गये हों, तो वससे उसे दुःख नहीं होता, परन्तु बिना अपराध के—अन्यायद्वारा गुण-शलाका बराबर बँट दिया जाता हो, तो उससे प्रजा पीड़ित होती है ॥ २५ ॥

भागुरि^२ विद्वान् ने अन्याय—पूर्वक द्रव्य हरणके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥ ११ ॥

जिस प्रकार वृत्तका मूलोच्छेद करनेसे उससे फल-प्राप्ति केवल उसी समय एक बार होती है उसी प्रकार जो राजा अन्यायके द्वारा प्रजाका सर्वस्व अपहरण करता है, उसे उसी समय केवल एक बार ही धन मिलता है, भविष्यमें नहीं ॥ २६ ॥

बल्लभदेव^३ विद्वान् ने भी प्रजा का सर्वस्व अपहरण करने वाले राजाके विषयमें यही कहा है ॥ ११ ॥ प्रजाकी सम्पत्ति निश्चयसे राजा का विशाल खजाना है, इसलिए उसे उसका उपयोग न्यायसे करना चाहिए अनुचित उपाय—अपराध-प्रतिकूल आर्थिक दंड आदि द्वारा नहीं ॥ २७ ॥

गौतम^४ विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ ११ ॥

जो व्यक्ति राजकीय गुण भी चुरालेता है, उसे उसके बदलेमें सुवर्ण देना पड़ता है क्योंकि राज-कोष साधारण वस्तुकी चोरी राज-दंड-आदिके कारण पूर्व-संचित समस्त-धन को भी नष्ट करानेमें कारण होती है, अतः नैतिक व्यक्ति को राजकीय चोरी—ब्लैक मार्केट आदि—द्वारा धन संवय करना छोड़ देना चाहिए ॥ २८ ॥ गार्ग^५ विद्वान् ने भी कहा है कि राजकीय अल्प धन का भी अपहरण गृहस्थ के समस्त धनके नाश का कारण है ॥ १ ॥

१ तथा च भारद्वाजः—नृणाञ्छेदोपि नो कार्यो विना कार्येण साधुभिः । येन नो सिद्ध्यते किञ्चित् न[किपुनर्मानुषं महः]

२ तथा च भागुरिः—गृहीता नैव दुःखाय कार्तिरप्यपराधिनः । अन्यायेन गृहीतं यज्ञभुजा नृणमर्शितम् ॥ ११ ॥

३ तथा च बल्लभदेव—मूलच्छेदे यथा नास्ति वृत्तकस्य पुनस्तरोः । सर्वस्वहरयो वृद्ध नृपस्य तदुत्तमः ॥ ११ ॥

४ तथा च गौतमः—प्रजानां विभक्तो यश्च सोऽपरः कोऽपि नृपः हि । नृपाणां युक्तो प्राहः सोऽन्यायेन न कर्हिचित् ॥ ११ ॥

५ तथा च गार्गः—यो हरेद्भूपञ्च त्रि धमपि स्वस्वतर्हि यत् । गृहस्थस्यापि विशस्य तन्नाशाय प्रजायते ॥ १ ॥

मर्म-भेदी कर्कश वचन शस्त्रके धावसे भी अधिक कष्टदायक होते हैं। इसलिये मनुष्यको किसीके लिए शस्त्र से चोट पहुँचाना अच्छा है, परन्तु कर्कश-कठोर-वचन बोलना अच्छा नहीं ॥२६॥

विदुर^१ विद्वान् ने भी कहा है कि 'कर्कश वचनरुगी बाण महाभयङ्कर होते हैं; क्योंकि वे दूसरोंके मर्मस्थलोंमें प्रविष्ट होकर पीड़ा पहुँचाते हैं, जिनसे ताड़ित हुआ व्यक्ति दिन-रात शोकाकुल रहता है। मनुष्यकी जाति, आयुष्य, सदाचार, विद्या, व निर्दोषताके अयोग्य-विरुद्ध (विपरीत) वचन कहना वाक्-पारुष्य है, अर्थात् कुलीनको नीचकुलका वयोवृद्धको बालक, सदाचारी को दुराचारी, विद्वान् को मूर्ख और निर्दोषी को सदोषी कहना वाक्पारुष्य है ॥३०॥

जैमिनि^२ विद्वान् ने भी वाक्पारुष्यका यही लक्षण करके उसे त्याग करने को कहा है ॥१॥

नैतिक मनुष्यको अपनी स्त्री, पुत्र व नौकरोंको वाक्पारुष्य—कर्कश वचनका त्यागपूर्वक हित, मित और प्रिय वचन बोलते हुए इसप्रकार विनयशील बनाना चाहिये, जिससे उसे हृदयमें चुभे हुए कीलेके समान कष्टदायक न होने पावें, किन्तु आनन्ददायक हों ॥ ३१ ॥

शुक^३ विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसके कर्कश वचनों द्वारा स्त्री, पुत्र व सेवक पीड़ित रहते हैं, उसे उनके द्वारा लेशमात्र भी सुख नहीं मिलता ॥ १ ॥'

अन्यायसे किसीका वध करना, जेलखानेकी सजा देना और उसका समस्त धन अथहरण करना या उसकी जीविका नष्ट करना 'दण्ड पारुष्य' है ॥ ३२ ॥

शुक^४ विद्वान् ने भी दण्डपारुष्यका यही लक्षण किया है ॥ १ ॥

जो राजा उक्त १८ प्रकारके व्यसनोमें से एक भी व्यसनमें फँस जाता है, वह चतुरङ्ग सेना (हाथी, घोड़े, रथ और पदाति) से युक्त होता हुआ भी नष्ट होजाता है, फिर १८ प्रकारके व्यसनोमें फँसा हुआ क्या नष्ट नहीं होता ? अवश्य नष्ट होता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—इस समुद्देशमें आचार्यश्रीने निम्नप्रकार १८ प्रकारके व्यसनोका निर्देश किया है। १ स्त्री-आसक्ति, २ मद्य-पान, ३ शिकार खेलना, ४ शत-कीकन, ५ पैशुम्य (धुरालो करना), ६ दिनमें राखन,

१ तथा च विदुरः—वाक्पारुष्यका रीक्षतमा भवन्ति वैराग्यः कोचति राग्यहानि । परस्व मर्मस्थापि ते पलन्ति तान् पवित्रतो नैव विप्रेष्य परेषु ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—[जातिविद्यासुवृत्ताद्व्यान्] निर्दोषान् यस्तु मर्त्ययेत् । तद्गुणैर्वाभवा नीतैः पारुष्यं तत्र (कारणेन)

३ तथा च शुकः—भार्यामृत्युमुता यस्य वाक्पारुष्यमुदुःखिताः । भवन्ति तस्य नो सौख्यं तेषां पारयोद प्रयाचते ॥१॥

४ तथा च शुकः—[वधं क्लेशापहारं च] प्रजातां कुस्ते नृपः । अन्यायेन हि तत् प्रोक्तं दण्डपारुष्यमेव च ॥१॥ संको०

७ पर-निन्दा, ८ गीत-श्रवणमें आसक्ति, ९ नृत्यदर्शनमें आसक्ति, १० वादित्र-श्रवणमें आसक्ति ११ वृथागमन, १२ ईर्ष्या १३ साहस (परस्त्री-सेवन व कन्या-दूषण), १४ अर्थदूषण, १५ अकारणवध, १६ ब्रह्म-हरण, १७ कर्कशवचन और और १८ दण्डपारुष्य । नैतिक व्यक्तिको इनका त्याग करना चाहिये ।

इति व्यसनसमुद्देश ।

११ स्वामी-समुद्देश ।

राजाका लक्षण, अमात्य-आवि प्रकृति-स्वरूप, असत्य व धोखा देनेसे हानि—

धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवाञ्छयानुगतवृत्तिश्च स्वामी ॥ १ ॥

कोपप्रसादयोः स्वतन्त्रः ॥ २ ॥ आत्मातिशयं धनं वा यस्यास्ति स स्वामी* ॥ ३ ॥

स्वामिमूलाः सर्वाः प्रकृतयोऽभिप्रेतार्थयोजनाय भवन्ति नास्वामिकाः ॥ ४ ॥

"उच्छिन्नमूलेषु तरुषु किं कुर्यात् पुरुषप्रयत्नः ॥ ५ ॥ असत्यवादिनो नश्यन्ति सर्वे गुणाः ॥ ६ ॥ वञ्चकेषु न परिजनो नापि चिरायुः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा, कुलाचार व कुलोनताके कारण विशुद्ध, भाग्यशाली, नैतिक, दुष्टोंसे कुपित व शिष्टोंसे अनुरक्त होनेमें स्वाधीन और आत्म-गौरव-युक्त तथा प्रचुर सम्पत्तिशाली हो उसे 'राजा' कहते हैं ॥ १-३ ॥

शुक्र 'गर्ग', व गुरु* विद्वानों ने भी राजाका इसीप्रकार लक्षण-निर्देश किया है ॥ १-३ ॥

२० 'आत्मातिशयजननं वा यस्यास्ति स स्वामी' इसप्रकार मू० प्रतिषेधमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो अन्य से अतिशयवान् हो वह स्वामी है, शेष पूर्ववत् ।

१ तथा च शुक्रः—धार्मिको चः कुलाचारेर्विशुद्धः पुण्यवाञ्छयी । स स्वामी कुरुते राज्यं विशुद्धं राज्यकंटकैः ॥ १ ॥

२ तथा च गर्गः—स्वामिनः कुरुते परश्च निग्रहानुग्रहौ जने । पापे साधुसमाचारे स स्वामी नेतरः स्मृतः ॥ २ ॥

३ तथा च गुरुः—आत्मा च विद्यते यस्य धनं वा विद्यते बहु । स स्वामी प्रोच्यते लोकैर्नेतरोऽत्र कथञ्चन ॥ ३ ॥

समस्त प्रकृतिके लोग (मंत्रो-आदि) राजाके कारणसे ही अपने अभिलषित अधिकार प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं, राजाके बिना नहीं ॥ ४ ॥

गर्ग^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'समस्त प्रकृतिवर्ग राजाके रहनेपर ही अपने अधिकार प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥'

जिन वृक्षोंकी जड़ें खख चुकी हों, उनसे पुष्प-फलादिकी प्राप्तिके लिये किया हुआ प्रयत्न क्या सफल होसकता है ? नहीं होसकता, उसीप्रकार राजाके नष्ट होजानेपर प्रकृतिवर्ग द्वारा अपने अधिकार-प्राप्तिके लिये किया हुआ प्रयत्न भी निष्फल होता है ॥ ५ ॥

भागुरि^२ विद्वान्ने भी राज-शून्य प्रकृतिको अभिलषित अधिकार प्राप्त न होनेके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

भूठ बोलनेवाले मनुष्यके सभी गुण (ज्ञान-सदाचार-आदि) नष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥

रैभ्य^३ विद्वान्ने भी कहा है कि 'मिथ्याभाषी मनुष्योंके कुलीनता, शील व विद्या प्रभृति समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥'

धोखेबाजोंके पास न सेवक ठहरते हैं और न वे चिरकाल तक जीवित रह सकते हैं ; क्योंकि धोखेबाजों द्वारा सेवकों को वेतन नहीं मिलता, इससे उनके पास सेवक नहीं ठहरते एवं जनसाधारण उनसे द्वेष करते हैं, अतः वे असमयमें मार दिये जाते हैं; अतः वे दीर्घजीवी भी नहीं होते अतः शिष्ट पुरुषोंको धोखा देना छोड़ देना चाहिये ॥ ७ ॥

भागुरि^४ विद्वान्ने भी धोखेबाजोंके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

लोक-प्रिय पुरुष, उत्कृष्टदाता, प्रत्युपकारसे लाभ पूर्वक सत्ता परोपकार, प्रत्युपकार-शून्यकी कड़ी आलोचना व स्वामीकी निरर्थक प्रसन्नता—

स प्रियो लोकानां योऽर्थं ददाति ॥ ८ ॥

१ तथा च गर्गः—स्वामिना विद्यमानेन स्वाधिकारानवाप्नुयात् । सर्वाः प्रकृतयो नैव विना तेन समानुजुः ॥ १ ॥

२ तथा च भागुरिः—क्षिप्तमूलेषु वृक्षेषु यथा नो पल्लवादिकम् । तथा स्वामिविहीनानां प्रकृतीनां न वाञ्छितम् ॥ १ ॥

३ तथा च रैभ्यः—कुलशीलोद्भवा ये च गुणा विद्यादयोऽपराः । ते सर्वे नाशमायान्ति ये मिथ्यात्वमनात्मकाः ॥ १ ॥

४ तथा च भागुरिः—यः पुमान् पंचमासकस्तस्य न स्यात् परिग्रहः । न चिरं जीवितं तस्मात् सज्जिस्त्याज्यं हि पंचनम्

स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं चेतः * ॥ ६ ॥ प्रत्युपकर्तुं रूपकारः सष्ट-
द्विकोऽर्थन्यास इव तज्जन्मान्तरेषु च न केषामृणं येषामप्रत्युपकारमनुमदनम् ॥१०॥
किं तथा गवा या न क्षरति क्षीरं न गर्भिणी वा ॥ ११ ॥ किं तेन स्वामि-प्रसादेन
यो न पूरयत्याशाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो धन या अभिलषित वस्तु देकर दूसरोंकी भलाई करता है, वही उदार पुरुष लोगोंका
प्यारा होता है ॥ ६ ॥

अग्नि^१विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो मनुष्य अपना धन देता है, वह चाण्डाल, पापी, समाज-वहि-
ष्कृत व निर्देयी होनेपर भी जनताका प्रेमपात्र होता है ॥ १ ॥'

संसारमें वही दाता श्रेष्ठ है, जिसका मन पात्र (याचक) से प्रत्युपकार या धनादिक लाभकी इच्छासे
दूषित नहीं है; क्योंकि प्रत्युपकारकी इच्छासे पात्र-दान करना वणिक्-वृत्ति ही है। सारांश यह है कि
आत्महितैषी उदार पुरुष प्रत्युपकारकी कामना-शून्य होकर दान धर्ममें प्रवृत्ति करे ॥ ६ ॥

ऋषिपुत्रक^२ विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो व्यक्ति लोकमें दान देकर याचकसे धनादि चाहता है,
उसका दान व्यर्थ है ॥ १ ॥'

प्रत्युपकार करनेवालेका उपकार बढ़नेवाली धरोहर समान है। सारांश यह है कि यद्यपि विश्वास-
पात्र शिष्ट पुरुषके यहाँ रक्खी हुई धरोहर (सुवर्ण-आदि बढ़ती नहीं है, केवल रखनेवालेको जैसी की
तैसी वापिस मिल जाती है परन्तु प्रत्युपकारीके साथ किया हुआ उपकार (अर्थ-दानादि) उपकारीको
विशेष फलदायक होनेसे—उसके बढ़ते विशेष धनादि-लाभ होनेके कारण बढ़नेवाली धरोहरके समान
समझता चाहिये; अतः प्रत्युपकारीका उपकार विशेष लाभप्रद है। इसीप्रकार जो लोग बिना प्रत्युप-

* इयमुच्चधियामलौकिकी महती कापि कठोरचित्तता (च), यत्पुपकृत्य भवन्ति निः स्पृहाः परतः प्रत्युपकारभीरवश्च,
इसप्रकारका उक्त सूत्रके पश्चात् सू० प्रथिषोमें अधिक पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि उच्च ज्ञानवान् महापुरुषोंकी
ऐसी कोई अलौकिक व श्रेष्ठमूर्ति (स्वभाव) और रस चित्त-वृत्ति होती है, जिससे वे दूसरोंका उपकार करके
उनसे निःस्पृहः—कुछ मतलब न रखनेवाले—होते हैं एवं उन्हें इस बातका भय रहता है कि उपकृत पुरुष मेरा
कहीं प्रत्युपकार न कर देवे।

१ तथा च अग्निः—अन्त्यजोऽपि च पापोऽपि लोकबाह्योऽपि निर्दयः। लोकानां बल्लभः सोऽत्र यो ददाति निजं धनम् ॥१॥

२ तथा च ऋषिपुत्रकः—इत्था दानं पुरुषोत्र तस्मात्ताम्रं प्रचाम्बसि। मण्दीतुः सकाशाच्च तद् दानं व्यर्थतां भवेत् ॥२॥

कार किये ही परोपकारका उपभोग करते हैं वे जन्मान्तरमें किन उपकारियों दाताओंके ऋणी नहीं होते ? सभीके होते हैं। निष्कर्ष यह है कि शिष्ट पुरुषको कृतज्ञता-प्रकाश-पूर्वक उपकारीका प्रत्युपकार करना चाहिये ॥ १० ॥

ऋषिपुत्रक^१ विद्वान्ने भी इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

उस गायसे क्या लाभ है, जो कि दूध नहीं देती और न गर्भवती है ? कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार उस मनुष्यके उपकार करनेसे क्या लाभ है, जोकि वर्तमान या भविष्यमें प्रत्युकार नहीं कर सकता ? कोई लाभ नहीं ॥ ११ ॥

उस स्वाभीकी प्रसन्नतासे क्या लाभ है, जो कि सेवकोंके न्याय-युक्त मनोरथ पूर्ण नहीं कर सकता ? कोई लाभ नहीं। क्योंकि सेवकोंके मनोरथ पूर्ण करनाही स्वामी-प्रसादका फल है ॥ १२ ॥

बुद्ध-अधिकारी-युक्त राजा, कृतघ्नता, मूर्खता, लोभ, भालस्यसे हानि—

सुप्रपरिपत्कः सर्पाश्रय इव न कस्यापि सेव्यः ॥ १३ ॥

अकृतज्ञस्य व्यसनेषु न सद्गन्ते सहायाः ॥ १४ ॥ अविशेषज्ञो विशिष्टेर्नाश्रीयते ॥ १५ ॥

आत्मम्भरिः परित्यज्यते कलत्रेणापि ॥ १६ ॥ अनुत्साहः सर्वव्यसनानामागमनद्वारम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसकी सभामें अमात्य-आदि प्रकृति दुष्ट होती है, वह राजा सर्प-युक्त गृह समान महा-अयस्कुर होता है, इसलिये वह किसीके द्वारा सेवन करनेके योग्य नहीं ॥ १३ ॥

गुरु^२ विद्वान्ने कहा है कि यदि राजा इस समान शुद्धचित्त व सौम्य प्रकृति-युक्त भी हो, परन्तु यदि वह गृह पक्षियोंकी तरह बुद्ध और घातक मंत्री आदि सभासदोंसे युक्त है, तो सर्प-युक्त गृह समान प्रजा द्वारा सेवन करने योग्य नहीं ॥ १ ॥

जो कृतघ्न है—दूसरोंकी भलाईको नहीं मानता, उसकी आपत्ति-कालमें सेवक लोग सहायता नहीं करते, अतएव प्रत्येक व्यक्तिको कृतज्ञ होना चाहिये ॥ १४ ॥

जैमिनि^३ विद्वान्ने भी कृतघ्नके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

मूर्ख पुरुष शिष्ट पुरुषों द्वारा सेवन नहीं किया जाता ॥ १५ ॥

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—उपकारं गृहीत्वा यः अकरोति पुनर्नृणां । जन्मान्तरेषु तत्तास्य वृद्धिं याति कुलीनवत् ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—ईसाकारोऽपि चेद्वाजा गृध्राकारैः सभासदैः असेव्यः स्यात् स लोकस्य ससर्प इव संजयः ॥ १३ ॥

३ तथा च जैमिनिः—अकृतज्ञस्य भूपस्य व्यसने समुपस्थिते । साहाय्यं न करोत्येव कश्चिदाप्तोऽपि मानवः ॥ १ ॥

गुरु^१ विद्वान्ने कहा है कि 'कांचको मणि और मणि को कांच समझनेवाले भूर्ख राजा की जब साधारण मनुष्य भी सेवा नहीं करता, फिर क्या विद्वान् पुरुष उसकी सेवा कर सकता है ? नहीं कर सकता ॥ १ ॥'

कुटुम्ब-आदिके संरक्षणमें असमर्थ केवल अपनी उदर-पूर्ति करनेवाले अत्यन्त लोभी पुरुष को जब उसकी स्त्री भी छोड़ देती है, फिर दूसरे सेवकों आदि द्वारा छोड़े जानेके विषयमें वो कहना ही क्या है। अर्थात् वे वो उसे अवश्य छोड़ देते हैं ॥ १६ ॥

गुरु^२ विद्वान्ने भी आत्मभरि—पेटके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

आलस्य सभी आपत्तियोंका द्वार है—आलसी समस्त प्रकारके कष्ट भोगता है ॥ १७ ॥

वादरायण^३ विद्वान्ने भी कहा है कि आलसीको आपत्तियां कहीं पर भी किसी प्रकार नहीं छोड़ती ॥ १ ॥

उद्योग, अन्यायी, स्वेच्छाचारी, ऐश्वर्य-फल व राजाज्ञा—

शौर्यममर्षः शीघ्रकारिता सत्कर्मप्रवीणत्वमुत्साहगुणाः ॥ १८ ॥

अन्यायप्रवृत्तस्य न चिरं सम्पदो भवन्ति ॥ १९ ॥ यत्किञ्चनकारी स्वैः परैर्वामिहन्यते ॥ २० ॥

आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥ २१ ॥ राजाज्ञा हि सर्वेषामलंघ्यः प्राकारः ॥ २२ ॥

अर्थ—उत्साही पुरुषमें शूरता, दूसरे व्यक्तियों द्वारा अनिष्ट किये जाने पर क्रुद्ध होना, कर्तव्य-शीलता, व प्रशस्त कार्य चतुराई से करना ये गुण होते हैं ॥ १८ ॥

शौकन^४ विद्वान्ने भी उत्साहीके उक्त सभी गुण निर्दिष्ट किये हैं ॥ १ ॥

अन्यायी पुरुषकी सम्पत्तियां फिरकालीन नहीं होती—नष्ट होजाती हैं ॥ १९ ॥

अग्नि^५ विद्वान्ने भी अन्यायी सम्पत्तियोंके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

१ तथा च गुरुः—कार्पं मणिं मणिं कांचं यो वेत्ति पृथिवीपतिः । सामान्योऽपि न तं सेवेत् किं पुनर्बिडुषो जगः ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—उपात्रितं यो भो वृथात् कस्यचिद्भवत्येत् स्वयम् । आत्मभरिः स विज्ञेयस्त्यज्यते भार्गवादि च ॥ १ ॥

३ तथा च वादरायणः—आकस्मोपहतो यस्तु पुरुषः संप्रजायते । न्यसनाति न तं क्वापि संत्यजन्ति कथंचन ॥ १ ॥

४ तथा च शौकनः—शौर्यं कार्याचकोपरच शीघ्रता सर्वकर्मसु । सत्कर्मसुः प्रवीणत्वमुत्साहस्य गुणाः स्मृताः ॥ १ ॥

५ तथा च अग्निः—अन्यायेन प्रवृत्तस्य न चिरं सन्ति सम्पदः । अपि शौर्यसमेतस्य प्रवृत्तिर्निभस्य च ॥ १ ॥

स्वेच्छाचारो—अपनी इच्छानुकूल प्रवृत्ति करनेवाला—आत्मीयजनों अथवा शत्रुओं द्वारा मार दिया जाता है ॥ २० ॥

अत्रि^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'ज्ञान-वृद्ध पुरुषोंसे बिना पूछे ही अपनी इच्छानुकूल चलनेवाला पुरुष अङ्गुशहीन (मर्यादा-वाह्य) हुआ अपने कुटुम्बियों या शत्रुओं द्वारा वध कर दिया जाता है ॥ १ ॥'

राजकीय ऐश्वर्य—सैन्य-कोश-शक्ति-प्रजा व प्रकृति (अमात्य-प्रभृति) द्वारा आज्ञा-पालन से हो सकल होता है ॥ २१ ॥

बल्लभदेव^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसकी आज्ञा सर्व—मान्य हो, वही राजा कहा जाता है, परन्तु जिसकी आज्ञा नहीं मानी जाती ऐसा कोई भी व्यक्ति, केवल अभिषेक, व्यवजन (धर्मप्रभृतिसे हवा किया जाना) और पट्टबंधन आदि चिन्होंसे राजा नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त अभिषेक आदि कार्य व्रण (फोड़ा) के भी किये जाते हैं। अर्थात् व्रण—फोड़ेका भी अभिषेक (जलसे धोया जाना), व्यवजन (पंखोंसे हवा किया जाना) व पट्टबंधन (पट्टी बांधना) होता है ॥ १ ॥

राजकीय आज्ञा समस्त मनुष्योंसे उल्लङ्घन न किये जानेवाले प्रकार (कोट) के समान होती है। अर्थात् जिसप्रकार अत्यन्त विशाल व ऊँचा कोट उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार राजकीय आज्ञा भी किसीके द्वारा उल्लङ्घन नहीं की जाती ॥ २२ ॥

गुरु^३ विद्वान्ने भी राजाकीय आज्ञाके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

राज-कर्त्तव्य (अपराधानुरूप दंड विधान), आज्ञाहीन राजाकी कड़ी आलोचना, सजाके योग्य पुरुष व मनुष्य-कर्त्तव्य—दूसरेका गुप्त रहस्य न कहना—

आज्ञाभङ्गकारिणं पुत्रमपि न सहेत ॥२३॥ कस्तस्य चित्रगतस्य च विशेषो यस्याज्ञा नास्ति ॥२४॥ राजाज्ञावरुद्धस्य तदाज्ञां न भजेत् ॥२५॥

१ तथा च अत्रिः—स्वेच्छया वर्तते यस्तु न वृद्धाम् परिशुद्धति । स परैर्हन्त्यते नूनमात्मीयैर्वा मित्रैश्च ॥१॥

२ तथा च बल्लभदेवः— स एव प्रोच्यते राजा यस्याज्ञा सर्वतः स्थिता । अभिषेको व्रणस्यापि व्यवजनं पट्टमेव च ॥१॥

३ तथा च गुरुः—असंख्यो यो मनेद्राजा प्रकार इव मानवीः । यमादेशमसौ दद्यात् कार्य एव हि त भुङ्क्ते ॥१॥

❖ 'राजाज्ञावरुद्धस्य पुत्रस्तदाज्ञाप्रतिपादनेन उत्तमसाहसो दंडः । सम्बन्धाभावे तद्दातुश्च' इस प्रकारका पाठान्तर मू०प्रतियोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि राजकीय आज्ञासे जेलखानेकी सजा पाया हुआ अपराधी यदि फिरसे आज्ञा उल्लङ्घन करे तो उसे उत्तम साहसदंड (पूर्वापेक्षा विशेष कड़ी सजा) दिया जावे, परन्तु दंडदेनेवालेको उसका अपराध माफ़िम न होने पर भी व उसपर सज़ा होनेसे उसे वही उत्तम साहसदंड दिया जावे ।

परमर्माकार्यमश्रद्धेयं च न भाषेतः ॥ २६ ॥

अर्थ—राजा आज्ञा-भंग करनेवाले पुत्रपर भी क्षमा न करे—यथोचित दंड देवे ॥ २३ ॥

नारद^१ विद्वान्ने कहा है कि 'राजाओंको आज्ञा-भङ्ग होनेसे बिना शस्त्रके होनेवाला वध समान महाकष्ट होता है, इसलिये प्राण-रक्षाके इच्छुक पुरुषोंको किसी प्रकार भी राजकीय आज्ञा उल्लङ्घन न करनी चाहिये ॥ १ ॥

जिसकी आज्ञा प्रजाजनों द्वारा उल्लङ्घन की जाती है, उसमें और चित्र (फोटो) के राजा में क्या अन्तर है ? कोई अन्तर नहीं । अर्थात् उसे मृत-प्राय समझना चाहिये ॥ २४ ॥

गुरु^२ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जिसे राजकीय आज्ञासे जेलखाने आदिको सजा मिल चुकी है, उस दंडित पुरुषका पक्ष नहीं करना चाहिये । अन्यथा पक्ष करनेवाला सजाका पात्र होता है ॥ २५ ॥

भारद्वाज^३ विद्वान्ने भी सजा पाए हुए की पक्ष करनेवालेके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

वैतिक पुरुष निरर्थक व विश्वास करनेके अयोग्य दूसरेकी गुप्त बात न कहे ॥ २६ ॥

भागुरि^४ विद्वान्के उद्धरणसे भी वही बात प्रतीत होती है ॥ १ ॥

अज्ञात वेष-आचार, राज-क्रोध व पापी राजासे हानि, राजा द्वारा अपमानित व पूजित पुरुष—

वेषमाचारं वानभिज्ञातं न भजेत् × ॥ २७ ॥ विकारिणि प्रभौ को नाम न विरज्यते ॥ २८ ॥

अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः ॥ २९ ॥ राज्ञावज्ञातो यः स सर्वैरवज्ञायते ॥ ३० ॥

पूजितं पूजयन्ति लोकाः ॥ ३१ ॥

ॐ 'परमर्माकार्यमश्रद्धेयमतिमात्रं च न भाषेत' इस प्रकारका पाठान्तर सू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि विवेकी मनुष्य दूसरेके हृदयको चोट पहुँचानेवाले, विश्वासके अयोग्य, अधिक मात्रा-पुष्ट और कूटे वचन न बोले ।

१ तथा च नारदः—आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राद्यात्मसत्त्वो वध उच्यते । प्राणादिभिर्न कर्तव्यस्तस्मात् सोऽत्र कथंचन ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—यस्याहो नैव कुर्वन्ति भूमौ मृत्युस्य मानवाः । आशौक्यतः स मन्त्रज्यो न मनुष्यः कथंचन ॥ १ ॥

३ तथा च भारद्वाजः—निरुद्धो वर्तते यस्तु मृत्युः सङ्गमातवः । तस्याज्ञां कुरुते यस्तु स दयघोर्हो भवेन्नरः ॥ १ ॥

४ तथा च भागुरिः—परमर्म न परात्म्यं कथयन्नाहं कथंचन । अश्रद्धेयं च विशेधं च इत्येवेदितमात्मनः ॥ १ ॥

× 'वेषं समाचारं वाऽनभिज्ञानन्न तं भजेत्' इस प्रकार सू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थमेव कुछ नहीं ।

अर्थ—विजिगीषु ऐसे वेष (बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत कमनीय कान्ता-आदिके सुन्दर भेष) व व्यवहार—वर्ताव—पर विश्वास न करे और न उन्हें काममें लावे जो कि अज्ञात—बिना जाने हुए वा आप्त पुरुषों द्वारा बिना परीक्षा किये हुए हों, क्योंकि शत्रु लोग भी नाना प्रकारके छलकपट-पूर्ण वेश्या-ओं आदिके वेष व मायाधार-युक्त वर्ताव द्वारा विजिगीषुको धोखा देकर भयङ्कर स्वतरेमें डाल देते हैं ॥२७॥ जिस मनुष्यसे राजा कुपित होगया है, उसपर कौन कुपित नहीं होता है ? सभी कुपित होते हैं ॥ २८ ॥

हारीत^१ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

राजाके पापी होनेसे कौन पुरुष पापमें प्रवृत्त नहीं होता ? सभी होते हैं ॥ २६ ॥

व्यास^२ विद्वान्ने भी कहा है कि 'प्रजा राजाका अनुकरण करती है । अर्थात् जैसा राजा वैसी प्रजा हो जाती है । वह राजाके धर्मात्मा होनेसे धर्मात्मा, पापी होनेसे पापी व दुष्ट होनेसे दुष्ट होजाती है ॥ १ ॥'

जो व्यक्ति राजा द्वारा तिरस्कृत-अपमानित किया जाता है, उसका सभी लोग अपमान करने लगते हैं और राज-सन्मानित पुरुषकी सभी पूजा करते हैं ॥ ३०-३१ ॥

नारद^३ विद्वान्ने भी राजा द्वारा तिरस्कृत व सन्मानितके प्रियमें यही कहा है ॥ १ ॥

राज-कर्त्तव्य (प्रजा-कार्यका स्वयं विचार, प्रजासे मिलनेसे लाभ, न मिलने से हानि) व अधिका-रियों की अनुचित जीविका—

प्रजाकार्यं स्वयमेव पश्येत् ॥३२॥ यथावसरमसङ्गं द्वारं कारयेत् ॥३३॥

दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यं विपर्यासमासन्नैः कार्यते द्विषतामतिसन्धानीयश्च भवति ३४

वेद्येषु श्रीमतां व्याधिवर्द्धनादिव नियोगिषु भर्तृव्यसनादपरो नास्ति जीवनोपाय ३५

अर्थ—राजा प्रजा कार्य— शिष्टपालन व दुष्टनिग्रह आदि स्वयं ही विचारे व अमात्य आदिके भरोसे पर न छोड़े, अन्यथा रिश्वतखोरी और पक्षपात वगैरहके कारण प्रजा पीड़ित होती है ॥३२॥

देवल^४ विद्वान्ने भी प्रजा कार्य को अधिकारियोंके भरोसे पर छोड़ देनेसे प्रजा-पीड़ा-आदि हानि बताई है ॥१॥

१ तथा च हारीतः—विक्रान् कुरुते योऽत्र प्रकृत्या नैव विवृति । प्रभोस्तस्य विरज्येत निजा अपि च वन्धवः ॥१॥

२ तथा च व्यासः—राज्ञि धर्मिणि धर्मिणाः पापे पापाः खलौ खलाः । राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥१॥

३ तथा च नारदः—अवज्ञातस्तु यो राजा स विद्वानपि मानवैः । अवज्ञायेत मूर्खोऽपि पश्यते नृपपूजितः ॥१॥

४ तथा च देवलः—वे स्युर्विचारका राजामुत्कोचां प्राप्य तेऽन्यथा । विचारयन्ति कार्याणि तत् पापं नृपतेर्यतः

राजा मोक्ष पर अपना राज-द्वार खुला रखे, जिससे प्रजा उसका दर्शन सुलभतासे कर सके ॥३३॥

गर्ग^१ विद्वान् ने तो कहा है कि केवल एक लीका छोड़कर बाकी समयोंमें राजा अपना द्वार सदा सुरक्षित रखे व अवसर आनेपर भी प्रजाको अपना दर्शन न देवे निश्चयसे प्रजाको दर्शन न देने वाले राजा का कार्य अधिकारी वर्ग स्वार्थ-वश बिगाड़ देते हैं और शत्रुलोग भी उससे बगावत करने तत्पर होजाते हैं, अतः प्रजाको राजकीय दर्शन सरलतासे होना चाहिये ॥३४॥

राजपुत्र^२ और गर्ग^३ विद्वान् ने भी क्रमशः कहा है कि जो राजा अपने द्वार पर आय हुए विद्वान् बनाइय, दीन (गरीब) साधु व पीडित पुरुष की उपेक्षा करता है उसे लक्ष्मी छोड़ देती है ॥१॥ स्त्रियों में आसक्त रहने वाले राजा का कार्य मंत्रियों द्वारा बिगाड़ दिया जाता है और शत्रु भी उससे मुँह करने तत्पर होजाते हैं ॥२॥

जिस प्रकार धनिकों की बीमारी बसाना छोड़कर वैश्यों की जीविका का कोई दूसरा उपाय नहीं उसी प्रकार राजाको व्यसनों में फँसाने के सिवाय, संगी आदि अधिकारियों की जीविका का भी कोई दूसरा उपाय नहीं है सारांश यह है कि अशिष्ट वैश्योंकी तरह अशिष्ट अधिकारी वर्गकी घृणित स्वार्थ-वश शोकमें ऐसी अनुचित प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः राजा को उनसे सावधान रहना चाहिये, जिससे वे उसे व्यसनों में फँसकर स्वयं रिरवतस्त्रोर आदि न होने पावें ॥३५॥

रैभ्य^४ विद्वान् ने कहा है कि जिस प्रकार धनिकों की बीमारी के इलाज करने से वैश्यों को विरोध सम्पत्ति प्राप्त होती है उसीप्रकार स्वामीको व्यसनमें फँसा देनेसे नौकरोंको सम्पत्ति मिलती है ॥१॥

राज-कर्तव्य (रिरवतस्त्रोरोंसे प्रजा-रक्षा) और रिरवतसे प्रजा व राजकीय हानि:—

कार्याधिपः पुरुषान् लज्जलुञ्चानिशाचराणां भूतबलीष कुर्यात् A ॥ ३६ ॥

लज्जलुञ्चा हि सर्वपातकानामागमनद्वारम् ॥३७॥

१ तथा च गर्गः—मुक्तावसरमर्च्यं च द्वारं नुप्यत प्रकारयेत् । प्रत्येकेपि परिश्रमे न । धनको लक्ष्मीभुजा ॥१॥

२ तथा च राजपुत्रः—शानिनं धनिनं दीनं योगिनं चार्त्तिसंयुतं । द्वारस्थं य उपपेक्षेत स जिघा समुपेक्षते ॥१॥

३ तथा च गर्गः—स्त्रीसमासक्तचित्तो वाः कित्तिपः संप्रजायते । चायथा सर्वहृत्प्रेतु सचिर्वैर्नीयतेऽरिभिः ॥१॥

४ तथा च रैभ्यः—दैवराणां यथा व्याधिबेद्यानां निषिक्तमनः । निर्योगिनां तथा ज्ञेयः स्वामिभ्यसनं लज्जम् ॥१॥

A 'कार्याधिपः पुरुषान् लज्जलुञ्चानिशाचराणां भूतबलीष कुर्यात्' इस प्रकारका पाठान्तर मू० प्रतियोंमें है, कर्ण्ड अर्थमेव कुत्र नहीं ।

मातुः स्तनमपि लुञ्चन्ति लञ्छोपजीविनः ॥३८॥

लञ्चेन कार्यकारिभिरुर्ध्वः स्वामी विक्रीयते A ॥३९॥

अर्थ—राजा आये हुए प्रयोजनार्थी पुरुषोंको, बलात्कार-पूर्वक रिश्वत लेनेवाले (रिश्वतखोर) अमात्य-आदि अधिकारियोंके लिये अपने प्राणोंकी बलि देनेवाले (रिश्वत देनेवाले) न बनावे। सारांश यह है कि रिश्वतखोरीसे प्रजा-पीड़ा, अन्याय-वृद्धि व राज-कोश-क्षति होती है, अतः राजाको प्रयोजनार्थी पुरुषोंका रिश्वतखोरोंसे बचाव करना चाहिये ॥३८॥

शुक्र^१ विद्वान्ने भी प्रयोजनार्थियोंका रिश्वतखोरोंसे बचाव न करनेवाले राजाकी आर्थिक-क्षतिका निरूपण किया है ॥ १ ॥

बलात्कार पूर्वक रिश्वत लेता समस्त पापों (हिंसा-आदि) का द्वार है ॥३९॥

वशिष्ठ^२ विद्वान्ने भी आपलूस व रिश्वतखोर अधिकारियोंसे युक्त राजाको समस्त पापोंका आश्रय बतलाया है ॥ १ ॥

रिश्वतखोरीसे जीविका करनेवाले अन्यायी रिश्वतखोर अपनी माताका स्तन भी भक्षण कर लेते हैं—अपने हितैषियोंसे भी रिश्वत ले लेते हैं फिर दूसरोंसे रिश्वत लेना तो साधारण बात है ॥३८॥

भारद्वाज^३ विद्वान्ने भी रिश्वतखोरोंकी निर्दयता व विश्वास-घातके विषयमें इसी प्रकार कथन किया है। रिश्वतखोर अपने उन्नतिशील स्वामीको बेच देते हैं। क्योंकि जिस प्रयोजनार्थीसे रिश्वत ली जाती है, उसका अन्याय-युक्त कार्य भी न्याय-युक्त बताकर रिश्वतखोरोंको सिद्ध करना पड़ता है, जिससे स्वामीकी आर्थिक-क्षति होती है यही रिश्वतखोरों द्वारा स्वामीका बेचना—पराधीन करना समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

शृगु^४ विद्वान्के उद्धारणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

A 'लञ्चेन कार्यभिरुर्ध्वः स्वामी विक्रीयते' इस प्रकारका पाठ मू० प्रतियोंमें है, जिसमें 'कार्यभिरुर्ध्वः' पदका अर्थ 'कार्योंमें फंसा हुआ' है, सोवार्थ पूर्ववत् है।

१ तथा च शुक्रः—कार्यार्थिनः समायातान् परच भूपो न पश्यति । स चापै र्दृष्ट्वा तेषां दत्तं कोरी न जायते ॥१॥

२ तथा च वशिष्ठः—लञ्चलुञ्चानको यस्य चाटुकर्मरतो नरः । तस्मिन् सर्वाणि पापानि संभवन्तीह सर्वदा ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—लञ्छोपजीविनो येऽत्र जनन्या अपि च स्तनम् । भक्षयन्ति सुनिन्दुं शा अन्वकोकस्त का कथा ॥१॥

४ तथा च शृगुः—लञ्चेन कर्मणा यत्र कार्यं कुर्वन्ति भूपतेः । विक्रीतमपि आत्मानं नो जानाति स गृध्रोः ॥१॥

बलात्कारपूर्वक प्रजासे धन-ग्रहण करनेवाले राजा व प्रजाकी हानि, व राजकीय अन्यायकी दृष्टान्त-माहा द्वारा कही आलोचना—

प्रासादध्वंसनेन लोहकोलकलाभ इव लञ्चेन राज्ञोऽर्थलाभः ॥४०॥

राज्ञो लञ्चेन कार्यकरणे कस्य नाम कन्याणम् ॥४१॥

देवतापि यदि चौरेषु मिलति कुतः प्रजानां कुशलम् ॥४२॥

लुञ्चेनार्थोपाश्रयं दर्शयन् देशं कोशं मित्रं तन्त्रं च भक्षयति ॥४३॥

राज्ञोऽन्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालङ्घनमादित्यस्य तमः पोषणमिव मातुश्चापत्य-
भक्षणमिव कलिकालविजृम्भितानि ॥४४॥

अर्थ—जो राजा बलात्कारपूर्वक प्रजासे धन-ग्रहण करता है, उसका वह अन्याय-पूर्ण आर्थिक लाभ महलको नष्ट करके लोह कीलेके लाभ समान हानिकारक है। अर्थात् जिस प्रकार जरासे-साधारण लोह-कीलेके लाभार्थ अपने बहुमूल्य प्रासाद (महल) का गिराना स्वार्थ-नाशके कारण महामूर्खता है, वसी प्रकार लुट् स्वार्थके लिये लूट-मार करके प्रजासे धन-ग्रहण करना भी भविष्यमें राज्य-क्षतिका कारण होनेसे राजकीय महामूर्खता है। क्योंकि ऐसा घोर अन्याय करनेसे प्रजा पीड़ित व संतप्त होकर बगावत कर देती है, जिसके फल-स्वरूप राज्य-क्षति होती है। अभिप्राय यह है कि राज्य-सत्ता बहुमूल्य प्रासाद-तुल्य है, उसे घोर समान नष्ट करके तुच्छ लुञ्च (लूट-मार या रिश्वत) रूप कीलेका ग्रहण करनेवाला राजा इसी का पात्र होता है, क्योंकि वह ऐसा महाभयङ्कर अन्याय करके अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी पटकता है ॥ ४० ॥

गर्ग* विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जो राजा बलात्कार करके प्रजासे धनादिका अपहरण करता है, उसके राज्यमें किसका कन्याण हो सकता है? किसीका नहीं ॥ ४१ ॥

भागुरि* विद्वान्ने भी जम्बाबी राजाके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

क्योंकि यदि बेबता भी चोरीकी सहायता करने लगे, तो फिर किस प्रकार प्रजाका कल्याण हो सकता है? नहीं हो सकता। वसी प्रकार रक्षक ही जब भक्षक होजाय—राजा ही जब रिश्वतखोरों व लूट-मार करनेवालोंकी सहायता करने लगे, तब प्रजाका कल्याण किसप्रकार हो सकता है? नहीं होसकता ॥४२॥

१ तथा च गर्गः—लुञ्चद्वारेण यो कामो नृमित्रानां स कीदृशः । लोहकीलेकलाभस्तु यथा प्रासादध्वंसने ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—लुञ्चनद्वाराभित्य यो राजोत्पन्नं हरेत् । न तस्य किञ्चित् कल्याणं कदापि संभवति ॥१॥

अत्रि^१ विद्वान्ने भी अन्यायी लूट-मार करनेवाले राजाके विषयमें इसीप्रकार कथन किया है।
रिश्वत वा लूट-मार आदि दुर्गुण व्याप्य द्वारा प्रजाकं भय अपहरण करनेवाला राजा अपने देश (राज्य)
खजाना, मित्र व ऐश्वर्य नष्ट कर देता है ॥ ४३ ॥

भागुरि^२ विद्वान्ने भी रिश्वत व लूट-मार करके धन बटोरनेवाले अन्यायी राजाके विषयमें इसी
प्रकार कहा है।

राजाका प्रजाके साथ अन्याय (लूट-मार आदि) करना, समुद्रकी मर्यादा उल्लङ्घन, सूर्यको
अंधेरा फैलाना व माताको अपने बच्चेका भक्षण करनेके समान किसीके द्वारा निवारण न किया जाने
वाला महाभयङ्कर अनर्थ है, जिसे कलिकालका ही प्रभाव समझना चाहिये। सारांश यह है कि जिसप्रकार
समुद्र ही अपनी मर्यादा-सीमाका उल्लङ्घन करने लगे और सूर्य अपना प्रकाशधर्म छोड़कर लोकमें अंधकार
का प्रसार करने तत्पर होजाय एवं माता भी अपने बच्चेका पालनरूप धर्म छोड़कर यदि उसे भक्षण करने
लगाजाय, तो इन्हें कौन रोक सकता है ? कोई नहीं रोक सकता, उसीप्रकार राजा भी अपना शिष्ट-पालन
व दुष्टनिग्रह रूप धर्म छोड़कर प्रजाके साथ अन्याय करनेको तत्पर हो जाय, तो उसे दंड देनेवाला कौन हो
सकता है ? कोई नहीं हो सकता और इसे कलि-दोष ही समझना चाहिये; अतएव राजाको प्रजाके साथ
अन्याय करना उचित नहीं ॥ ४४ ॥

न्यायसे प्रजापालनका परिणाम, न्यायवान् राजाकी प्रशंसा व राजकर्तव्य—

न्यायतः पारपालके राक्षि प्रजानां कामदुघा भवन्ति सर्वा दिशः ॥ ४५ ॥

काले वर्षति मधवान्, सर्वाश्चेतयः प्रशाम्यन्ति, राजानमनुवर्चन्ते सर्वेऽपि लोकपालाः

तेन मध्यममप्युत्तमं लोकपालं राजानमाहुः ॥ ४७ ॥

अभ्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन सम्भावयेत् ॥ ४८ ॥

राक्षो हि समुद्रावधिर्मही कुटुम्बं, कलत्राणि च वंशवर्द्धनक्षेत्राणि ॥ ४९ ॥

अर्थ—जब राजा न्यायपूर्वक प्रजा-पालन करता है, तब सभी दिशाएँ प्रजाको अभिलषित वस्तु
देनेवाली होती हैं; क्योंकि खलितकला, कृषि वाणिज्य-आदिकी प्रगति न्याय-युक्त शासनके अधीन है ४५

नीतिकारों ने कहा है कि जब राजा प्रजा-पालनमें चिन्तित रहता है तब देशकी स्वार्थ-सिद्धि होती
है; क्योंकि न्याय-युक्त शासनमें कृषक सेमसे धान्य आर धनतट^३, व्यापार द्वारा धन प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

१ तथा च अत्रिः—राक्षो लुम्बाप्रवृत्तस्य कीदृक् स्याज्जनतासुखम् । यथा दुर्गाप्रसादेन शीरोपति हृतेन च ॥ १७ ॥

२ तथा च भागुरिः—दर्शनं लुम्बनार्थस्य यः करोति महीपतिः । स देशकोशमित्राणां तन्त्रस्य च कर्षकरः ॥ १॥

३ तथा चोक्तं—राज्ञा चिन्तापरे देशे स्वार्थसिद्धिः प्रजापते । सेमेण कर्षकाः सस्यं प्राप्नुयुर्धनमो धनम् ॥ १ ॥

न्यायी राजाके प्रभावसे मेघोंसे यथासमय जल-वृष्टि होती है और प्रजाके सभी उपद्रव शान्त होते हैं तथा समस्त लोकपाल राजाका अनुकरण करते हैं—न्याययुक्त कर्त्तव्य पालन करने हैं ॥ ४६ ॥

गुरु^१विद्वान् ने भी न्याययुक्त शासनकी इसीप्रकार प्रशंसा की है ॥ १ ॥

इसी कारण विद्वान् पुरुष राजाको मध्यमलोकपाल—मध्यलोकका रक्षक—होनेपर भी उत्तम लोकपाल स्वर्गलोकका रक्षक कहते हैं ॥ ४७ ॥

रैभ्य^२विद्वान् के उद्देश्यका भी यही अर्थ है ॥ १ ॥

राजा प्रजाके उन कुटुम्बियोंको जो कि धूल-क्रीड़न प्रभृति व्यसनोंके विना ही केवल व्यापार-आदिमें नुकसान (घाटा) लगानेसे दरिद्र हुए हैं, मूल धन (व्यापारियोंके लिये कर्जामें दिया जाकर उनसे वापिस लिया जानेवाला स्याई धन) देकर संतुष्ट करे ॥ १ ॥

शुक्र^३विद्वान् भी कहा है कि 'राजा जुआ-आदि व्यसनोंके कारण दरिद्र होनेवालोंको छोड़ेकर दूसरे दरिद्रता वश दुःखी कुटुम्बियोंके लिये सौ सौ रुपये व्याजून-कर्जा देदेवे ॥ १ ॥'

समुद्रपर्यन्त पृथ्वी (उसमें वर्तमान प्रजा) राजाका कुटुम्ब है और अन्न-प्रदान द्वारा प्रजाका संरक्षण-संवर्द्धन करनेवाले खेत उसकी स्त्रियाँ हैं । अभिप्राय यह है कि धार्मिक राजाको प्रजाका जीवन-निर्वाह करनेवाली कृषिकी चर्या करते हुए समस्त प्रजाको अपने कुटुम्ब समान समझ कर पालन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

राज-कर्त्तव्य व मनुष्यकर्त्तव्य स्वीकार न करने योग्य भेद, हंसी-मजाककी सीमा, वाद-विवादका निषेध व निरर्थक आशा न देना—

अर्थिनामुपायनमप्रतिकुर्वाणो न गृहीयात् ॥ ५० ॥ आगन्तुर्कैरसहनैश्च सह नर्भ न कुर्यात् ॥ ५१ ॥ पूज्यै सह नाधिकं वदेत्^A ॥ ५२ ॥

१ तथा च गुरुः—इन्द्रादिलोकपाला ये पार्थिवे परिपालके । पालयन्ति च तद्वाष्टं वामे वामं च कुर्वते ॥ १ ॥

२ तथा च रैभ्यः—[कम्पादिविक्रान्तो राजा] मध्यमोऽप्यथ मानवैः । श्लाघ्यते यस्तु लोकानां सम्यक् स्वात् परिपालकः
[संशोभित च परिचरित]

३ तथा च शुक्रः—प्रतिकं च शतं धूर्त्वा देयं राजा कुटुम्बिने । सोऽमानाय नो देयं दूताद्यैर्निधनाय च ॥ १ ॥

A 'पूज्यैः सह अधिकं न वदेत्' इस प्रकार मू० प्रतियोंमें पाठ है, जिसका अर्थ है 'शिष्ट पुरुषको आसन परीहपर उड़-गइठा पूर्वक बैठकर पूज्य पुरुषोंके साथ बातचीत नहीं करनी चाहिये ।'

भृत्प्रमशक्यप्रयोजनं च जनं नाशया परिक्लेशयेत् A ॥ ५३ ॥

अर्थ—यदि राजा प्रयोजनार्थियोंका इष्ट प्रयोजन सिद्ध न कर सके, तो उसे उनकी भेंट स्वीकार न करनी चाहिये किन्तु वापिस भेज देने चाहिये। क्योंकि प्रत्युपकार न किये जानेवाले मनुष्यकी भेंट स्वीकार करनेसे लोकमें हँसी व निन्दाके सिवाय कोई लाभ नहीं होता ॥ ५० ॥

नारद^१विद्वान् ने भी इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

नैतिक मनुष्यको अपरिचित और सहन न करनेवाले व्यक्तियोंसे हँसी-मजाक न करनी चाहिये। क्योंकि इसका परिणाम महामयङ्कर होता है, पुराण ग्रन्थोंमें लिखा है कि रुक्मीने जुआ खेलते समय बलदेवकी हँसी की थी, परन्तु वे उसे सहन न कर सके; इसलिये उन्होंने क्रुद्ध होकर रुक्मीपर गदा-प्रहार द्वारा घात कर डाला ॥ ५१ ॥

शौनक^२विद्वान् ने भी अपरिचित व सहन करनेमें असमर्थ पुरुषोंके साथ हास्य-क्रीड़ा करनेका निषेध किया है ॥ १ ॥

नैतिक व्यक्ति पूज्य पुरुषोंके साथ वाद-विवाद न करे ॥ ५२ ॥

शुक्र^३विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो मूर्ख व्यक्ति पूज्यपुरुषोंके साथ वाद-विवाद करता है, वह लोकमें निन्दा और परलोकमें नरकके दुःख भोगता है ॥ १ ॥

विषेकी पुरुष ऐसे व्यक्तिको धनादि देनेकी आशासे क्लेशित न करे, जिसका उसके द्वारा भरण-पोषण नहीं किया जा सकता अथवा जिससे उसकी कोई प्रयोजन-सिद्धि नहीं होसकती ॥ ५३ ॥

शुक्र^४विद्वान् ने भी उक्त बातको इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

A 'भृत्प्रमशक्यप्रयोजनं नाशया परिक्लेशयेत्' इसप्रकार मू० प्रसिधियोंमें पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि स्वामीको प्रयोजन सिद्धिमें असमर्थ सेवकको पारितोषिक-आदिका शोभ देकर क्लेशित नहीं करना चाहिये।

१ तथा च नारदः—व्याघ्रं न गृह्णीष्यादि कार्यं न साधयेत् । अर्थिनो पृथ्वीपादो नो वेद्याति स वाच्यः ॥ १ ॥

२ तथा च शौनकः—हास्यकेचि न कुर्वीत भूपः सार्द्धं समागतैः । ये चापि न सहन्तेस्म दोषोऽयं वक्तव्यः ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—मूर्खः सह विवादं यः कुर्वते मतिवर्जितः । स निन्दां कुरुते लोके परत्र नरकं वजेत् ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—दुर्विदो न शक्येत यो जनः पृथ्वीभुजा । वृथाशया न संवक्ष्यन्ति विशेषाभिप्रेतयोजनः ॥ १ ॥

मनुष्य जिसका सेवक है, दरिद्र व्यक्तिकी लघुता व विद्या महात्म्य—

पुरुषस्य पुरुषो न दासः किन्तु धनस्य ॥५४॥ को नामधनहीनो न भवेन्नृपुः A ५५॥

सर्वधनेषु विद्यैव धनं प्रधानमहार्यत्वात् सहानुयायित्वान्च ॥ ५६ ॥

सरित्समुद्रमिव नीचोपगतापि विद्या दुर्दर्शमपि राजानं संगमयति ॥ ५७ ॥

परन्तु भाग्यानां व्यापारः ॥ ५८ ॥ सा खलु विद्या विदुषां कामधेनुर्यतो भवति समस्त-

जगत्स्थितिज्ञानम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—लोकमें मनुष्य केवल हाथ-पाँववाले मनुष्यका सेवक नहीं होता, किन्तु उसके धनका सेवक होता है, क्योंकि जीवन-निर्वाह घनाधीन है ॥ ५४ ॥

शुक्र^१ विद्वान् ने भी इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

व्यास^२ विद्वान् ने भी महाभारतके भीष्मपर्वमें लिखा है कि 'महात्मा भीष्मपितामहने युधिष्ठिरसे कहा कि हे महाराज मनुष्य धनका दास है, परन्तु धन किसीका दास नहीं। अतः धनके कारण ही मैं कौरवोंके अधीन हुआ हूँ ॥ १ ॥

लोकमें कौनसा दरिद्र मनुष्य लघु-छोटा-नहीं होता ? सभी होते हैं ॥ ५५ ॥

महाकवि कालिदास^३ ने भी मेघदूत काव्यमें कहा है कि 'लोकमें सभी मनुष्य निर्धनता— दरिद्रतासे छोटे और धनसे बड़े होते हैं ॥ १ ॥'

सुवर्ण-आदि समस्त धनोंमें विद्याही प्रधान धन है, क्योंकि वह चोरों द्वारा चुराई नहीं जाती एवं जन्मान्तरमें भी जीवात्माके साथ जाती है ॥ ५६ ॥

नारद^४ विद्वान् ने भी इसीप्रकार विद्याकी महत्ता निर्देश की है ॥ १ ॥

जिसप्रकार नीचे मार्गसे बहनेवाली नदी अपने प्रवाह-वर्ती पदार्थों—वृक्षादिकोंको दूरवर्ती समुद्रके

A 'पराधीनेषु भस्ति धर्मसम्पत्तिः' इसप्रकारका विशेषण कण्व (१२६) सूत्रके परचात् पूर्वं सं० टी०पुस्तकमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि पराधीन पुरुषोंको धन-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती।

१ तथा च शुक्रः—पुमाश्च सामान्यग्राहोऽपि न धाम्यस्य स कर्मकृत् । यत् करोति पुनः कर्म दासवचनकृत्य च ॥ १ ॥

२ तथा च व्यासः—अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्यर्थां न कस्यचिद् । इति सत्यं महाराज बहोऽस्यर्थेन कौरवैः ॥ १ ॥

३ तथाच महाकविः कालिदासः—रिक्तः सर्वो भवति हि जगुः पूर्वता गौरवात् ॥ १ ॥

४ तथा च नारदः—धनानामेव सर्वेषां विद्याधनमनुत्तमम् । द्विपते यम्प केनापि प्रस्थितेन सर्वं भजेत् ॥ १ ॥

साथ मिला देती है, उसीप्रकार नीच पुरुषकी विद्या भी उसे बड़ी कठिनाईसे दर्शन होनेयोग्य राजासे मिला देती है ॥ ५७ ॥

गुरु^१विद्वान् के उद्धरणसे भी यही आशय प्रकट होता है ॥ १ ॥

परन्तु ऐसा होजानेपर भी राजासे अर्थ-लाभादि प्रयोजन सिद्धि उसके भाग्याधीन है, क्योंकि भाग्य के प्रतिकूल होनेपर विद्या-प्रभाव नहीं होसकता ॥ ५८ ॥

गुरु^२विद्वान् ने भी इसीप्रकार विद्या प्रभाव निर्देश किया है ॥ १ ॥

विद्या निश्चयसे कामधेनु समान विद्वान्के मनोरथ पूर्ण करनेवाली है, क्योंकि उससे उन्हें समस्त संसारमें प्रतिष्ठा व कर्त्तव्य-बोध प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

शुक्र^३विद्वान् ने इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

लोक व्यवहार-निपुण की प्रशंसा, बुद्धि के पारदर्शी व कर्त्तव्यबोधन कराने वालों को आलोचना:—

लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायक एव ॥६०॥

ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुषा ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम् ॥६१॥

अनुपयोगिना महतापि किं जलधिजलेन ॥६२॥

अर्थ—निश्चय से लोक व्यवहार जानने वाला मनुष्य सर्वज्ञ समान और लोक व्यवहार-शून्य विद्वान् होकर भी लोक द्वारा विरक्त समझा जाता है ॥६०॥

नारद^४ विद्वान् ने भी व्यवहार-चतुर की इसी प्रकार प्रशंसा की है ॥१॥

जो मनुष्य सहुपदेश आदि द्वारा दूसरों को कर्त्तव्य बोध कराते हैं, वे निश्चयसे ज्ञान-समुद्र के पारदर्शी हैं ॥६१॥

जैमिनि^५ विद्वान् ने भी कहा है कि जो विद्वान् दूसरों को कर्त्तव्य-बोध कराने की कला में प्रवीण है,

१ तथा च गुरुः—नीचादपि च यो विद्यां प्राप्नुयात् बुद्धिमाधुरः । दुर्दर्शमपि राजानं सप्रभावात् स परयति ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—दुर्दर्शमपि राजानं विद्या दर्शयति भूषम् । आत्मप्रभावतो लोके तस्य मान्यादि केवलम् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—विद्या कामधुमा चेन्विज्ञानं संप्रजायते । यतस्तस्याः प्रभावेन पृथ्वाः स्तुः सद्यो विशः ॥ १ ॥

४ तथा च नारदः—लोकानां व्यवहारं यो विजानाति स पण्डितः । मूर्खोऽपि योऽवधान्यस्तु स विशोऽपि यथा जयः ॥१॥

५ तथा च जैमिनिः—अथ विज्ञाः प्रकुर्वन्ति येऽन्येषां प्रतिबोधनम् । सर्वज्ञास्ते परे रूर्क्षा यो स्तुर्धर्तुदीपयत् ॥१॥

वे सर्वज्ञ हैं, परन्तु इसके विपरीत—कर्त्तव्यबोध न कराने वाले—घड़े में वर्तमान दीपक की तरह—केवल स्वयं विद्वत्ता-युक्त हैं। वे मूर्ख हैं ॥१॥'

जिस प्रकार उपयोग-शून्य पीने के अयोग्य (स्वारे) बहुत समुद्रजल से क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार विद्वान् के कर्त्तव्य-ज्ञान कराने में असमर्थ प्रचुर ज्ञान से भी कोई लाभ नहीं ॥६॥

शुक' विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

इति स्वामि-समुद्देशः ।

१८ अमात्य-समुद्देश

सचिव-(मन्त्री) माहात्म्य, मंत्री के बिना राजकार्य हानि व दृष्टान्तमात्रा द्वारा समर्थन—

चतुरङ्गेऽस्ति द्यूते नानमात्योऽपि राजा किं पुनरन्यः A ॥ १ ॥

नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति ॥ २ ॥ नद्येकं चक्रं परिभ्रमति ॥ ३ ॥

किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति B ॥ ४ ॥

अर्थ—जब शतरंज का बादशाह मन्त्री के बिना चतुरङ्ग सेना (शतरंज के हाथी, घोड़े, आदि) सहित होकर भी उसका बादशाह नहीं हो सकता—अर्थात् उस खेल के बादशाह आदि प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर विजय-श्री प्राप्त नहीं कर सकता, तब क्या पृथ्वीपति (राजा) हस्ति, अश्व आदि चतुरङ्ग सैन्ययुक्त होकर के भी बिना मन्त्रीके राजा हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥१॥

१ तथा च शुकः—किं तथा विधेया कार्य या न बोधयते पराम् । प्रभृतैरपि किं लोचैर्जलमेव्यर्थं गतैः ॥१॥

A 'चतुरङ्गनुोऽपि नानमात्यो राजास्ति, किं पुनरेकः' इसप्रकारका पाठान्तर मु० प्रतियोंमें वर्तमान है, परन्तु इसमें शतरंजके बादशाह रूप दृष्टान्तमात्रा द्वारा प्रकृतविषयोंका समर्थन नहीं है, शेषार्थ पूर्ववत् है ।

B 'प्रवातः सेन्धनोऽपि' इत्यादि पाठान्तर मु० मु० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार प्रसिद्ध व प्रचलित वायु ईश्वर युक्त अग्निको बुझा देती है उसीप्रकार प्रसिद्ध—विद्वद् मंत्री भी राज्य-वृत्ति कर देता है—सम्पादक

शुक्र^१ विद्वान् का उद्धरण भी उक्त बातका इसी प्रकार समर्थन करता है ॥१॥

जिसप्रकार रथ आदि का एक पहिया दूसरे पहियेकी सहायताके बिना नहीं घूम सकता, उसी प्रकार अकेला राजा भी मंत्री आदि सहायकोंके बिना राजकीय कार्य (सन्धि विग्रह प्रभृति) में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता ॥ २-३ ॥ एवं जिस प्रकार अग्नि ईन्धन युक्त होनेपर भी हवाके बिना प्रज्वलित नहीं हो सकती उसीप्रकार बलिष्ठ व सुयोग्य राजा भी राज्यशासन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

वल्लभदेव^२ विद्वान्के उद्धरणसे भी उक्त बातकी इसी प्रकार पुष्टि होती है ॥ १ ॥

मन्त्री-लक्षण, कर्त्तव्य, व आय-व्ययका दृष्टान्त—

स्तकर्मोत्कर्षापकर्षयोर्दानिमानाभ्यां सद्दोत्पत्तिविपत्ती येषां तदमात्याः ॥ ५ ॥

आयो व्ययः स्वाभिरक्षा तन्त्रपोषणं चामात्यानामधिकारः ॥ ६ ॥

आयव्ययमुख्योर्मुनिकमण्डलुनिर्दर्शनम् ॥ ७ ॥

अर्थः—जो राजा द्वारा दिये हुए, दान-सन्मान प्राप्त कर अपने कर्त्तव्य-पालनमें उस्ताह व आलस्य करनेसे क्रमशः राजाके साथ सुखी-दुःखी होते हैं, उन्हें 'अमात्य' कहते हैं ॥ ५ ॥

शुक्र^३ विद्वान्भी कहा है कि 'जो राजाके सुख-दुःखमें समता-युक्त—सुखी-दुःखी होते हों, उन्हें राज्य-मान्य 'अमात्य' जानना चाहिये ॥ १ ॥'

मन्त्रियोंके निम्न प्रकार चार मुख्य कर्त्तव्य हैं । १ आय—सम्पत्तिको उत्तरदा करनेवाले उपायों (समुचित टेक्स प्रभृति) का प्रयोग, २ व्यय—स्वामीकी आज्ञानुसार आमदनीके अनुकूल प्रजा-मन्त्रणार्थ सैनिक विभाग-आदिमें उचित खर्च, ३ स्वामी-रक्षा (राजा व उसके कुटुम्बका संरक्षण), ४ हार्थ-घोड़ा प्रभृति चतुरङ्ग सेनाका पालन-पोषण ॥ ६ ॥

शुक्र^४ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

सम्पत्तिकी आमदनी व खर्च करनेमें मुनियोंका कमण्डलु दृष्टान्त समझना चाहिये । अर्थात् जिन प्रकार मुनिराजका कमण्डलु जल-ग्रहण अधिक परिमाणमें व शीघ्रतासे करता है, परन्तु उसका खर्च—

१ तथा च शुक्रः—चतुरङ्गेऽपि नो धूते मन्त्रिणा परिवर्जितः । स्वराज्यं कर्तुं मोक्षः स्वात् किं पुनः पृथिवीपतिः ॥१॥

२ तथा च वल्लभदेवः—किं करोति समर्थोऽपि राजा मन्त्रिवर्जितः । प्रदीप्तोऽपि यथा वह्निः समीरवाहिना क्रुतः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—अप्रसादे प्रसादे च येषां च समतास्थितिः । अमात्यास्ते हि विज्ञेया मूर्खपाक्षस्य संमताः ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—आगतिर्व्ययसंयुक्ता तथा स्वामीप्ररक्षणम् । तन्त्रस्य पोषणं कार्यं मन्त्रिभिः सर्वदैव हि ॥ १ ॥

सक निष्कासन (निकालना) सुखम नलोके अमभाग द्वारा धीरे २ करता है, उसीप्रकार नैतिक पुरुष व राज-मंत्रीको क्रमशः व्यापारादि द्वारा और टेक्स द्वारा सम्पत्तिकी आमदनी अधिक परिमाणमें करते हुए धन खर्च करना चाहिये ॥ ७ ॥

गुरु^१ विद्वान्ने भी कहा है कि 'मन्त्रियोंको खर्चकी अपेक्षा धनकी आमदनी अधिक परिमाणमें करनी चाहिये, अन्यथा राज्य-वृद्धि होती है ॥ १ ॥'

आय-व्ययका लक्षण, आमदनीसे अधिक खर्चका निषेध, स्वामी शब्दका अर्थ और तन्त्रका लक्षण

आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम् ॥८॥ यथास्वामिशासनमर्थस्य विनियोगो व्ययः ॥९॥

आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रमणोऽप्यवश्यं श्रमणायते ॥१०॥

राज्ञः शरीरं पर्यः कलत्रं भवत्यामि यः स्वामिशब्दार्थः ॥११॥ तन्त्रं चतुरङ्गचलम् ॥१२॥

अर्थ—सम्पत्ति उत्पन्न करनेवाले न्यायोचित साधन उपाय कृषि, व्यापार व राज पक्षमें उचित कर—टेक्स लगाना-आदि को 'आय' (आमदनी) कहा है ॥८॥ स्वामीकी आज्ञानुसार धन खर्च करना 'व्यय' है सारांश यह है कि राजनैतिक प्रकरणमें मंत्रीको राजाकी आज्ञापूर्वक राजकोश से सैन्य-रक्षा आदि में धन खर्च करना चाहिये ॥९॥ जो अनुच्य आमदनी को न विचार कर अधिक खर्च करता है, वह कुबेर समान असंयत धन का स्वामी होकर भी भिक्षुक समान आचरण करता है—दरिद्र होजाता है, फिर अल्पवली अनुच्य व राजा का दरिद्र होना तो स्वाभाविक हो है ॥१०॥ राजा का शरीर, धर्म, राजिनी व राजकुमार इनका स्वामी शब्दसे बोध होता है। सारांश यह है कि मंत्री को इन सबकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि इनमें से किसीके साथ वैर विरोध करनेसे राजा रुष्ट होजाता है ॥११॥ चतुरङ्ग (हाथी, घोड़े, खरवा रोही व पैदल इन चारों अङ्गवाली) सेनाको 'तन्त्र' कहा है ॥१२॥

मंत्रीके दोष और उनका विवेचन एवं अपने देशका मंत्री—

तीक्ष्णं बलवत्पद्मशुचि व्यसनिनमशुद्धमिजनमशक्यप्रत्यावर्त्तनमतिव्ययशीलमन्यः

देशायासमतिविषयकं वामात्यं न कुर्वीत ॥१३॥ तीक्ष्णोऽभियुक्तो प्रियते मारयति वा

१ तथा च गुरु—आयोऽवस्यतः कार्यो व्यवसित्यन्य मन्त्रिभिः। विपरीतो व्ययो यस्य स राज्यस्य विनाशकः ॥१॥

A इसके पर्याय 'अवसाग' एवं मू० प्रतिषेधों में है, जिसका अर्थ योही आय करनेवाला है।

स्वामिनम् ॥१४॥ बलवत्पक्षो नियोगाभियुक्तः कल्लोलइव A समूलं नृपांघ्रिपमुन्मूलयति
 ॥१५॥ अल्पायतिर्महाव्ययो भक्षयति राजार्थम् ॥१६॥ अल्पायमुखो जनपदपरिग्रहो
 पीडयति ॥१७॥ नागन्तुकेष्वर्थाधिकारः प्राणाऽधिकारो वास्ति यतस्ते स्थित्वापि
 गन्तारो ऽपकर्तारो वा B ॥१८॥ स्वदेशजेष्वर्यः कूपपतित इव कालान्तरादपि लब्धुं
 शक्यते ॥१९॥ चिक्कणादर्थलाभः पाषाणाद्वन्कलोत्पाटनमिव । २०॥

अर्थ—राजा या प्रजा को निम्न प्रकार दोष-दूषित व्यक्ति के लिए मंत्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिये । १ अत्यंत क्रोधी, २ जिसके पक्षमें बहुतसे शक्तिशाली पुरुष हों, ३ बाह्य-अभ्यन्तर संबंधी मलिनता से दूषित, ४ व्यसनी—यत्न-क्रोधन मद्यपान आदि व्यसनोसे दूषित, ५ नीचकुलवाला, ६ हठी—जो उपदेश द्वारा असत् कार्य करने से न रोका जा सके, ७ आमदनी सेभी अधिक खर्च करने वाला, ८ परदेशी और ९ कूपण (लोभी) अभिप्राय यह है कि ये मंत्रीमें वर्तमान दोष राज्य-क्षतिके कारण हैं । क्योंकि क्रोधी पुरुष मंत्री होनेसे जब कभी अपराधवश दण्डित किया जाता है, तो वह अपनी क्रूर प्रकृतिके कारण या तो स्वयं मर जाता है अथवा अपने स्वामी को मार डालता है इसी प्रकार जिसका पक्ष—माता-पिता-आदि बलिष्ठ होता है, वह अपने पक्षकी सहायता से राजा को नष्ट कर देता है । इसी तरह अपवित्र मंत्री प्रभाव-हीन व राजाको अपने स्पर्शसे दूषित करता है । एवं व्यसनी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके ज्ञान रहित, नीच कुलका थोड़ासा वैभव पाकर मदोन्मत्त, हठी दुरामह-वश हितकारक उपदेशकी अवहेलना करनेवाला, अधिक खर्चीला स्वार्थ-क्षति होनेपर राजकीय सम्पत्ति कोभी हर्ष कर देनेवाला, परदेशी मंत्री प्रजाकी भलाई करने में असमर्थ व स्थिरतासे अपना कर्त्तव्य पालन न करनेवाला एवं लोभी मंत्री भो कर्त्तव्य-पराङ्मुख होता है । अतः एक दोष-दूषित पुरुषको मंत्री नहीं बनाना चाहिये ॥१३॥

शुक्र^१ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥११॥

क्रोधीमंत्री होनेसे अपराध-वश दण्डित किए जाने पर अपनी क्रूर प्रकृति-वश विचार-शून्य होकर या तो स्वयं अपना या अपने स्वामीका घात कर डालता है ॥१४॥

प्रबल पक्षवाला व्यक्ति मंत्रीपद पर नियुक्त हुआ महान् नदी-पूर समान राजारूपी पृष्ठको जड़से पत्ताड़ देता है । अर्थात् जिसप्रकार नदीका शक्तिशाली जल-प्रवाह अपने तटवर्ती वृक्षोंको जड़से पत्ताड़

A इसके पर्याय 'मत्तगव इव' यह पद सू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ मदोन्मत्त हाथी आमदनीकेसमान आमना चाहिए

कोष पूर्ववत् ।

B 'यतस्ते' पद से लेकर अखीर तकका पाठ सू० प्रतियों से संकलन किया गया है ।

१ तथा च शुक्रः— तीव्रं बुद्धिं दुराचारमकुलीनं विदेशजम् । एकमात्रं व्ययप्राप्यं रूपकं मन्त्रिणं त्यजेत् ॥११॥

देता है, वसीप्रकार शक्तिशाली कुटुम्ब-युक्त मंत्रीभी राज-रूपी वृत्तको जड़से चलाकर फेंक देता है ॥१५॥

शुक्र^१ विद्वान्ने भी बलिष्ठ पक्षवाले मंत्रीके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जो मंत्री राज-कोशमें आमदनी कम करता हुआ अधिक खर्च करता है, वह राजकीय मूलधन खा जाता है—नष्ट कर डालता है ॥ १६ ॥

शुक्र^२ विद्वान्ने उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

थोड़ी आमदनी करनेवाला मंत्री दरिद्रताके कारण देश व राजकुटुम्ब को पीड़ित करता है ॥१॥

गर्ग^३ विद्वान्ने उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजाका कर्त्तव्य है कि वह विदेशी पुरुषोंको धनके भाव व्यवसाय अधिकार एवं प्राप्ति-रक्षा करनेका अधिकार न देवे। अर्थात् उन्हें अर्थ-सचिव व सेना-सचिवके उत्तर-दायित्व-पूर्ण पदों पर नियुक्त न करे। क्योंकि वे उसके राज्यमें कुछ समय ठहर करके भी अपने देश को प्रस्थान कर जाते हैं एवं मौका पाकर राज-द्रोह करने लगते हैं। अतः अर्थसचिव व सेनासचिव अपने देशका योग्य व्यक्ति होना चाहिये ॥१॥

शुक्र^४ विद्वान्ने भी कहा है कि जो राजा अन्धदेश से आये हुए पुरुषोंको धनके भाव व्यवसाय व शक्ति-रक्षा अधिकार देता है वह अपना धन व प्राप्ति खो बैठता है ॥१॥

अपने देशवासी पुरुषोंको अर्थ-सचिव आदि पदोंपर नियुक्त करनेसे उनके द्वारा लोभवश प्रहस्य किया हुआ धन-कुटुम्बमें गिरी हुई धनादि वस्तुके समान कुछ समयके बाद भी मिल सकता है। अर्थात् जिसप्रकार कुटुम्बमें गिरी हुई धनादि वस्तु कालान्तरमें प्राप्त की जासकती है, वसीप्रकार अपने देशसे अधिकारियों—अर्थ-सचिव आदि द्वारा कारणवश प्रहस्य किया हुआ धन भी कालान्तरमें मिल सकता है, परन्तु विदेशी अधिकारियों द्वारा गृहीत धन कदापि नहीं मिल सकता, अतः अर्थ-सचिव आदि मंत्री मन्त्रद्वय अपने देशका ही होना चाहिये ॥ १६ ॥

नारद^५ विद्वान्ने भी स्वदेशवासी अर्थ-सचिवके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

अत्यन्त कृपण मंत्री जब राजकीय धन प्रहस्य कर लेता है, तब उससे पुनः धन वापिस मिलने

१ तथा च शुक्रः—यस्यैवाप्यभ्यागमन्त्री उन्मूलयति पार्श्विकम् । कस्मिन्को यस्मात् कृत्यवत्त्वं च गृहीतम् ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—अन्विष्यकुक्षते वस्तु स्वल्पकालं महाम्बयम् । आत्मविषयं अचानं सक रोति च क्लेशः ॥१॥

३ तथा च गर्गः—प्रहस्ययुक्तमेवात्र अन्विष्यं प्रकरोतिवः । तस्य राज्ञः कथं वाति तथा चैव पत्तिम् ॥१॥

४ तथा च शुक्रः—अन्धदेशावतानी च सोऽधिकारं जनोन्मूलय । इदानीं मातरं च सोऽर्ज्यायैर्दुःखते ॥१॥

५ तथा च नारदः—अर्थाधिकारिणं राजा यः करोति स्वदेशम् । तेन पुनः गृहीतं वदन्त्यं कृत्यवत्त्वं ॥ १ ॥

पाषाणसे बककल छीलने समान असंभव है। अर्थात् जिसप्रकार पत्थरसे बककल निकालना असंभव है, उसीप्रकार अत्यन्त लुब्ध मंत्रीसे गृहीत धनकी प्राप्ति भी असंभव है, अतः कृपण पुरुषको कदापि अर्थ-मंत्री आदि पदोपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥ २० ॥

अग्नि^१विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

योग्य-अयोग्य अधिकारी, अयोग्योंसे हानि, बंधु सम्बन्धके भेद व लक्षण—

सोऽधिकारी यः स्वामिना सति दोषे सुखेन निगृहीतुं शक्यते ॥ २१ ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-सम्बन्धिनो न कुर्यादधिकारिणः ॥ २२ ॥

ब्राह्मणो जातिवशात्सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेण प्रयच्छति, न प्रयच्छति वा ॥ २३ ॥

क्षत्रियोऽभियुक्तः सङ्गं दर्शयति ॥ २४ ॥

सम्बन्धी ज्ञातिभावेनाक्रम्य सामवायिकान् सर्वमप्यर्थं ग्रसते ॥ २५ ॥

सम्बन्धस्त्रिविधः श्रौतो मौख्यो^A यौनश्च ॥ २६ ॥

सहदीक्षितः सहाध्यायी वा श्रौतः^B ॥ २७ ॥ मुखेन परिज्ञातो मौख्यः^C ॥ २८ ॥

यौनेर्ज्ञातो यौनः ॥ २९ ॥ वाचिकसम्बन्धे नास्ति सम्बन्धान्तरानुवृत्तिः ॥ ३० ॥

अर्थ—वही व्यक्ति मन्त्री आदि अधिकारी पदके योग्य है, जो अपराध करनेपर राजा द्वारा सरलतासे दण्डित किया जा सके ॥ २१ ॥

किसी नीतिज्ञ^१विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

राजाके ब्राह्मण, क्षत्रिय व बन्धु आदि सम्बन्धियोंको अमात्य आदि अधिकारी नहीं बनाना

१ तथा च अग्निः—बककलं वपदो पट्टत् कृपणेन हृतं धनम् । यतस्तत्र प्रकाम्येत् तस्मात् दूरतस्त्यजेत् ॥ १ ॥

A इसके स्थानमें 'मैत्रो' ऐसा पाठान्तर मू० प्रतियोंमें वर्तमान है जिसका अर्थ राजाका मित्र रूप अमात्य है ।

B 'वितृपैतामहायागतः श्रौतः' इसप्रकारका पाठान्तर मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि बंधु परम्परासे चले जाने वाले अमात्यको श्रौत बन्धु कहते हैं

C 'आत्मना प्रतिपन्नो मैत्रः' इसप्रकारका मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो राजाके पास मैत्रोके विद् आया हो श्रौत उसने उसे मित्र मान लिया हो ।

२ तथा चोक्तं— सोऽधिकारी सदा शस्यः कृत्वा दोषं महीश्रुजे । ददाति याचितो विषं साम्नाय समवस्तुना ॥१॥

चाहिये ॥ २२ ॥ क्योंकि ब्राह्मण अधिकारी होने पर अपनी जाति स्वभावके कारण ग्रहण किया हुआ धन वही कठिनाईसे देता है अथवा नहीं देता ॥ २३ ॥

सारांश यह है कि धन-लम्पटता व कातरता ब्राह्मण जातिका स्वाभाविक दोष है, अतः उससे गृहीत राज-धनकी प्राप्ति दुर्लभ है, इसलिये ब्राह्मण अधिकारी पदके योग्य नहीं ॥ २३ ॥

क्षत्रिय अधिकारी विरुद्ध हुआ तलवार दिखलाता है । सारांश यह है कि क्षत्रिय अधिकारी द्वारा ग्रहण किया हुआ धन शस्त्र-प्रहारके बिना नहीं प्राप्त होसकता, अतएव उसे मंत्री आदि पदपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥ जब राजा द्वारा अपना कुटुम्बी या सहपाठी बन्धु आदि मंत्री आदि अधिकारी बनाया जाता है, तो वह 'मैं राजाका बन्धुहूँ' इस गर्वसे दूसरे अधिकारियोंको तुच्छ समझ कर स्वयं समस्त राजकीय धन हड़प कर लेता है । अर्थात् सब अधिकारियोंको तिरस्कृत करके स्वयं अत्यन्त प्रबल शक्तिमान् होजाता है ॥ २५ ॥

बन्धु तीन प्रकारके हैं—(१) भ्रातृ, (२) मौल्य और (३) यौन ॥ २६ ॥

जो राजाकी राज्य-लक्ष्मी सम्बन्धी दीक्षाके मातृ ही अमात्य-पदकी दीक्षासे दीक्षित हुआ हो । अर्थात् जिसप्रकार राजाका राज्य-लक्ष्मी वंशपरम्परासे—पिता व पितामह के राजा होने से प्राप्त हुई है, इसीप्रकार जिसे अमात्य पद भी वंश परम्परासे प्राप्त हुआ हो । अर्थात् जिसके पितामह व पिता भी इसी वंशमें पहले अमात्य पद पर आसीन हो चुके हों, परचात् इसे भी कुल क्रम—वंशपरम्परासे अमात्य पद-भी प्राप्त हुई हो, उसे अथवा राजाके सहपाठीको भ्रातृ बन्धु कहते हैं ॥ २७ ॥ जो मौलिक वार्तालाप व सहवास आदि के कारण राजाका मित्र रह चुकी है, वह 'मौल्य' है ॥ २८ ॥ राजाके भाई व बच्चा वगैरह 'यौन' बन्धु हैं ॥ २९ ॥

वार्तालाप व सहवास आदिके कारण जिसके साथ मित्रता संबंध स्थापित हो चुका है—जो राजा-का मित्र बन चुका है—उसे दूसरे अमात्य आदिके पदोंपर नियुक्त नहीं करना चाहिये । क्योंकि ऐसा करनेसे वह राजकीय आज्ञाका उल्लङ्घन करेगा, जिससे राजाके वचनोंको प्रतिष्ठा नहीं रह सकती, अतः मित्रको भी मंत्री पदपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

अधिकारी (अर्थ-सचिव व सेनासचिव -आदि) होनेके अयोग्य व्यक्ति—

न तं कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ॥ ३१ ॥

मान्योऽधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ॥ ३२ ॥

चिरसेवको नियोगी नापराधेष्वशङ्कते ॥ ३३ ॥

उपकर्ताधिकारस्य उपकारमेव स्वजीकृत्य सर्वमवलुम्पाते ॥ ३४ ॥

सहपांशुकीकृतोऽमात्योऽतिपरिचयात् स्वयमेव राजायते ॥ ३५ ॥

अन्तर्दुष्टो नियुक्तः सर्वमनर्थं कृत्वा दयति ॥ ३६ ॥

शकुनि-शकटालाघत्र दृष्टान्तौ ॥ ३७ ॥ सुहृदि नियोगिन्यवश्यं भवति घनमित्रनाशः ॥ ३८ ॥

मूर्खस्य नियोगो भर्तुर्धर्मार्थयशसां संदेहो निश्चितौ चानर्थ-नरकपातौ ॥ ३९ ॥

अर्थ—राजा पूर्वोक्त तीनों प्रकारके बन्धुओंमेंसे किसी बन्धुकी आज्ञा या ऐसे किसी पुरुषको अर्थ-मंत्री-आदि अधिकारी-पद पर नियुक्त न करे, जिसे अपराध-बश कड़ी सजा देनेपर पर्याप्ताप करना पड़े ॥ ३१ ॥

गुरु*विद्वान् ने भी अर्थ-सचिवके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

राजाको पूज्य पुरुषके लिये अधिकारी नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि वह अपनेको राजा द्वारा पूज्य समझकर निबर व उच्छृङ्खल होता हुआ राजाकी आज्ञा उल्लङ्घन करता है व राजकीय-धनका अपहरण आदि मनमानी प्रवृत्ति करता है, जिससे राजकीय अर्थ-क्षति होती है ॥ ३२ ॥

नारद*विद्वान् ने भी राज-पूज्य पुरुषको अधिकारी बनाने से बड़ी हानि निरूपण की है ॥ १ ॥

चिरकालीन—पुराना-सेवक अथि हुआ अतिपरिचयके कारण चोरी-आदि अपराध कर देनेपर भी निबर रहता है; अथ. पुराने सेवकको अधिकारी न बनावे ॥ ३३ ॥

देवस*विद्वान् ने भी चिरकालीन सेवकको-अर्थ-सचिव बनानेके विषयमें इसीप्रकार निषेध किया है ॥ १ ॥

जो राजा अपने उपकारी पुरुषको अधिकारी पदपर नियुक्त करता है, तो वह (अधिकारी) पूर्ण रूप से उपकार राजाके समक्ष प्रकट करके समस्त राजकीय धन हथप कर जाता है, अतः उपकारीको अधिकारी नहीं बनाना चाहिये ॥ ३४ ॥

वसिष्ठ*विद्वान् के उद्धरणका भी वही अभिप्राय है ॥ १ ॥

राजा ऐसे वास्तविक मित्र व्यक्तिको अर्थ-सचिव आदि अधिकारी न बनावे, जो कि वास्तविकतामें उसके

१ तथा च गुरुः—सम्बन्धिनः प्रयायाः च न चैकमपि चोक्तयेत् । सर्वोधिकारे च अर्थि च इत्यादि पुस्तकानुसारम् ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—मात्रोऽधिकारी मात्रोऽभिमति मत्वा च कुरुते । अथवा भूविप्राप्ति कर्माद्यं परिचययेत् ॥ १ ॥

३ तथा च देवसः—चिरभूतं च जो राजा विपक्षेषु चोक्तयेत् । स त्वं मत्तव राज्ञा न करोति कर्मणम् ॥ १ ॥

४ तथा च वसिष्ठः—पूर्वोपकारितं मूर्खो नाधिकारे नियोजयेत् । स तं कीर्तयमानस्तु सर्वं त्वं प्रयच्छेत् ॥ १ ॥

साथ शूलिमें खेल चुका हो; क्योंकि वह अति-परिचयके कारण अभिमान-वश अपनेको राजा समान समझता है ॥ ३६ ॥

जैमिनि* विद्वान् के संगृहीत श्लोकका भी यही आशय है ॥ १ ॥

क्रूर हृदयवाला पुरुष अधिकारी बनकर समस्त अनर्थ उत्पन्न करता है ॥ ३६ ॥

गर्ग* विद्वान् ने भी दुष्ट हृदयवाले व्यक्तिको अमात्य बनानेसे राज्य-क्षति होनेका निर्देश किया है १

राज-द्वेषी क्रूर हृदयवाले पुरुषको मंत्री बनानेसे जो हानि होती है उसके समर्थक शकुनिक दुर्योधनका मामा जिसे उसने कौरवोंका राज-मंत्री बनाया था) और शकटाल* (नन्द राजाका मंत्री) ये दो ऐतिहासिक उदाहरण जानने चाहिये। अर्थात् उक्त दोनों दुष्ट हृदयवाले मंत्रियोंने अपने २ स्वामियोंने दूब कर राज्यमें अनेक अनर्थ उत्पन्न किये, जिसके फल स्वरूप राज्य-क्षति हुई ॥ ३७ ॥

मित्रको अमात्य आदि अधिकारी बनानेसे राजकीय-धन व मित्रताकी क्षति होती है। अर्थात् मित्र अधिकारी राजाको अपना मित्र समझकर निभयदा-पूर्वक उच्छङ्खल होकर उसका धन खा लेता है, जिससे राजा उसका बंध कर डालता है, इस प्रकार मित्रको अधिकारी बनानेसे राजकीय धन व मित्रता दोनोंका नाश होता है, अतः मित्रको अधिकारी नहीं बनाना चाहिये ॥ ३८ ॥

रैभ्य* विद्वान् ने भी मित्रको अधिकारी बनानेसे यही हानि निर्दिष्ट की है, १॥

मूर्खको मन्त्री-आदिका अधिकार देनेसे स्वामीको धर्म, धन व यश प्राप्ति कठिनाईसे होती है अथवा निश्चित नहीं होती। क्योंकि मूर्ख अधिकारीसे स्वामीको धर्मका निश्चय नहीं होता और न धन प्राप्ति

१ तथा च जैमिनिः—वाक्यात्प्रभृति यः सार्वे कीदृशो मूषुजा सदा । स च स्यान्मन्त्रिणः स्थाने तन्मूर्खं पार्थिवपते १

२ तथा च गर्गः—अन्तर्दुष्टममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः । सोऽमर्थावित्यक्तः कृत्वा सर्वराज्यं विनाशयेत् ॥ १ ॥

* शकुनिक दुर्यान्त—यह गान्धार देशके राजा सुवसुका पुत्र व दुर्योधनका मामा था, जोकि कौरव (धृतराष्ट्र) के बड़े पुत्र दुर्योधन द्वारा राज-मंत्री पदपर नियुक्त किया गया था। यह बड़ा क्रूरहृदय था, इसलिये जब पंडितके वचनान्तर व अज्ञातवासकी अवधि पूर्ण हुई, तब महात्मा कृष्ण व नीति नियुक्त विदुरजीने इसे बहुत समझाया कि आप पाण्डवोंका श्राव-मास राज्य दुर्योधनसे वापिस दिला दें, परन्तु इसने एक न माना और पाण्डवों से बैर-विरोध रखता और दुर्योधनको उस में सन्धि न करने दी। जिसके फलस्वरूप महाभारत हुआ, जिस से इसने अपने स्वामी दुर्योधनका बंध करवाया और स्वयं मारा गया।

* शकटालका दुर्यान्त—यह ई० से ३१० वर्ष पूर्व राजा नन्दका मंत्री था, जोकि बड़ा दुष्ट-हृदय-पुनर्त्त था। इसे अपराध-वश जहजमाने की कड़ी सजा दी गई थी। कुछ दिनोंके परकाय राजाने इसे जेलखानेसे मुक्त कर पुनः राज-मंत्री पदपर अभिहित किया, परन्तु यह राजसे दुष्ट था, इसलिये यह उसके शासकी प्रतीक्षा कर रहा था, अतः अचानक पाकर यह सम्राट चन्द्रगुप्तके प्रधान-अमात्य चाणक्यसे मिल गया और उसकी सहायतासे इसने अपने स्वामी राजा नन्दको मरवा दिया।

३ तथा च रैभ्यः—निबोधे संनियुक्तस्तु सुहृद्विशममन्त्रयेत् । स्नेहाधिपतेन निःशंकस्ततो वचनवाच्युवाच ॥ १ ॥

होती है। एवं यश-प्राप्ति भी नहीं होती। परन्तु दो बातें निश्चित होती हैं, (१) स्वामीको आपत्तिमें फँसना और (२) उसे नरक लेजाना। अर्थात् मूर्ख अधिकारी ऐसे दुष्कृत्य कर बैठता है, जिससे उसका स्वामी आप-दुष्पत्त हो जाता है एवं ऐसे दुष्कर्म कर डालता है, जिससे प्रजा पोकित होती है, जिसके फलस्वरूप स्वामी नरक जाता है ॥३६॥

नारद^१ विद्वान्ने भी मूर्खको अधिकारी बनानेसे उक्त हानि निरूपण की है ॥१॥

अधिकारियोंकी उन्नति, उनको निष्फलता, अधिकारी-शून्य राजाकी हानि, स्वेच्छाचारी अधिकारियों का स्वरूप व उनकी देख-रेख रखना—

सोऽधिकारी चिरं नन्दति स्वामिप्रसादो नोत्सेक्यति ॥४०॥ किं तेन परिच्छेदेन यत्रात्म-
क्लेशेन कार्यं सुखं वा स्वामिनः ॥४१॥ का नाम निर्वृत्तिः स्वयमृदुवृणभोजिनो
गजस्य ॥४२॥ अश्वसर्धाणः पृथ्वाः कर्मसु नियुक्ता विकुर्वते तस्मादहन्यहनि तान्
परीचेत् ॥४३॥

अर्थ—जो मन्त्री-आदि अधिकारी स्वामीके प्रसन्न होने परभी किसी प्रकारका अभिमान नहीं करता वही चिरकाल तक उन्नतिशील रहता है। अर्थात् कभी पदच्युत न होकर कार्तिव-अर्थ-लाभ आदि द्वारा उन्नति करता है ॥४०॥

शुक^२ विद्वान्ने भी गर्व-शून्य अधिकारियोंके विषयमें यही कहा है ॥१॥

राजाको उन मन्त्री आदि अधिकारियोंसे क्या लाभ? कोई लाभ नहीं, जिनके होने परभी उसे स्वयं कष्ट उठाकर अपने-आप राजकीय कार्य करना पड़े। अथवा स्वयं कर्तव्य पूरा करके सुखप्राप्त करना पड़े। सारांश यह है कि मन्त्री-आदि अधिकारियोंका यही गुण है कि वे स्वयं राजकीय कार्य पूर्ण करके दिखाते हैं, जिससे स्वामीको कुछ कष्ट न हो और वह सुखी रहे। अन्यथा उनका होना व्यर्थ है। जिस प्रकार घास का बोझा वहनकर उसका भक्षण करने वाला हाथी सुखी नहीं हो सकता उसी प्रकार मन्त्री आदि सहा-यकोंके बिना स्वयं राजकीय कार्य-भारको वहन करने वाला राजाभी सुखी नहीं हो सकता। अतः जब विजि-गीषु राजाको योग्य अधिकारियों व सेवकोंकी सहायतासे राजकीय कार्य सुसम्पन्न करना चाहिये, तभी वह सुखी हो सकता है अन्यथा नहीं ॥४१॥ ॥४२॥

नारद^३ विद्वान्ने भी मन्त्री आदि सहायकोंके बिना स्वयं राजकीय कार्य-भारको वहन करने वाले राजाके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

सुदृ प्रकृति वाले मन्त्री आदि अधिकारी अपने २ अधिकारोंमें नियुक्त किये हुए सैन्धव जातिके घोड़ों के समान विकृत-सदोन्मत्त हो जाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार सैन्धव जातिके घोड़े योग्यता प्राप्त कर लेने

१ तथा च नारदः—मूर्खे निधोनयुक्ते तु धर्मार्थवशसा सदा । सन्वेद्योऽत्र पुनर्नृणामर्थो नरके गतिः ॥१॥

२ तथा च शुकः—स्वामिप्रसादमात्रात् न गर्वं कुदसेऽत्र यः । स नन्दति चिरं कार्यं अरयते नाधिकारतः ॥१॥

३ तथा च नारदः—स्वयमाहृत्य भुंजाना वस्त्रिनोऽपि स्वमापतः । नरेन्द्रारण गजेन्द्रारण प्रायः क्षीयन्ति केचनः ॥१॥

पर (बाह्य आदि सीख लेने पर) दमन करनेसे उन्मत्त होकर सवारको जमीनपर पटकना आदि विकार-युक्त हो जाते हैं, वसी प्रकार अधिकारी गणभी लुद्धप्रकृति-वश गर्व-युक्त होकर राज्य क्षति करने तत्पर रहते हैं, अतः राजाको सदा उनकी परीक्षा-जांच करते रहना चाहिये ॥४३॥

बादरायण^१ और भृगु^२ विद्वानोंने भी लुद्ध प्रकृति-युक्त अधिकारियोंके विषयमें यही कहा है ॥१-२॥

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, अधिकारियोंकी लक्ष्मो, समृद्ध अधिकारी व अमात्य दोष—

मार्जारेषु दुग्धरक्षणमिव नियोगेषु विश्वास-करणम् ॥४४॥ अद्विचिचतविकारिणी
नियोगिनामिति सिद्धानामादेशः ॥४५॥ सर्वोऽप्यतिसमृद्धोऽधिकारी भवत्यायत्यामसाध्यः
कृच्छ्रसाध्यः स्वामिपदाभिलाषी वा ॥४६॥ भक्षणमुपेक्षणं प्रज्ञाहीनत्वमुपरोधः प्राप्तार्था-
प्रवेशो द्रव्यविनिमयरचेत्यमात्यदोषाः ॥४७॥

अर्थ—स्वामीका मन्त्रा आदि अधिकारियों पर विश्वास करना दूधकी रक्षा रक्खे हुए बिल्लवोंके समान है । अर्थात् जिस प्रकार बिल्लवोंसे दूधको रक्षा नहीं हो सकती, वसी प्रकार मन्त्रा आदि अधिका-रियोंसे भी राजकोषकी रक्षा नहीं हो सकती, अतः राजाको उनकी परोक्षा करते रहना चाहिये ॥४४॥

भारद्वाज^३ विद्वानने भी अधिकारियोंके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

‘सम्पत्ति अधिकारियोंका चित्त विकार-युक्त (गर्व युक्त) करती है’ यह प्रामाणिक नीतिज्ञ पुरुषोंका वचन है ॥४५॥

नारद^४ विद्वानने भी कहा है कि ‘पृथ्वीपर कुलीन पुरुषभी धनाढ्य होनेपर गर्व करने लगता है ॥१॥

सभी अधिकारी अत्यन्त धनाढ्य होनेपर भविष्यमें स्वामीके वशवती नहीं होते अथवा कठिनाईसे वशमें होते हैं अथवा उसकी पद-प्राप्तिके इच्छुक होते हैं ॥४६॥

नारद^५ विद्वानने भी कहा है कि अत्यन्त धनाढ्य अधिकारीका राजाके वशमें रहना असम्भव है, क्योंकि वह इससे विपरीत राज-पदका इच्छुक हो जाता है ॥१॥

गुरु^६ विद्वानने भी कहा है कि ‘जो राज-सेवक कर्तव्य-पटु, धनाढ्य व आलसी होते हैं उनका जोंकोंके समान पूर्ण सम्पत्तिशाली होना न्याय-युक्त नहीं । अर्थात् उनका दूरिद्र रहना ही उत्तम है ।

१ तथा च बादरायणः—अश्वा यथा विकुर्वन्ति दास्यः अपि च सैन्धवाः । तथाप्यपुरुषा लोभा चेधिकारे नियोजिताः ॥१॥

२ तथा च भृगुः—परीक्षा भूभुजा कार्यो नित्यमेवाधिकारिणाम् । यस्मात्ते विहृतिं भावित्वा प्राप्य सम्पदमुत्तमां ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—मार्जारेष्विव विश्वासे यथा नो दुग्धरक्षणे । नियोगिनां नियोगेषु तथा कार्यो न भूभुजा ॥१॥

४ तथा च नारदः—तावन्न विहृतिं याति पुंसोऽपि कुलोद्भवः । यावत्समृद्धिसंयुक्ते न भवेदत्र भूतले ॥१॥

५ तथा च नारदः—अतिसमृद्धिसंयुक्तो नियोगी यस्य जायते । असाध्यो भूपतेः स स्वात्तस्यापि पदबान्धकः ॥१॥

६ तथा च गुरुः—मेध्याः कर्मसुपटवः पूर्णां कालस्त सवन्ति मे मृत्वाः । तेषां जलोक्तसामिव पूर्णां नैवाय भवता न्याय्या ॥१॥

सारांश यह है कि जिस प्रकार जोंकें पृथ्वी (भरपेट दूषित खून पीने वाली) होने पर फट जाती हैं, उसी प्रकार बुद्ध प्रकृति वाले सेवकभी अस्यन्त धनाढ्य होनेपर मदोन्मत्त होकर अपने स्वामीका अनर्थ करने तत्पर रहते हैं, अतः उन्हें दूरिद्व रखनाही न्याय-युक्त है ॥१॥

जिस सचिव-अमात्यमें निम्न प्रकार कुछ दोष पाये जावें, उसे अमात्य पदपर नियुक्त नहीं करना चाहिये । १ भ्रष्ट—राजकीय धन खानेवाला, २ उपेक्षण राजकीय सम्पत्ति नष्ट करनेवाला, अथवा धन प्राप्तिमें अनादर करनेवाला ३ प्रह्लादोन्मत्त—जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई हो, या जो राजनैतिक ज्ञान-शून्य (मूर्ख) है, ४ उपरोध—प्रभावहीन (उदाहरणार्थ-राजकीय द्रव्य हड़प करनेवाले दूसरे अधिकारियोंको देखते हुये जिसके द्वारा रोके जाने परभी वे लोग अनर्थ करनेसे न चूकें ऐसा प्रभावहीन व्यक्ति) ५ प्राप्तार्थ-प्रवेश-जो टैक्स आदि उपायों द्वारा प्राप्त हुआ धन राज-कोषमें जमा नहीं करता हो, ६ द्रव्य विनिमय-जो राजकीय बहुमूल्य द्रव्य अल्पमूल्यमें निकाल लेता हो । अर्थात् जो बहुमूल्य सिककों (असर्फी आदि) को स्वयं प्रदण करके और उनके बदलेमें अल्प मूल्य वाले सिकके (कपड़े आदि) राजकीय खजानेमें जमा कर देता हो अथवा खजानेमें प्रयत्नशील हो । सारांश यह है कि जो राजा या प्रजा उक्त दोष-युक्त पुरुषको अध-सचिव बनाती है, उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥४७॥

शुक^१ विद्वान्ने भी कहा है कि जो अमात्य दुष्ट प्रकृति-वश राजकीय धन अनेक प्रकारसे नष्ट कर डालता हो, वह राजा द्वारा त्यागने योग्य है ॥१॥

राज-तन्त्र, स्वयं देख देखके योग्य, अधिकार, राज-तन्त्र व नीवी-नक्षत्र, आयव्यय-शुद्धि और उसके विषयमें राज-कर्त्तव्य—

बहुमूल्यमनित्यं च करणं स्थापयेत् ॥४८॥ स्त्रीष्वर्थेषु च मनागप्यधिकारे न जातिसम्बन्धः ॥४९॥ स्वपरदेशजावनपेक्ष्यानित्यश्चाधिकारः ॥५०॥ आदायकनिबन्धक प्रतिबन्धकनीवीग्राहक राजाध्यक्षाः करणानि ॥५०॥

आयव्ययविशुद्धं द्रव्यं नीवी ॥५२॥ नीवीनिबन्धकपुस्तकग्रहणपूर्वकमायव्ययौ विशोधयेत् ५३ आयव्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणाकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः ॥५४॥

अर्थ—राजा या प्रजा द्वारा ऐसे राज्यतन्त्रकी स्थापना होनी चाहिये, जो बहुतसे शिष्ट अधिकारियों की बुद्धिसे संचालित हो एवं जिसमें अधिकारियों की नियुक्ति स्थायी न हो क्योंकि अकेला अधिकारी स्वेच्छासे अनर्थ भी कर सकता है एवं स्थायी नियुक्तिवाले अधिकारी राज-कोषकी क्षति करने वाले भी हो सकते हैं अतः मंत्री सेनाध्यक्ष आदि करण की नियुक्ति अनेक नीतिज्ञ शिष्ट पुरुषों सहित तथा क्रमानुसार बदलनेवाली होनी चाहिये ॥४८॥

गुरु^२विद्वान् के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

१ तथा च शुकः—यो अमात्यो राजकीयं स्व बहुधा विप्रकारयेत् । तदैव दुष्टमात्रेण स त्याज्यो साध्वो नृपैः ॥१॥

२ तथा च गुरुः—अशाश्वतं प्रकर्त्तव्यं करणं चित्तिपातकैः । बहुशिष्टं च यस्मात्तदन्वया विप्रमहकम् ॥१॥

राजा या नैतिक पुरुष अपनी स्त्रियों व धन का रक्षक किसी को न बनाये ॥४०॥

गुरु^१ विद्वान्ते भी स्त्रियों व धन-रक्षा के विषयमें यही कहा है ॥१॥

मंत्री आदि अधिकारियोंकी नियुक्ति स्वदेश व परदेश को विचार न कर अस्थायी रूपसे ऊरजी आदि^२ क्योंकि अधिकारियों की स्थायी नियुक्तिका परिणाम हानिकर होता है अर्थात् वे राजकीय धन-अपहरण द्वारा राज्य-वृद्धि कर चाहते हैं। परदेशवासी व्यक्ति जिस अधिकारीके कर्तव्य में कुशल हो, उसे उस पर अस्थायी तौर पर नियुक्त कर देना चाहिये ॥४०॥

राजाके राज्यतन्त्र संचालनार्थ निम्नप्रकार पांच करण—पंचकुल होते हैं ॥१ आदायक—व्यापारी व दुकानों से पंगी व टैक्स के जरिये द्रव्य वसूल कर राज-कोष में जमा करनेवाला कोषाध्यक्ष व निबंधक—उक्त उपाय द्वारा प्राप्त द्रव्य व भाल का हिसाब बही-आदिमें लिखनेवाला ॥२ प्रतिबन्धक—कुली आदिके मालपर या खजानेमें जमा होनेवाली वस्तुओं पर राजकीय मुहर लगाने वाला ॥३ नीची-मालक—राजकीय द्रव्यको राज कोषमें जमा करने वाला (खजानची) ॥४ राजाध्यक्ष—उक्त चारों अधिका-रियों की देख-रेख रखनेवाला प्रधान पुरुष ॥४१॥

आमदनीमेंसे उपयुक्त खर्च करनेके पश्चात् बची हुई और जाँच-पड़ताल-पूर्वक खजानेमें जमा की हुई सम्पत्ति को 'नीची' कहते हैं ॥४२॥

राजा उक्त नीची मालक—खजानची से उस वही को जिसमें राजकीय द्रव्य के आय-व्यय का हिसाब लिखा है, लेकर अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके आय-व्यय को विशुद्ध करे ॥४३॥

किसी नीतिकारने भी राजकीय सम्पत्ति की आय-व्यय राष्ट्रिके-विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

अब सम्पत्तिका आय-व्यय करनेवाले अधिकारियों में आमदनी व खर्च के विषयमें विवाद—प्रधान शक्तिवाला विरोध—वर्षास्थित होजाय तब राजाको जितेन्द्रिय व राजनीतिज्ञ प्रधान पुरुषों मंत्री आदि से विचार-परामर्श करके उसका निश्चय कर लेना चाहिये। अभिप्राय यह है कि किसी अवसर पर कारकधरा राज्यमें टैक्से-आदि द्वारा होने वाली सम्पत्ति की आय—आमदनी बिलकुल रुक गई हो और धन का व्यय अधिक होरहा हो, ओ कि आवश्यक करने योग्य प्रतीत हो जैसे राष्ट्र-कृत हमलेके समय राष्ट्रधार्मिक सैनिक शक्ति के बढ़ानेमें अधिक और आवश्यक खर्च। ऐसे अवसर पर यदि अधिकारियों में आय-व्यय संबंधी विवाद उपस्थित होजाये, तो राजाको सदाचारी व राजनीतिज्ञ शिष्ट पुरुषोंका कमीशन बैठकर उक्त विषयका निश्चय करलेना चाहिये। अर्थात् यदि महान् प्रयोजन-सद्व (विजय) होती हो तो आमदनीसे अधिक खर्च करनेका निश्चय करलेना चाहिये अन्यथा नहीं ॥४४॥

गुरु^१ विद्वान्ते भी सम्पत्तिके आय-व्यय संबंधी विवादके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

१ उक्त व गुरु—स्त्रीधर्मेषु व विज्ञेयो विद्योच जातिसम्पत्तः ॥१॥

२ उक्त व शोकः—शुद्धपुस्तक हस्ते वर पुस्तकं समचरितम्। आयव्ययो व तवस्थो यो तो वित्तस्य दुश्चिरो ॥१॥

३ उक्त व गुरु—यदा विजयविरहितं वरधत्तं प्रजायते। [अपेक्षे निश्चये वापि] साधुभ्यो निश्चयं विचार ॥१॥
संशोधित व परिचरित।

रिश्वतसे संचित धनका उपायपूर्वक ग्रहण व अधिकारियोंको धन व प्रतिष्ठाकी प्राप्ति—
 नित्यपरीक्षणं कर्मविपर्ययः प्रतिपत्तिदानं नियोगिष्वर्थोपायाः॥५५॥ नापीदित्ता नियोगिनो
 दुष्टवशा इवान्तःसारमुद्धमन्ति ॥५६॥ पुनः पुनरभियोगे नियोगेषु भूपतीनां वसुधाराः॥५७॥
 सकृन्निष्पीडितं हि स्नानवस्त्रं किं जहाति स्निग्धताम् ॥५८॥ देशमपीदृयन् बुद्धिरुषकारा-
 भ्यां पूर्वनिबन्धमाधिकं कुदन्त्यथेमानो लभते ॥५९॥

अर्थः—राजा अधिकारियोंसे रिश्वत द्वारा संचित धन निम्नप्रकार तीन उपायोंसे प्राप्त कर सकता है १ नित्य परीक्षा—अर्थात् अधिकारियोंकी जांच-पड़ताल करना। अर्थात् गुप्तचरों द्वारा उनके दोष जानकर कड़ी सजा देना। २ कर्म विपर्यय उन्हें उच्च पदोंसे पृथक् कर साधारण पदों पर नियुक्त करना, जिससे वे भयभीत होकर रिश्वत से संचित धन बताने में बाध्य हो सकें। ३ प्रतिपत्तिदान—अधिकारियोंके लिये छत्र-चमर आदि बहुमूल्य वस्तुएं भेंट देना; जिससे वे लालची हो प्रताप होकर रिश्वत द्वारा गृहीत गुप्त धन दे देंगे ॥५५॥

शुक्र विद्वान्^१ ने भी रिश्वत द्वारा गृहीत-धन-प्राप्तिके उपायोंके विषयमें इसी प्रकार कहा है।

अधिकारी लोग दुष्ट व्रण (पके हुए दूषित फोड़े) समान बिना साङ्ग-बंधन आदि किये गृहमें रक्ता हुआ रिश्वतका धन नहीं बताते अर्थात् जिस प्रकार पके हुए दूषित फोड़े शस्त्रादिद्वारा छेदन भेदन किये बिना भीतर का दूषित रक्त नहीं निकालते उसी प्रकार अधिकारी—गणभी कड़ी सजा पाये बिना रिश्वतका धन नहीं बताते ॥५६॥

नीतिकार शाण्डिक्य^२ ने भी अधिकारियोंद्वारा अप हत धन प्राप्त करनेके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥५७॥

अधिकारियोंको बार बार ऊंचे पदोंसे पृथक् करके साधारण पदोंमें नियुक्त करनेसे राजाओंको उनके द्वारा गृहीत रिश्वतका प्रचुर धन मिल जाता है। क्योंकि वे पदच्युत आदि होनेके भयसे रिश्वत धन दे देते हैं ॥५८॥

केवल एक बार धोया हुआ स्नान-वस्त्र (धोती वगैरह) क्या अपनी मलीनता छोड़ सकता है? नहीं छोड़ सकता। अर्थात् जिस प्रकार नहानेका कपड़ा बार २ पछाड़कर धोनेसे साफ होता है वही प्रकार अधिकारी वगैरह बार २ दंडित किये जानेसे संचित रिश्वत आदिका गृहीत धन दे देता है ॥५९॥

शुक्र^३ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥६०॥

जो अधिकारी (अमात्य आदि) देशको पीड़ित नहीं करता (अधिक चूंगी व टैक्स द्वारा प्रजाको कष्ट नहीं देता) १. अपनी बुद्धि-पटुता व सयोगशीलता द्वारा राष्ट्रके पूर्व व्यवहारको विशेष उन्नतिरहित

१ तथा च शुक्रः—विद्वान्मेवैवतो ज्ञानो नियोगिजनसम्भवः। अधिकारविपर्ययात् प्रतिपत्तेस्तथापरः ॥५५॥

२ तथा च शाण्डिक्यः—शान्त्याधिकारियो विपत्तमन्तःसारं वदन्ति नो। निपीड्यन्ते न ते बाधद् गालं दुष्टवशा इव ॥५६॥

३ तथा च शुक्रः—यथाहि स्नानजं वस्त्रं सकृत् प्रक्षालितं न हि। निर्मलं स्थान्नियोगी च सकृद्वरणे न शुद्ध्यति ॥५९॥

बनाता है। अर्थात् राष्ट्र संबंधी कृषि व वाणिज्य आदिकी पूर्वापेक्षा विशेष उन्नति करके दिखाता है उसे स्वामी द्वारा धन व प्रतिष्ठा मिलती है ॥५६॥

शुक^१ विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही आशय है ॥१॥

योग्यतानुसार नियुक्ति, कार्योपयोगी गुण तथा समर्थन व अधिकारी का कर्तव्य—

यो यत्र कर्मणि कुशलस्तं तत्र विनियोजयेत् ॥६०॥ न खलु स्वामिप्रसादः सेवकेषु कार्यसिद्धिनिबन्धनं किन्तु बुद्धिपुरुषकाराविव ॥६१॥ शास्त्रविदप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत् ॥६२॥

अनिवेद्यमतुर्ने किंचिदारम्भं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः ॥६३॥

अर्थः—जो अधिकारी जिस पदके कर्तव्य पालनमें कुशल हो, उसे उस पद पर नियुक्त कर देना चाहिये ॥६०॥ निश्चयसे स्वामीके प्रसन्न रहनेसे ही सेवक लोग कार्यमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु जब उनमें कार्योपयोगी बुद्धि व पुरुषार्थ (उद्योग) गुण होंगे तभी वे कर्तव्यमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं ॥६१॥ शास्त्रवेत्ता विद्वान् पुरुष भी जिन कर्तव्योंसे परिचित नहीं है, उनमें मोह (अज्ञान) प्राप्त करता है ॥६२॥

भृगु^२ विद्वान् ने भी कर्तव्य-कुशलतासे शून्य अधिकारीके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

असह्य संकट दूर करनेके सिवाय दूसरा कोई भी कार्य सेवक को स्वामीसे निवेदन किये बिना नहीं करना चाहिये। अर्थात् पुत्र-कालीन शत्रु-कृत उपद्रवों का नाश सबको स्वामीसे बिना पूछे कर देना चाहिये इसके सिवाय उसे कोई भी कार्य स्वामी की आज्ञा बिना नहीं करना चाहिये ॥६३॥

भागुरि^३ विद्वान् के उद्धरणसे भी इसी प्रकार अधिकारी का कर्तव्य प्रतीत होता है ॥१॥

अचानक धन मिलने पर राज-कर्तव्य अधिक मुनाफाखोर व्यापारियोंके प्रति राजकर्तव्य व अधिकारियों में परस्परिक कलहसे लाभ—

सहसोपचितार्थो मूलधनमात्रेणावशेषयितव्यः ॥६४॥ मूलधनाद् द्विगुणाधिको लाभो भाग्यदो-
त्यो यो भवति स राज्ञः ॥६५॥ परस्परकलहो नियोगेषु भूभुजा निधिः ॥६६॥

अर्थः—राजा अचानक मिला हुआ धन (लाभारिस मरे हुए धनाहण व्यक्तियोंको भाग्याधीन मिली हुई सम्पत्ति) खजाने में स्थापित कर उसकी वृद्धि करे ॥६४॥

अत्रि^४ विद्वान् ने भी अधिकारियोंसे प्राप्त हुई भाग्याधीन सम्पत्तिके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

१ तथा च शुकः—यो देशं रक्षयन् यत्नात् स्वबुद्ध्या पीडयेत् च । निबन्धान् बर्द्धयेद्वाङ्गः सचिरं मानमाप्नुयात् ॥१॥

२ तथा च भृगुः—येन यन्त्र कृतं कर्म स तस्मिन् योजितो नृप । नियोगी मोहमावाति यद्यपि स्वाद्विषयः ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—न स्वामियचनाद् बाह्यं कर्म कार्यनियोगिना । अपि व्यवपारं यन्त्र मुक्ता शत्रुसमागमम् ॥१॥

४ तथा च अत्रिः—अचिन्तितस्तु लाभो यो नियोगाद्यस्तु जायते । स कोशे संनिबोध्यतश्च येन तत्त्वाधिकं भवेत् ॥१॥

जब व्यापारी लोग बर्तनों आदिके व्यापारमें मूलधनसे दूनेसे भी अधिक धन कमाते हों तब राजा को व्यापारियोंके लिये मूल धनसे दूना धन देकर अधिक धन जम्मा कर लेना चाहिये। क्योंकि व्यापारी गण इतना अधिक मुनाफा छल-कपट व चोरी आदि कुमार्गका अनुसरण किसे बिना नहीं कर सकते ॥६५॥

शुक^१ विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥२॥

अधिकारियोंमें आपसी फूट—लड़ाई भगड़ा होनेसे राजाओं को खजाने के मिलने समान महा लाभ होता है, क्योंकि ऐसा होनेसे अधिकारी वर्ग राजाके समुद्र एक दूसरे का अपराध प्रकट कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप दण्डित किये जाने पर वे लोग रिश्वत द्वारा हथप किया हुआ धन बता देते हैं ॥६६॥

गुरु^२ विद्वान् ने भी अधिकारियोंके पारस्परिक विरोधसे राजाओंको महान आर्थिक लाभ निर्दिष्ट किया है ॥१॥

धनारण्य अधिकारियोंसे लाभ, संग्रह करने योग्य मुख्य वस्तु धान्य संचयका माहात्म्य व विर-
स्थायी धान्य—

नियोगिषु लक्ष्मीः द्वितीश्वराणां द्वितीयः कोशः ॥६७॥ सर्वसंग्रहेषु धान्यसंग्रहो महान्, यत-
स्तन्निबन्धनं जीवितं सकलप्रयासश्च ॥६८॥ न खलु सुखे प्रक्षिप्तः स्वरोऽपि द्रव्यः प्राणप्रा-
णाय यथा धान्यं ॥६९॥ सर्वधान्येषु चिरजीविनः कोद्रवाः ॥७०॥

अर्थः—अधिकारियोंकी सम्पत्ति राजाओंका दूसरा खजाना है क्योंकि उनके ऊपर संकट पड़ने पर अधिकारियोंकी सम्पत्ति उनके काम आजाती है ॥६७॥

नारद^३ विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

समस्त हाथी-घोड़े-आदिके संग्रह में से अन्न-संग्रह उत्तम माना गया है क्योंकि वह प्राणियोंके जीवन-निर्वाह का साधन है, एवं जिसके कारण मनुष्योंको ऊषि आदि जीविकोपयोगी कार्यों में कष्ट उठाना पड़ता है ॥६८॥

भृगु^४ विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार भक्षण किया हुआ धान्य प्राण-रक्षा कर सकता है, उस प्रकार निश्चय से बहुत मुख्य सुवर्णका खिन्का मुसमें रक्खा हुआ प्राणरक्षा नहीं कर सकता ॥६९॥

१ तथा च शुकः—यदि मूलधनाव कश्चिद् द्विगुणान्धधिकं लभेत् । ततश्च मूलाद्विगुणं दत्त्वा शेषं गृपस्य हि ॥१॥

२ तथा च गुरुः—नियोगिनां मिथो यावो राजा पुण्यैः प्रजायते । यतस्तेषां विवादे च लाभः स्वात्मपतेर्बहुः ॥१॥

३ तथा च नारदः—यैश्च भृत्यगता संपत् सैव सपञ्चमीपतेः । यतः कार्ये समुत्पन्ने निजोपस्थां समानयेत् ॥१॥

४ तथा च भृगुः—सर्वेषां संग्रहाणां च शस्योऽन्नस्य च संग्रहः । यतः सर्वोपि मृतानि विहरन्ति च तदर्थतः ।

गर्ग^१ विद्वान् ने भी धान्यके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

समस्त धान्यों में कोदों चिरस्थायी (धुण न लगने वाले) होते हैं, अतः उनका संग्रह करना चाहिये ॥७०॥

भारद्वाज^२ विद्वान् ने भी झिलकों वाले धान्य व कोदों को चिरस्थायी बताया है ॥१॥

संचित धनका उपयोग, ध्यान व संग्रह करने योग्य रस व क्षवण का माहात्म्य—

अनर्घं नवेन वर्द्धयितव्यं व्ययितव्यं च ॥७१॥ लवणसंग्रहः सर्वरसानामुत्तमः ॥७२॥ सर्वरस-
मयमप्यममलवणं गोमथायते ॥७३॥

अर्थः—पुरानी संचित धान्य व्याजून (फसलके मौके पर कृषकोंको बाढ़ी में देना) देकर बरतनेमें नवीन धान्य के आय द्वारा बढ़ानी चाहिये और व्याज द्वारा प्राप्त हुयी धान्य खर्च करते रहना चाहिये, ताकि मूलधन की हानि न हो सके ॥७१॥

वशिष्ठ^३ विद्वान् ने भी पुरानी संचित धान्यको व्याजून देनेके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

समस्त घृत व तेल प्रभृति रसोंके संग्रहमें नमक संग्रह उत्तम है अतः बिबेकी पुरुष वसका संग्रह करे क्योंकि नमक के बिना सब रसोंसे युक्त अन्न भी गोबर समान अवधिकर लगता है ॥७२—७३॥

हारीत^४ विद्वान्के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

इति अमात्य समुदेश ।



१ तथा च गर्गः—प्रमृतेषु लो द्वयैः प्राक्तप्राक्तं विधीयते । सुके चित्ते वधादेन स्वकृतेनापि विधीयते ॥१॥

२ तथा च भारद्वाजः—सुवचान्त्वानि सर्वाणि कोद्वचप्रवृत्तीनि च । चिरजीवीनि तान्धातुस्तेषां युतः सु संग्रहः ॥१॥

३ तथा च वशिष्ठः—अनर्घं वज्रवेत् सत्त्वं तज्जवेन विचर्द्धयेत् । दृष्ट्वा प्राप्यो भवेद्यस्तु सत्यं तेषां अन्यो युवैः ॥१॥

४ तथा च हारीतः—स्वाग्रसैः पञ्चभिर्भुंक्तं क्षवणैर्नोत्तिष्ठति यदि । विद्धा तद्गोमथास्वादं [पुदीत्या वृत्तिनाप्युत्तर] ॥१॥

संकोचित व नवीन रसिक—अमलवण—

१६—जनपद-समुद्देश

देशके नामों— राष्ट्र, देश, विषय, मण्डल, जनपद, दारक व निर्गम शब्दोंकी सार्थक व्याख्या—

पशुधान्यहिरण्यसंपदा राजते इति राष्ट्रम् ॥१॥ भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशतीति देशः ॥२॥
विविधवस्तुप्रदानेन स्वामिनः सत्त्वानि राजान् राजिनश्च विषिणोति बध्नातीति विषयः ॥३॥
सर्वकामधुक्त्वेन नरपतिहृदयं मण्डयति भूषयतीति मण्डलम् ॥४॥ जनस्य वर्णाश्रमलक्षणास्य
द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥५॥ निजापतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रु हृदयानि दारयति
मिनतीति दारकम् ॥६॥ आत्मसमृद्ध्या स्वामिनं सव्यसनेभ्यो निर्गमयतीति निर्गमः ॥७॥

अर्थ—क्योंकि देश गाय भैंस-आदि पशु गेहूँ-चावल प्रभृति अन्न व सुवर्ण-आदि सम्पत्तिसे शोभायमान होता है, इससे इसकी 'राष्ट्र' संज्ञा है ॥१॥

भागुरि^१ विद्वान् ने भी देश को पशु, धान्य, चाँवा-लोहा प्रभृति धातु व वर्तनोंसे सुशोभित होने के कारण 'राष्ट्र' कहा है ॥१॥

यह स्वामी को सैन्य-कोषकी वृद्धि देता है, अतः इसकी 'देश' संज्ञा है ॥२॥

शुक्र^२ विद्वान् ने भी देश शब्दकी यही सार्थक व्याख्या की है ॥१॥

क्योंकि यह नाना प्रकारकी सुवर्ण-धान्यादि वस्तुएँ प्रदान कर राज-महल में हाथी घोड़े बांधवा है, अतः इसे 'विषय' कहते हैं ॥३॥

शुक्र^३ विद्वान् ने भी 'विषय' शब्दकी यही व्याख्या की है ॥१॥

क्योंकि यह समस्त मनोरथोंकी पूर्ति द्वारा राजाके हृदयको असंकुत करता है, इसलिये इसे मण्डल कहते हैं ॥४॥

शुक्र^४ विद्वान् के उद्धरणसे भी 'मण्डल' शब्दका यही अर्थ प्रतीत होता है ॥१॥

क्योंकि देश वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) और आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और वृद्ध) में वर्तमान प्रजाजनोंका निवास-स्थान अथवा जनका उत्पत्ति-स्थान है अतः इसे 'जनपद' कहते हैं ॥५॥

१ तथा च भागुरि :— पशुभिर्विविधैर्धान्यैः कुप्यसाहसैः पृथग्विधैः । राजते येन लोकेऽत्र तद्राष्ट्रमिति कोर्णसे ॥१॥

२ तथा च शुक्रः— स्वामिनः कोशवृद्धिं च सैन्यवृद्धिं तथा पशून् । यस्मादिशति नित्यं स तस्मादेश उवाच ॥२॥

३ तथा च शुक्रः— विविधान् राजान् गात्रं स्वामिसत्त्वमिति तस्मात् । सिनोति च यत्तस्मात्सर्वविषयः प्रोच्यते कुर्षः ॥३॥

४ तथा च शुक्रः— सर्वकामसमृद्ध्या च पृपतेर्हृदयं यतः । मण्डनेन समा युक्तं कुरुतेऽमेन मण्डलम् ॥४॥

शुक्र^१ विद्वानने भी 'जनपद' शब्दकी यही व्याख्या की है ॥१॥

क्योंकि देश अपने स्वामी की उन्नति करके राष्ट्र हृदयोंको विदीर्ण करता है अतः इसे 'दारक' कहा है ॥६॥

जैमिनि^२ विद्वानने कहा है कि 'देश बहुतसे ऊंटों द्वारा अपने स्वामीकी उन्नति करके राष्ट्र हृदयोंको विदीर्ण करता है अतः उसे 'दारक' कहते हैं ॥१॥

क्योंकि यह अपने धनादि वैभव द्वारा स्वामीको समस्त आपत्तियोंसे छुड़ाता है अतः इसे विद्वानों ने 'निर्गम' कहा है ॥७॥

शुक्र^३ विद्वानने भी निर्गम शब्दकी यही सार्थक व्याख्या की है ॥१॥

देशके गुण व दोष—

अन्योऽन्यरक्षकः खन्याकद्रव्यनागधनवान् नातिवृद्धनातिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्य-
हिरण्यपरायोत्पत्तिरदेयमातृकः पशुमनुष्यहितः श्रेणिशूद्रकषकप्राय इति जनपदस्य गुणाः ॥८॥
विषतृणोदकोषरपाषाणकण्टकगिरिगर्तगङ्गरप्रायभूमिभूर्निर्वर्षा जीवनो व्याल-सुन्धकम्लेच्छबहुलः
स्वल्पसस्योत्पत्तिस्तरुफलाधार इति देशदोषाः ॥९॥

तत्र सदा दुर्मिच्छमेव, यत्र जलदजलेन सस्योत्पत्तिरकृष्टभूमिरचारम्भः ॥१०॥

अर्थ—देशके निम्नप्रकार गुण होते हैं । १ परस्परकी रक्षा करने वाला—जहाँपर राजा देशकी और देश राजाकी रक्षा करता हो । २ जो सुवर्ण, रत्न चांदी, ताँबा, व लोहा-आदि धातुओंकी तथा गन्धक-नमक-आदि खनिज द्रव्योंकी खानियोंसे युक्त एवं रुपया असर्फी-आदि धन और हाथी-रूप धन से परिपूर्ण हो । ३ जिसके ग्रामोंकी जन संख्या न बहुत बढ़ी हुई और न बहुत कम हो । ४ जहाँपर बहुतसे उत्तम पदार्थ, नाना भाँतिके अन्न, सुवर्ण, और व्यापारियोंके खरीदने व बेचने योग्य वस्तुएँ पाई जाती हों । ५ जो मेघ-अलकी अपेक्षा से रहित हो—जहाँ रवट व चरसोंके जलसे खेती होती हो । ६ जो मनुष्य व पशुओंको सुख देने वाला हो ।

७ जहाँपर बड़े जुलाहा, नई घोड़ी, व चमार-आदि शिल्प-शूद्र तथा किसान बहुसंख्यासे वर्तमान हों सारांश यह है कि जिस देशमें एक गुण पाए जाते हैं, वह सुखी रहता है ॥८॥

देशके निम्न प्रकार दोष होते हैं जिनसे वह निवनीय समझा जाता है । १ जिसका पास पानी रोग-जनक होनेसे विष समान हानिकारक हो, २ जहाँकी जमीन ऊपर—पास अन्नकी उपजसे शुष्क हो, ३ जहाँ की जमीन विशेष पथरीली, अधिक कंटकाकीर्ण तथा बहुत पहाड़, गड्ढे और गुफाओंसे व्याप्त हो ४ जहाँ

१ तथा च शुक्रः—बर्णाध्यायां सर्वेषां द्रव्योत्पत्तेरथ वा पुनः । अस्मात् स्थानं भवेत् सोऽथ तस्माज्जनपदः स्वरूपः ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—भर्तुः स्वर्णदानेन राष्ट्रं हृदयं यतः । दारका दारयन्तिस्म प्रभूता दारकं ततः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—प्रोक्षावपत्ति यो विदीर्णः स्वामिनस्तदायः । स्वसन्नेभ्यः प्रभूतेभ्यो निर्गमः स इहोच्यते ॥१॥

पर बहुवर्षी जल-वृष्टि द्वारा प्रजाजनों का जीवन (धान्यकी उपज) होता हो ५ जहाँपर बहुलतासे सब, भील और गोरों का निवास हो ।, ६ जिसमें बोझोसी धान्य (अन्न) उत्पन्न होती हो ।, ७ जहाँके लोग धान्य की उपज कम होनेके कारण वृष्टीके फलों द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हों ॥१६॥

जिस देशमें मेघोंके जल द्वारा धान्य उत्पन्न होती है और खेती कर्षण-क्रियाके बिना होती है, अर्थात् जहाँ कछारोंकी पथरीली जमीनमें बिना हल जोते हो बीज बखेर दिये जाते हैं, वहाँ सदा अकाश रहता है । क्योंकि मेघों द्वारा जल वृष्टि का यथासमय व उचित परिमाणमें होना निश्चित नहीं रहता एवं कर्षण क्रियाकी अपेक्षा शून्य पथरीली जमीनभी ऊपर जमीन समान उपज-शून्य अथवा बिल्कुल कम उपजाऊ होती है, अतः ऐसे देशमें सदा अकाश होना निश्चित ही है ॥१७॥

शुच^१ विद्वान्के वदरथका भी वही अभिप्राय है ॥१८॥

कृत्रिय व ग्राह्योंकी अधिक संख्या-युक्त ग्रामोंसे हानि व परदेश-प्राप्त स्वदेशवासी के प्रति राज-कर्तव्य—

कृत्रियप्राया हि ग्रामाः स्वभ्यास्वपि बाधासु प्रतिबुद्ध्यन्ते ॥१९॥ क्रियमाणोऽपि द्विज-
लोको न तस्य सान्त्वेन क्षिप्रमप्यहं प्रगच्छति ॥२०॥ स्वभूमिर्न युक्तपूर्वमयुक्तं वा
जनपदं स्वदेशमिहृत्स्वं दानमानाभ्यां परदेशादावहेत् वासयेच्च ॥२१॥

अर्थ—जिन ग्रामोंमें कृत्रिय शूरवीर पुरुष अधिक संख्यामें निवास करते हैं वहाँपर वे लोग बोधी सी पीड़ाओं—आपसी विरक्तार आदिसे होने वाले कठोंके होने पर आपसमें लड़ मरते हैं—अनर्थ कर बैठते हैं ॥१९॥

शुच^२ विद्वान्ने भी कृत्रियोंकी बाहुल्यता-युक्त ग्रामोंके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१९॥

ग्राह्य लोग अधिक क्रय—खोमी होनेके कारण राजाके लिये देनेयोग्य टेक्स आदिका धन प्राप्त करने परमी बिना दण्डके शान्तिसे नहीं देते ॥२०॥

शुच^३ विद्वान्के वदरथका भी वही अभिप्राय है ॥२१॥

राजाका कर्तव्य है कि वह परदेशमें प्राप्त हुए अपने देशवासी मनुष्योंको, जिससे कि इसने पूर्वमें कर—टेक्स ग्राह्य किया हो अथवा न भी किया हो, दान सम्मानसे वशमें करे और अपने देशके प्रति

१ कथा च शुचः—मैत्रेयनाम्नसा वत्त सत्त्वं च न प्रैमितकम् । सर्वैश्च वत्त दुर्मितं कुन्दारम्भो न वत्त च ॥१८॥

२ 'दुर्मितं कुन्दारम्भं वा जनपदं स्वदेशमिहृत्स्वं दानमानाभ्यां परदेशोपचादनेन वा वासयेत्' इस प्रकारका वाक्यकार दू-
प्रतिबोधोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि राजा परदेशवासी व उपद्रवकारी मनुष्योंको जो कि इसके देशमें रहना चाहता है, दानमान पूर्वक दूसरे देशमें भेज देवे । क्योंकि ऐसा करनेसे प्रजा परदेशवासी प्रजाके उपद्रवोंसे सुरक्षित रहती है ।

३ कथा च शुचः—वत्तमिह कृत्रिया वेत्तु प्रान्तेष्वतिमिरगांवाः । स्वभ्यामपराधतोऽप्येव तेषु शुचं न शान्ति ॥१९॥

४ कथा च शुचः—ग्राह्यैर्भक्षितो बोध्यो व स सान्त्वेन शान्ति । धान्यं दण्डपादप्य'सेवां च क्षिपते नृपैः ॥२०॥

अनुरागी बनाकर उसे वहाँसे लाकर अपने देशमें बसावे। सारांश यह है कि अपने देशवासी, शिष्ट व उद्योगशील पुरुषको परदेशसे लाकर बसानेसे राष्ट्रकी जन-संख्या-वृद्धि, व्यापारिक उन्नति, राजकोषकी वृद्धि एवं गुप्त रहस्य-संरक्षण आदि अनेक लाभ होते हैं, जिसके फल स्वरूप राज्यकी श्रीवृद्धि होती है ॥१३॥

शुक्र^१ विद्वान्ने भी परदेशमें प्राप्त हुए स्वदेशवासी मनुष्यके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥१॥

शुक्रस्थानवर्ती अन्यायसे हानि, कृत्वी धान्य फसल कटाने व पकी हुई धान्यमेंसे सेना निकासनेका परिणाम—

स्वल्पोऽप्यादायेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति* ॥१४॥ वीरिषु कणिशेषु सिद्धादायो जनपदमुद्रासयति ॥१५॥ लघनकाले सेनाप्रचारो दुर्मिद्यमावहति ॥१६॥

अर्थ—जो राजा धनकी आमदनीके स्थानों (चुंगीघर आदि) में व्यापारियोंसे बोझा भी अन्याय का धन ग्रहण करता है—अधिक टैक्स लेता है उसे मदान आर्थिक हानि होता है, क्योंकि व्यापारियोंके कय-विकयके मूल पर अधिक टैक्स लगानेसे वे लोग उसके भयसे घृण्य होकर व्यापार बंद कर देते हैं या छल-कपट पूर्ण करता करते हैं जिसके फलस्वरूप राजाकी अधिक हानि होती है ॥१४॥

शुक्र^२ विद्वान्ने भी शुक्रस्थानोंमें प्रवृत्त होनेवाली अन्याय-मवृत्ति के विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जो राजा लगान न देने कारण किसानों की अपरिपक्व (बिना पकी हुई) धान्य मक्कजरी—गेहूँ चावल आदि की कृत्वी फसल—कटाकर ग्रहण कर लेता है, वह उन्हें दूसरे देशमें भगा देता है, जिससे राजा व कृषक आर्थिक संकट भोगते हैं, अतः राजाको कृषकोंके प्रति ऐसा अन्याय करना उचित नहीं है ॥१५॥

शुक्र^३ विद्वान्ने संगृहीत श्लोकका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो राजा पकी हुई धान्यकी फसल काटते समय अपने राष्ट्रके खेतोंमें से हाथी घोड़े आदिकी सेना निकासता है उसका देश अकाल-पीड़ित हो जाता है। क्योंकि सेना धान्य—फसलका सत्यानाश कर सकती है, जिससे अन्नके अभावसे देशमें अकाल हो जाता है ॥१६॥

१ उक्त व शुक्र—परदेशगतं लोकं विजयेते समानयेत् । भुक्तपूर्वमभुक्तं वा सर्वदेव महीपतिः ॥१॥

उक्त 'स्वल्पोऽपि राष्ट्रेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति' वैया पाठान्तर सू० प्रसिद्धिमें वर्तमान है, जो कि पूर्वोक्त १३ में शुक्रके पाठान्तरका समर्थक है, जिसका अर्थ यह है कि जब देशोंकी प्रजा परदेशकी दुष्ट प्रजा द्वारा क्रांती भी दीवित की जाती है, वहाँ पर राजाको महान् आर्थिक-हानि होती है, क्योंकि परदेशी आठ्ठाधिकी बुद्धी द्वारा लपटें हुई प्रजा राजासे एकदम असंतुष्ट व घृण्य हो जाती है, जिससे राजकीय आर्थिक क्षति अधिक होती है।

२ उक्त व शुक्र—भुक्तवस्थानेषु कोऽन्यायः स्वल्पोऽपि च प्रवर्तते । तत्र नाशक्यते कश्चिद्भुज्यवहारी कर्मधन ॥१॥

३ उक्त व शुक्र—वीरिषु कानि धान्यानि चो दृष्ट्वाति महीपतिः । कर्ष-श्रमायां करोत्यन्न विदेकफलं हि सः ॥१॥

जैमिनि* विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

प्रजाको पीड़ित करनेसे हानि, पहिलेसे टेक्ससे मुक्त मनुष्योंके प्रति राजकर्तव्य, मर्यादा उल्लंघन से हानि, प्रजाकी रक्षाके उपाय व न्यायसे सुरक्षित राष्ट्रके शुल्कस्थानोंसे लाभ—

सर्वबाधा प्रजानां कोशं पीडयति* ॥१७॥ दत्तपरिहारमनुगृहीयात् ॥१८॥ मर्यादाति-
क्रमेण फलवत्यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी ॥१९॥ चीनजनसम्भावनं तृणशलाकाया अपि स्वयम-
ग्रहः— कदाचित्किंचिदुपजोवनामांति परमः प्रजानां बधेनोपायः ॥२०॥ न्यायेन रक्षिता
पण्यपुटभेदिनी पिष्टा राज्ञां कामधेनुः × ॥२१॥

अर्थ—जो राजा अपनी प्रजाको समस्त प्रकारके कष्ट देता है—अधिक टेक्स आदि लगाकर प्रजाको पीड़ित करता है, उसका खजाना नष्ट हो जाता है। क्योंकि पीड़ित प्रजा असंतुष्ट होकर एकदम राजासे बगावत कर देती है जिसके फलस्वरूप राजकीय खजाना खाली हो जाता है ॥१७॥

मग* विद्वान्ने भी टेक्स द्वारा प्रजाको पीड़ित करनेवाले, राजाकी इसीप्रकार हानि निर्दिष्ट की है ॥१८॥

राजाने जिनको पू्यमें टेक्स लेनेसे मुक्त कर दिया है, उनसे वह फिरसे टेक्स न लेकर उनका अनु-
ग्रह करे, क्योंकि इससे उसकी वचन-प्रतिष्ठा व कीर्ति होती है ॥१९॥

नारद* विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥२०॥

मर्यादा—लोकव्यवहार—का उल्लंघन करनेसे धन-धान्यादिसे समृद्धिशाली भूमिभी जंगल समान फल-शून्य हो जाती है; अतः विवेकी मनुष्य व राजाको मर्यादा (नैतिक प्रवृत्ति) का उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥२१॥

१ तथा च जैमिनिः—सस्यानां परिपक्वानां समये यो महोपतिः । सैम्यं प्रचारयेत्तच्च बुभिक्षं प्रकरोति सः ॥१॥

सर्वा बाधाः प्रजानां कोशं कर्षयन्ति ऐसा पाठान्तर मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि पूर्वमें कही हुई (कृष-
कोंके खेतोंमेंसे सेना निकालना-आदि) व न कही हुई बाधाओं—प्रजाको दी गई पीकाओं—से प्रजाकी सम्पत्ति नष्ट होती है ॥१७॥

—‘स्वयं’ संप्रहः ऐसा पद मू० प्रतियोंमें है जिससे उक्त सूत्रका यह अर्थ होता है, कि जिस प्रकार तृणसंग्रह भी कभी उपयोगी होता है, उसी प्रकार दूरिद्र व्यक्ति भी कभी उपयोगी होता है, अतएव राजाको दूरिद्र (निर्धन) प्रजाको धनसे सहायता करनी चाहिये, शेषार्थ पूर्ववत् समझना चाहिये ।

× ‘न्यायेन रक्षिता पण्यपुटभेदिनी राज्ञां कामधेनुः’ इस प्रकारका पाठ मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि न्याय सुरक्षित कदा योग्य टेक्स-आदि लिया जाता है और व्यापारियोंके क्रय-विक्रय योग्य वस्तुओंसे व्याप्त नगरी काम धेनु समान राजाओंके मनोरथ पूर्ण करती है ॥२१॥

२ तथा च गर्गः—प्रजानां पीडनाद्विही न प्रभूतं प्रजायते । भूपतीनां ततो माह्यं प्रभूतं येन तद्भवेत् ॥१॥

३ तथा च नारदः—अकरा ये कृताः पूर्वं तेषां माह्यः करो न हि । निजवाक्यप्रतिष्ठार्थं भूभुजा कीर्तिमिच्छता ॥१॥

शुक^१ विद्वान्ने भी मर्यादा उल्लंघन न करनेवाले राजाके विषयमें इसप्रकार कहा है ॥१॥

प्रजाकी रक्षा करनेके निम्न प्रकार हैं । (१) धन नष्ट हो जानेसे विपत्तिमें फंसे हुये (दरिद्र) कुटुम्बी-जनोकी द्रव्यसे सहायता करना । (२) प्रजासे अन्याय पूर्वक दण्डमात्रभी अधिक टेक्स वसूल न करना—न्यायपूर्वक उचित टेक्स लेना अथवा दरिद्रतावश—आपत्तिमें फंसे हुई प्रजासे दण्डमात्रभी टेक्स न लेना । (३) किसी समय (अपराध करने पर)-अपराधानुकूल दंड-विधान करना ॥२०॥

नारद^२ विद्वान्ने भी लोक-रक्षाके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

राष्ट्रके शुल्क-स्थान (प्रधान शहर और बड़े २ कृषिप्रधान ग्राम), जो कि न्यायसे सुरक्षित होते हैं (जहाँपर अधिक टेक्स न लेकर न्यायोचित टेक्स लिया जाता हो तथा चोरों-आदि द्वारा चुराई हुई प्रजाकी धनादि वस्तु वापिस दे दी जाती हो) और जहाँपर व्यापारियोंकी खरीदने और बेचने योग्य वस्तुओं (केसर, हींग वस्त्रादि) की अधिक संख्यामें दुकानें हों, वे राजाओंको कामधेनु समान अभिलक्षित वस्तु देने वाले होते हैं । क्योंकि शुल्कस्थानोंसे राजा टेक्सके जरिये प्रचुरसम्पत्ति संकलन कर शिष्ट-पालन व दुष्टनिग्रहमें उपयोगी सैनिक-विभाग, शिक्षा विभाग व स्वास्थ्य-विभाग आदिको उन्नति करनेमें समर्थ होता है, एवं राष्ट्रको शत्रु-कृत उपद्रवोंसे सुरक्षित हुआ खजानेकी वृद्धि करता है । परन्तु शुल्कस्थान न्यायसे सुरक्षित होने चाहिये, अन्यथा प्रजा असंतुष्ट और क्रुद्ध हो जाती है, जिसका परिणाम भयङ्कर होता है—आयके द्वार रुक जानेसे कोष-क्षति व शत्रुकृत उपद्रवों द्वारा राज्य नष्ट होता है ॥२१॥

शुक^३ विद्वान्ने भी शुल्कस्थानोंको न्यायसे सुरक्षित रखनेके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

सेना व राजकोषकी वृद्धिके कारण, विद्वान् व ब्राह्मणोंको देने योग्य भूमि, भूमि-दान व तालाब दान आदिमें विशेषता अथवा वादविवादके उपरान्त न्यायोचित निष्णय—

राज्ञा चतुरंगबलामिदृश्ये भूयांसो भक्ताग्रमाः ॥२२॥ सुमहच्च गोमयदलं विरण्याव
युक्तं शुल्कं कोशवृद्धिहेतुः ॥२३॥ देवद्विजप्रदेया गोरुतप्रमाणा भूमिर्दातुरादातुरश्च शुल्क-
निर्वाहा ॥२४॥ चेत्रवप्रखण्डधर्मायतनानामुत्तरः पूर्वं बाधते न पुनरुत्तरं पूर्वः ॥२५॥

१ तथा च शुकः—मर्यादातिक्रमो यस्यां भूमौ राज्ञः प्रजापते । समुद्रापि च सा द्रव्यैर्जायतेऽरयवसन्निभा ॥१॥

२ तथा च नारदः—[चिन्तनं क्षीय विज्ञानां] स्वप्राहस्य विषयम् । युक्तदं च लोकानां परमं वृद्धिकारकम् ॥१॥

सप्तो० परि० ।

३ तथा च शुकः—प्राज्ञं नैवाधिकं शुल्कं चौरैश्चञ्चाकृतं मवेत् । पित्र्यैर्भूमिजा येन बाधजा तत् स्वकोशतः ॥१॥

✽ इसके पश्चात् सू० प्रतियोंमें 'नामुद्रहस्तो०' श्रूयते हि किल० व 'क्षेपकखण्ड०' इन दोनों सूत्रोंका उल्लेख है, जो कि त्वं टी० पुस्तकके दुर्म-समुद्देशमें वर्तमान है, उनका अनुवाद वहाँ किया जावेगा । इसके सिवाय सू० प्रतियोंमें 'न हि भर्तु रमिषोगात् परः सर्वजनविद्युद्विहेतुरस्ति' इस प्रकारका अधिक पाठ वर्तमान है; जिसका अर्थ यह है कि राजा द्वारा दिये जाने वाले अपराधानुकूल दंड-विधान रूप न्यायसे राष्ट्रकी समस्त प्रजा किन्तु रहती है—भीति मार्ग पर आरुढ़ रहती है, इसके सिवाय प्रजाकी विशुद्धिका दूसरा कोई उपाय नहीं ।

अर्थात्—राजा ज्यादा धान्यकी उपजवाले बहुतसे ग्राम जो कि उसकी चतुरंग सेना (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल) की वृद्धिके कारण हैं, उन्हें किसी को न देवे ॥२२॥

शुक^१ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

बहुतसा गोमयबल—गाय-देलोंका समूह, सुवर्ण और चुंगी-टेक्स (लगान) आदि द्वारा प्राप्त हुआ धन राज-कोषकी वृद्धिका कारण है ॥२३॥

शुक^२ विद्वान्ने भी राजकोषकी वृद्धिके उक्त कारण निरूपण किये हैं ॥१॥

राजा द्वारा विद्वान् और ब्राह्मणोंके लिये इतनी थोड़ी भूमि दानमें दी जानी चाहिये, जिसमें गायके रम्हानेका शब्द सुनाई पड़े; क्योंकि इतनी थोड़ी भूमि देनेसे दाता और पात्र (महण करने वाला) को सुख मिलता है। अर्थात् दाता भी दरिद्र नहीं होने पाता एवं कोई राजकीय अधिकारी उतनी थोड़ीसी जमीन पर कम्जा नहीं कर सकता ॥२४॥

गौतम^३ विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

क्षेत्र, तालाब, कोट, गृह और मन्दिरका दान इन पांच चीजोंके दानोंमें आगे आगेकी चीजोंका दान पूर्वके दानको बाधित कर देता है। अर्थात् हीन-(गौण) समझा जाता है। परन्तु पहिली वस्तुका दान आगेकी वस्तुके दानको हीन नहीं करता। अर्थात् क्षेत्र(खेत) के दानकी अपेक्षा तालाबका दान उत्तम है, इसी प्रकार तालाब-दानसे कोट-दान, कोट-दानसे गृह-दान और गृह-दानसे मन्दिर-दान उत्तम और मुख्य है। परन्तु आगेकी वस्तुओंके दानकी अपेक्षा पूर्व वस्तुका दान उत्तम का मुख्य नहीं है; क्योंकि आगे २ वस्तुओंका दान विशेष पुण्यबोधका कारण है।

(२)अर्थ—विशाल खाली पड़ी हुई किसी जमीन पर भिन्न २ पुरुषोंने भिन्न २ कामोंमें, क्षेत्र, कोट, घर और मन्दिर बनवाये पश्चात् उनमें अपने स्वामित्वके विषयमें वाद-विवाद उत्पन्न हो गया। उनमेंसे धर्माध्यक्ष (न्यायाधीश) किसको अधिकारी (स्वामी) निश्चित करे? अर्थात् सबसे प्रथम किसी एक पुरुषने किसी स्थानको भूमिको खाली पड़ी हुई देखकर वहां खेत बना लिया। पश्चात् दूसरेने उस पर कोट खड़ा कर दिया और तीसरेने उस पर मकान बनवा लिया, और चौथेने मन्दिर निर्माण करा दिया तत्पश्चात् उन सबका आपसमें वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। ऐसे अवसर पर आगे २ की वस्तु बनाने वाले अनुप्य न्यायोचित मुख्य अधिकारी समझे आवेंगे। अर्थात् खेत बनाने वालेकी अपेक्षा कोट बनाने वाला, कोट बनाने वालेकी अपेक्षा गृह बनाने वाला, और गृह बनाने वालेकी अपेक्षा मन्दिर बनाने वाला बलवान् और प्रधान अधिकारी समझा जावेगा। परन्तु पूर्व २ की चीजें बनाने वाला नहीं

भाषार्थ—उनमेंसे मन्दिर बनाने वाला व्यक्तिका उस जमीन पर पूर्ण अधिकार समझा जावेगा। पूर्व वस्तु बनाने वालेका नहीं ॥२५॥

इति जनपद समुद्देशः।

१ उवाच च शुकः—चतुरंगवर्जं येषु मण्डपानेषु सृज्यति । वृद्धिं याति न देवास्ते कस्यचिद् सत्त्वदा यतः ॥१॥

२ उवाच च शुकः—प्रमृता येषुको वस्व राज्यं भूपत्य सर्वदा । हिरण्यवान् तथा च शुक्लं पुनर्तं कोशानिभूषये ॥१॥

३ उवाच च गौतमः—वैश्विजयदत्ता भूः प्रदत्ता कोषं नाप्युपाय । दातुरश्च ब्राह्मणस्त्वपि शुभा मोक्षाय मानवः ॥१॥

२० दुर्ग-समुद्देश

दुर्ग-राज्यार्थं च उसके भेद—

पस्याभियोगात्परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया च स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम् ॥१॥

तद्विधिं स्वभाविकमाहार्यं च ॥२॥

अर्थः—क्योंकि जिसके पास प्राप्त होकर या जिसके सामने युद्ध के लिये बुलाये गये शत्रु लोग, दुःख अनुभव करते हैं। अथवा यह दुष्टों के उद्योग द्वारा उत्पन्न होने वाली विजिगीषु की आपत्तियां नष्ट करता है, इसलिये इसे “दुर्ग” कहते हैं। सारांश यह है कि जब विजिगीषु राजा अपने राज्य में शत्रु द्वारा हमला होने के अयोग्य विकट स्थान (किला, खाई आदि) बनवाता है, तब शत्रु लोग उन विकट स्थानों से दुःखी होते हैं, क्योंकि उनके हमले सफल नहीं हो पाते एवं दुष्टों द्वारा होने वाले आक्रमण संबंधी विजिगीषु के कष्ट-नाशक होने से भी इसे “दुर्ग” कहते हैं ॥१॥

शुक्र^१ विद्वान् ने कहा है कि जिसके समीप प्राप्त होकर शत्रु दुःखी होते हैं व ओ संकट पड़ने पर अपने स्वामी की रक्षा करता है, उसे ‘दुर्ग’ कहते हैं जिस प्रकार दंत-शून्य सर्प, मधु-शून्य हाथी वरा कर लिया जाता है, वही प्रकार दुर्ग-शून्य राजा भी शत्रुओं द्वारा हमला करके वरा कर लिया जाता है ॥२॥

जो दुर्ग देश के मध्य की सीमाओं पर बनाया जाता है उसकी विद्वान् लोग प्रशंसा करते हैं। परन्तु देश के प्रान्त भाग में बना हुआ दुर्ग अच्छा नहीं कहा जाता, क्योंकि वह मनुष्यों द्वारा पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं होता ॥३॥

अर्थः—दुर्ग दो तरह के होते हैं—(१) स्वाभाविक (२) आहार्य।

स्वाभाविक दुर्ग—स्वयं उत्पन्न हुए, युद्धोपयोगी व शत्रुओं द्वारा आक्रमण करने के अयोग्य एवं खाई आदि विकट स्थानों को स्वाभाविक दुर्ग कहते हैं।

अर्थशास्त्र-वेत्ता विद्वान् चाणक्य^२ ने इसके चार भेद निरूपण किये हैं।

(१) औदक—जलदुर्ग, (२) पार्वत—पर्वतदुर्ग, (३) धाम्बन (४) वनदुर्ग—स्थलदुर्ग।

१ तथा च शुक्रः—वस्व दुर्गस्य संवाप्योः क्षत्रियो दुःखमाप्नुयुः। स्वामिने रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेव तत् ॥१॥

द्वितीयविधिः सर्वो यथा जागो मनुष्युतः। दुर्गे च रहितो राजा तथा गम्यो मधेद्वियोः ॥२॥

देशगर्भे तु वदुर्गं तदुर्गं शस्यते दुर्गैः। देशप्रान्तगतं दुर्गं न सर्वे रहितो जनैः ॥३॥

२ तथा च चाणक्यः—‘जम्बदीपं तम्रं वा विम्बावल्मीकं, प्रस्तरं गुहां वा पाथेयं, निरुपकस्तम्भमिषिं वा दाम्बनं, कम्बजोदकं स्तम्भमधुं वा वनदुर्गम्। कौटिलीय अर्थशास्त्र प्र० २१, सूत्र २।

‘तं वा नदीर्वातदुर्गं जनपदादकार्वाकं जम्बनवनदुर्गमवबोस्थानं, आपजपसारो वा। कौटि० अर्थ २१ प्र० सूत्र ३।

औदक—चारों ओर नदियों से वेष्टित व मध्य में टापू समान विकट स्थान अथवा बड़े बड़े तालाबों से वेष्टित मध्य स्थान को 'औदक' कहते हैं।

पार्वतः—बड़े व पत्थरों या महान चट्टानों से घिरे हुए अथवा स्वयं गुफाओं के आकार बने हुए विकट स्थान 'पार्वत दुर्ग' हैं।

धान्वनः—जल व घास-शून्य भूमि या ऊपर जमीन में बने हुए विकट स्थान को 'धान्वन दुर्ग' कहते हैं।

वन दुर्गः—चारों ओर घनी कोचड़ से अथवा काँटेदार झाड़ियों से घिरे हुये स्थान को 'वनदुर्ग' कहते हैं।

जल-दुर्ग और पर्वत-दुर्ग देश राजा के एवं धान्वन और वन-दुर्ग आदिदिकों की रक्षा के स्थान हैं और राजा भी शत्रु कुत हमलों आदि आपत्ति के समय भागकर इन दुर्गों में आश्रय ले सकता है।

(२) **आहार्यदुर्ग**—कृत्रिम उपायों द्वारा बनाये हुए शत्रुओं द्वारा आक्रमण न किये जाने वाले, सुखोपयोगी खाई-कोट आदि विकट स्थानों को 'आहार्य दुर्ग' कहते हैं।

दुर्ग-विभूति व दुर्ग शून्य देश तथा राजा की हानि—

वैषम्यं पर्याप्तावकाशो यवसेन्धनोदकभूयस्त्वं स्वस्य परेषामभाषो बहुधान्वरससंग्रहः प्रवेशा-
पसारौक बीरपुरुषा इति × दुर्गसम्पत् अन्यद्वन्दिशालावत् ॥३॥ अदुर्गो देशः कस्य नाम न
परिभवास्पदं ॥४॥ अदुर्गस्य राज्ञः पर्योधिमध्ये पोतच्युतपश्चिदपदि नास्त्याश्रयः ॥५॥

अर्थः—निम्नप्रकार दुर्ग की विभूति—गुण है जिससे विजिगीषु शत्रुकुत उपद्रवों से अपना राष्ट्र सुरक्षित कर विजयभी प्राप्त कर सकता है।

१—दुर्ग की जमीन—पर्यंत आदि के कारण विषम—ऊँची-नीची व विस्तीर्ण (विस्तार युक्त) हो।
२—जहाँपर अपने स्वामी के लिये ही धान, ईंधन और जल बहुतायतसे प्राप्त हो सकें; परन्तु हमला करने वाले शत्रुओं के लिये नहीं। ३—जहाँ पर गेहूँ-बाजल-आदि अन्न व नमक; तेल व घी बगैरह रत्नों का प्रचुर संग्रह हो। ४—जिसके पहिले दरवाजे से प्रचुर धान्य और रत्नों का प्रवेश एवं दूसरे से निकास होतो हो। ५—जहाँ पर बहादुर सैनिकों का पहरा हो। यह दुर्ग को सम्पत्ति आननी चाहिये, जहाँ पर कत सम्पत्ति नहीं है, उसे दुर्ग न समझ कर जेलखाने का सामान अपने स्वामी का वातक समझना चाहिये ॥३॥

ॐ प्रवेशापसारो' इसप्रकार मू० प्रविष्टियों में प्राप्त है जिसका अर्थ यह है कि दुर्ग इतना मजबूत-रक्षक व जैमिकों के स्वायत्त हो जिसमें शत्रुओं का प्रवेश न हो सके।

× इसके अन्वय 'प्रत्येकं प्राकारगिरिकुलकम्पनं दुर्गवर्चस्वेति' इत्यादि विशेष पाठ मू०प्रविष्टियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि दुर्ग के प्रत्येक परकोटा में उचित चीजें वर्तमान हों एवं वह जहाँ १ पहाड़ों की चोटियों के आश्रय होना चाहिये।

शुक्र^१ विद्वान् ने कहा है कि जिसमें एक द्वार से वस्तु-प्रवेश और दूसरे से निकासी न हो, वह दुर्ग नहीं जेलखाना है ॥१॥

दुर्गविहीन देश किसके पराजय का स्थान नहीं ? सभी के पराजय का स्थान है ॥१४॥ आपत्तिकाल-में—शत्रुकृत आक्रमणों के समय दुर्ग-शून्य राजा का समुद्र के मध्य में नौका से गिरे हुए पक्षी के समान कोई रक्षक नहीं । अर्थात् जिस प्रकार नौका से समुद्र में गिरे हुए पक्षी का कोई रक्षक नहीं, वसी प्रकार शत्रुकृत आक्रमण द्वारा संकट में फंसे हुए दुर्ग-शून्य राजा का भी कोई रक्षक नहीं है ॥१५॥

शुक्र^२ विद्वान् ने भी दुर्ग-शून्य राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१६॥

शत्रु के दुर्ग को नष्ट करने का उपाय, दुर्ग के विषय में राज कर्तव्य व ऐतिहासिक दृष्टान्त—

उपायतोऽधिगमनमुपजापश्चिरानुबन्धोऽवस्कन्दतीक्ष्णपुरुषोपयोगश्चेति परदुर्गलभोपायाः ॥६॥

नामुद्रहस्तोऽशोधितो वा दुर्गमध्ये कश्चित् प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥७॥ श्रूयते किल ह्युणाधिपतिः पण्यपुटवाहिभिः सुभटैः चित्रकूटं जग्राह ॥८॥ खेटखड्गधरैः सेवार्थं शत्रुणा भद्राख्यं कांची-पतिमिति ॥९॥

अर्थ—विजिगीषु को शत्रु दुर्ग का नाश या उसपर अपना अधिकार करने के लिये निम्नप्रकार उपाय काम में लाने चाहिये ।

१—अधिगमन-सामादि उपायपूर्वक शत्रुदुर्ग पर शस्त्रादि से सुसज्जित सैन्य प्रविष्ट करना । २—उपजाप-विविध उपाय (सामादि) द्वारा शत्रु के अमात्य-आदि अधिकारियों में भेद करके शत्रु के प्रतिद्वन्द्वी बनाना । ३—चिरानुबन्ध-शत्रु के दुर्ग पर सैनिकों का चिरकालतक घेरा डालना । ४—अवस्कन्द—शत्रु दुर्ग के अधिकारियों को प्रचुर सम्पत्ति और मान देकर बश करना । ५—तीक्ष्णपुरुषप्रयोग—घातक गुप्तचरों को, शत्रु राजा के पास भेजना ॥६॥

शुक्र^३ विद्वान् ने कहा है कि विजिगीषु शत्रु दुर्ग को केवल युद्ध द्वारा ही नष्ट नहीं कर सकता, अतएव उसे उसके अधिकारियों में भेद आदि उपायों का प्रयोग करना चाहिये ॥१॥ दुर्ग में स्थित केवल एक अनु-धारी सैकड़ों शक्तिशाली शत्रुओं को अपने वाणों का निशान बना सकता है, इसलिये दुर्ग में रहकर युद्ध किया जाता है ॥२॥

१ तथा च शुक्रः—न निर्गमः प्रवेशश्च नान्न दुर्गं प्रविशते । अन्वहारेण चरतूनां न दुर्गं पक्षि गृस्तिर्द्व ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—दुर्गोऽपि रक्षितो राजा पौत्रमष्टौ यथा जाताः । समुद्रमध्ये स्थानं न कर्तते तद्द्वेष सः ॥२॥

३ 'खेटक-खड्गसहायधर भद्रः कांचीपतिमिति' इसप्रकार का पाठान्तर मृ० प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है, कि भद्र नामक राजा ने खड्गधारी सैनिकों को शिकारियों के वेष में कांची देश के दुर्ग में प्रविष्ट कराकर वहाँ के गणेश को मार डाला ।

४ तथा च शुक्रः—न युद्धेन प्रकथ्यं त्वात् परदुर्गं कर्तव्यम् । युक्त्या भेदात् वाचांश्च तस्मात्तात्त्विकोऽपि ॥३॥

शत्रुमेकोऽपि सम्बन्धे प्राकारस्यो यमुधरः । परेषामपि नीचांश्च तस्माद् दुर्गं न युज्यते ॥४॥

विलिखीयु को, जिसके हाथ में राजमुद्रा नहीं दी गई हो ऐसे अज्ञात वा अपरीक्षित (जिसके निवास व गन्तव्य स्थान एवं उद्देश्य आदि की जांच पड़ताल नहीं की गई हो) व्यक्ति को अपने दुर्ग में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये और न दुर्ग से बाहिर निकलने देना चाहिये ॥७॥

शुक्र^१ विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसके शासनकाल में दुर्ग में राजमुद्रा-विहीन व अपरीक्षित पुनः प्रविष्ट हो जाते हैं अथवा वहां से बाहिर निकल आते हैं, उसका दुर्ग नष्ट हो जाता है ॥१॥'

इतिहास में लिखा है कि द्रुण देश के नरेश ने अपने सैनिकों को विषय योग्य वस्तुओं को प्राप्त करने वाले व्यापारियों के वेश में दुर्ग में प्रविष्ट कराया और उनके द्वारा दुर्ग के स्वामी को मरवाकर विषुष्ट देशपर अपना अधिकार कर लिया ॥८॥

इतिहास बताता है कि किसी शत्रु राजा ने कांची नरेश की सेवा के बहाने भेजे हुए शिकार सेवने में प्रवीण होने से स्वयं-भारण में अभ्यस्त सैनिकों को उसके देश में भेजा; जिन्होंने दुर्ग में प्रविष्ट होकर भद्रनाभ के राजा को मारकर अपने स्वामी को कांची देश का अधिपति बनाया ॥९॥

जैमिनि^२ विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा अपने देश में प्रविष्ट हुए सेवकों पर विश्वास करता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥१॥'

इति दुर्गसमुद्देशः ।

२१ कोश-समुद्देश

कोश शब्द की व्याख्या, उस के गुण व उसके विषय में राजकर्तव्य—

यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तत्राभ्युदयं कोशयतीति कोशः ॥१॥ सातिशयहिरण्यपरजत-
प्रायो व्यावहारिकनाणकबहुलो महापदि व्ययसहस्रचेति कोशगुणाः ॥२॥ कोशं चर्चयन्नुत्प-
न्नमर्थमुपयुञ्जीत ॥३॥

अर्थ— जो विपत्ति और संपत्ति के समय राजा के तंत्र (हाथी, घोड़े, रथ और पदासे वसुरक्त सेना), को वृद्धि करता है एवं उस को सुसंगठित करने के लिये धन-वृद्धि करता है, उसे कोश (खजाना) कहते हैं ॥१॥

शुक्र^३ विद्वान् ने भी कोश शब्द की यही व्याख्या की है ॥१॥

१ उदात्त शुक्रः—प्रविशन्ति नरा यत्र दुर्गं मुद्राविषर्जिताः । अथवा निःसरन्ति स्य उद्दुर्गं तस्य नश्यति ॥१॥

२ उदात्त जैमिनिः—स्वदेशेषु भृत्येषु विश्वासं यो मृषो व्रजेत् । स दुर्गं नाशमाप्नोति जैमिनिस्त्वित्यममोक्ष ॥१॥

३ उदात्त शुक्रः—आपत्काये व सम्प्राप्ते सम्पत्काये विशेषतः । तन्त्रं विचर्चयन्ते राजां स कोशः परिकीर्तितः ॥१॥

अधिक तादात में सोना व चांदी से युक्त जिसमें व्यवहार में चलने वाले रुपयों और सिक्कों का अधिक संघट्ट पाया जावे और जो संकट समय, अधिक स्वर्ण जमा हो, वे कोषके गुण हैं। अर्थात् ऐसे खजानेसे राजा व राष्ट्र दोनोंका कल्याण होता है ॥२॥

गुरु^१ विद्वान् ने भी इसी प्रकार कोश-सुख निरूपण किये हैं ॥१॥

नीतिकार कामन्दक^२ ने भी कहा है, कि 'जो मोती सुवर्ण और रत्नों से भरपूर, पिता व पितामह से चला आने वाला न्याय से संभय किया हुआ व पुष्कल स्वर्ण सहन करने वाला भी, उसे सम्पत्ति शास्त्र के विद्वानों ने 'कोश' कहा है ॥१॥ कोषवान्—बनाहत्य पुरुष को धर्म और धन की रक्षा के निमित्त एवं भृत्योंके भरण पोषणार्थ तथा आपत्तिसे बचाव करनेके लिये सदा कोश की रक्षा करनी चाहिये ॥३॥'

राजा अपना कोश बढ़ाता हुआ टेक्स-आदि न्यायोचित उपायों द्वारा प्राप्त किये हुए धन में से कुछ धन उपयोग में लावे ॥३॥

परिष्ठ^३ विद्वान् ने कहा है कि बुद्धिमान नरेशों को आपत्तिकाल को छोड़कर राज्य रक्षक कोष की सदा वृद्धि करनी चाहिये, न कि हानि ॥१॥

कोशवृद्धि न करने वाले राजा का भविष्य, कोश का माहात्म्य व कोशविहीन राजा के दुष्कृत्य व विजयलक्ष्मी का स्वामी—

हस्तस्तस्यायत्यां श्रेयांसि यः प्रत्यहं काक्षियापि कोशं न वर्धयति ॥४॥ कोशो हि भूपतीनां जीवनं न प्राणाः ॥५॥ क्षीणकोशो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन व्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात् ॥६॥ कोशो राजेत्पुष्पते न भूपतीनां शरीरं ॥७॥ यस्य हस्ते शून्यं स जयति ॥८॥

अर्थः— जो राजा सदा कौड़ी कौड़ी जोड़ कर भी, अपने कोश की वृद्धि नहीं करता, उसका भविष्य में किस प्रकार कल्याण हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥४॥

गुरु^४ सिन्हा^५ ने भी कोशवृद्धिके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

निरक्षयसे कोषही राजाओंका जीवन—माण-रक्षाका साधन है; प्राण नहीं। सारांश यह है कि राज-तन्त्र कोषाश्रित है, इसके बिना वह नष्ट हो जाता है ॥५॥

१ तथा च गुरुः— आपत्काले तु सम्प्राप्ते बहुव्ययसहस्रमः । विपरकादिभिः संयुक्तः स कोशो गुणवान् स्तुतः ॥१॥

२ तथा च कामन्दकः— मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः । धर्मोर्जितो व्यवसहः कोषः कोषज्ञसम्मतः ॥१॥

धर्महेतोस्तथाधीय भूत्वानां भवथाव च । आपदयम्यं च संरक्ष्यः कोषः कोषवता सदा ॥२॥

३ तथा च परिष्ठः— कोशवृद्धि सदा कार्या नैव हानिः कथं धन । आपत्कालादते प्राशैवेत्कोशो राजमरचकः ॥१॥

४ तथा च गुरुः— काक्षियापि न वृद्धि यः कोशं नयति भूमिषः । आपत्काले तु सम्प्राप्ते शान्तिः पीक्यते हि सः ॥१॥

भागुरि^१ विद्वान्ने लिखा है कि जिस प्रकार पक्षीगण कुलीन (पृथ्वीमें लीन) और ऊंचेभी पेड़को सूखा—फल-पुष्प विहीन देखकर दूसरे फल-पुष्पयुक्त पेड़ पर चले जाते हैं, उसी प्रकार राजकीय सेवक लोग—पदाधिकारी कुलीन और उन्नतिशील राजाको छोड़कर दूसरे (धनारुह) की सेवा करने लगते हैं ॥१॥

कोषविहीन राजा देशवासियोंके निर्दोष होने पर भी उन्हें अन्यायसे दण्डित कर जुर्माना आदि द्वारा उनसे प्रचुर धनराशि ग्रहण करनेको सतत प्रयत्नशील रहता है। जिसके फलस्वरूप अन्यायसे पीड़ित प्रजा वहांसे भग जाती है, जिससे राष्ट्रमें शुन्यता हो जाती है। सारांश यह है कि राजाको न्यायोचित उपायों से कोष वृद्धि करते रहना चाहिये ॥६॥

गौतम^२ विद्वान्ने भी उपरोक्त कथनकी पुष्टि की है ॥१॥

नीतिज्ञ पुरुष राज-कोशको ही राजा मानते हैं, न कि उसके शरीरको। क्योंकि कोश-शून्य होनेसे वह राष्ट्रको द्वारा पीड़ित किया जाता है ॥७॥

रैभ्य^३ विद्वान्ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जिसके पास धन-राशि है वही विजयलक्ष्मी प्राप्त करता है ॥८॥

निर्धनकी कड़ी आलोचना, कुलीन होने पर भी सेवाके योग्य न माने जाने वाले राजाका वर्णन, धनका साहाय्य, और मनुष्यकी कुलीनता और वक्ष्यन व्यर्थ होनेके कारण—

धनहीनः कलत्रेणापि परित्यज्यते किं पुनर्नान्यैः ॥६॥ न खलु कुलाचाराभ्यां पुरुषः सर्वोऽपि सेव्यतामेति किन्तु वित्तेनैव ॥१०॥ स खलु महान् कुलीनश्च यस्यास्ति धनममूर्तं ॥११॥ किं तथा कुलीनतया महत्तया वा या न सन्तर्पयति परान् ॥१२॥

अर्थ—निर्धनको, जबकि उसे स्वयं उसकी पत्नी भी छोड़ देती है, तो फिर सेवकों द्वारा उसे छोड़े जानेमें विरोधता ही क्या है? सारांश यह है कि संकट पड़ने पर निर्धनकी कोई सहायता नहीं करता। अतः बिबेको पुरुषको न्यायोचित उपायों द्वारा धन-संचय करनेमें प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥६॥

सेवक लोग कुलीन और सदाचारी होनेसे ही मनुष्यको श्रेष्ठ या सेवा-योग्य नहीं समझते बल्कि धनारुह होनेसे ही उसे श्रेष्ठ मानते हैं। संसारमें दरिद्र व्यक्तिके कितनेही कुलीन और सदाचारी होने पर वक्ष्यकी सेवार्थ कोई प्रस्तुत नहीं होता, क्योंकि वहां जीविकोपार्जनका साधन (धन) नहीं है, जबकि नीच-कुलमें उत्पन्न और चारित्र्यरहित होनेपर भी धनारुह व्यक्तिकी जीविका हेतु सभी लोग सेवा करते हैं। निष्कर्ष यह है कि कुलीन और सदाचारी होने पर भी राजाके लिये राज-सम्पत्ति नियमित व व्यवस्थित रूपसे चलानेके लिये न्यायोचित उपायों द्वारा धन संग्रह कर कोष-वृद्धि करते रहना चाहिये ॥१०॥

१ तथा च भागुरिः—कोशहीनं नृपं भूत्वा कुलीनमपि चोद्यतं । संस्रज्यान्धत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवावराजः ॥१॥

२ तथा च गौतमः—कोशहीनो नृपो लोकात् निर्दोषानपि पीडयेत् । तेऽन्वयेनं ततो वान्ति ततः कोशं प्रकरयेत् ॥१॥

३ तथा च रैभ्यः—राजा गम्धोऽत्र कोशस्व न शरीरे नृपस्य च । कोशहीनो नृपो धस्माच्चतुभिः परिपीड्यते ॥१॥

व्यास^१ विद्वान्ने लिखा है कि संसारमें मनुष्य धनका नौकर है, धन किसीका नहीं। क्योंकि धनार्थ कुलीन व्यक्तिभी धनाढ्यकी सेवा करते हैं ॥१॥

जिसके पास प्रचुर धन विद्यमान है, वही मदान् और कुलीन कहलाता है ॥११॥

जैमिनि^२ विद्वान्ने लिखा है कि संसारमें उच्च होनेपर भी धनहीन नीचकुलमें, और धनवान् नीचकुलका होने परभी उच्चकुलमें गिना जाता है ॥१॥

जो आश्रितोंको सन्तुष्ट नहीं करपाता, उसकी निरर्थक कुलीनता और बकपनसे कोई लाभ नहीं है। निष्कर्ष यह है कि पुरुष लोकमें अपनी कुलीनता व बकपन धन द्वारा आश्रितों को रक्षा करनेके उपरान्तही कायम रख सकता है, अतएव धन-संप्रद अनिवार्य है। धनाढ्य पर कंजूस मनुष्यका बकपन व्यर्थ है क्योंकि उसके आश्रित उससे सन्तुष्ट नहीं रह पाते ॥१२॥

गर्ग^३ विद्वान्ने भी कपणके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, व खाली खजानेकी वृद्धिका उपाय—

तस्य किं सरसो महस्वेन यत्र न जलानि ॥ १३ ॥ देवद्विजवणिजा घर्माध्वरपरिजनानुपयोगिद्रव्यभागैराद्यविधवानियोगिग्रामकटगणिकासंघपाखण्डविभवप्रत्यादानैः समुद्रपौरजानपदद्रविशसंविभागप्रार्थनैरनुपचयश्रीकामंश्रिपुरोहितसामन्तभूपालानुनयग्रहागमनाभ्यां श्रीशकोशः कोशं कुर्यात् ॥ १४ ॥

अर्थ—उस तालाबके विस्तीर्ण होनेसे क्या लाभ है ? जिसमें पर्याप्त जल नहीं परन्तु जलसे परिपूर्ण छोटा तालाब भी इससे कहीं अधिक प्रशंसनीय है। उसी प्रकार मनुष्य कुलीनता आदि से बड़ा होने पर भी यदि दरिद्र है तो उसका बकपन व्यर्थ है। अतः न्यायोचित साधनों द्वारा धन-संचय महत्वपूर्ण होता है ॥ १३ ॥

खाली खजानेको भरनेके लिये राजा निम्नलिखित चार उपाय उपयोगमें लावे—

(१) विद्वान् प्राध्याप और व्यापारियोंसे उनके द्वारा संचित किये हुए धनमें से क्रमशः धर्मानुष्ठान यज्ञानुष्ठान और कौटुम्बिक-पालनके अतिरिक्त जो धन-राशि शेष बचे, उसे लेकर अपनी कोष-वृद्धि करे।

(२) धनाढ्यपुरुष, सन्तान-हीन धनाढ्य, विधवायें, धर्माभ्युद्य आदि प्रामोक्ष अधिकारीवर्ग, बेरवा-भौका समूह और कार्यालिक आदि पाखंडी लोगोंके धनपर डेक्स लगाकर उनकी सम्पत्तिका कुछ अंश लेकर अपने कोशकी वृद्धि करे।

१ उवाच व्यासः—अर्चस्व पुरुषो दत्तो नासौ दत्तोऽत्र कर्त्ताचित् । अर्चयेत् येन सेव्यन्ते भीष्मा अपि कुलोत्तमैः ॥१॥

२ उवाच जैमिनिः—कुलीनोऽपि सुवीर्योऽत्र यत्नो मो विद्यते धनम् । अकुलीनोऽपि साहस्यो यत्न सन्नि कर्त्तव्यः ॥१॥

३ उवाच गर्गः—बुद्ध्या धनमिमां चित्तं यच्च पुष्टिं नयेत्पराह् । कुलीनोऽपि हि किं तेन कृपयैव स्वमावयः ॥१॥

(३) सम्पत्तिशाली देशवासियोंकी प्रचुर धन-राशिका विभाजन करके उनके भलो भाँति निर्वाह योग्य होकर, अथवा शिष्ट धनको उनसे प्रार्थना पूर्वक शान्तिके साथ लेकर अपने कोषकी वृद्धि करे।

(४) अचल सम्पत्तिशाली, मंत्री, पुरोहित और अधीनस्थ राजा लोगोंका अनुनय और विनय करके उनके घर आकर उनसे धन-याचना करे और उस धनसे अपनी कोष-वृद्धि करे ॥ १४ ॥

शुक^१ विद्वान् ने भी राजकीय कोष-वृद्धिके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

इति कोश-समुद्देशः ।

२२ बल-समुद्देश

बल शब्द की व्याख्या, प्रधान सैन्य, हस्तियों का आहात्म्य व उनकी युद्धोपयोगी प्रधान शक्ति—
 इतिशदानप्रियभाषणाम्याभरातिनिवारणेन यद्धि इतं स्वामिने सर्वावस्थासु बलसे संबन्धोतीति
 बलम् ॥१॥ बलेषु हस्तिनः प्रधानमगं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति ॥२॥ हस्तिप्रधानो
 विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्ती सहस्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्रेणापि ॥३॥ जातिः
 कुलं वनं प्रचाररच वनं हस्तिनां प्रधानं किन्तु शरार बलं शौर्यं शिष्टा च तदुचिता च
 सामग्री सम्पत्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो शत्रुओंका निवारण करके धन-दान व प्रचुरभाषण द्वारा अपने स्वामी के सभी प्रयोजन सिद्ध करके उसका कल्याण करता है एवं उसे आपत्तियोंसे सुरक्षित रखकर शक्तिप्रदान करता है अतः उसे बल—सैन्य (हाथी, घोड़े, रथ, पैदल रूप चतुरङ्ग सेना) कहते हैं ॥१॥

शुक^२ विद्वान् ने भी 'बल' शब्दकी यही व्याख्या की है ॥१॥

चतुरङ्ग सेनामें हाथी प्रधान माने जाते हैं, क्योंकि वे अष्टायुध हैं। अर्थात् वे अपने चारों पैरों, दो दाँत, पूँछ और सूँठ रूप शस्त्रोंसे युद्ध में शत्रुओं का विनाश करते हुए विजय-भी प्राप्त करते हैं। जबकि अन्य पैदल आदि सैनिक दूसरे सङ्ग आदि हथियारोंके धारण करनेसे आयुधवान् (शस्त्रधारी) कहे जाते हैं।

पासकि^३ विद्वान् ने भी अष्टायुध हाथियों की प्रशंसा की है ॥१॥

१ वेङ्गो नीतिः सं० टी० पृ० २०४ ।

२ तथा च शुकः—अनेन प्रियसंभाषैतरेष्वं पुराजितम् । आपन्नयः स्वामिने स्वेततो बलमिति स्पष्टम् ॥१॥

३ तथा च पासकिः—अष्टायुधो महेदन्ती इत्याम्नां चरचैरपि । तथा च पुष्टबलस्याम्नां संज्ये तेन स शस्यते ॥१॥

राजाओंकी विजयके प्रधान कारण हाथीही होते हैं; क्योंकि युद्धभूमिमें वह रात्रुकृत हजारों प्रहारों से ताड़ित किये जाने परभी व्यथित न होकर अकेलाही हजारों सैनिकोंसे युद्ध करता रहता है ॥३॥

शुक्र^१ विद्वान्ने युद्धमें विजय-प्राप्तिका कारण हाथीही माना है ॥१॥

हाथी जाति, कुल, वन और प्रचारकेही कारण प्रधान नहीं माने जाते परन्तु निम्नलिखित चार गुणों से मुख्य माने जाते हैं—

(१) उनका शरीर दृढ़-पुष्ट व शक्तिशाली होना चाहिये; क्योंकि यदि वे बलिष्ठ नहीं हैं और उनमें अन्य मन्द व मृग-आदि जाति, घेरावत-आदि कुल, प्राण्व-आदि वन, पर्वत व नदी-आदि प्रचार के पाये जाने परभी वे युद्ध-भूमिमें विजयी नहीं होसकते। (२) शीर्ष, पराक्रम-हाथियोंका पराक्रमी होना आत्यावश्यक है क्योंकि इसके बिना आजसी हाथी अपने ऊपर आरूढ़ महाबलके साथ २ युद्धभूमि में रात्रुओं द्वारा मारहाले जातेहैं। (३) उनमें युद्धोपयोगी शिक्षाका होनाभी अनिवार्य है, क्योंकि शिक्षित हाथी युद्धमें विजयी होतेहैं, जबकि अशिक्षित अपने भाव २ महाबलको भी खो बैठता है और विगड़जाने पर वलटकर अपने स्वामीकी सेना कोभी रौंद डालता है। (४) युद्धोपयोगी कारण सामग्री रूप कक्षीः—हाथियोंमें युद्धोपयोगी कसेव्यशीलता आदि सामग्री (कठिन स्थानोंमें गमन करना, रात्रुसेना का सम्मुखन करना आदि) का होनाभी प्रधान है; क्योंकि इसके बिना वे विजयभी प्राप्त करानेमें असमर्थ होते हैं ॥४॥

बल्लभदेव^२ विद्वान् नेभी हाथीके शक्तिशाली होनेके विषयमें इसी प्रकार कहा है।

अशिक्षित हाथी व उनके गुण—

अशिक्षिता इस्तिनः केवलमर्षप्राणाहराः ॥५॥ सुखेन यानमात्सर्या परपुरावमर्दनमरिभ्यूह-

विघातो जलेषु सेतुघ्नो वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति इस्तिगुणाः ॥६॥

अर्थ—युद्धोपयोगी शिक्षा-रूप हाथी केवल अपने स्वामीका घन व महाबल आदिके साथ मड़ कर बैठे हैं। क्योंकि उनके द्वारा विजय-लाभ रूप प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती, इससे वे निरर्थक घास व अन्न-आदि भक्षण द्वारा अपने स्वामीकी आर्थिक-सृष्टि करके अपने ऊपर आरूढ़ महाबलके भी साथ खे खेते हैं एवं विगड़ जाने पर वलट कर अपने स्वामीकी सेनाको भी रौंद डालते हैं ॥५॥

नारद^३ विद्वान्ने भी अशिक्षित हाथियोंके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

हाथियोंमें निम्न प्रकार गुण होते हैं। १ कठिन मार्गको सरलता पूर्वक पार कर जाना। २-रात्रु-कृत प्रहारोंसे अपनी तथा महाबलकी रक्षा करना। ३-रात्रु-नगरका कोट व प्रवेश द्वार मज्ज कर वसमें अविष्ट

१ तथा च शुक्रः—सहस्रं योधयस्केको यतो याति न च व्यथा। प्रहारैर्बहुभिर्हर्गैस्तस्मादस्तिमुक्तो जयः ॥१॥

२ तथा च बल्लभदेवः—अतिदंष्टवनधाम्प्यैर्बलैरेतैरथदुर्विधैः। युत्तेऽपि कदाहीनः स यदि युद्धे भवेत् न ॥१॥

३ तथा च नारदः—किञ्चहीना राजा वस्य प्रभवन्ति महीभृतः। पुर्वमिति वनमर्त्ता ते केवलं वनसंघवत् ॥१॥

होकर नेस्तनाबूद करना । ४-शत्रु के सैन्य-समूहको कुचलकर नष्ट करना । ५-नदीके जलमें एकसाथ कतार-बार खड़ेहोकर पुल बांधना । ६-केवल वचनाजप-बोलना छोड़कर अपने स्वामीके लिये सभी प्रकारके आनन्द उत्पन्न करना ॥६॥

भागुरि^१ विद्वान्ने भी हाथियोंके उक्त गुण निरूपण किये हैं ॥१॥

घोड़ोंकी सेना, उसका माहात्म्य व जात्यश्वका माहात्म्य—

अश्वबलं सैन्यस्य जंगमं प्रकारः ॥७॥ अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीडाः प्रसीदन्ति श्रियः, भवन्ति दूरस्था अपि शत्रवः करस्थाः । आपत्तु सर्वमनोरथ—सिद्धिस्तुभ्ये एव, सरणमपसरणमवस्कन्दः परानीकभेदनं च तुरङ्गमसाध्यमेतत् ॥८॥ आत्यारूढो विजिगीषुः शत्रोर्भवति तत्तस्य गमनं नारातिर्ददाति ॥९॥ तर्जिका, (स्व) स्थलाया करोखरा गाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा गन्धारा सादुयारा सिन्धुपारा जात्याश्वानां नवोत्पत्ति-स्थानानि ॥१०॥

अर्थ—घोड़ोंकी सेना चतुरङ्ग सेनाका चलता फिरता भेद है, क्योंकि ये अत्यन्त चपल व वेगसे गमन करने वाले होते हैं ॥७॥

नारद^२ विद्वान्ने भी अश्व-सैन्यके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जिस राजाके पास अश्व-सेना प्रधानतासे विद्यमान है, उस पर युद्ध रूपी गेंदसे क्रीड़ा करने वाली लक्ष्मी-विजयभी प्रसन्न होती है जिसके फलस्वरूप उसे प्रचुर सम्पत्ति मिलती है । और दूरवर्ती शत्रु लोग भी निकटवर्ती हो जाते हैं । इसके द्वारा विजितेषु आपत्तिकालमें अभिलषित पदार्थ प्राप्त करता है । शत्रुओं के सामने जाना और मौका पाकर वहांसे भाग जाना, छलसे उन पर हमला करना व शत्रु-सेनाको छिन्न-भिन्न कर देना, ये कार्य अश्व-सेना द्वाराही सिद्ध होते हैं रथादिसे नहीं ॥८॥

शुक, विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजा लोग अश्व-सैन्य द्वारा देखने वालोंके समक्ष शत्रुओं पर हमला करने प्रस्थान कर दूरवर्ती शत्रु को मार डालते हैं ॥९॥

जो विजिगीषु जात्यश्व पर आरूढ़ होकर शत्रु पर हमला करता है, इससे उसकी विजय होती है और शत्रु विजयगीषु पर प्रहार नहीं कर सकता ॥९॥

जाति-अश्वके ६ उत्पत्ति स्थान—जातियां—हैं । १ तर्जिका, २ स्थलाया, ३ करोखरा, ४ गाजिगाणा, ५ केकाणा, ६ पुष्टाहारा, ७ गन्धारा, सादुयारा व ८ सिन्धुपारा ॥१०॥

१ तथा च भागुरिः—सुखयानं सुरक्षः च शत्रोः पुरविभेदनम् । शत्रुभ्यूहविधातश्च सेतुचन्धो गजैः स्मृतः ॥१॥

२ तथा च नारदः—तुरंगमबलं यस्य ताप्रकारो बलं स्मृतं । सैन्यस्य भूसुजा काय तस्मात्तद्वेगवत्तरम् ॥१॥

३ तथा च शुकः—प्रेक्षतामपि शत्रून् यतो यान्ति तुरंगमैः । भूपाया येन निम्नस्ति शत्रुं दूरेऽपि संस्थितम् ॥१॥

शालिहोत्र^१ विद्वान्ने भी अश्वोंकी ६ उक्त जातियोंका उल्लेख किया है ॥१॥

रथ-सैन्यका माहात्म्य, व सप्तम-उत्साहीसेना एवं उसके गुण—

समा भूमिधनुर्वेदविदो रथारूढाः प्रहर्तारो यदा तदा किमसाध्यं नाम नृपाणाम् ॥११॥

रथैरवमर्दितं परचलं सुखेन जीयते मौल-भृत्यकभृत्यश्रेणी मिश्राटविकेषु पूर्व पूर्व चलं यतेत १२

अथान्यत्सप्तममौत्साहिकं चलं यद्विजिगीषोर्विजययात्राकाले परराष्ट्रविलोडनार्थमेव मिलति

स्रष्टारस्यैव शास्त्रज्ञत्वं शौर्यसारत्वमनरक्तत्वं चेत्यौत्साहिकस्य गुणाः ॥१३॥

अर्थ—जब धनुर्विद्यामें प्रवीण धनुर्धारी योद्धागण रथारूढ़ होकर समतल युद्धभूमिमें शत्रुओं पर प्रहार करते हैं, तब विजिगीषु राजाओंको कोई भी बीज—विजय-लाभादि—मसाध्य नहीं। सारांश यह है, कि समतलभूमि—गर्त-पाषाणाविरहित जमीन व प्रवीण योद्धाओंके होनेसे ही युद्धमें विजिगीषुको विजय भी प्राप्त होती है। क्योंकि ऊबड़-साबड़ भूमि और अकुशल योद्धाओंके कारण रथ-संचालन व युद्धादि भली भांति न होनेसे निश्चय ही हार होती है ॥१॥

शुक्रः विद्वान्के उद्धरणका भी यही आशय है ॥१॥

विजिगीषुके रथों द्वारा नष्ट-भट्ट हुई शत्रुसेना आसानीसे जीती जाती है, परन्तु उसे मौल (वंशपरम्परा से बली आई, प्रामाणिक विश्वास-पात्र व युद्ध विद्या-विशारद पैदल सेना) अधिकारी सैन्य, सामान्यसेवक, भेगी सेना, मित्र सेना व आटविकसैन्य इन छह प्रकारकी सेनामेंसे सबसे पहिले सारभूत सैन्य को युद्धमें सुसज्जित करनेका प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि फलसैन्य (कमजोर, अविरवासी, व युद्ध करनेमें अकुशल निस्सार सैन्य) द्वारा हार होना निश्चित रहता है ॥१२॥

विमर्श—नीतिकार चाणक्य^२ ने कहा है कि 'वंशपरम्परासे बली आने वाली, नित्य वरामें रहने वाली प्रामाणिक व विश्वास-पात्र पैदल सेना को 'सारभूत' कहते हैं एवं गुणनिष्पन्न हाथियों व घोड़ोंकी सेना भी 'सारभूत सैन्य' है। अर्थात् कुल, जाति, धीरता, कार्य करने योग्य आयु, शारीरिक बल, आवश्यक ऊंचाई-चौड़ाई आदि, वेग, पराक्रम, युद्धोपयोगी शिक्षा, स्थिरता, सदा ऊपर मुंह उठाकर रहना, सवारकी आज़ामें रहना व अन्य शुभलक्षण और शुभ चेष्टाएं, इत्यादि गुण युक्त हाथी व घोड़े का सैन्य भी 'सारभूत' है। अतः विजिगीषु उक्त सारभूत सैन्य द्वारा शत्रुओंको सुखपूर्वक आसानीसे नष्ट करे।

१ तथा च शालिहोत्रम्—तर्जिका स्वस्थस्ताद्या सुतोषरास्मोरामा हयाः। गजिगान्धा सकेलगाः पुष्टाहाराच मध्यमाः॥१॥

गायहारा साधुचारारच सिन्धुपारा कनीयस्थाः। अश्वानां शालिहोत्रेण जातयो नव कीर्तिताः ॥२॥

२ तथा च शुक्रः—रथारूढाः सुचानुष्का भूमिमाने समे स्थिताः। युद्धयन्ते यस्य भुवस्य तस्यासाध्यं च किञ्चन ॥१॥

३ तथा च चाणक्यः—इदं संप्रसारणं पुंसाम्। इत्थं श्वयोर्विशेषः—कुलं जातिः वयं वयस्त्वया प्राबोध्यर्कं जयस्तेजः क्षिप्यं स्वैर्यमुदग्रता। विधेयत्वं सुव्यञ्जनाचारतेति। कीर्तिलोके अथेशास्त्र सामाजिक प्रक० ४ ४८६

नारद* विद्वान्ने भी सारभूत सेना को ही युद्धमें विजय प्राप्त करने का कारण माना है ॥१॥

उक्त छद्म प्रकारकी सेनाओंके सिवाय एक सातवीं उत्साही सेनाभी होती है। जब विजिगीषु राष्ट्र को जीतनेके लिये उसपर चतुरङ्ग सेना द्वारा प्रबल आक्रमण करता है, तब वह राष्ट्र-राष्ट्रको नष्ट-भष्ट नैस्तनाबूद—करने व धन छूटनेके लिये इसकी सेनामें मिल जाती है। इसमें छात्र तेज-वृत्त शास्त्र-विद्या-प्रवीण व इसमें अनुराग युक्त कृत्रिम वीर पुरुष सैनिक होते हैं ॥१३॥

नारद विद्वान्ने भी उक्त गुणसम्पन्न सैन्य को सेना कहा है ॥१४॥

औत्साहिक सैन्यके प्रति राज-कर्त्तव्य, प्रधान सेनाका माहात्म्य व स्वार्थ द्वारा सेवकोंको दिये हुये सम्मानका प्रभाव—

मौलवलाविरोधेनान्यद्वलमर्थमानाभ्यामनुगृहीयात् ॥१४॥ मौलाख्यमापधनुगच्छति
दण्डितमपि न द्रुहति भवति चापरेषामभेद्यम् ॥१५॥ न तयार्थः पुरुषान् योधयति यथा
स्वामिमन्मानः ॥१६॥

अर्थ—राजा अपने मौल सैन्य—प्रधान सेना—का अपमान न करके—धन-मानादि द्वारा अनुरक्त करके—उसके साथ २ उत्साही सैन्य (राष्ट्र पर आक्रमणार्थ अपनी ओर प्रेषित हुई अन्य राजकीयसेना) को भी धन व मान देकर प्रसन्न रखे ॥१४॥

वादरायण* विद्वान्ने भी मौल व औत्साहिक सैन्यको सन्तुष्ट रखनेके लिये इसी प्रकार कहा है ॥१॥

विजिगीषुका मौलसैन्य आपत्ति कालमें भी उसका साथ देता है और दण्डित किये जाने पर भी द्रोह नहीं करता, एवं राष्ट्र-भो द्वारा फोका नहीं जाता। अतः विजिगीषु उसे धन-मानादि देकर सदा सन्तुष्ट रखे ॥१५॥

वरिष्ठ* विद्वान्ने भी मौल सैन्य की यही विशेषता बताई है ॥१॥

जिस प्रकार राजासे दिया गया सम्मान सैनिकोंको युद्ध करनेमें प्रेरित करता है उस प्रकार दिया हुआ धन प्रेरित नहीं करता। अर्थात् सैनिकोंके लिये धन देनेकी अपेक्षा सम्मान देना कहीं ज्यादा आवश्यक है ॥१६॥

नारायण* विद्वान्ने भी सैनिकोंको अनुरक्त रखनेका यही उपाय बताया है ॥१॥

१ तथा च नारदः—रघैरवमर्षितं वृत्तं परसैन्यं वकेन्द्रुपः । चरमिर्चकैः समादिष्टैस्मौलाभौ सङ्कोचः च ॥१॥

२ तथा च वादरायणः—अन्यद्वलं समावाप्तमौत्साह्यपादं धनमात्मनः । दानमात्मनः ततोऽर्थं मौलसैन्याविरोधतः ॥१॥

३ तथा च वरिष्ठः—न दण्डितमपि स्वस्य द्रोहं कुर्वीत कथंचन । मौलं कर्त्तुं न मेघं च राष्ट्रं चर्गेण जयते ॥१॥

४ तथा च नारायणः—न तथा पुरुषानर्थः प्रयुतोऽपि महाद्वयः । कारायति बौद्धयः स्वामिसंभावना यथा ॥१॥

सेना के राज-विक्रम होने के कारण, स्वयं सैन्य की देखरेख न करने से हानि और दूसरों के द्वारा न कराने योग्य कार्य—

स्वयमनवेद्यं देयांशहरणं कालयापना व्यसनाप्रतीकारो विशेषविधावसंभावनं च तत्रस्य
विरक्तिकारणानि ॥१७॥ स्वयमवेद्यशीयसैन्यं परैरवेद्यभ्रतंत्राम्यां परिहीयते ॥१८॥

आभितमरणे स्वामिसेवायां धर्मानुष्ठाने पुत्रोत्पादने च खलु न सन्ति प्रतिहस्ताः ॥१९॥

अर्थ—राजा के निम्न लिखित कार्यों से, उसकी सेना उसके विक्रम हो जाती है।

स्वयं अपनी सेनाकी देख रेख न करना, उनके देने योग्य वेतन मेंसे कुछ भाग हक़्क कर लेना, आजीविका के योग्य वेतन को यथासमय न देकर बिलम्ब से देना, उन्हें विपत्तिमस्त देखकर भी सहायता न करना और विशेष अवसरों (पुत्रोत्पत्ति, विवाह व स्थौहार आदि सुखों के मौकों) पर उन्हें घनादि से सम्मानित न करना ॥१७॥ इसलिये राजा को समस्त प्रयत्नों से अपनी सेना को सन्तुष्ट रखना चाहिये।

भारद्वाज * विद्वान् ने भी राजा से संभा के विक्रम होने के उपरोक्त कारण बताये हैं ॥१८॥

को राजा आत्मस्वयं स्वयं अपने सैन्य की देखरेख न करके दूसरे भूतों से कराता है, वह निःसर्व-
ह धन और सैन्य से रहित हो जाता है ॥१९॥

श्रीमिनि * विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१९॥

नैतिक व्यक्ति को निश्चय से सेवकों का भरणपोषण, स्वामी की सेवा, धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान और पुत्रों को उत्पन्न करना, ये चार बातें किसी दूसरे पुरुष से न कराकर स्वयं करना चाहिये ॥२०॥

शुक * विद्वान् ने भी उपरोक्त कार्य दूसरों से न कराने के लिये लिखा है ॥२०॥

सेवकों के लिये देने योग्य धन, वेतन प्राप्त न होने पर भी सेवकों का कर्तव्य और उक्त बात का
इष्टान्त द्वारा समर्पण :—

सावदुदेयं यावदाभिताः सम्पूर्वतामाप्नुवन्ति ॥२०॥ न हि स्वैर्द्रव्यमध्ययमानो राजा दयह-

नीयः ॥२१॥ को नाम सचेताः स्वगुरुचौर्यात्सादेत् ॥२२॥

अर्थ—स्वामीको अपने अधीन सेवकों के लिये इतना पर्याप्त धन देना चाहिये; जिससे वे सम्पु-
ष्ट हो सकें ॥२०॥

शुक * विद्वान् ने भी सेवकों को आर्थिक कष्ट देने से राजा की हानि बताई है ॥२१॥

* १—देखिये नीतिराजवायुत ५० २१३. श्लोक १ से ३ तक,

२—यथा च श्रीमिनिः—स्वयं नास्त्रोकवेत्तं प्रमादाद्यो भहीयति । तदन्वये ज्ञेयं भूतैर्विनीयति न संशयः ॥१८॥

३—यथा च शुकः—भूत्यानां पोषणं इत्ते स्वामिसेवाप्रबोधनम् । धर्मकृत्यं सुतोत्पत्तिं परपारवान् कारयेत् ॥१९॥

४ यथा च शुकः—आभितामस्य समिन्ते राज्ञः स्वस्य महीपतेः । स सर्वैर्बोध्यते लोकैः कार्यवशात् स दुःस्वितः ॥२०॥

राजा, यदि सेवकों को अपना धन (वेतन आदि) नहीं देता, तोभी उन्हें उससे मगका नहीं करना चाहिये ॥२०॥

शुक्र^१ विद्वान् कामी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार स्वाभिमानी पुरुष अपने गुरु को चोरी से नहीं खाता उसी प्रकार वह राजासे कोषित होकर अपनी हानि भी नहीं करवाना चाहता ॥२०॥

कृपण राजाके विषयमें दृष्टान्त, कबी आलोचना योग्य स्वामी और योग्यअयोग्यके विचारसे शून्य राजा की हानि—

किं तेन जलदेन यः काले न वर्षति ॥२३॥ स किं स्वामी य आश्रितेषु व्यसने न प्रवि-

धत्ते ॥२४॥ अविशेषहे राज्ञि को नाम तस्यार्थे प्राणव्यये नोत्सहेत् ॥१५॥

अर्थ—उस मेघसे क्या लाभ है ? जो समय पर पानी नहीं वर्षाता वही प्रकार जो समय पर अपने सेवकोंकी सहायता नहीं करता, वह स्वामी भी व्यर्थ है ॥२३॥

जो स्वामी संकटकालीन समयमें अपने आधीन सेवकोंकी सहायता नहीं करता वह निष्ठ है ॥२४॥

जो राजा सेवकोंके गुणों और दोषोंको परखने में शून्य है, अर्थात् जो बिरवासी और अबिरवासी (मण्डि और कांच) में फर्क न जान कर दोनों के साथ समान व्यवहार करता है, उसके लिये कौन सेवक प्राणों का बलिदान करने के लिये युद्धभूमि में शत्रु से लड़ेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥२५॥

आंगिर^२ विद्वान्ने भी मण्डि और कांचमें फर्क न जानने वाले राजाकी उपरोक्त हानि निर्विह्व की है ।

इति वल्लसमुद्देशः ।



२३ मित्र-समुद्देश

मित्र का लक्षण व उसके भेद—

यः सम्पदीव विपद्यपि मेघति तन्मित्रम् ॥१॥ यः कारवमन्तरेण रक्षो रक्षको वा भवति

तच्चित्य मित्रम् ॥२॥ तत्सहर्षं मित्रं यत्पूर्वपुरुषपरम्परायातः सम्बन्धः ॥३॥ यद्वृत्तिजीवित-

हेतोराभितं तत्कुत्रिमं मित्रम् ॥४॥

१ तथा च शुक्रः—दृष्टव्यं वल्लः काचो न भूत्वेर्षु शुक्रा समं । यदि वज्रप्रतिभो वृत्ति वमस्तुत्य वनित्यमेव ॥१॥

२ तथा आंगिरः—काचो वृत्तिर्मित्रः काचो वरुण सम्भाषणेदधी । कस्तस्य भूपतेरग्रे संप्राप्ते निचर्च भजेत् ॥१॥

अर्थ—जो पुरुष सम्पत्तिकालकी तरह विपत्तिकालमें भी स्नेह करता है उसे 'मित्र' कहते हैं। सारांश यह है कि जो लोग सम्पत्तिकालमें स्वार्थ-वश स्नेह करते हैं और विपत्तिकालमें छोड़ा देते हैं वे मित्र नहीं किन्तु शत्रु हैं ॥१॥

जैमिनि^१ विद्वान्ने भी सम्पत्ति व विपत्तिकालमें स्नेह करनेवाले व्यक्तिको 'मित्र' कहा है ॥१॥

वे दोनों व्यक्ति परस्परमें नित्यमित्र होसकते हैं; जो शत्रुकृत-पीड़ा-आदि आपत्तिकालमें परस्पर एक दूसरेके द्वारा बचाये जात हैं या बचाने वाले हैं ॥२॥

नारद^२ विद्वाम्ने भी नित्यमित्रका यही लक्षण बताया है ॥१॥

वशपरम्पराके सम्बन्धसे युक्त, भाई-आदि सहज मित्र हैं ॥३॥

भागुरि^३ विद्वान्ने भी सहजमित्रका यही लक्षण किया है ॥१॥

जो व्यक्ति अपनी उन्नति और प्राणरक्षाके लिये अपने स्वामीसे वेतनआदि लेकर स्नेह करता है, वह 'कृत्रिम मित्र' है। क्योंकि वह स्वार्थ-सिद्धिवश मित्रता करता है और जीविकोपयोगी वेतन न मिलने पर अपने स्वामीसे मित्रता करना छोड़ देता है ॥४॥

भारद्वाज^४ विद्वान्ने भी 'कृत्रिम मित्र' का यही लक्षण किया है ॥१॥

मित्र के गुण व उसके दोष, मित्रता-नाशक कार्य व निष्कपट मैत्रीका उक्त्यन्त—

व्यसनेषूपस्थानमर्थेष्वविकल्पः स्त्रीषु परमं शौचं कोपप्रसादविषये वाप्रतिपक्षत्वमिति मित्र-
गुणाः ॥५॥ दानेन प्रख्यः स्वार्थपरत्वं विपद्युपेक्षणमहितसम्प्रयोगो विप्रलम्भनगर्भप्रश-
यश्चेति मित्रदोषाः ॥६॥ स्त्रीसंगतिर्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसम्बन्धः पराक्षदोषग्रहणं
पैशून्याकर्णनं च मैत्रीभेदकारणानि ॥७॥ न क्षीरात् परं महदस्ति यत्संगतिमात्रेण करोति
नीरमात्मसमं ॥८॥

मित्र के निम्नप्रकार गुण हैं—

अर्थ—जो संकट पड़ने पर मित्रके रक्षार्थ बिना बुलाये उपस्थित होता हो, जो मित्रसे स्वार्थ-सिद्धि न चाहताहो अथवा जो उसके धनको जल-कपटसे हड़प करनेवाला न हो, जिसकी मित्रकी स्त्रीके प्रति दुर्भावना न हो, और मित्रके क्रुद्ध व प्रसन्न होने पर भी उससे ईर्ष्या न रखे ॥१॥

१ तथा च जैमिनिः—यत्समृद्धौ क्रियास्नेहं यद्दुःसहजयापदि । तन्मित्रं प्रोच्यते सज्जिर्वैपरीत्येन वैरिणः ॥१॥

२ तथा च नारदः—रक्षते वक्ष्यमानस्तु कर्म्यनिष्कारणं नरः । रक्षेद्वा वक्ष्यमानं यत्तत्तत्त्वं 'मित्रमुच्यते ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेषु योऽत्र समापयी । मित्रत्वं कथितं तस्य सहजं मित्रमेव हि ॥१॥

४ तथा च भारद्वाजः—हृतिं गृह्णाति चः स्नेहं नरस्य कुर्वते नरः । तन्मित्रं कृत्रिमं प्रादुर्भीतिर्यास्त्यविको जनाः ॥१॥

नारद^१ विद्वान्ने भी संकटमें सहायता करना-आदि मित्रके गुण बताये हैं ॥१॥

मित्र-द्वारा घनादि प्राप्त होने पर स्नेह करना, स्वार्थ-सिद्धिमें लीन रहना, विपत्तिकालमें सहायता न करना, मित्रके शत्रुओंसे जा मिलना, छल-कपट और धोखेबाजी से युक्त ऊपरी नम्रता प्रदर्शित करना और मित्रके गुणोंकी प्रशंसा न करना, ये मित्रके दोष हैं ॥६॥

रैभ्य^२ विद्वान्ने भी इसी प्रकार मित्रके दोष प्रगट किये हैं ॥१॥

मित्रकी स्त्री पर कुदृष्टि रखना, मित्रसे वाद-विवाद करना, सदा उससे घनादि मांगना, पर अपना कभी न देना, आपसमें लेन-देनका सम्बन्ध रखना, मित्रकी निन्दा व चुगली करना, इन बातोंसे मित्रता भंग (नष्ट) होजाती है ॥७॥

शुक^३ विद्वान्ने भी मित्रता-नाशक यही कार्य बताये हैं ॥१॥

पानीका, दूधको छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ उत्तम मित्र नहीं, क्योंकि वह अपनी संगतिमात्रसे पानीको अपने समान गुण-युक्त बना देता है। उसी प्रकार मनुष्यको ऐसे उत्तम पुरुषकी संगति करनी चाहिये जो उसे अपने समान गुणयुक्त बना सके ॥८॥

गौतम^४ विद्वान्का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

मैत्रीकी आवश्यक परीक्षा, प्रत्युपकारकी दुर्लभता व दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

न नीरात्परं मद्दस्ति यन्मिलितमेव संवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण क्षीरम् ॥६॥ येन केनाप्यु-
पकारेण तिर्यचोऽपि प्रत्युपकारिणोऽव्यभिचारिणश्च न पुनः प्रायेण मनुष्याः ॥१०॥
तथा चोपाख्यानकं—अटव्यां किलान्धकूपे पतितेषु कपिसर्पसिंहाक्षशालिकसौवर्णिकेषु
कृतोपकारः कंकायननामा कश्चित्पान्थो विशालायां पुरि तस्मादक्षशालिकाद्व्यापादनमवाप
नाडीजंघश्च गोतमादिति ॥११॥

अर्थ—पानीको छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ दूधका सच्चा मित्र नहीं, जो मिलने मात्र सेही उसकी वृद्धि कर देता है और अग्निपरीक्षाके समय अपना नाश करके भी दूधकी रक्षा करता है ॥६॥

भागुरि विद्वान्ने भी पानीको दूधका सच्चा मित्र बताया है ॥१॥

संसारमें पशुगणभी उपकारीके प्रति कृतज्ञ व विरुद्ध न चलनेवाले होते हैं, न कि कृतज्ञ पर

१ तथा च नारदः—आपत्काले च सम्प्राप्ते कार्ये च महति स्थिते । कोपे प्रसादं नेच्छेन्मित्रस्येति गुणाः स्मृताः ॥१॥

२ तथा च रैभ्यः—दानस्नेहो निजार्थस्वमुपेक्षा व्यसनेषु च । वैमिसंगो प्रशंसा च मित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ॥१॥

३ तथा च शुकः—स्त्रीसंगतिविधादोऽव सवार्थित्वमदानता । स्वसम्बन्धस्तथा निन्दा पैशून्यं मित्रवैरिता ॥१॥

४ तथा च गौतमः—गुरुहोत्रोऽपि चेत्संगं करोति गृहिणिः सह । गृह्यमाणं मम्यते कोकैर्दुग्धादयं कं यथा पयः ॥१॥

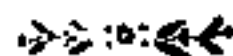
मनुष्य प्रायः इसके विपरीत चलनेवाले भी देखे जाते हैं—वे उपजारीके प्रति भी कभी-कभी कुतूहलता कर डालते हैं ॥१०॥

इतिहास बताता है कि एक समय किसी अटवी (बनी) के पास वगैरहसे आक्राणित अन्धकूपमें भाग्यसे प्रेरितहुए बन्दर, सर्प और शेर ये तीनों जीवजन्तु व आक्षालिक—एक जुआरी व सुनार ये दोनों पुरुष गिर पड़े। परचात् किसी काँहाबन नामके पान्थने उन्हें उस अन्धकूपसे बाहिर निकाला। उपर्युक्त हुए उन पाँचोंमें से बन्दर, सर्प, शेर व सुनार उसका अनिष्ट न कर उसकी आक्षोपरान्त अपने २ निर्विघ्न स्थानको चले गए। जुआरी कुतूहल होनेके कारण उस पान्थसे कष्टपूर्ण व्यवहारोंसे मित्रता कर उसके बन्धनको हरण करनेकी इच्छासे उसके साथ हो लिया और अनेक मार्गों व नगरोंमें भ्रमण करता रहा। परचात् एक समय विशाला नामकी नगरके शून्य मन्दिरमें जबकि पान्थ सो रहा था, तब इस जुआरीने मौका पाकर उसके धनको हरण कर लिया। इससे सिद्ध होता है कि तिर्यच भी कुतूहल होते हैं पर मनुष्य कभी २ इसके विपरीत कुतूहली भी होते देखे गये हैं।

इसी प्रकार गौतम नामके किसी तपस्वी ने नाङ्गोजंघ नामके उपकारको स्वार्थरक्ष मार डाला। (यह कथानक अन्य ग्रन्थों से जान लेना चाहिये) ॥११॥

इति मित्रसमुद्देश।

२४ राजरक्षा-समुद्देश



राजा की रक्षा, उसका उपाय, अपनी रक्षार्थ पासमें रखने के योग्य व अयोग्य पुरुष—
राज्ञि रक्षिते सर्वे रक्षितं भवत्यतःस्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यं राजा रक्षितव्यः ॥१॥ अतएवोक्तं नयविद्वाः—पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबद्धं शिक्षितमनुरक्तं कुतकर्मणं च जनं भासन्नं कुर्वीत ॥२॥ अन्यदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतभासन्नं न कुर्वीत ॥३॥ चित्तविकृतेर्नास्त्यविषयः किन्न भवति मातापि राष्ट्रसी ॥४॥

अर्थ—राजा की रक्षा होनेसे समस्त राष्ट्र सुरक्षित रहता है, इसलिये इसे अपने कटुन्धियों तथा शत्रुओं से सदा अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥१॥

रैभ्यः विद्वान् ने भी राज-रक्षा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

इसलिये नीतिज्ञोंने कहा है कि राजा अपनी रक्षार्थ ऐसे पुरुषको नियुक्त करे, जो इसके बराबर

१ तथा २ रैभ्यः—रक्षिते भूमिमाये नृ जातजीवेभ्यः परैव हि। परेभ्यश्च बलस्य रक्ष। रैभ्यश्च जायते ॥१॥

(भार्गवगौरव) हो अथवा वैवाहिक सम्बन्धसे बंधा हुआ—साला वगैरह हो, और वह नीतिशास्त्र का वेत्ता राजा से अनुराग रखनेवाला और राजकीय कर्तव्योंमें कुशल हो ॥२॥

गुरु^१ विद्वानने भी राजाकी शरीर रक्षार्थ यही कहा है ॥१॥

राजा, विदेशी पुरुष को, जिसे धन व भाग्य देकर सम्मानित न किया गया हो और पूर्व में सजा पाये हुए स्वदेशवासी व्यक्तिको जो कि बाद में अधिकारी बनाया गया हो, अपनी रक्षार्थ नियुक्त न करे; क्योंकि असम्मानित व दण्डित व्यक्ति द्वेषयुक्त होकर उससे बदला लेनेकी कुचेष्टा करेगा ॥३॥

शुक्र^२ विद्वान्के संगृहीत श्लोकोंका भी यही अभिप्राय है ॥१—२॥

विकृत—दुष्ट—चित्तवाला पापीपुरुष कौन २ से अनर्थों में प्रवृत्ति नहीं करता ? अर्थात् सभी में प्रवृत्ति करता है, अत्यन्त स्नेहमयी माता भी विकृत—द्वेष युक्त हो जाने पर क्या राक्षसी (हत्यारी) नहीं होती ? अवश्य होती है ॥३॥

शुक्र^३ विद्वान् ने भी विकृत चित्त वाले पुरुषके विषय में इसीप्रकार कहा है ॥१॥

स्वामीसे रहित अमात्य-आदिकी हानि, आयु-शून्य पुरुष, राज-कर्तव्य (आत्मरक्षा) व, स्त्री-सुखार्थ प्रवृत्ति व जिसका धन-संग्रह निष्फल है:—

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ॥५॥ देहिनि गतायुषि सक-
लांगे किं करोति धन्वन्तरिरपि वैद्यः ॥६॥ राष्ट्रस्तावदासन्ना स्त्रिय आसन्नतरा दायादा
आसन्नतमारव पुत्रास्ततो राज्ञः प्रथमं स्वाभ्यो रक्ष्यं ततो दायादेभ्यस्ततः पुत्रेभ्यः ॥७॥
आवष्टादाचक्रवर्तिनः सर्वोऽपि स्त्रीसुखाय क्लिश्यति ॥८॥ निवृत्तस्त्रीसंगस्य धनपरिग्रहो
मृतमण्डनमिव ॥९॥

अर्थ:—प्रकृतिवर्ग (मंत्री व सेनापति-आदि राजकर्मचारी) समृद्धिशाली होकरके भी जब राजा से रहित होते हैं, तब आपत्ति को पार नहीं कर सकते—शत्रुओं द्वारा होनेवाले संकटोंसे राष्ट्र का बचाव नहीं कर सकते ॥५॥

वशिष्ठ^४ विद्वान्ने भी उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

जिसकी आयु बरकी नहीं है, वह सकल अङ्गोपांगों, या ७२ कलाओं से युक्त होने पर भी धन्व-

१ तथा च गुरुः—वंशजं च सुसम्बन्ध मिषितं राजसंयुतं । कृतकर्म जनं पार्श्वे रक्षार्थे धारयेन्नुपः ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—निषोगिनं, समीपस्थं तद्विषयं न धारयेत् । वयस्यको यो न वित्तस्य बाधा विषयस्य जायते ॥१॥

अन्यदेशोद्भवं लोकं समीपस्थं न धारयेत् । अपूजितं स्वदेशीयं वा विरुद्ध्य प्रपूजितं ॥२॥

३ तथा च शुक्रः—यस्य चित्तं विकृतं स्यात् सर्वे पापं करोति सः । जातं हन्ति सुखं भाता शक्तिर्नो मार्गमाश्रिता ॥१॥

४ तथा च वशिष्ठः—राजप्रकृतयो नैव स्वासिना रहिताः सदा । गन्तुं निर्वाहकं यद्वत् स्त्रियः कान्तविचर्जिताः ॥१॥

अति समान अति निपुण वैद्य के द्वारा भी नहीं बचाया जा सकता । सारांश यह है कि जिसप्रकार जीवन रक्षामें आयु मुख्य है, उसीप्रकार राष्ट्रके सात अंगों (स्वामी, मंत्री, राज्य, किला, खजाना, सेना व मित्र-वर्गमें राजाकी प्रधानता है, अतः सबसे प्रथम उसे अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥६॥

व्यास^१ ने भी कहा है कि 'काल-वीर्यित पुरुष मंत्र, तप, दान, वैद्य व औषधि द्वारा नहीं बचाया जा सकता ॥७॥

राजाके पास रहनेवाली स्त्रियां होती हैं और विशेष तौर से पास रहनेवाले कुटुम्बीजन व पुत्र होते हैं; इसलिये उसे सबसे पहिले स्त्रियोंसे परचात कुटुम्बियों और पुत्रोंसे अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥७॥

संसार में निकृष्ट—लकड़हारा—आदि जघन्य—पुरुषसे लेकर चक्रवर्ती पर्यन्त सभी मनुष्य स्त्री-मुख प्राप्त करनेके लिये, कृषि व व्यापार आदि जीविकोपयोगी कार्य करके इलेरा उठाते हैं, परचात धन-संचय द्वारा स्त्री-सुख प्राप्त करते हैं ॥८॥

गर्ग^२ विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥९॥

जिस प्रकार मुर्देको वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करना व्यर्थ है, उसीप्रकार स्त्री-रहित पुरुषका धन-संचय करना व्यर्थ है ॥९॥

बल्लभदेव^३ विद्वान् के उद्देश का भी यही अभिप्राय है ॥१०॥

स्त्रियोंकी प्रकृति वा स्वरूपः—

सर्वाः स्त्रियः क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम् ॥१०॥ मकरदंष्ट्रा इव स्त्रियः स्वभावादेव षक्रशीलाः ॥११॥ स्त्रीणां वशोपायो देवानामपि दुर्लभः ॥१२॥ कलत्रं रूपवत्सुभगमनवद्या-चारमपत्यवर्दिति महतः पुण्यस्य फलम् ॥१३॥ कामदेवोत्संगस्थापि स्त्री पुरुषान्तरमभिलषति च ॥१४॥ न मोहो लज्जा भयं स्त्रीणां रक्षणं किन्तु परपुरुषादर्शनं संमोगः सर्व-साधारणताच ॥१५॥

अर्थ—जिस प्रकार क्षीर समुद्रकी लहरोंमें विष व अमृत दोनों पाये जाते हैं उसी प्रकार स्त्रियों में भी विष (दुःख देना) और अमृत (सुख देना) या कुरता एवं मृदुता ये दोनों दोष व गुण पाये जाते हैं; क्योंकि प्रतिकूल स्त्री हानिकारक एवं अनुकूल सुख देने वाली होती है ॥१०॥

बल्लभदेव^४ ने भी स्त्रियों को इसीप्रकार विष व असुख-सुख बताया है ॥१॥

१ तथा च व्यासः—न अंधा न तपो दानं न वैद्यो न च मेधज्ञः । शत्रुपुत्रान् परिहृतुं सर्वं कावेयं वीर्यितम् ॥१॥

२ तथा च गर्गः—कृषिं सेवां विदेशं च युद्धं वाञ्छितमेव च । सर्वं स्त्रीणां सुखार्थाय स सर्वो दुर्लभो जगः ॥१॥

३ तथा च बल्लभदेवः—प्रसूतमपि चेद्विषं पुरुषस्य स्त्रियं विना । मृतस्य मयदमं यद्वत् तप्तस्य व्यर्थमेव हि ॥१॥

४ तथा च बल्लभदेवः—साधुतं न विषं किञ्चिदेकं मृतत्वा निवर्जितम् । निरक्ता आरथेयस्मात्सुखान्तराणि हि ॥१॥

जिसप्रकार मगरकी खाँटे स्वभावतः कुटिल होती हैं; वसीप्रकार स्त्रियां भी स्वभावतः कुटिल होती हैं ॥११॥

बल्लभदेव^१ विद्वानने भी स्त्रियोंको स्वभावतः कुटिल व भयंकर बताया है ॥११॥

विरुद्ध हुई स्त्रियों को वशीभूत करनेका उपाय देवता भी नहीं जानते ॥१२॥

बल्लभदेव^२ विद्वानने भी इसीप्रकार कहा है ॥११॥

रूपवती, सौभाग्यवती, पतिव्रता, सदाचारिणी एवं पुत्रवती स्त्री पूर्वजन्म-कृत महान पुण्य से प्राप्त होती है ॥१३॥

चारायण^३ विद्वान् के उद्धारण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

चंचल प्रकृति वाली स्त्री कामदेवके समान सुन्दर पतिके पास रहकर भी दूसरे पुरुषकी कामना करती है ॥१४॥

नारद^४ विद्वानने भी चंचल प्रकृति वाली स्त्री को कुपथगामिनी बताया है ।

पर-पुरुषसे सम्पर्क न रखने वाली, पतिद्वारा काम सेवन-सुख व अभिलषित वस्तुएं प्राप्त करने वाली और ईर्ष्याहीन पतिवाली स्त्री सदाचारिणी (पतिव्रता) रह सकती है, पर स्नेह, लज्जा और क्रूर रखने वाली नहीं ॥१५॥

जैमिनि^५ विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

स्त्रियोंको अनुकूल रखनेका उपाय, विवाहित व कुरूप स्त्रियों के साथ पति-कर्तव्य, स्त्रीनेवन का निश्चित समय, श्रुत कालमें स्त्रियों की उपेक्षामें हानि, व स्त्री रक्षा—

दानदर्शनाभ्यां समवृत्तौ हि पुंसि नापराध्यन्ते स्त्रियः ॥१६॥ परिगृहीतासु स्त्रीषु प्रियाप्रिय-

त्वं न मन्येत ॥१७॥ कारणवशान्निबोऽप्यनुभूयते एव ॥१८॥ चतुर्थेदिवसस्नाता स्त्री

तीर्थ तीर्थोपराधो महानधर्मानुबन्धः ॥१९॥ श्रुतावपि स्त्रियमुपेक्षमाणः पितृणामृशभाजनं

॥२०॥ अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ॥२१॥ न स्त्रीणामकर्तव्यं

मर्यादास्ति वरमविषाहो नोदोपेक्षणा ॥२२॥ अकृतरक्षस्य किं कलत्रेणाकृषतः किं क्षेत्रेण ॥२३॥

अर्थ—जिन स्त्रियों का पति दान (धन-भूषण-आदि का दान) व दर्शन—प्रेमपूर्ण दृष्टि द्वारा

१ तथा च बल्लभदेवः—स्त्रियोऽतिमक्रतायुक्ता यथा दंष्ट्रा कषाहकाः । अजुस्वं नाधिगच्छन्ति तीक्ष्णत्वादति भीषणाः ॥१॥

२ तथा च बल्लभदेवः—चतुरः सूत्रता पूर्वमुपायास्तेन वेधसा । न सूष्टःपंचमः कोऽपि दूष्टस्तं येन योषितः ॥१॥

३ तथा च चारायणः—सुरुषं सुभगं यद्वा सुचरित्रं सुताम्वितं । यस्येवमं कलत्रं स्यात्पूर्वपुण्यफलं हि तत् ॥१॥

४ तथा च नारदः—कामदोषमं त्यक्त्वा मुक्तमेव मिश्रं पतिं । चापभ्याह्वयते गरी विरुधांगमपीतरम् ॥१॥

५ तथा च जैमिनिः—अन्धस्यादर्शनं कोपात् प्रसादः कामसंभगः । सर्वोत्तमैव गतोऽन्धमेतच्छ्रुत्वा यं मत्स्य ॥१॥

सबके साथ पक्षपात-रहित एकसा धर्ताव करता है, उससे वे वैर-विरोध नहीं करती—उसके बशमें रहती हैं ॥१६॥

नारद^१ विद्वान्ने भी स्त्रियोंको अनुकूल रखनेके यही उपाय बताये हैं ॥१॥

नैतिक पुरुष अपनी विवाहित सुन्दर पत्नियों से प्रेम व कुरूप स्त्रियों से ईर्ष्या न करे—पक्ष-पात-रहित एक सा व्यवहार रखे, अन्यथा कुरूप स्त्रियां विकृत होकर उसका अनिष्ट-चिन्तन करने लगती हैं ॥१७॥

भागुरि^२ विद्वान् ने भी विवाहित स्त्रियोंके साथ पक्षपात-रहित (एकसा) धर्ताव करने के लिये लिखा है ॥१॥

जिसप्रकार रोग-निवृत्तिके लिये कड़ुवो नीम औषधिके रूपमें सेवन की जाती है, उसी प्रकार अपनी रक्षा-आदि प्रयोजनवश कुरूप स्त्री भी उपभोग की जाती है ॥१८॥

भारद्वाज^३ विद्वान्का भी इस विषय में यही मत है ॥१॥

रजःस्रावके पश्चात् चौथे दिन स्नान की हुई स्त्री तीर्थ—शुद्ध (उपभोग करने योग्य) मानी गई है, उस समय जो व्यक्ति उसका त्याग कर देता है—सेवन नहीं करता वह अधर्मी है। क्योंकि उसने गर्भधारणमें बाधा उपस्थित कर धर्मपरम्पराको अछुएण बलानेवाली एवं वंश—वृद्धिमें सहायक सञ्जाति (कुलीन) सन्तानोत्पत्तिमें बाधा उपस्थित की, अतएव चौथे दिन स्नान की हुई स्त्री की उपेक्षा न करनी चाहिये ॥१९॥

ऋतु-स्नात—चौथे दिन स्नान हुई अपनी स्त्रीकी उपेक्षा करने वाला व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति में बाधक होने से अपने पूर्वजों का ऋणी है ॥२०॥

ऋतुकालमें भी सेवन न की जाने वाली स्त्रियां अपना या अपने पतिका अनिष्ट कर बैठती हैं ॥२१॥

गर्ग^४ विद्वान् ने भी यही कहा है ॥१॥

विकृत स्त्रियां अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर अनर्थ कर बैठती हैं, अतएव ऋतुकालमें विवा-हित स्त्रियोंका त्याग करने की अपेक्षा उनसे विवाह न करना ही कहीं अधिक भेद्य है ॥२२॥

भार्गव^५ विद्वान् के संगृहीत श्लोकका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिसप्रकार बिना जोतने-बोनेवाले कृषक के लिये खेत व्यर्थ है, उसी प्रकार ऋतुकालमें स्त्रीका

१ तथा च नारदः—दानवर्जनसंयोगं समं स्त्रीषु करोति यः । प्रसादेन विरोधं च न विद्वन्वसि तस्य साः ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—समत्वेनैव दृष्ट्या याः स्त्रियोऽत्र विवाहिताः । विरोधो नैव कर्तव्यो नरैश्च भिन्नमिच्छता ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—दुर्भगापि विद्वपापि सेव्या कान्तेन कामिनी । ययौषधकृते निवः कतुकोऽपि प्रदीयते ॥१॥

४ तथा च गर्गः—ऋतुकाळे च सम्प्राप्ते न भजेयास्तु कामिनी । तद्दुःखात्ता प्रवर्धयेत् स्वयं वा नाराधयेत्पतिम् ॥१॥

५ तथा च भार्गवः—वाङ्मन्यं विद्यते स्त्रीयामपमाने कृते सति । अविवाहो वरस्यस्मान्न तृहाना विचर्ज्यते ॥१॥

वपभोग न करने वाले मनुष्य के लिये भी स्त्री निरर्थक है, क्योंकि उससे वसका कोई इष्टप्रयोजन (धार्मिक सन्तान-आदि) सिद्ध नहीं होता ॥२३॥

स्त्रियोंके प्रतिकूल होनेके कारण, उनको प्रकृति, दूतीपन व रक्षाका उद्देश्य—

सपत्नीविधानं पत्युरसमंजसं च विमाननमपत्याभावश्च चिरविरहश्च स्त्रीणां विरक्तकार-
णानि ॥२४॥ न स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वास्ति किंतु नद्यः समुद्रमिव यादृशं पतिमाप्नु-
वन्ति तादृशो भवन्ति स्त्रियः ॥२५॥ स्त्रीणां दौत्यं स्त्रिय एव कुपुंस्तैरचोऽपि पुंयोगः
स्त्रियं दूषयति किं पुनर्मानुष्यः ॥२६॥ वंशविशुद्ध्यर्थमनर्थपरिहारार्थं स्त्रियो रक्ष्यन्ते न
भोगार्थं ॥२७॥

अर्थ—निम्नलिखित बातोंसे स्त्रियाँ अपने पतिसे विरक्त (प्रतिकूल) होजाती हैं—

सपत्नीविधान (पतिद्वारा सौतका रखना), पतिका मनोमालिन्य (ईर्ष्या व द्वेष-आदि) अपमान, अपत्याभाव (सन्तान का अभाव) व चिरविरह (पति का चिरकाल तक विदेश में रहना) अतः नैतिक पुरुष स्त्रियोंको अनुकूल रखनेके लिये उक्त पाँचों बातोंका त्याग करे ॥२४॥

जैमिनि^१ विद्वान्ने भी स्त्रियोंकी प्रतिकूलता के विषय में यही कहा है ॥१॥

स्त्रियोंमें स्वाभाविक गुण या दोष नहीं होते। किंतु उनमें समुद्रमें प्रविष्ट हुए नदी के समान पतिका गुणोंसे गुण या दोषोंसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार नदियां समुद्रमें मिलनेसे खारी होजाती हैं, वसी प्रकार स्त्रियाँ पतिका गुणोंसे गुणवती और दोषोंसे दोष-युक्त होजाती हैं ॥२५॥

शुक^२ विद्वान्ने भी स्त्रियोंके गुण व दोषके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥१॥

स्त्रियोंको सन्देश लेजानेका कार्य दूसरी स्त्रियों द्वारा ही करना चाहिये, पुरुषोंसे नहीं, क्योंकि जब पशुजातिका पुरुष भी उन्हें दूषित कर देता है तब फिर मनुष्योंसे दूषित होनेमें कोई विषेष्टता नहीं ॥२६॥

गुरु^३ विद्वान्ने भी स्त्रियोंके दूतीपन के विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

नैतिक मनुष्य अपनी वंश-विशुद्धि और अनर्थोंसे बचनेके लिये स्त्रियोंकी रक्षा करते हैं, केवल विषय-वासना की तृप्तिके लिये नहीं ॥२७॥

शुक^४ विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

१ तथा च जैमिनिः—सपत्नी वा समानत्वमपमानमपत्याभावः । दौत्यास्तैरमतिः पत्युः स्त्रीणां रागं हरन्त्यमी ॥१॥

२ तथा च शुकः—गुणो वा यदि वा दोषो न स्त्रीणां सहजो भवेत् । भर्तुः सत्कृतां याति समुद्रस्यापगा यथा ॥१॥

३ तथा च गुरुः—स्त्रीणां दौत्यं नरेन्द्रक प्रीत्या नाथो नरो न वा । तिर्यकोऽपि च पुंयोगो इष्टो दूषयति स्त्रियम् ॥१॥

४ तथा च शुकः—वंशस्य च विशुद्ध्यर्थं तथा अनर्थकमाय च । रक्षितव्याः स्त्रियो विशैनं भोगाय च केवलम् ॥१॥

वेश्या-सेवनका त्याग, स्त्रियोंके गृहमें प्रविष्ट होने का निषेध व सतके विषयमें राज-कर्तव्य—

भोजनवत्सर्वसमानाः पय्याङ्गनाः कस्तासु हर्षामर्षयोरवसरः ॥२८॥ यथाकामं कामिनीनां संग्रहः परमनीर्घ्यावानकन्याणावहः प्रक्रमोऽदौवारिके द्वारि को नाम न प्रविशति ॥२९॥ मातृव्यजनविशुद्धा राजवसत्युपरिस्थानिन्यः स्त्रियः संभवतव्याः ॥३०॥ ददुरस्य सर्पगृह-प्रवेश इव स्त्रीगृहप्रवेशो राज्ञः ॥३१॥ न हि स्त्री गृहादायातं किञ्चित्स्वयमनुभव-नीयम् ॥३२॥ नापि स्वयमनुभवनीयेषु स्त्रियो नियोक्तव्याः ॥३३॥

अर्थ—वेश्याएँ बाजारके भोजन की तरह सर्वसाधारण होती हैं, इसलिये कौन नैतिक पुरुष उन्हें देखकर मन्तुष्ट होगा ? कोई नहीं ॥२८॥ विजिगीषु राजा अभिलषित स्वार्थसिद्धि (शत्रुओंसे विजय-आदि) के लिये वेश्याओंका संग्रह करता है, परन्तु उसका ये कार्य निरर्थक और कल्याणनाशक है। क्योंकि जिसप्रकार द्वारपाल-शून्य दरवाजेमें सभी प्रविष्ट होते हैं, उसीप्रकार सर्वसाधारणद्वारा भोगी जाने वाली वेश्याओंके यहां भी सभी प्रविष्ट होते हैं, इसलिये वे शत्रुपक्ष में मिलकर विजिगीषुको मार डालती हैं। अतएव शत्रु-विजय अन्य उपाय (सामादि) द्वारा करनी चाहिए; न कि वेश्याओंके द्वारा ॥२९॥ विजिगीषु शत्रु-विजय-आदि आवश्यक प्रयोजनवश मातृपक्षसे विशुद्ध (व्यवभिचार शून्य) व राजद्वार पर निवास करने वाली वेश्याओंका संग्रह करे ॥३०॥ जिसप्रकार सौंपकी वामीमें प्रविष्ट हुआ मेंढक नष्ट होजाता है; उसीप्रकार जो राजा लोग स्त्रियोंके गृहमें प्रविष्ट होते हैं, वे अपने प्राणोंको खो बैठते हैं, क्योंकि स्त्रियाँ पंचसत्ता प्रकृति वश शत्रु-पक्षसे मिलकर इसे मार डालती हैं या मरवा देती हैं ॥३१॥

गौतम^१ विद्वान्ने भी राजाको स्त्री-गृहमें प्रविष्ट होनेका निषेध किया है ॥३२॥

राजा अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये स्त्रियोंके गृहसे आई हुई कोई भी वस्तु भक्षण न करे ॥३३॥

वादरायण^२ ने भी इसी बातकी पुष्टि की है ॥३४॥

राजा स्वयं भक्षण करने योग्य भोजनादि के कार्य में स्त्रियोंको नियुक्त न करे, क्योंकि वे पंचसत्ता वश अनर्थ कर डालती हैं ॥३५॥

भृगु^३ विद्वाञ्च का भी इस विषय में यही अभिप्राय है ॥३६॥

स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंके अनर्थ, दुष्ट स्त्रियोंका घृणित इतिहास, व स्त्रियोंका माहात्म्य—

संवन्नं स्वातंत्र्यं चाभिलषन्त्यः स्त्रियः किं नाम न कुर्वन्ति ॥३७॥ भूयते हि किल-आत्मनः स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषविदूषितमण्डपेण मणिकुण्डला महादेवी यवनेषु

१ तथा च गौतमः—प्रविष्टो हि यथा मेको विष्णुः सर्पस्य मृत्युमाह । तथा संजायते राजा प्रविष्टो वेश्मनि स्त्रियः ॥३२॥

२ तथा च वादरायणः—स्त्रीणां गृहात् समायातं मन्त्रणीयं न भूमुज्जा । किञ्चित्स्वयमपि प्राप्ताम् रक्षितुं वोऽमिक्त-ज्जति ॥३३॥

३ तथा च भृगुः—भोजनादिषु सर्पेषु भास्मीषेषु नियोजयेत् । स्त्रियो भूमिपतिः क्वापि मारयन्ति यतश्च ताः ॥३४॥

निजतनुजराज्यार्थं जघान राजानमङ्गराजम् ॥३५॥ विषालतकदिग्धेनाधरेण वसन्तमतिः
शूरसेनेषु सुरतविलासं, विषोपलिप्तेन मेखलामणिना वृकोदरी दशार्धेषु मदनार्धं, निशित
नेमिना मुकुरेण मदराक्षी भगधेषु मन्मथविनोदं, कवरीनिगूढेनासिपत्रेण चन्द्ररसा पाण्ड्येषु
पुण्डरीकमिति ॥३६॥ अमृतरसवाप्य इव श्रीजमुखोपकरणं स्थिरः ॥३७॥ कस्तामा
कार्याकार्यविलोकनेऽधिकारः ॥३८॥

अर्थ—वशीकरण, उच्चाटन और स्वेच्छाचार चाहने वाली स्त्रियाँ कौन-से अनर्थ नहीं करती? सभी अनर्थ कर डालती हैं ॥३४॥ भारद्वाज^१ विद्वान् ने भी स्त्रियों पर विश्वास न करने के लिये लिखा है ॥१॥ इतिहास बताता है; कि यवनदेशमें स्वच्छन्द वृत्ति चाहनेवाली मणिकुण्डला नामकी पट्टरानीने अपने पुत्रके राज्यार्थ अपने पति अङ्गराज नामके राजाको विष-दूषित शराब के कुरछेसे मार डाला ॥३५॥ इसीप्रकार शूरसेन (मथुरा) में वसन्तमति नामकी स्त्रीने विषके आलतेसे रंगे हुए अधरोंसे सुरतविलास नामके राजाको, वृकोदरीने दशार्ध (भेलसा) में विषलिप्त करधनोके मणि द्वारा मदनार्धब राजाको, मदिराक्षीने भगधदेशमें लीखे दर्पणसे मन्मथविनोदको और पाण्ड्यदेश में चन्द्ररसा रानीने कवरी (केश-पाश) में छिपी हुई छुरीसे पुण्डरीक नामके राजाको मार डाला ॥३६॥

स्त्रियाँ लक्ष्मीसे उत्पन्न होनेवाले सुखकी स्थान (आधार) हैं । अर्थात् जिसप्रकार लक्ष्मीके समागमसे मनुष्योंको विशेष सुख प्राप्त होता है; उसीप्रकार स्त्रियोंके समागमसे भी विशेष सुख मिलता है एवं अमृत रससे भरी हुई वाक्छियों के समान, मनुष्यों के चित्तमें आनन्द उत्पन्न करती हैं । अर्थात् जिसप्रकार अमृत-रस से भरीहुई वाक्छियाँ दर्शनमात्रसे मनुष्योंके चित्तमें विशेष आनन्द उत्पन्न कर देती हैं; उसीप्रकार स्त्रियाँ भी दर्शनादि से मनुष्योंके चित्तमें विशेष आनन्द उत्पन्न कर देती हैं ॥३७॥

शुक^२ विद्वान् ने भी इसीप्रकार स्त्रियोंका साहात्म्य बताया है ॥१॥

मनुष्योंको उनके कर्तव्य व अकर्तव्य देखने से क्या प्रयोजन ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं । सारांश यह है कि स्त्रियाँ स्वाभाविक कोमल व सरलहृदय होती हैं, अतः बुद्धिमान् मनुष्योंको उनके साधारण दोषोंपर दृष्टिपात न करते हुए उन्हें नैतिक शिक्षा द्वारा सन्मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिये ॥३८॥

स्त्रियोंकी सीमित स्वाधीनता, उनमें अत्यंत आसक्त पुरुष, उनके अधीन रहने वाले की हानि पतिव्रताका साहात्म्य व उनके प्रति पुरुष का कर्तव्य—

अपत्यपोषणं गृहकर्मणि शरीरसंस्कारे शयनावसरे स्त्रीणां स्वातंत्र्यं नान्यत्र ॥३९॥ अतिप्र-
सक्तः स्त्रीषु स्वातंत्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्यं हृदयं विश्राम्यति ॥४०॥ स्त्रीवशपुरुषो नदी-
प्रवाहपतितपादप इव न चिरं नन्दति ॥४१॥ पुरुषबुद्धिस्था स्त्री लक्ष्म्याष्टरिव कमत्सर्ष न

१ तथा च भारद्वाजः—कर्मणं स्वेच्छयाचारं सदा बाध्यन्ति बोधितः । तस्मात्तासु न चिरवासः प्रकर्तव्यः कर्तव्य ॥१॥

२ तथा च शुकः—लक्ष्मीसंभ्रमसौख्यस्य कथिता वामलोचनाः । यथा पीयूषवाप्यदण्ड ममकाह्लाददा सदा ॥१॥

जनयति ॥४२॥ नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीयाः स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु,
शस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते ॥४३॥

अर्थ—स्त्रियोंको सम्मान-पालन, गृहकार्य, शरीर-संस्कार और पतिके साथ शयन इन चार बातों में स्वतन्त्रता देनी चाहिये, दूसरे कार्यों में नहीं ॥४३॥

भागुरि^१ विद्वान् ने भी उक्त चार बातोंमें स्त्रियोंको स्वतन्त्र रखने को कहा है ॥४६॥

जबकि कामी लोग स्त्रियोंमें अत्यधिक आसक्त होनेके कारण उन्हें सभी कार्योंमें स्वतन्त्रता दे देते हैं, तो वे स्वच्छन्द होकर पतिके हृदयको उसी प्रकार कष्टोंमें विदीर्ण किये बिना नहीं रहती जैसे कि हृदयमें प्रविष्ट हुई तलवार उसे बेध करही बाहर निकला करती है ॥४७॥ जिसप्रकार नदीके प्रवाह में पड़ा हुआ वृक्ष विरकाल तक अपनी वृद्धि नहीं कर पाता, बल्कि नष्ट हो जाता है, इसीप्रकार स्त्रीके वशमें रहनेवाला पुरुष भी अधिक क्षति द्वारा नष्ट होजाता है, अतः स्त्रियोंके अधीन नहीं रहना चाहिये ॥४९॥

शुक^२ विद्वान् ने भी स्त्रियोंके अधीन रहने का निषेध किया है ॥१॥

जिसप्रकार मुट्ठीमें धारण की हुई खड्गचप्ट—तलवार—विजिगीषुका मनोरथ (विजय-लाभादि) पूर्ण करती है, इसीप्रकार पुरुषकी आक्षानुकूल चलने वाली (पतिव्रता) स्त्री भी अपने पतिके मनोरथ पूरा करती है ॥४२॥

किसी^३ विद्वान् ने भी पतिव्रता स्त्रीको पतिके मनोरथ पूर्ण करने वाली कहा है ॥१॥

नैतिक पुरुष स्त्रियोंको कामशास्त्रकी शिक्षामें प्रवीण न बनावे, क्योंकि स्वभाव से वसम काम-शास्त्रका ज्ञान स्त्रियोंको छुरीमें पड़े हुए पानीकी बूंद समान नष्ट कर देता है। अर्थात् जिसप्रकार पानी की बूंद छुरी पर पड़नेसे एकदम नष्ट होजाती है, उसीप्रकार कामशास्त्र की शिक्षा भी स्त्रियों को कुल—धर्म—चारित्र्यधर्म से गिराकर नष्ट भष्ट कर देती है, अतः स्त्रियों को कामशास्त्र की शिक्षा छोड़कर अन्य लौकिक व धार्मिक शिक्षाएँ देनी चाहिये ॥४३॥

भारद्वाज^४ विद्वान् ने भी स्त्रियोंको कामशास्त्रकी शिक्षा देनेका निषेध किया है ॥१॥

वैश्यागमन के दुष्परिणाम—

अध्रुवेणाधिकेनाप्यर्थेन वैश्यामनुभवन्पुरुषो न विरमनुभवति सुखम् ॥४४॥ विसर्जना-
कारणाभ्यां तदनुभवे महाननर्थः ॥४५॥ वैश्यासक्तिः प्राणार्थहानिं कस्य न करोति ॥४६॥

१ तथा भागुरिः—स्वातन्त्र्यं नास्ति ततोऽपि मुक्त्वा कर्मचतुष्टयम् । वाञ्छानां बोधसं कृत्यं शयनं चाद्रभूषणं ॥१॥

२ तथा च शुकः—न चिरं वृद्धिमाप्नोति यः स्त्रीणां वशतो भवेत् । नदीप्रवाहपतितो यथा भूमिस्तमुज्ज्वलः ॥१॥

३ तथा बोक्त—या नारी वशता पत्युः पतिव्रतपरायणा । सा स्वपत्युः करोत्येव मनोराज्यं इति स्थितम् ॥१॥

४ तथा च भारद्वाजः—न कामशास्त्रतत्त्वज्ञः स्त्रियः कार्योः कुलोद्भवाः । यतो वैरूप्यमाधाप्ति यथा सरस्वते

पुल्लगमः ॥१॥

धनमनुभवन्ति वेश्या न पुरुषं ॥४७॥ धनहीनं कामदेवेऽपि न प्रीतिं बध्नन्ति वेश्याः ॥४८॥
 स पुमान् न भवति सुखी, यस्यातिशयं वेश्यासु दानं ॥४९॥ स पशार्गपि पशुः यः स्वधनेन
 परेषामर्थवन्तीं करोति वेश्यां ॥५०॥ आचित्तविश्रान्ते वेश्यापरिग्रहः श्रेयान् ॥५१॥
 सुराक्षितापि वेश्या न स्वां प्रकृतिं परपुरुषसेवनलक्षणां त्यजति ॥५२॥

अर्थ—जब विवेक-हीन पुरुष वेश्याओंको प्रचुर धन देकर भी उनका उपभोग करता हुआ अधिक समय तक सुखी नहीं हो पाता, जब थोड़ासा धन देनेवाला कैसे सुखी हो सकता है ? नहीं हो सकता । बिना कारण छोड़ी हुई वेश्याओंके यहाँ पुनः जानेसे वे व्यसनीका महान् अनर्थ (प्राणघात) कर डालती हैं वेश्यागामी पुरुष अपने प्राण-धन और मानमर्वादको खो बैठते हैं ॥४४-४६॥

नारद^१ ने भी वेश्यासक्तको अपने प्राण व धनका नाशक कहा है ॥१॥

वेश्याएँ केवल व्यसनी पुरुष द्वारा दिये हुए धनका ही उपभोग करती हैं, पुरुषका नहीं; क्योंकि निर्धन व्यक्ति ६४ कलाओंका पारगामी (महाविद्वान्) व कामदेव सदृश अत्यन्त रूपवान् भी क्यों न हो, उसे वे तत्काल ठुकरा देती हैं; जबकि कुपुत्र—आदि भयावह व्याधियोंसे पीड़ित व कुरूप घनाढ्य व्यक्तिसे अनुराग करती हैं ॥४७॥

भारद्वाज^२ विद्वान्के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

वेश्याएँ कामदेव समान अत्यन्त रूपवान् पर दूरिद्र व्यक्ति से कभी भी अनुराग नहीं करती तो फिर भला कुरूप व दूरिद्र व्यक्तिसे कैसे प्रेम कर सकती हैं ? नहीं कर सकती ॥४८॥

भागुरि^३ विद्वान्ने भी वेश्याओं के विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

वेश्याओंमें आसक्त पुरुष उन्हें प्रचुर धन देने पर भी कभी सुखी नहीं हो सकता जो मूर्ख वेश्याको अपना प्रचुर धन देता है वह दूसरोंको भी धन देनेके लिये प्रोत्साहित कर उसे और भी घनाढ्य बनाता है, वह पशुसे भी बढ़कर पशु है, क्योंकि वह अपने साथ साथ दूसरोंकी भी आर्थिक क्षति करता है ॥४९-५०॥

बल्लभदेव^४ विद्वान्ने भी वेश्यासक्तकी इसी प्रकार कड़ी आलोचना की है ॥१॥

विजिगीषु अपने विद्या की शान्ति पश्यन्त (शत्रु-विजय पश्यन्त) गुप्तचर-आदिके कार्यार्थ वेश्या-संग्रह करे, इससे वह शत्रुकृत उपद्रवोंसे देश को सुरक्षित करता है ॥५१॥

१ तथा च नारदः—प्राकार्थहानिरेव स्वादुरवायां सञ्चितो नृणाम् । परमाकस्मात्परित्याग्या वेश्या पुनर्विचल-
 चिभिः ॥१॥

२ तथा च भारद्वाजः—न सेवन्ते नरं वेश्याः सेवन्ते केवलं धनम् । धनहीनं यतो मर्त्यं संत्यजन्ति च तत्कथम् ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—न सेवन्ते धनहीनः कामदेवोऽपि वेत्तस्वयम् । वेश्याभिर्धनमुक्त्वामिः कुड्डी चापि निवेज्यते ॥१॥

४ तथा च बल्लभदेवः—आत्मविप्लवो वेश्यां महार्थो कुरुते कुभीः । जम्बूवां विलनाकाय पशूनां पशुः सर्वकः ॥१॥

अच्छी तरह रखवाली की हुई वेश्या दूसरे पुरुषका उपभोग करने रूप अपना स्वभाव नहीं छोड़ती ॥५८॥

गुरु^१ विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

प्रकृति-निर्देश—

या यस्य प्रकृतिः सा तस्य दैवेनापि नापनेतुं शक्येत ॥५३॥ सुभोजितोऽपि स्वा किमशुची-
न्यस्थीनि परिहरति ॥५४॥ न खलु कपिः शिवाशतेनापि चापन्यं परिहरति ॥५५॥
ह्युरसेनापि सित्तो निम्बः कदुरेव ॥५६॥

अर्थ—जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसे विधाता भी दूर करने में असमर्थ है ॥५३॥

नारद^२ ने भी व्याघ्र-आदि की प्रकृति का निर्देश किया है ॥१॥

अच्छी तरह भोजनादि द्वारा लृप्त हुआ भी कुत्ता क्या हड्डियां चबाना छोड़ सकता है ? नहीं छोड़ सकता ॥५४॥

भृगु^३ विद्वान् ने भी प्रकृति न बदलने के विषय में यही कहा है ॥१॥

धैर्य-धारण की सैंकड़ों शिक्षाओं द्वारा समझाया गया भी बदर क्या कभी अपनी चंचल प्रकृति छोड़ सकता है ? नहीं छोड़ सकता ॥५५॥

अत्रि^४ विद्वान् ने भी बंदर की चंचल प्रकृति न बदलनेके विषयमें कहा है ॥१॥

गन्नेके मीठे रससे सींचा गया नीमका पेड़ कड़ुआ ही रहता है ॥५६॥

गर्ग^५ विद्वान् ने भी दुष्ट व शिष्टकी प्रकृति के विषयमें लिखा है ॥१॥

प्रकृति, कृत्स्न कुटुम्बियोंका पोषण व उनके विकृति होनेका कारण, शारिरिक सौन्दर्य व कुटुम्बियोंका संरक्षण—

क्षीराभितर्करापानभोजितरचादि न कदाचित् परित्यजति विषम्^A ॥५७॥ सन्मानदिवसा-

दायुः कुल्यानामपग्रहेतुः ॥५८॥ तंत्रकोशबर्धिनी वृत्तिर्दायादान् विकारयति ॥५९॥ दारुण-

१ तथा च गुरुः—यद्वेश्या क्षीमशुभ्रता स्वीकृतापि नरोत्तमैः । सेवकेपुरुषानन्वात् स्वभावो दुस्त्वजो यतः ॥१॥

२ तथा च नारदः—व्याघ्रः सेवति काननं सुगहनं सिंहो गुह्यं सेवते । हंसः सेवति पद्मिनीं कुसुमिणीं गृध्रः समान-स्थिनीं ॥ साधुः सेवति साधुमेव सततं नीचोऽपि नीचं जनं । या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता दुःखेन सा त्यज्यते ॥१॥

३ तथा च भृगुः—स्वभावो नान्मथाकर्तुं शक्यः केनापि कुत्रचित् । स्वेव सर्वरसात् भुक्त्वा विना मेध्यात् वृत्त्यति ॥१॥

४ तथा च अत्रिः—मोक्षः शिवाशतेनापि न चापन्यं त्यजेत्कपिः । स्वभावो नोपदेशीय शक्यते कर्तुं नयन्त्या ॥१॥

५ तथा च गर्गः—पिशुनं दानमाधुर्यं संग्रमादि कथंचन । सित्तरणेक्षुरसेनापि दुस्त्वजा प्रकृतिर्निजा ॥१॥

A—उक्त सूत्र मु.म. पुस्तक से संकलन किया गया है, सं. टी. पु. में नहीं है ।

मधिकृत्यसंस्कारसाराहितोपयोगाच्च शरीरस्य रमणीयत्वं न पुनः स्वभावः B ॥६०॥ भक्ति-
विश्रम्भादव्यभिचारिणं कुन्यं पुत्रं वा संवर्धयेत् ॥६१॥ विनियुञ्जीत उचितेषु कर्मसु ॥६२॥

अर्थः—जिसप्रकार सांपको मोठा दूध पिलाने पर भी वह अपनी बिल्ली प्रकृति नहीं छोड़ सकता उसीप्रकार जिसकी जैसी प्रकृति होती है, उसे वह कदापि नहीं छोड़ सकता। सारांश यह है कि इसी तरह वेश्याओं का व्यभिचार-प्रकृतिको घनलोभसे नहीं छोड़ सकती, इसलिये नैतिक विचारवान् मनुष्यको शारीरिक भयंकर बीमारियों (गर्मी-सुजाक-आदि) को उत्पन्न करनेवाली एवं धन, धर्म, प्राण व मानमर्यादा नष्ट करनेवाली वेश्याओंसे सदा दूर रहना चाहिये ॥५५॥

जब राजा अपने निकटवर्ती कुटुम्बीजनोंको उच्च अधिकारी पदों पर नियुक्त करके जीवनपर्यन्त प्रचुर धन-आदि देकर उनका संरक्षण करता है, तब वे अभिमान-वश राज्यलोभसे राजा के घातक हो जाते हैं ॥५६॥

शुक्र^१ विद्वानने भी निकटवर्ती कुटुम्बीजनोंका संरक्षण राजाके विनाशका कारण बताया है ॥५७॥

राजा द्वारा जब सजातीय कुटुम्बियोंके लिये सैन्य व कोश बढ़ानेवाली जीविका दीजाती है, तब वे विकार-युक्त—अभिमानी होजाते हैं, जिसेका परिणाम महाभयंकर होता है— वे शक्ति सम्पन्न होकर अभिमान व राज्य-लोभ-वश राजाका बध-बंधनादि चिन्तन करने लगते हैं, अतः उन्हें ऐसी जीविका न देने चाहिये ॥५६॥

शुक्र^२ विद्वानने भी सजातीय कुटुम्बियोंके लिये सैन्य व कोश बढ़ानेवाली जीविका देनेका निषेध किया है ॥५८॥

शरीर में कृत्रिम (बनावटी) सौन्दर्य होता है, न कि स्वाभाविक, क्योंकि युवावस्था को प्राप्त होकर उत्तम वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत होने के कारण वह सुन्दर प्रतीत होता है ॥६०॥

राजाको अपने पर श्रद्धा (भक्ति) रखनेवाले, भक्ति के बहाने से कभी विकट न होनेवाले नम्र, विश्वसनीय व आज्ञाकारी सजातीय कुटुम्बी व पुत्रों का संरक्षण करते हुए उन्हें योग्य पदों पर नियुक्त करना चाहिये ॥६१-६२॥

नारद^३ बल्लभदेव^४ विद्वान्ने भी इसीप्रकार कहा है ॥५९॥

B— उक्त सूत्र सु. म. पुस्तक से संकलन किया गया है स, टी. पु. में नहीं है।

१ तथा च शुक्रः—कुलपार्थिवेषां यच्च क्रियते मृदुपार्थिवैः । आत्मनाशाय तदर्थं तस्मात्स्वार्थं सुदूरतः ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—भूतिः कार्यं न कुलपार्थिवेषां सैन्यं विवर्धते । सैन्यवृद्ध्या तु ते भवन्ति स्वामिन् राज्यलोभतः ॥२॥

३ तथा च नारदः—वर्धनीयोऽपि दायादः पुत्रो वा भक्तिभाष्यदि । न चिकारं करोति स्रज्जाला साकुस्ततः परं ॥३॥

४ तथा च बल्लभदेवः—स्थानेऽप्येव नियोज्यन्ते भृत्या आभरन्ति च । न हि भूत्वाभक्तिः पादे प्रभवामीति वक्ष्यते ॥४॥

स्वामीका आज्ञापालन, शक्तिशाली व वैर-विरोध करनेवाले पुत्रों व कुटुम्बियोंका वशीकरण, कृतज्ञके साथ कृतघ्नता करनेका दुष्परिणाम व अकुलीन माता-पिताका सन्तान पर कुप्रभाव—

मर्तुरादेशं न विकल्पयेत् ॥६३॥ अन्यत्र प्राणबाधाबहुजनविरोधपातकेभ्यः ॥६४॥

चलवत्पक्षपद्मिग्रहेषु दायिप्राप्तपुरुषपुरःसरो विश्वासो वशीकरणी गूढपुरुषनिक्षेपः प्रस्थिधिर्वा

॥६५॥ दुर्बोधे सुते दाय्यादे वा सम्यग्युक्तिभिर्दुरभिनिवेशमवतारयेत् ॥६६॥ साधुषूपचर्य-

माणेषु विकृतिभजनं स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव ॥६७॥ क्षेत्रबीजयोर्वैकुण्ठ्यमपत्यानि

विकारयति ॥६८॥

अर्थ—सेवककी प्राणनाशिनी तथा लोगोंसे वैर-विरोध उत्पन्न कराने वाली एवं पापमें प्रवृत्ति करानेवाली स्वामीकी आज्ञाको छोड़कर (उसे उल्लंघन करते हुए) दूसरे सभी स्थानोंमें सेवकको अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥६३-६४॥

जब राजाके सजातीय कुटुम्बी लोग सन्त्र (सैन्य) व कोशशक्तिसे क्षतिग्रस्त होजायें, उस समय उनके वश करनेका पहला उपाय यह है कि वह अपने शुभचिन्तक व प्रामाणिक पुरुषोंको अपनेसर नियुक्त कर उनके द्वारा कुटुम्बियोंको अपनेमें विश्वास उत्पन्न करावे और दूसरा उपाय यह है कि उनके पास शुभचरोंको नियुक्त करे, ताकि उनके सम्बन्ध में राजाको विदित होसके। सारांश यह है कि उक्त उपायों द्वारा उनकी सारी चेष्टाएँ विदित होने पर उनके वशीकरणार्थ प्रयोगकी हुई साम-दान-आदि उपायोंकी योजनाएँ सफल होंगी ॥६५॥

शुक्र^१ विद्वान् ने भी शक्तिशाली कुटुम्बियोंको अधीन करने के लिये उक्त दोनों उपाय बताये हैं ॥१॥

नैविक मनुष्यको पुत्र व भार्या वगैरह कुटुम्बी जनोंका मूर्खता-पूर्ण दुराग्रह अच्छी वस्तियों (वृत्ति-युक्त वचनों) द्वारा नष्ट करदेना चाहिये ॥६६॥

रैभ्य^२ विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

वपकार करनेवाले शिष्ट पुरुषोंके साथ अन्यायका वर्ताव करनेवाला अपने हाथोंसे अंगारे खींचने समान अपनी हानि करता है। अर्थात् जिसप्रकार अपने हाथोंसे अग्निके अंगारों को खींचने से जल आते हैं, उसीप्रकार वपकार करनेवाले शिष्ट पुरुषोंके साथ अन्याय करनेसे अधिक हानि (आर्थिक-वृत्ति-आदि) होती है ॥६७॥

भागुरि^३ विद्वानके उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

१ तथा च शुक्रः—वशकर्यवदायादो आप्तद्वारेण वश्यताः । अवन्ति प्रातिगुणैश्च वरैः सम्बन्धकोचिताः ॥१॥

२ तथा च रैभ्यः—दुष्टो वा बान्धवो वापि विक्रमो जायते यदा । तदा सन्तोषदुस्तस्तु तत्कालो भूतिभिर्भूया ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—साधूनां विवदाद्वयानां विलक्षणं करोति यः । स करोति न सम्भेदः स्वहस्तेनाग्निर्कर्षणम् ॥१॥

माता पिता की अकुलीनता उनके पुत्रों को विकार-युक्त-नीचकुलका-बना देती है एवं सन्तानके लघन्य आचरणसे माता पिताकी अकुलीनता जानी जाती है ॥६८॥

उत्तम पुत्रकी उत्पत्तिका उपाय—

कुलविशुद्धिरुभयतः प्रीतिर्मनःप्रसादोऽनुपहतकालसमयश्च श्रीसरस्वत्यावाहनमंत्रपूतपरमाशो-
पयोगश्च गर्भाधाने पुरुषोत्तममवतारयति ॥६९॥

अर्थ—दम्पति निम्नप्रकार कारण-सामग्रीसे उत्तम, कुलीन व भाग्यशाली पुत्र उत्पन्न करते हैं।

१—कुलविशुद्धि—दम्पतिके माता पिताका वंश, परम्परा से चली आने वाली पिढ-शुद्धि से शुद्ध (सज्जाति) वंश होना चाहिये।

भगवद्विज्जनसेनाचार्य ने भी कहा है कि वंश-परम्परासे चले आई पिता की वंश-शुद्धि 'कुल' और माता की वंश शुद्धि 'जाति' है एवं दोनों (कुल व जाति) की शुद्धिको 'सज्जाति' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन दम्पतियों के धीज-युक्त समान परम्परासे चले आये हुए वंशमें समान गोत्रमें विवाह आदि द्वारा पिढमें अशुद्धि न हुई हो, किंतु एक जाति में भिन्न गोत्रज कन्या के साथ विवाहसंस्कार द्वारा प्रवाह रूप से चला आया हुआ वंश विशुद्ध हो, उसे 'सज्जाति' कहते हैं। उसकी प्राप्ति होने से कुलीन पुरुष को बिना प्रयत्न किये प्राप्त होने वाले सद्गुणों (शिक्षा व सदाचार-आदि) के साथ साथ मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र्य रूप रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभता से होजाती है।

उक्त सज्जाति का सुरक्षार्थ आचार्य श्रीने गर्भाधानादि संस्कारों से उत्पन्न होने वाली दूसरी सज्जाति का निरूपण किया है, जिसके द्वारा कुलीन भव्य पुरुष द्विजन्मा—वो जन्म वाला (१ शरीर जन्म २ संस्कारों से होने वाला आत्म-जन्म) कहा जाता है, जिसके फल स्वरूप उसमें नैतिक व धार्मिक संस्कर्त-व्य-पालन की योग्यता उत्पन्न होती है। जिसप्रकार विशुद्ध स्वान्तिसे उत्पन्न हुई मणि संस्कार से अत्यन्त उज्ज्वल हो जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी क्रिया (गर्भाधानादि) व मंत्रोंके संस्कार से अत्यन्त निर्मल—विशुद्ध होजाती है एवं जिसप्रकार सुवर्णपाषाण उत्तम संस्कार क्रिया (छेदन, भेदन व अग्निपुट-पाक आदि) से शुद्ध होजाता है, उसीप्रकार भव्य पुरुष भी उत्तम क्रियाओं (संस्कारों) को प्राप्त हुआ विशुद्ध हो जाता है।

वह संस्कार धार्मिक ज्ञानसे उत्पन्न होता है, और सम्प्राज्ञान सर्वोत्तम है, इसलिये जब यह पुरुष-वान् पुरुष साक्षात् सर्वज्ञदेवके मुखचन्द्र से सम्प्राज्ञानामृत पान करता है तब वह सम्प्राज्ञानरूपगर्भसे

१ तथा च भगवद्विज्जनसेनाचार्यः—पितुरन्वयशुद्धिर्वा तत् कुलं परिभाष्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिप्रेक्ष्यते ॥१॥

विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुचर्यते । यस्याप्ली सुलभा बोधिरयत्नोदयतैर्गुणैः ॥२॥

संस्कारजन्मना चान्वा सज्जातिरनुकीर्यते । वामासाद्य द्विजन्मत्वं भठ्यात्मा समुपास्नुते ॥३॥

विशुद्धाकरसंभूतो मणिः संस्कारयोगतः । यस्त्वं स्पर्शं यथात्मैवं क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥४॥

सुषुम्णातुरथवा शुद्धचेदासाद्य संतिकया । यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यात्मासादितक्रियः ॥५॥

ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरः । यथायं जगते साक्षात् सर्वविन्मुक्ततः कुतो ॥६॥

तदैव परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना । जातो मयेव द्विजस्मेति ततः । शीघ्रैरथ भूषितः ॥७॥ आदि पुराण से ।

संस्काररूप जन्मपे उत्पन्न होकर पांच अगुप्रतों (अहिनागुप्रत सस्यागुप्रत-आदि) तथा ७ शीलों (दिग्गत आदि) से विभूषित होकर 'द्विजन्मा' कहलाता है ॥ १-७ ॥ सारांश यह है कि कुलीन दम्पति की मंथन कुलीन होती है और गर्भाधान-आदि संस्कारों से संस्कृत होने पर उसमें मोक्ष-साधन सम्यग्दर्शनानादि प्राप्त करनेकी योग्यता होती है ।

२-दम्पतियों का पारस्परिक प्रेम ३-मनः प्रसाद (दम्पतियों के हृदय कमल का विकास-प्रसन्न चित्त रहना) ४-चन्द्रयहगा आदि दोष रहित गर्भाधान वेला (समय) ५-लक्ष्मी (अनन्त धन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख व अनन्तवीर्य रूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी व समवसरण विभूति रूप बहिरङ्ग लक्ष्मी) और सरस्वती (व्याख्या ज्ञान) का आवाहन करने वाले मन्त्रों (पीठिका मंत्रादि) से पवित्र किये हुए (वर्षावधि हवन पूर्वक) उत्कृष्ट-आचार शास्त्र व प्रकृति श्रुतके अनुकूल-अन्त का भक्षण ॥६६॥

निरोगी व दीर्घजीवी संतान होनेका कारण, राज्य व दीक्षाके अयोग्य पुरुष, अज्ञानोंको राज्याधिकारकी सीमा, दिनचर्या प्रभाव, व अभिमानी राजकुमारोंकी हानि —

गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु देहलाभात्मलाभयोः कारणं परमम् ॥७०॥ स्वजातियोग्यसंस्कार-
हीनानां राज्ये प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकारः ॥७१॥ असति योग्येऽन्यस्मिन्नङ्गविहीनोऽपि
पितृपदमर्हत्यापुत्रोत्पत्तेः ॥७२॥ साधुसम्पादितो हि राजपुत्राद्यां विनयोऽन्वयमभ्युदयं न च
दृश्यति ॥७३॥ घृण्यजग्धं काण्डमिवाविनीतं राजपुत्रं राजकुलमभियुक्तमात्रं मज्येत् ॥७४॥

अर्थ—जो स्त्री गर्भवती अवस्थामें निरोगी व सुखी रहती है, उसकी मंथन भी सुखी होती है एवं जिस बच्चेका जन्म शुभयहोंमें होता है, वह दीर्घजीवी (विरायु) होता है ॥७०॥

शुक्र^१ विद्वान्ने भी संतानके निरोगी और दीर्घजीवी होनेके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥७१॥

अपनी जातिके योग्य गर्भाधान-आदि संस्कारोंसे हीन पुरुषोंको राज्य-प्राप्ति व दीक्षा-प्राप्त करनेका अधिकार नहीं है ॥७१॥ राजाके कालकवलित होजाने पर उसका अज्ञहीन पुत्रभी उस समय तक अपने पिताका पद (राज्याधिकार) प्राप्त कर सकता है, जबतक कि उस (अज्ञहीन) की कोई दूसरी योग्य संस्तान न होजावे ॥७२॥

शुक्र^२ विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥७३॥

जिन राजकुमारोंको शिष्ट पुरुषों द्वारा विनय-सदाचार-आदि की नैतिक शिक्षा दीगई है—उनका वंश व बुद्धिगत राज्य दूषित नहीं होता ॥७३॥

वादरायण^३ विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥७४॥

जिसप्रकार घृण्य—कीड़ोंसे खाईहुई लकड़ी नष्ट होजाती है, उसीप्रकार दुराचारी व बदचल

१ तथा च शुक्रः—गर्भस्थानमपत्यानां यदि सौख्यं प्रजायते । अज्ञचेदि शुभो देहो कीर्तितम् च जन्मति ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—राजाभावे तु संजाते योग्यः पुत्रो न वैज्येत् । अदा अर्जुनोऽपि संस्थाप्यो वाप्यपुत्रस्तनुजः ॥१॥

३ तथा च वादरायणः—विनयः साधुभिर्विज्ञे राज्ञानां भवेद्दि वः । न दूषयति वंशं तु न राज्यं न च सम्पदम् ॥१॥

राजकुमारका वंश नष्ट हो जाता है; इसलिये दुराचारी व उदरस्थ व्यक्ति को राज्यपद पर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥७४॥

भागुरि^१ विद्वान् ने भी दुराचारी व्यक्ति को राज्यपद पर नियुक्त करनेका निषेध किया है ॥१॥

पितासे द्रोह न करनेवाले राजकुमार, उनके माता-पिता, उनसे लाभ, माता-पिताके अनादरसे हानि, उससे प्राप्त राज्यकी निरर्थकता व पुत्रकर्तव्य—

आप्तविद्यादोषरुद्धाः सुखोपरुद्धाश्च राजपुत्राः पितरं नामिदृशन्ति ॥७५॥ मातृपितरो
राजपुत्राणां परमं देव ॥७६॥ यत्प्रसादादात्मलामो राज्यलामश्च ॥७७॥ मातृपितृभ्यां
मनसाप्यपमानेष्वमिमुखा अपि भियो विमुखा भवन्ति ॥७८॥ किं तेन राज्येन यत्र
दुरपवादोपहर्तं जन्म ॥७९॥ क्वचिदपि कर्मणि पितुराणां नो लंघयेत् ॥८०॥

अर्थ—जो राजकुमार वंशपरम्परासे चले आये निजी विद्वानों द्वारा विनय व सदाचार-आदि की नैतिक शिक्षासे सुशिक्षित और सुसंस्कृत किये जाकर बढ़ाये गये हैं व त्रिनका लालन-पालन सुखपूर्वक किया गया है, वे कभी भी अपने पितासे द्रोह नहीं करते (उसका अनिष्ट चिंतन नहीं करते) ॥७५॥

गौतम^२ विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

उत्तम माता-पिता का मिलना राजकुमारों के उत्तम भाग्यका चोकर है। अर्थात् यदि उन्होंने पूर्व जन्ममें पुण्य-संचय किया है तो वे माता-पिता द्वारा राज्यभी प्राप्त करते हैं, अन्यथा नहीं ॥७६॥

मर्ग^३ विद्वान् ने भी राजकुमारोंके अनुकूल व प्रतिकूल भाग्यसे उन्हें इष्ट अनिष्ट फल देनेवाले माता-पिता की प्राप्ति का निर्देश किया है ॥१॥

माता-पिताकी प्रसन्नतासे ही राजकुमारोंको शरीर व राज्य-कर्म भी प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि माता-पिताका पुत्रोंके प्रति अनन्त उपकार है, इसलिये सुखामिक्षापो पुत्रोंको उनकी तन, मन और धनसे सेवा-श्रम पूरा करनी चाहिये ॥७७॥

रैभ्य^४ विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो पुत्र माता-पिताका मनसे भी तिरस्कार-अनादर करते हैं, उनके पाससे प्रसन्न होकर समीपमें आनेवाली कर्म भी रुक होकर दूर भाग जाती है। अभिप्राय यह है कि सुख-सम्पत्तिके इच्छुक पुत्रोंको अपने माता-पिताका मनसे भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। फिर प्रवृत्ति रूपसे तिरस्कार करना तो महाअनर्थ का कारण है ॥७८॥

वावरायण^५ विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

१ तथा च भागुरिः—राजपुत्रो दुराचरो यदि राज्ये नियोजितः । तत्राज्यं वाशयायति पुण्यजन्यं च दास्यत् ॥१॥

२ तथा च गौतमः—आप्तविद्याधिकेयैश्च राजपुत्राः दुरक्षिताः । बुद्धिं गतात्म्यं सौख्येन जगदं च ह्रूयन्ति ते ॥१॥

३ तथा च मर्गः—जगतीजगजकेसी प्राप्तायं कर्मविभु तौ । सर्वेषां राजपुत्राणां शुभाशुभप्रदौ हि तौ ॥१॥

४ तथा च रैभ्यः—अतद्वत् हि किञ्चिदपि जगतीजगजकुली । तैव चाम्नां प्रसादेन करीरं राज्यमाप्नोते ॥१॥

५ तथा च वावरायणः—जगज्जगजमानं वो राजपुत्रः समाचरेत् । सदा मातृपितृभ्यां च तत्त्व ग्रीः स्वात् पराङ्मुखा ॥१॥

उस निरर्थक राज्यसे क्या लाभ है ? जिसकी प्राप्तिमें असाध्यजीवन व्यर्थ हो जाय जोकनिन्द्यासे दूषित होता हो ॥७६॥

शुक^१ विद्वान् ने भी लोकनिन्द्यायुक्त राज्य-प्राप्ति को निरर्थक बताया है ॥१॥

पुत्रको किसीभी कार्यमें पिताकी आज्ञा उल्लंघन नहीं करनी चाहिये ॥८॥

लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा उक्त बातका समर्थन, पुत्रके प्रति पिताका कर्तव्य और अशुभकर्म करने से हानि—

किन्तु खलु रामः क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनमाविवेश ॥८१॥ यः खलु

पुत्रो मनसितपरम्परया लभ्यते स कथमपकर्तव्यः ॥८२॥ कर्तव्यमेवाशुभं कर्म यदि हन्य-

मानस्य विषद्विधानमात्मनो न भवेत् ॥८३॥

अर्थ—क्या निश्चयसे महात्मा रामचन्द्र राजनैतिक-ज्ञान अथवा अधिकारीक्रम तथा शूरीरता से हीन थे ? जिन्होंने अपने पिता (राजा दशरथ) की आज्ञानुसार वनवास को प्रस्थान किया । सारांश यह है कि लोकमें वह राजपुत्र अपनी पैतृक राज-गद्दीका अधिकारी नहीं समझा जाता जोकि क्रम (राजनैतिक-ज्ञान, सदाचार व लोकव्यवहार पटुता-आदि) एवं शूरीरतासे हीन हो अथवा उक्त गुण होने पर भी अयेष्ट न हो, परन्तु राजा दशरथके अयेष्ट पुत्र महात्मा रामचन्द्रमें पैतृक राज्यश्रीकी प्राप्तिके लिये यथेष्ट राजनैतिक-ज्ञान, लोकव्यवहार-पटुता राज्य-शासन-श्रीलता एवं लोकप्रियता-आदि सद्गुण थे । वे पराक्रमशाली थे और अयेष्ट होने के नाते कानूनन राजगद्दी के अधिकारी थे । यदि वे चाहते तो अपने पराक्रमी भाई लक्ष्मणकी सहायतासे अपनी सौतेली मा (कैकयी) को कैदकरके व उसके फंदे में फँसे हुए अपने पिताको नीचा दिखाकर स्वयं राजगद्दी पर बैठ जाते । परन्तु उन्होंने ऐसा अनर्थ कहीं किया और अपने पिताकी कठोरतम आज्ञा का पालन कर १४ वर्ष तक वनवास के कष्ट सहें । अतएव सम्यक्त्व और सदाचारको सुरक्षित रखते हुए पुत्रोंको अपने पिताकी कठोरतम भी आज्ञाका पालन करना चाहिये ॥८१॥

जो पुत्र माता-पिता द्वारा अनेक प्रकारके मनोरथों या ईश्वर-आदिसे की हुई याचनाओं द्वारा बड़ी कठिनाई से मिलता है, ऐसे दुर्लभ पुत्रके विषयमें उसके माता-पिता किसप्रकार अनिष्ट चिन्तन कर सकते हैं ? नहीं सकते ॥८२॥

शुक^१ विद्वान् के उद्धरणका भी पुत्र-रत्ना के विषय में यही अभिप्राय है ॥१॥

क्योंकि निरपराध भारे जानेवाले पुरुषके बंध-बंधनादि कष्ट स्वयं हिसकको भोगने पड़ते हैं, इसलिये क्या बुद्धिमान पुरुषोंको ऐसा अनिष्ट सोच-काय करना चाहिये ? नहीं करना चाहिये ॥८३॥

१ तथा च शुकः—अनापवादसहितं यत्राभ्यभिष्ट कीर्त्यते । प्रभूतमपि सम्प्रिया तत्पापा राजसंस्थिते ॥१॥

२ तथा च शुकः—उपवाचितसंपातैर्बः कृष्णैश्च प्रसज्यते । तस्मादात्मजस्य नो पार्य चिन्तनीयं कर्मात्मन ॥१॥

गर्ग^१ विद्वान् ने भी उक्त दुष्कृत्य (निरपराधी का बंध) करनेका निषेध किया है ॥१॥

राजपुत्रोंके सुखीहोनेका कारण, दूषित राज-लक्ष्मी, निष्प्रयोजन कार्यसे हानि व उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, राज्य के योग्य उत्तराधिकारी व अपराधीकी पहिचान—

ते खलु राजपुत्राः सुखिनो येषां पितरि राजभारः ॥८४॥ अलं तथा श्रिया यां क्रियपि सुखं
जनयन्ती व्यासंगपरंपराभिः शतशो दुःखमनुभावयति ॥८५॥ निष्फलो हारम्भः कस्य
नामोदकेण सुखावहः ॥८६॥ परक्षेत्रं स्वयं कषतः कर्षायतो वा फलं पुनस्तस्यैव यस्य
तत्क्षेत्रम् ॥८७॥ सुतसोदरसपत्नपितृव्यकुल्यदौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे भवत्युत्तरस्य राज्य-
पदावाप्तिः A ॥८८॥ शुष्करयाममुखता वावस्तम्भः स्वेदो विजृम्भणमतिमात्रं वेषधुः प्रस्वलन-
मास्यप्रेक्षणमावेगः कर्मणि भूमौ वानवस्थानमिति दुष्कृतं कृतः करिष्यतो वा लिंगानि ॥८९॥

अर्थ—वे राजपुत्र निश्चयसे सुखी माने गये हैं, जिनके पिता राज्यकी बागडोर अपने हाथमें लिये हों; क्योंकि वे (राजपुत्र) राज्य-शासन के कठिन कार्यभारको संभालने आदिसे निश्चिन्त रहते हैं ॥८४॥

अत्रि^२ विद्वानके श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजाको उस राजलक्ष्मीसे कोई लाभ नहीं, जो उसे थोड़ासा सुखी करनेके उपरान्त अनेक चिन्ताओं द्वारा सैकड़ों कष्टोंको उत्पन्न कर देती हो ॥८५॥

कौशिक^३ विद्वानने भी सुखकी अपेक्षा अधिक कष्ट देने वाली राजलक्ष्मीको व्यर्थ बताया है ॥१॥

फलशून्य—निष्प्रयोजन (उद्देश्य व लक्ष्य-हीन) कार्य का आरम्भ भविष्यमें किसी सुखी बना सकता है ? किसी को नहीं । अतएव विवेकी मनुष्यको सोच-समझकर कार्य करना चाहिये ताकि भविष्यमें वह उससे सुखी होसके ॥८६॥ जो मनुष्य दूसरेके खेतको स्वयं जोतता है या भूमि किसीसे जुतवाता है, उसका परिश्रम व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा करने से उसे कुछभी लाभ नहीं होता, क्योंकि उसमें जो कुछभी धान्य-आदि की उपज होगी, वह इसे न मिलकर उस खेतके स्वामीको ही मिलेगी ॥८७॥

कौशिक^४ विद्वानके उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

१—राजपुत्र, २—राजाका भाई, ३—पटरानीको छोड़कर दूसरी रानीका पुत्र, ४—राजाका चाचा
५—राजाके वंशका पुत्र, ६—राजकुमारीका पुत्र और ७—बाहरसे आकर राजाके पास रहनेवाला—वस्तक

१ तथा च गर्गः—अनिष्टमपि कर्तव्यं कर्म पुंनिर्विचक्षणैः । तस्य चेद्वन्धमानस्य यज्जालं तत्स्वयं भवेत् ॥१॥

A 'सुत-सोदर-सपत्न-पितृव्य-कुल्य-दौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे ह्युत्तरस्य दायव्याप्तिः' इस प्रकार का पाठ्यभार मू० प्रतिष्ठेमें है, जिसका अर्थ यह है कि वस्तु सात व्यक्ति क्रमशः दायभागके अधिकारी हैं ।

१ तथा च अत्रिः—येषां पितरं बहेदत्र राज्यभारं सुदुर्बेदयः । राजपुत्रा सुखावहारं ते भवन्ति सर्वे हि ॥१॥

२ तथा च कौशिकः—अल्पसौम्यता वा च बहुल्लेखप्रदा भवेत् । धृष्टा सात्र परिहोया शत्रव्याः सौम्यकर्म यतः ॥१॥

३ तथा च कौशिकः—परक्षेत्रं तु यो भोजं परिचिपति सन्धवीः । परिक्षेपयतो वापि तत्फलं क्षेत्रफलं हि ॥१॥

पुत्र-आदि इन सात प्रकारके राज्याधिकारियों मेंसे सबसे पहिले राजपुत्रको और उसके न रहने पर भाई-आदिको यथाक्रमसे राजा बनाना चाहिये ॥८८॥

शुक्र^१ विद्वान्का भी राजाके बाद राज्यके उत्तराधिकारी बनाने के विषय में यही मत है ॥९॥

जो पुरुष पूर्णमें पाप कर चुका हो, वर्तमानमें कर रहा हो और भविष्य में करेगा, उसके निम्न-प्रकारके लक्षणोंको देखकर म्यायाधीशों को उसके पापी (अपराधी) होनेके विषयमें पहिचान करनी चाहिये ।

१—जिसका चेहरा उदास (म्लान) और काला दिखाई पड़ता हो, २—जिसके मुखसे स्पष्ट वचन न निकलते हों—म्यायालय में प्रश्न पूछे जाने पर जो उत्तर देनेमें असमर्था हो, ३—जिसे लोगोंके समक्ष पसीना आता हो, ४—जो बार-बार जमाई जेठा हो, ५—जो अत्यन्त कांप रहा हो ६—जो लड़खड़ाते पैरों से चलता हो, ७—जो दूसरोंके मुखोंकी ओर बार-बार देखता हो ८—जो अत्यन्त जख्मबाज हो और ९ जो स्थिरतासे कार्य न करता हो वा जो स्थिर भावसे जमीन पर या एक स्थान पर न बैठता हो ॥८९॥

शक्र^२ विद्वान्का भी अपराधी-पुरुषोंकी पहिचानके विषय में यही मत है ॥१॥

इति राजरक्षा समुद्देश ।

२५ दिवसानुष्ठान-समुद्देश ।

निश्चकर्तव्य, सुखपूर्वक निद्रासे लाभ, सूर्योदय व सूर्यास्त की बेला में शयनसे हानि-आदि—
 ब्राह्मे मुहूर्त उच्यतेति कर्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥१॥ सुखनिद्राप्रसन्ने हि मनसि
 प्रतिफलान्ति यथार्थप्राप्तिका बुद्धयः ॥२॥ उदयास्तमनशायिषु धर्मकालातिक्रमः ॥३॥
 आत्मवक्षत्रमाज्ये दर्पणे वा निरीक्षेत ॥४॥ न प्रातर्वर्षधरं विकलाङ्गं^३ वा पश्येत् ॥५॥
 सन्ध्यासुधीतमुखं जप्त्वा देवतोऽनुगृह्णाति^A ॥६॥ नित्यमदन्तधावनस्य नास्ति सुखशुद्धिः
 ॥७॥ न कार्यध्यासङ्गेन शरीरं कर्मोपहन्यात् ॥८॥ न खलु युगैरपि तरङ्गविगमात् सागरे
 स्नानं ॥९॥ वेग-ध्यापाम-स्नाप-स्नान-भोजन स्वच्छन्दवृत्तिं कालान्तोपहृष्यात् ॥१०॥

अर्थ—मनुष्यको ब्राह्ममुहूर्त में बैठकर स्थिर चित्तसे इस समुद्देश में कहे जानेवाले सत्यकर्तव्यों का पालन करना चाहिये ॥१॥ जिस मनुष्यका चित्त सुखपूर्वक गाढ़ निद्रा लेनेसे स्वस्थ रहता है, उसमें

१ तथा च शुक्रः—सुतः सोदरसापत्नपितृव्या गोत्रियास्तथा । दोहिभागमुक्ता घोष्या पदे राजो यथाक्रमम् ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—आचारि स्वस्मिन्तैः पादैः सभायां पापकर्मकृत् । प्रत्येकमेव संयुक्तो बभूवष्टिः सुस्मिताः १ ॥१॥

३ सु. सू. प्रति में इसके पश्चात् 'रजस्वला' ऐसा अधिक पाठ है, जिसका अर्थ यह कि मनुष्य मातःकाष्ठ रजस्वला स्त्री को भी न देखे ।

A इति पाठ म. सू. प्रतिसे संकलन किया गया है ।

समस्त बुद्धियां यथार्थ होकर प्रतिबिम्बित होजाती हैं ॥२॥ सूर्योदय व सूर्यास्तके समय सोनेवाले पुरुष सामायिक-आदि धार्मिक अनुष्ठान नहीं कर पाते; असएव उन्हें यह समय सोने में खराब नहीं करना चाहिये ॥३॥ प्रातःकाल उठकर मनुष्यको अपना मुख धृत अथवा शोरा—दर्पणमें देखना चाहिये ॥४॥ मनुष्य सुबह नपुंसक व अंगोपांग-हीन (लले-लंगड़े-आदि) को न देखे ॥५॥

तीनों सन्ध्याओं में मुख शुद्ध करके जप करनेवाले व्यक्तिका कंधाआदि तीर्थकर देव अनुग्रह करते हैं ॥६॥

जो पुरुष हमेशा दांतोंनहीं करता—उसकी मुख-शुद्धि नहीं हो पाती । अतः सुन्दर स्वास्थ्य को कामना करनेवाले मनुष्य को सुबह-शाम विधिपूर्वक दांतोंनहीं करते हुए इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि मसूँहों को तकलीफ न हो और दांतों भी नीम जैसी तिछरसवाली हो । ऐसा करनेसे कफादिक से उत्पन्नहुई मुखकी दुर्गन्धि नष्ट होजाती है और दांत भी सुन्दर व चमकीले दिखाई पड़ने लगते हैं ॥७॥

मनुष्यको किसी कार्यमें आसक्त होकर शारीरिक क्रियाओं (मल-मूत्रादि का यथासमय चेपना-आदि) को न रोकना चाहिये ॥८॥ नैतिक मनुष्यको कदापि समुद्रमें स्नान नहीं करना चाहिये, चाहे समुद्रमें चिरकालसे तरंगों का उठना बन्द हो गया हो ॥९॥ शारीरिक स्वास्थ्यके इच्छुक व्यक्तिको मल-मूत्रादिका वेग, कसरत, नींद, स्नान, भोजन और ताजी हवा में घूमना-आदि की यथासमय प्रवृत्ति नहीं रोकनी चाहिये । अर्थात् उक्त कार्य यथासमय करने चाहिये ॥१०॥

वीर्य व मल-मूत्रादिके वेगोंको रोकने से हानि, शौच तथा गृह-प्रवेशकी विधि व व्यायाम—

शुक्रमलमूत्रमरुद्देगसंरोधोऽश्मरीभगन्दर-गुल्मार्शसां हेतुः ॥११॥ गन्धलेपावसानं शौचमाचरेत् ॥१२॥ बहिरागतो नानाचाम्य गृहं प्रविशेत् ॥१३॥ गोसर्गे व्यायामो रसायनमन्यत्र शीखा-जीर्णवृद्धवातकिरूचभोजिभ्यः ॥१४॥ शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः ॥१५॥ शस्त्रवाहनाभासेन व्यायामं सफलयेत् ॥१६॥ आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशान्त्याचार्याः ॥१७॥ बलातिक्रमेश व्यायामः कां नाम नापदं जनयति ॥१८॥ अथ्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदाढ्यं च ॥१९॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने वीर्य, मल, मूत्र और वायुके वेगोंको रोकता है उसे पथरी, भगंदर, गुल्म व बवासीर-आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

चरक^१ निम्ना ने लिखाहै कि बुद्धिमान् पुरुषको मल-मूत्र, वीर्य वायु, वसन, झीक, उद्गार

१ तथा च चरकः—न वेगान् धारयेद्दीमाञ्जालान् मूत्रपुरीषयोः । न रेतसो न पातस्य न क्षयोः स्वचोर्न च ॥१॥ नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः । न वाप्यस्य न निद्राया निःश्वासस्य क्रमेण च ॥२॥ अस्तिमेहतयोः शुक्लं मूत्रकृष्णं विरोकता । विनामो वक्ष्यानाहः स्वास्तिकमूत्रनिग्रहे ॥३॥ पञ्चाशयमिरःशुक्लं पातयन्तोऽप्रवर्तनम् । विविक्तकोष्ठेष्टनाध्मानं पुरीषे रक्षादिधारिते ॥४॥ मेहे वृषकयोः शुक्लमत्रमर्दो हृदि व्यथा । भवेद् मतिहते शुके निषर्दं मूत्रमेव च ॥५॥

जमाई, भूख-प्यास, वाष्प, नींद और परिश्रमसे होनेवाले श्वासोच्छ्वासके वेगों को नहीं रोकना चाहिये । क्योंकि मूत्रका वेग रोकने से गुदा और जननेन्द्रियमें पीड़ा, पेशाब करनेमें कष्ट व शरीरमें पीड़ा होती है एवं शरीर झुक जाता है तथा अङ्गकोषोंकी वृद्धि होजाती है । मलका वेग रोकने से पक्काशय और शिरमें पीड़ा-आदि होते हैं । धीरेके वेगको रोकनेसे जननेन्द्रिय व जठराङ्गोषों में पीड़ा और पेशाबका रुकजाना-आदि उपद्रव होजाते हैं—इत्यादि । अतः स्वास्थ्य चाहनेवालेको उक्त वेग नहीं रोकना चाहिये ॥११॥

शौचके पश्चात् गुदा और हस्त-पाद आदिकी शुद्धि मुक्तानी मिट्टी और जलसे करनी चाहिये व अन्तमें उन अंगोंमें सुगन्धित तृक्य का लेप करना चाहिये, ताकि दुर्गन्धि नष्ट होकर चित्त प्रसन्न रहे ॥१२॥ बाहरसे आया हुआ व्यक्ति आचमन (कुरत्ता) किये बिना अपने गृहमें प्रवेश न करे ॥१३॥

जिनकी शारीरिक शक्ति क्षीण होगई हो—जिनके शरीरमें खून की कमी हो, ऐसे दुर्बल मनुष्य अजीर्ण रोग-युक्त, शरीरसे वृद्ध, लकवा-आदि बाढ-रोगी और रुद्ध-भोगी मनुष्योंको छोड़कर दूसरे स्वस्थ बालक और नवयुवकोंके लिये प्रातःकाल व्यायाम करना रसावन के समान लाभदायक है ॥१४॥

चरक^१ विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

शरीरमें परिभ्रम उत्पन्न करनेवाली क्रिया (दंड, बैठक व झूल आदि) को 'व्यायाम' कहते हैं ॥१५॥

चरक^२ विद्वान् ने भी कहा है कि शरीरको स्थिर रखनेवाली शक्तिवर्धिनी व मनको प्रिय लगनेवाली शस्त्र-संवादन-आदि शारीरिक क्रिया को व्यायाम कहते हैं, इसे उचित मात्रामें करना चाहिये ॥१॥

लङ्ग आदि शस्त्र-संवादन तथा हाथी और घोड़े आदिकी सवारीसे व्यायामको सफल बनाना चाहिये ॥१६॥

आयुर्वेदके विद्वान् आचार्य शरीरमें पसीना आने तक व्यायाम का समय मानते हैं ॥१७॥

चरक^३ विद्वान् ने भी अति मात्रामें व्यायाम करनेसे अत्यन्त थकावट, मनमें रक्तानि व स्वर-आदि अनेक रोगोंके होनेका निर्देश किया है ॥१॥

जो मनुष्य शारीरिक शक्तिको उपलक्षण कर अधिक मात्रामें व्यायाम करता है, उसे कौन-कौन सी शारीरिक अवाधियां नहीं होती ? सभी होती हैं ॥१८॥

जो लोग व्यायाम नहीं करते उनको अठरात्मिका दीपन, शरीर में ज्वलाह और रुद्धता किसप्रकार प्राप्त हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥१९॥

१ तथा च चरकः—वाक्पुष्टप्रवातारथ वे चोत्पीर्बहुमापकाः । ते वर्जयेयुर्ग्यायामं बुधितास्तृप्तिारथ वे ॥१॥

२ तथा च चरकः—शरीरक्षेप्ता वा चेष्टा स्वैर्याप्यं थकावर्जिनी । देहव्यायामसंख्याता मात्राया तां समाचरेत् ॥१॥

३ तथा च चरकः—अमः क्लमः अपस्तुष्या रक्तचित्तं प्रथमकः । अतिव्यायामतः कसो ज्वररुद्धिरथ जायते ॥१॥

चरक^१ विद्वान् ने भी कहा है कि अत्यन्त ठंडा करने से शारीरिक सुख, कर्तव्य करने में उत्साह, शारीरिक दृढ़ता, दुःखोंको सहन करने की शक्ति, वात व पित्त आदि दोषोंका दब व जठराग्नि प्रदीप्त होती है ॥१॥

निद्राका लक्षण उससे लाभ, दृष्टान्तद्वारा समर्थन, आयु-रक्षक कार्य, स्नानका उद्देश्य व लाभ, स्नानकी निरर्थकता, स्नान-विधि व निषिद्ध स्नान—

इन्द्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः ॥२०॥ यथासात्स्यं स्वपाद्भुक्ताभपाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रियाणि ॥२१॥ सुषटितमपि हितं च भाजनं साधयत्यभ्यानि^A ॥२२॥ नित्य-स्नानं द्वितीयमुत्सादनं तृतीयकमायुष्यं चतुर्थकं प्रत्यायुष्यमित्यहीनं सेवेत ॥२६॥ धर्मार्थ-कामशुद्धिर्दुर्जनस्पर्शाः स्नानस्य कारणानि ॥२४॥ अमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम् ॥२५॥ जलचरस्येव तत्स्नानं यत्र न सन्ति देवगुरुधर्मोपासनानि ॥२६॥ प्रादुर्मवत्क्षुत्पिपा-सोऽभ्यङ्गस्नानं कुर्यात् ॥२७॥ आतपसंतप्तस्य जलावगाहो श्मग्न्यं शिरोष्यर्था व करोति ॥२८॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियां, आत्मा, मन और स्वासोष्णवासकी सूक्ष्मावस्था 'निद्रा' है ॥२०॥ प्रकृति के अनुकूल यथेष्ट निद्रा लेनेसे साथे हुए भोजन का परिपाक होजाता है और समस्त इन्द्रियां प्रसन्न रहती हैं ॥२१॥ जिसप्रकार सावित व सुला हुआ बर्तन अन्न पकाने में समर्थ होता है; इसीप्रकार यथेष्ट निद्रासे स्वस्थ शरीर भी कर्तव्य-पालनमें समर्थ होता है ॥२२॥

नित्यस्नान, स्निग्ध पदार्थोंसे उबटन करना, आयुरक्षक प्रकृति-कतुके अनुकूल आहार-विहार प्रत्यायुष्य (शरीर और इन्द्रियोंको सुरक्षित और शक्तिशाली बनाने वाले कार्य-पूर्वक मल-मूत्रादिके वेगों को न रोकना, व्यायाम व शालिश-आदि) कार्य करनेमें म्यूनता (कमो) न करनी चाहिये । अर्थात् वस्तु कार्यों को यथाविधि यथाप्रकृति सम्पन्न करना चाहिये ॥२३॥

मनुष्यको धर्म, अर्थ और काम-शुद्धि रखनेके लिये एवं 'दुष्टोंका स्पर्श होजाने पर स्नान करना चाहिये ॥२४॥ स्नान करनेसे शरीरकी श्मग्न्य आलस्य और पसीना गह होजाते हैं ॥२५॥

१ उपा च चरकः—आयुषं कर्मसामर्थ्यं स्वैर्बुद्धिः दुःखसहिष्णुता । दोषत्रयोऽग्निवृद्धिरथ व्यायामाभ्युपगच्छते ॥१॥

A वक्तृ श्रुत्वा सु० सु० प्रतिसे संकल्पन किया गया है, ल० टी० पुस्तक में 'सुषटितमपि हितं' व भाजनं व साधयत्यभ्यानि' ऐसा पाठ है, परन्तु विशेष अर्थ-मैद नहीं । इसके परचाट् 'इत्यपाधमर्तनमुपसाह्वयर्धमस्तुष्यं त्रिगुणैश्कृतकर्म कृत्वा (?) पुष्यं स्त्री गुणै रोमावहरणं एकमेऽह्नि निरर्थं स्नानम्' ऐसा पाठ अधिक है जगत् अशुद्ध होनेसे ठीक अर्थ प्रतीत नहीं होता । किन्तु प्रकरवाजुसार अर्थ यह है कि शर्मा और पैरोंका अर्धन करण, उत्साहवर्द्धक व आयुरक्षक है तथा स्वस्थका स्त्रीका सेवन नहीं करना चाहिये एवं प्रसूता स्त्रीको दसवें दिन स्नान करना चाहिये परन्तु वेद भाट्टके परचाट् ही उसका उपभोग करना चाहिये ।

चरक^१ विद्वान् ने भी कहा है कि स्नान शरीरको पवित्र करनेवाला, कामोद्दीपक, आयुवर्द्धक, परिश्रम, पसीना व शरीरके मलको दूर करनेवाला, शारीरिक शक्ति वर्द्धक और शरीरको तेजस्वी बनाने वाला है ॥१॥

जो व्यक्ति देव, गुरु और धर्मकी उपासनाके उद्देश्य से स्नान नहीं करता उसका स्नान पश्चियों की तरह निरर्थक है ॥२६॥ भूखे और व्यासे मनुष्यकी मालिश करने के बाद स्नान करना चाहिये ॥२७॥ जो व्यक्ति सूर्य-आदि की गर्मी से संतप्त होकर जलमें प्रविष्ट होता है (स्नान करता है), उसके नेत्रोंकी रोशनी मंद पड़ जाती है और शिरमें पीड़ा होजाती है, अतः गर्मी से पीड़ित व्यक्ति तत्काल स्नान न करे ॥२८॥

आहार सम्बन्धी स्वास्थ्योपयोगी सिद्धान्त—

बुभुक्षाकालो भोजनकालः ॥२९॥ अक्षुधितेनामृतप्युपभुक्तं च भवति विषं ॥३०॥ जठराग्निं वज्राग्निं कुर्वन्नाहारादौ सदैव वज्रकं बलयेत् ॥३१॥ निरन्नस्य सर्वं द्रवद्रव्यमग्निं नाशयति ॥३२॥ अतिश्रमपिपासोपशान्तौ पेयायाः परं कारणमस्ति ॥३३॥ घृताधरोत्तमभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ॥३४॥ सकृद्भूरि नीरोपयोगो बन्धिमवसादयति ॥३५॥ चूत्कालातिक्रमादग्नेर्देहसादश्च भवति ॥३६॥ विध्याते बन्धौ किं नामेन्धनं कुर्यात् ॥३७॥ यो मितं भुङ्क्ते स बहुं भुङ्क्ते ॥३८॥ अप्रमितमसुखं विरुद्धमपरीक्षितमसाधुपाकमतीतरसमकालं चान्नं नानुभवेत् ॥३९॥ फल्गुभुजमननुकूलं क्षुधितमतिक्रूरं च न भुक्तिसमये सन्निधापयेत् ॥४०॥ गृहीतग्रासेषु सहभोजिष्वात्मनः परिवेषयेत् ॥४१॥ तथा भुञ्जीत यथासायमन्येद्युश्च न विपद्यते बन्धिः ॥४२॥ न भुक्तिपरिमाणं सिद्धान्तोऽस्ति ॥४३॥ बन्धमिलाषयत् हि भोजनं ॥४४॥ अतिमात्रभोजी देहमग्निं च विधुरयति ॥४५॥ दीप्तो बन्धिर्लघुभोजानादलं क्षपयति ॥४६॥ अत्यशितुर्दुःस्वेनान्नपरिणामः ॥४७॥ अमार्तस्य पानं भोजनं च ज्वराय छर्दये वा ॥४८॥ न जिहत्सुर्न ग्रस्त्रोतुमिच्छुर्नासमञ्जसमनारच नानपनीय पिपासोद्रेकमरणीयात् ॥४९॥ भुक्त्वा व्यायामव्यवायौ सद्यो व्यापत्तिकारणं ॥५०॥ आजन्मसात्स्न्यं विषमपि पथ्यं ॥५१॥ असात्स्न्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्स्न्यमप्यपथ्यं ॥५२॥ सर्वं बलवतः पथ्यमिति न कालकूटं सेवेत ॥५३॥ सुशिक्षितोऽपि विस्तत्रहो म्रियत एव कदाचिद्विषात् ॥५४॥ संविमज्यातिथिष्वभिषेधु च स्वयमाहरेत् ॥५५॥

अर्थ—भूख लगने का समय ही भोजन का समय है। सारांश यह है कि बिनेकी पुरुष अहिंसाधर्म की रक्षार्थ रात्रि-भोजन का त्यागकर दिनमें भूख लगने पर प्रकृति-वस्तु के अनुकूल भोजन करे, बिना भूख कदापि भोजन न करे ॥२९॥

१ तथा च चरकः—पश्चिक्त्वा बुभुक्षायुध्यं भस्मस्वेदमवापहम् । शरीरव्यसन्नधानं स्नानमोजस्करं परम् ॥५॥

चरक^१ चिद्धान् ने भी वेश, काल, अग्नि, मात्रा, प्रकृति, संस्कार, वीर्य, कोष्ठ, अवस्था व क्रम-आदि से विरुद्ध आहार को अहितकारक—अनेक रोग पैदा करनेवाला—कहा है। उसमें जो व्यक्ति भूखा न होने पर भी किसी कार्य विशेषसे मल-मूत्र का वेग रोककर आहार करता है, उसके आहार को क्रम-विरुद्ध कहा है। अज्ञानवश ऐसा (क्रम-विरुद्ध) आहार—करनेवाला अनेक रोगोंसे पीड़ित होजाता है, अतः भूख लगनेपर ही भोजन करना चाहिये।

क्योंकि बिना मूत्र के शरीर दुःख सहित भी विष होजाता है, अतः लूधा (भूख) लगने परही भोजन करना चाहिये ॥३०॥ जो मनुष्य सदा आहार के आरम्भ में अपनी जठराग्नि को वज्रकी अग्नि समान प्रदीप्त करता है, वह वज्रके समान शक्तिशाली होजाता है ॥३१॥ बुभुक्षित—भूखा मनुष्य यदि अन्न न खाकर केवल घी-दूध-आदि तरल पदार्थ पीता रहे, तो वह अपनी जठराग्नि को नष्ट कर डालता है, अतः तरल पदार्थों के साथ २ अन्न-भक्षण भी करना चाहिये ॥३२॥ अत्यंत भकावट के कारण उत्पन्न हुई प्यासको शान्त करने में दूध सहायक होता है ॥३३॥ घृत-पान पूर्वक भोजन करनेवाले मनुष्यकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है और जेठोंकी रोशनी भी बढ़ जाती है ॥३४॥ जो एकबार में अधिक परिमाणमें पानी पीता है, उसकी जठराग्नि मन्द होजाती है ॥३५॥ भूख का समय उत्सङ्गन करनेसे अन्न में अरुचि व शरीर में कृशता-कमजोरी होजाती है। अतः भूखके समयका उत्सङ्गन नहीं करना चाहिये ॥३६॥

जिसप्रकार अग्निके बुझ जानेपर उसमें ईंधन डालनेसे कोई लाभ नहीं, उसीप्रकार बुभुक्षा-काल के उत्सङ्गन करनेसे जठराग्निके बुझजाने पर भोजन करनेसे भी कोई लाभ लाभ नहीं। अतः उसके प्रदीप्त होनेपर भोजन करना चाहिये ॥३७॥ जठराग्नि के अनुकूल खानेवाला ही स्वस्थता के कारण अधिक खाता है ॥३८॥ स्वास्थ्य-रक्षा चाहने वाले को अज्ञान व लोभ-वरा जठराग्निसे अधिक, अहितकर (दुःखदेनेवाला), अपरीक्षित मलीभांति परिपाक न होनेवाला, रसहीन व भूखका समय उत्सङ्गन करके किया हुआ भोजन नहीं खाना चाहिये। अर्थात्-स्वास्थ्य चाहनेवाला व्यक्ति हंसी-मजाक न करता हुआ मीनपूर्वक उष्ण, सिग्ध, जठराग्निके अनुकूल, पूर्व भोजनके पचजानेपर किया हुआ, इष्टदेशमें वर्तमान व काम-क्रोधादि दुर्भावों को उत्पन्न न करनेवाला आहार न अत्यंत शीघ्रता से और न अत्यंत विलम्ब से करे। चरक चिद्धान् ने इस विषय की विराद व्याख्या की है, परन्तु विस्तार के भयसे इस लिखना नहीं चाहते ॥३९॥

नैतिक पुरुष आहारकी चेष्टामें अल्प-भोजन करनेवाला, अपने से बैर-विरोध रखनेवाला, बुभुक्षित व दुष्ट व्यक्ति को अपने पास न बैठावे; क्योंकि इनकी उपस्थिति भोजन को अहंभिकर बना देती

१ अथा च चरकः—आहारजातं तत् सर्वमहितोपयोगिरते । ३

यश्चापि देशकालाग्निमात्रासात्त्वानिजादिभिरिषादि ।

यश्चानुत्सृज्य विशृङ्खलं भुङ्क्ते यश्चाबुभुक्षितः । ३

‘तथा क्रमविरुद्धस्यात् । चरकसंहिता सूत्रभाष्य अ० २९ ।

है ॥४०॥ भोजन करने वाला व्यक्ति आहारकी सेवा (समय) में अपनी थाली भोजन करनेवाले सह-भोजियोंसे बेधित रखवे ॥४१॥ मनुष्य इसप्रकार—अपनी जठराग्निकी शक्तिके अनुकूल—भोजन करे जिससे उसकी अग्नि शामकी वा दूसरे दिन भी मन्द न होने पावे ॥४२॥

भोजन की मात्रा—परिमाण—के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है ॥४३॥

निश्चय से मनुष्य जठराग्निकी उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प शक्तिके अनुकूल उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प-भोजन करे । अर्थात् भूखके अनुसार भोजन करे ।

चरक संहिता में भी आहारकी मात्राके विषयमें लिखा है कि 'आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षया' अर्थात् आहारकी मात्रा मनुष्यकी जठराग्निकी उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प शक्तिकी अपेक्षा करती है (इसके अनुकूल होती है), अतः जठराग्नि की शक्तिके अनुकूल आहार करना चाहिये ॥४४॥

भूखसे अधिक खानेवाला व्यक्ति अपना शरीर व जठराग्निकी क्षीण करता है ॥४५॥ प्रदीप्त हुई जठराग्नि भूखसे थोड़ा भोजन करने से शारीरिक शक्ति प्राप्त करता है ॥४६॥ भूखसे अधिक खानेवाले के अलका परिपाक बड़ी कठिनाई से होता है ॥४७॥

परिभ्रम से पीड़ित व्यक्ति द्वारा तत्काल पिया हुआ जल व भक्षण किया हुआ अन्न खर वा वमन पैदा करता है ॥४८॥

मल-मूत्रका वेग व व्यासको रोकनेवाले व अस्थस्थ चित्तवाले व्यक्ति को उस समय भोजन नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे अनेक रोग उत्पन्न होजाते हैं; अतः शौचादिसे निवृत्त होकर स्वस्थचित्तसे भोजन करे ॥४९॥ भोजन करके तत्काल व्यायाम अथवा मैथुन करना आपत्तिजनक है ॥५०॥ जीवन के शुरूसे सेवन किया जानेसे प्रकृति के अनुकूल हुआ विष भी सेवन करने पर पथ्य माना गया है ॥५१॥ मनुष्यको पूर्वकालीन अभ्यास न होनेपर भी पथ्य—हितकारक—वस्तु का सेवन करना चाहिये, परन्तु पूर्वका अभ्यासी होने पर भी अपथ्य वस्तु का सेवन नहीं करना चाहिये ॥५२॥ बलवान् मनुष्य ऐसी वस्तुएँ कि मुझे सभी वस्तुएँ पथ्य हैं, विष का कदापि सेवन न करे ॥५३॥

क्योंकि विष की शोभनादि विधिको जाननेवाला सुशिक्षित मनुष्य भी विषभक्षणसे बरही जाता है; इसलिये कदापि विषभक्षण न करे ॥५४॥

मनुष्यको अपने यहां आये हुए अतिथियों और नौकरों के लिये आहार देकर स्वयं भोजन करना चाहिये ॥५५॥

सुख-माप्तिका उपाय, इन्द्रियोंको शक्तिहीन करने वाला कार्य, राजी हवामें घूमना व समर्थन, सदा सेवन-योग्य वस्तु, बैठने के विषय में, शोकसे हानि, शरीर-गृहकी शोभा, अविरहसनीय व्यक्ति, ईश्वर-स्वरूप व उसकी नाममाता—

देवान् गुरुन् धर्मं शोपचरन्न व्याकुलमतिः स्यात् ॥५६॥ व्याघ्रेषभूमनोनिरोधो मन्दयति

सर्वाण्यपीन्द्रियाणि ॥५७॥ स्वस्वन्दुषिः पुरुषार्था परमं रसायनम् ॥५८॥ यथाकाष्ठसमी-

हानाः किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पदं व्याधीनाम् ॥५६॥ सततं सेव्यमाने ह्येव पस्तुनी सुखाय, सरसः स्वैरालापः ताम्बूलमक्षयं चेति ॥५७॥ चिरायोर्ध्वजानुजाडयति रसवाहिनी नसाः ॥५८॥ सततमुपविष्टो जठरमाभापयति प्रतिपद्यते च तुन्दिलतां वाचि मनसि शरीरे च ॥५९॥ अतिमात्रं खेदः पुरुषमकालेऽपि जरया योजयति ॥६०॥ नादेवं देहप्रासादं कुर्यात् ॥६१॥ देवगुरुधर्मरहिते पुंसि नास्ति सम्प्रत्ययः ॥६२॥ वलेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः ॥६३॥ तस्यैवैतानि खलु विशेषनामान्यहंनज्ज्ञानन्तः शंखचूर्णद्वस्तमोऽन्तक इति ॥६४॥

अर्थ—देव, गुरु व धर्मकी भक्ति करनेवाला कभी भ्रान्तबुद्धि (कर्मव्यपक्षसे विचलित करने वाली बुद्धि-युक्त) नहीं होता ॥५६॥ ठिठकार कराने वाली भूमिमें स्थित होकर मानसिक-निरोध (ध्यान) करनेसे समस्त इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं, अतः विवेकी पुरुष ऐसी जगह बैठकर धर्मध्यान न करे, वहां उसका अनादर होता हो ॥५७॥ जिसप्रकार उत्तम रसायनके सेवनसे शरीर निरोगो व बलिष्ठ होता है, वसीप्रकार शीतल, मंद, सुगंध वायु से संभार करने (घूमने) से भी मनुष्योंका शरीर निरोगी व बलशाली होजाता है ॥५८॥ निश्चयसे बनोंमें अपनी इच्छानुकूल भ्रमण करने वाले हाथी कभी बीमार नहीं होते ॥५९॥ हितैवी आत्मीय शिष्ट पुरुषों के साथ सरस (सधुर) वार्तालाप व पानका भक्षण इन दोनों वस्तुओंका मनुष्यको निरन्तर सेवन करना चाहिये, क्योंकि इनसे सुख प्राप्त होता है ॥६०॥

जो मनुष्य चिरकालतक ऊँचे घुटनोंके बल बैठा रहता है, उसकी रस धारण करने वाली नसे कमजोर पड़जाती है ॥६१॥ निरन्तर बैठे रहनेसे मनुष्यकी जठरगति मन्द, शरीर स्थूल, आवाज मोटी व मानसिक विचार-शक्ति स्थूल होजाती है ॥६२॥ अत्यन्त शोक करनेसे भी जवानी में भी मनुष्यका शरीर व इन्द्रियां निर्धन व शिथिल हो जाती हैं अतः शोक करना उचित नहीं ॥६३॥ मनुष्य अपने शरीर रूप गृह को ईश्वर-गुरु न करे—उसमें ईश्वरको स्थापित करे ॥६४॥ ईश्वर, गुरु व अहिंसाधर्मकी अवहेलना करनेवाले व्यक्तिके नैतिक और सदाचारी होनेमें किमीको विश्वास नहीं होता, अतः विवेकी पुरुषको शास्त्र कल्याण व लोकमें विश्वासपात्र होने के लिये वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी अथवा हि तीर्थङ्कर व निर्मग्न गुरु तथा अहिंसाधर्मका भ्रमाल होना चाहिये ॥६५॥ ऐसे पुरुष श्रेष्ठको ईश्वर कहते हैं, जोकि जन्म, जरा व मरण-आदि दुःख, ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्म तथा इनके उद्घटनसे होने वाले राग, द्वेष व मोह-आदि भावकर्म एवं पापकर्म रूपकालिमासे रहित हो—जो वीतराग सर्वज्ञ व हितोपदेशी हो ॥६६॥

यथास्तित्वकमें भी आचार्यश्रीने 'सर्वज्ञ भवलोकका ईश्वर—संसारका दुःख-समुद्रसे उद्धार करने वाले, दुष्पादि १८ दोषोंसे रहित व समस्त प्राणियोंको मोक्षमार्गका प्रत्यक्ष उपदेश करने वाले अथवा हि तीर्थङ्करो को सत्यार्थ ईश्वर कहा है ॥१॥

तमो ईश्वरके अर्हन्, अज, अनन्त शंभु, बुद्ध व तमोऽन्तक ये विशेष नाम हैं। सारांश यह है कि उस त्रिलोक पूज्यतासे 'अर्हन्' जन्मरहित होनेसे 'अज' मृत्यु-शून्यतासे 'अनन्त' आत्मिक सुख-शान्तिको प्राप्त होनेसे 'शंभु' केवल ज्ञानीके कारण 'बुद्ध' अज्ञानाधिकार का विध्वंसक होनेसे 'तमोऽन्तक' कहा गया है ॥६७॥

कर्तव्य-पालन, अनियमित समयका कार्य, कर्तव्यमें विलम्ब करनेसे हानि, आत्मरक्षा राज-कर्तव्य, राज-महामें प्रवेशके अयोग्य, विनय, स्वयं देखरेख करने योग्य कार्य, कुलगत का त्याग, हिसा-प्रधान कामक्रीड़ाका निषेध—

आत्मसुखानवरोधेन कार्याय नक्तमहश्च विभजेत् ॥६८॥ कालानियमेन कार्यानुष्ठानं हि मर्यासमं ॥६९॥ आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यवसरः A ॥७०॥ अवश्यं कर्तव्ये कालं न यापयेत् ॥७१॥ आत्मरक्षायां कदाचिदपि न प्रमाद्येत ॥७२॥ सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मासनं यायात् B ॥७३॥ अनधिकृतोऽनभिमतश्च न राजसभां प्रविशेत् ॥७४॥ आराध्य-मुत्थायाभिवादयेत् ॥७५॥ देवगुरुधर्मकार्याणि स्वयं पश्येत् ॥७६॥ कुहकामिचारकर्मकारिभिः सह न सङ्गच्छेत् ॥७७॥ प्राणधुपघातेन कामक्रीडां न प्रवर्तयेत् ॥७८॥

अर्थ—प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक-सुखमें बाधा न डालता हुआ दिनरात कर्तव्यपालन करता रहे ॥६८॥ निश्चित समयके उपरान्त किंवा हुआ कार्य मृत्युके समान हानिकारक है, अतएव नैतिक व्यक्ति को अपने कार्य निश्चित समय पर ही करने चाहिये, अन्यथा समय ही उसके फलको पी लेता है ॥६९॥

वादीमसिंह^१ आचार्यने भी कहा है कि जिसप्रकार फल लगने पर अनार-आदिके वृक्षोंमें से उन के पुष्प तोड़नेकी अभिलाषा करना व्यर्थ है, उसी प्रकार समय बूकनेपर कार्य करनेसे सफलता-प्राप्ति की आशा व्यर्थ है ॥७१॥

नैतिक व्यक्ति शाश्वत कल्याण करनेवाले सत्कर्तव्योंके पालन में मौका न बूके ॥७०॥ अनुभवको नैतिक, धार्मिक और आर्थिक-लाभ-आदिके कारण अवश्य करने योग्य कार्योंमें विलम्ब नहीं करना चाहिये, अन्यथा उनका कोई इष्ट प्रयोजन मिट नहीं होपाता ॥७१॥ अनुभवको शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक कष्टोंको दूर कर अपनी रक्षा करनेमें आलस्य नहीं करना चाहिये ॥७२॥ राजा को बड़े महिम्न गावकी प्रद-

A 'आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यवसरो धर्मेण्य' ऐसा मु० मू. पुस्तक में पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि आत्मकल्याण करने वाले सत्कर्तव्योंमें धर्म मुख्य है, अन्य नहीं, क्योंकि वह निश्च है।

B उक्त सूत्र मु. मू. पुस्तकमें संक्षेपमें किया गया है। सं. टी. पुस्तकमें 'सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मोपासनं यायात्' ऐसा पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि राजा बड़े महिम्न गावकी प्रदक्षिणा देकर धर्मकी उपपत्ति करे।

१ तथा च वादीमसिंहसूत्रिः—न कृकामकृता वाग्वा संपुष्पाणि यमीदृशं । किं पृथ्वावचयः सकृदः कृकामे

समासते ॥१॥

क्षिण। देकर न्याययुक्त राज्य-मिहामन पर बैठना चाहिये ॥७३॥ राजकीय अधिकारोंसे होन व राजा द्वारा न बुलाये गये व्यक्ति को राज-महलमें प्रविष्ट नहीं होना चाहिये ॥७४॥ मनुष्यको अपने पुत्र्य माता, पिता और गुरुजनोंको खड़े होकर नमस्कार करना चाहिये ॥७५॥

मनुष्योंको देवकार्य—देवस्थान (मन्दिर आदि), गुरु कार्य व धर्म-कार्यकी स्वयं देखरेख करनी चाहिये ॥७६॥ बिवेको मनुष्यको कपटी, आरण-आरण व उच्छादन-आदि करने वाले दुष्ट पुरुषोंकी संगति नहीं करनी चाहिये ॥७७॥

मनुष्यको ऐसे अन्यायके भोगोंमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, जहाँ पर प्राणियोंका घाव हो ॥७८॥

परस्त्री के साथ मातृ-भगिनी भाव, पुत्रोंके प्रति कर्तव्य, शत्रुके स्थान में प्रविष्ट होनेका निषेध, रथ-आदि सवारी, अपरोक्षित स्थान-आदि में जानेका निषेध, अगस्त्य स्थान, उपामना के अयोग्य पदार्थ, कंठस्थ न करने लायक विद्या, राजकीय प्रस्थान, भोजन व वस्त्रादिकी परीक्षाविधि, कर्त्तव्य-काल भोजन-आदिका समय, प्रिय लगने वाले व्यक्तिका विशेष शुण, भविष्य कार्य-सिद्धिके प्रतीक, गमन व प्रस्थानके विषयमें, ईश्वरोपासना का समय व राजाका आध्य मन्त्र—

जनन्यापि परस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत् ॥७९॥ नातिक्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामेदवमन्येत वा ॥८०॥ नाप्ताशोधितपरस्थानमुपेयात् ॥८१॥ नाप्तजनैरनारुहं बाहनमध्यासीत् ॥८२॥ न स्दैरपरीक्षितं तीर्थं सार्थं तपस्विनं वामिगच्छेत् ॥८३॥ न याष्टिकैरविविक्तं मार्गं भजेत् ॥८४॥ न विषापहारोषधिमणीन् वसामप्युपासीत् ॥८५॥ सदैव आङ्गलिकीं विद्यां कण्ठे न धारयेत् ॥८६॥ मंत्रिभिर्जनैर्मितिकरहितः कदाचिदपि न प्रतिष्ठेत् ॥८७॥ बह्वावन्यचक्षुषि च भोज्यमुपभोग्यं च परीक्षेत् ॥८८॥ अमृते मरुति प्रविशति सर्वदा चेष्टेत् ॥८९॥ भक्ति-सुरतसमरार्थी दक्षिणे मरुति स्यात् ॥९०॥ परमात्मना समीकुर्वन् न कस्यापि भवति द्वेष्यः ॥९१॥ मनःपरिजनशकुनपवनानुलोम्यं भविष्यतः कार्यस्य सिद्धेलिङ्गम् ॥९२॥ नैको-नक्तं दिवं वा हिंसेत् ॥९३॥ नियमितमनोवाक्यायः प्रतिष्ठेत् ॥९४॥ अहनि संध्यामुपासीताऽनघप्रदर्शनात् ॥९५॥ चतुःषयोधिपयोधरा धर्मवत्सवतीमुत्साहबालधिं वर्णाश्रमसुरां कामार्थश्रवणां नयप्रतापविषाणां सत्यशीघ्रचक्षुषं न्यायमुखीमिमां गां गोपयामि, अतस्तमहं मनसापि न सहे योऽपराध्येतस्यै, इतीमं मंत्रं समाधिस्थो जपेत् ॥९६॥

अर्थ—नैतिक पुरुष दूसरेकी स्त्रीके साथ एकान्त में न बैठे, चाहे वह उसकी माता भी क्यों न हो। क्योंकि इन्तियों को काममें रखना निश्चित नहीं, इसलिये वे विद्वान् को भी अनीतिके मार्गकी ओर आकृष्ट कर देती हैं ॥७९॥ मनुष्यको अत्यन्त कुपित होनेपर भी अपने माननीय—माता-पिता-आदि दितेरी पुरुषोंके साथ आशिष्ट व्यवहार व अनादर नहीं करना चाहिये ॥८०॥

मनुष्यको अपने द्वितीय पुरुषों द्वारा अपरीक्षित रात्रुके स्थानमें न प्रविष्ट होना चाहिये और न जाना चाहिये, क्योंकि उपव्रत-युक्त स्थान में जाने से संकटोंका सामना करना पड़ता है ॥८१॥ इसीप्रकार अपने विरवासपात्र व द्वितीय पुरुषों द्वारा बिना सवारो किये हुए घोड़े व रथ-आदि वाहनों पर सवारी नहीं करना चाहिये ॥८२॥

मनुष्य ऐसे तालाब-आदि जलाशय, व्यापारी व तपस्वी के पास न जावे, जो कि उसके आस पुरुषों द्वारा परीक्षित न हों ॥८३॥ राजाको पुलिस द्वारा संरोधन न किये हुए मार्गपर नहीं चलना चाहिये, क्योंकि सन्तानित मार्गमें कोई खतरा नहीं रहता ॥८४॥ विवेकी पुरुष त्रिषष्टी दूर करनेवालों औषिद व मणिकी सहा भर भी उपासना न करे ॥८५॥ इसीप्रकार जहर उतारने की विद्या का अभ्यास करे, परन्तु उसे कंठस्थ न करे ॥८६॥ राजाको मंत्री, वैद्य व उपोसिषी के बिना कभी भी दूसरी जगह प्रस्थान नहीं करना चाहिये ॥८७॥ राजा या विवेकी पुरुषका कर्त्तव्य है कि वह अपनी भोजन सामग्री को भक्षण करने से पूर्व अग्निमें डालकर परीक्षा करे और यह देखले कि कहीं अग्नि में से नीले रंगकी छपटें न निकलने लगी हों, अगर ऐसा हो, तो समझ लेना चाहिये, कि यह सामग्री जहर-मिश्रित—भक्षणके अवरोध है। इसीप्रकार वस्त्रादिक की जांच भी अपने आस पुरुषों से कराते रहना चाहिये, ताकि उसको सर्वत्र इन विघ्नबाधाओं से रक्षा हो ॥८८॥ मनुष्यको अमृतसिद्धि के योगमें सदा समस्त कार्य करना चाहिये, इससे कार्य-सिद्धि होती है ॥८९॥

जब दक्षिण दिशा की ओर अनुकूल वायुका संवार हो रहा हो, उस समय मनुष्यको भोजन मैथुन व युद्धमें प्रवृत्ति करना चाहिये, ऐसा करने से उसे उक्त कार्यों में सफलता मिलती है ॥९०॥ ईश्वर से अनुराग करनेवाला अथवा दूसरे को अपने समान समझनेवाला व्यक्ति किसीका द्वेष-पात्र नहीं होता ॥९१॥ मन, सेवक, शकुन व वायुकी अनुकूलता भविष्यमें किये जानेवाले कार्यकी सफलता के ज्ञापक चिन्ह हैं। अर्थात्—हृदय प्रफुल्लित होना, सेवकोंका प्रसन्न रहना व दाहिनी आंख फटकना—आदि शुभ शकुन इस बात के प्रतीक हैं, कि भविष्यमें उस मनुष्यको सफलता मिलेगी ॥९२॥ अकेला व्यक्ति दिन व रात्रि में गमन न करे ॥९३॥ मनुष्यको अपना मन, वचन व शरीर काबू में रखते हुए—जितेन्द्रिय होकर प्रस्थान करना चाहिये ॥९४॥

प्रत्येक व्यक्ति दिनमें सुबह दुपहर और शाम—तीनों संध्याओं—में नम्र देहने तक ईश्वरकी उपासना करे ॥९५॥ राजाको ध्यानमें स्थित होकर निम्न प्रकार के मंत्रका जाप करना चाहिये कि 'मैं इस पृथिवी कपी गायकी रक्षा करता हूँ, जिसके चार समुद्र ही धन हैं, धर्म (शिष्ट-पालन व दुष्टनिग्रह) ही जिसका बख्ताई, जो वस्त्रादिरूप पूँछवाली है, वर्ण (ब्राह्मण-आदि) व आश्रम (ब्रह्मचारी-आदि) ही जिसके सुर हैं जो काम और अर्थ रूप कानों वाली है, नय व प्रताप ही जिसके भौंग हैं, जो सत्य व शौच रूप नेत्रों से युक्त हैं एवं जो म्याच रूप मुल्ल से युक्त है।

इसप्रकार की मेरी पृथिवी कपी गाय का जो अपराध करेगा (जो इसपर आक्रमण-आदि करेगा) उसे मैं मनसे भी सहन नहीं करूँगा ॥९६॥

भोजनका समय, शक्तिहोन के योग्य आहार, त्याग्य स्त्री, यथाप्रकृतिवाले वस्त्र, प्रसन्नचित्त, बशीकरण, मल-मूत्रादि वेगोंको रोकने से हानि, विषय भोगके अयोग्य काल व क्षेत्र, परस्त्री श्याग, नैतिक वेषभूषा व आचरण, आयात और निर्यात व दृष्टान्त द्वारा समर्थन, अविश्वाससे हानि—

कोकवद्विवाकामो निशि स्निग्धं शुञ्जीत ॥६७॥ चकोरवन्नक्तं कामो दिवा च । ६८॥ पाराव-
तकामो वृष्यान्नयोगान् चरेत् ॥६९॥ वष्कयस्त्रीनां सुरमीणां पयःसिद्धं माषदलपरमान्नं परो
योगः स्मरसंवर्द्धने ॥१००॥ नावृषस्यन्तीं स्त्रीमभियायात् ॥१०१॥ उत्तरः प्रवर्षवान् देशः
परमरहस्यमनुरागे प्रथम-प्रकृतीनाम् ॥१०२॥ द्वितीयप्रकृतिः सशाद्वलमृदूपवनप्रदेशः ॥१०३॥
तृतीयप्रकृतिः सुरतोत्सवाय स्यात् ॥१०४॥ घर्मार्थस्थाने लिङ्गोत्सवं लभते ॥१०५॥ स्त्रीपुं-
सयोर्न समसमायोगात्परं वशीकरणमस्ति ॥१०६॥ प्रकृतिरूपदेशः स्वाभाविकं च प्रयोग-
वैदग्ध्यमिति समसमायोगकारणानि ॥१०७॥ क्षुत्तर्णपुरीषाभिष्यन्दार्तस्याभिगमो नापत्यमन-
वधं करोति ॥१०८॥ न सुम्बदाक्षु न दिवा जायते न देवायतने मैथुनं कुर्वीत ॥१०९॥
पर्वणि पर्वणि संघौ उपहते बाह्वि कुलस्त्रियं न गच्छेत् ॥११०॥ न तद्गृहामिगमने
कामपि स्त्रियमधिशयीत ॥१११॥ वंशवयोवृत्तविद्याविभवानुरूपो वेषः समाचारे वा कं न
विडम्बयति ॥११२॥ अपरीक्षितमशोधितं च राजकुले न किञ्चित्प्रवेशयेन्निष्कासयेद्वा ॥११३॥
भूयते हि स्त्रीवेषधारी कुन्तलनरेन्द्रप्रयुक्तो गूढपुरुषः कर्णनिहितेनासिपत्रेण पण्डवनरेन्द्रं
हयपतिश्च मेषविषाणनिहितेन विषेण कुशस्थलेस्वरं जघानेति ॥११४॥ सर्वत्राविरवासे
नास्ति काचित्क्रिया ॥११५॥

अर्थ—चकवा-चकवीके समान दिनमें मैथुन करनेवाला रात्रिमें सचिकछु वस्तुका भक्षण करे और चकोर पक्षीकी तरह रात्रिमें मैथुन करने वाला दिन में भोजन करे। सारांश यह है कि मनुष्य भी पक्षीकी तरह रात्रिमें मैथुन—कामसेवन करते हैं, अतः उन्हें दिनमें ही भोजन करना चाहिये, इससे अहिंसाधर्म व स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है ॥६७-६८॥

ओ कबूतरकी तरह हीनशक्ति होनेपर भी काम-सेवन में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें वीर्य-वर्द्धक अन्न—घृत-शर्करा-मिश्रित मालपुष्पा-आदि-भक्षण करना चाहिये ॥६९॥ एक बार व्यास हुई गायके दूधसे सिद्ध की हुई उड़दकी स्त्रीर खानेसे विरोध कामोद्दीपन होता है ॥१००॥

विषय-भोगसे पराङ्मुख—विरक्त-स्त्रीसे काम-सेवन नहीं करना चाहिये ॥१०१॥ जल-वृष्टिवाले उत्तर देशमें रहनेवाला व वर्ष प्रकृतिवाला पुरुष पद्मिनी स्त्रियों द्वारा विरोध प्यार किया जाता है। सारांश यह है कि कामशास्त्रमें वृष, राश व अरव इस प्रकार तीन प्रकृतिवाले पुरुष एवं पद्मिनी शंखिनी और हस्तिनी इस प्रकार तीन प्रकृतिवाली लक्षणाओंका उल्लेख है, इनमें प्रथमप्रकृतिवाले (वृष) पुरुषसे प्रथम प्रकृतिवाली (पद्मिनी) विरोध अनुराग करती है एवं द्वितीय प्रकृतिवाली शंखिनी स्त्रियां वही प्रकृतिवाले—

शराप्रकृति—पुरुषको हरी दूध युक्त व कोमल बगीचेके रमणीक प्रदेशकी तरह सुखपूर्वक सेवन करती है। तीसरी अश्वप्रकृति पुरुष अत्यंत वीर्ययुक्त होनेसे मैथुनके समय स्त्रियोंको विशेष संतोष देनेवाला होता है ॥१०८-१०८४॥

धर्मस्थान—जिनमन्दिर आदि और अर्थस्थानों (व्यापार-आदि की जगहों) में मनुष्यकी इन्द्रियों प्रसन्न रहती हैं ॥१०५॥ स्त्री व पुरुषोंके समसमायोग (एकान्त स्थान में मिलना जुलना बार्तालाप आदि) को छोड़कर दूसरा कोई बशीकरण नहीं है ॥१०६॥

निम्न चार उपायोंसे स्त्री पुरुषोंका एकान्त स्थानमें मिलना रूप बशीकरण सफल होता है। १-प्रकृति (स्वभाव) अर्थात् एकान्त में उचित बार्तालाप-आदि द्वारा परस्परके स्वभावका ज्ञान करना, २-उपदेश—अनुकूल करने वाली समुचित शिक्षा, ३-प्रयोग वैदग्ध्य—एकान्तमें की जाने वाली प्रयोग की चतुराई—हंसी-मजाक-आदि ॥१०७॥

भूख, प्यास व मल-मूत्रादिके वेगको रोकनेसे पीड़ित हुआ मनुष्य जब स्त्री-सेवन करता है, तो उससे निर्दोष (निरोग) संतान उत्पन्न नहीं होती ॥१०८॥

द्विवेकी मनुष्यको प्रातः काल, मध्याह्नकाल व सांयकाल संबंधी तीनों संभ्याओंमें, दिनमें, पानीमें और मन्दिरमें मैथुन नहीं करना चाहिये ॥१०९॥ मनुष्यको पर्व (व्रतारण्य-आदि) के दिनोंमें, तीनों संभ्याओंमें, सूर्य-ग्रहण-आदि भयङ्कर उपद्रवोंसे व्याप्त दिनोंमें अपनी कुलवधू (धर्मपत्नी) का सेवन नहीं करना चाहिये ॥११०॥ किसी स्त्रीके गृह जाकर उसके साथ रातन न करे ॥१११॥ कुटुम्ब, उम्र, सदाचार-कुल-धर्म-आदि—विद्या और धनादि ऐश्वर्यके अनुकूल कोजाने वाली वेषभूषा और आचरण किसीकोभी दुःखी नहीं बनावा—सभीको सुखी बनावा है। क्योंकि एक कुटुम्ब-आदि के अनुकूल वेष व नैतिक प्रवृत्ति करने वालेकी समाज व राष्ट्र में बढ़ाई होती है और वह सबका प्रेमपात्र बन जाता है ॥११२॥ राजाको अपने मङ्गलोंमें ऐसी वस्तु प्रविष्ट नहीं होने देनी चाहिये और न वहांसे बाहर निकलने देनी चाहिये, जोकि उसके प्रामाणिक द्विषेकी पुढों द्वारा परीक्षित और निर्दोष साबित की हुई न हो ॥११३॥

इतिहासप्रमाण साक्षी है कि कुन्तल देशके राजाद्वारा भेजे हुए स्त्री-भेषचारी गुप्तचरने अपने कानोंके पास छिपाये हुए खज्ज द्वारा पल्लव या पल्लव नरेशको मार डाला। इसी प्रकार हय देशके राजा द्वारा भेजे हुए गूढ़ पुरुषने मेदेके सींगमें रक्खे हुए विष द्वारा कुरास्थल—देशविरोध—के नरेश को मार डाला। अतः अपरीक्षित व असंशोधित वस्तु राज-गृह में प्रविष्ट न होनी चाहिये और न वहांसे बाहर निकलनी चाहिये ॥११४॥

लोकमें सभी पर विश्वास न करनेवाले व्यक्तिका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता ॥११५॥

इति दिवसानुष्ठान समुद्देश।

२६ सदाचार-समुद्देश ।

अत्यधिक लोभ आलस्य व विश्वाससे हानि, बलिष्ठ शत्रु-कृत आक्रमण से बचाव परदेशके दोष, पापप्रवृत्तिके कारण प्रतिष्ठा-शून्यकी हानि, व्याधि-पीड़ित व्यक्तिका कार्य, धार्मिक व्यक्तिका महत्त्व, बीमारकी औषधि व भाग्यशाली पुरुष—

लोभप्रमादविश्वासैर्बृहस्पतिरपि पुरुषो बध्यते बन्ध्यते वा ॥१॥ बलवताधिष्ठितस्य गमनं तदनुप्रवेशो वा श्रेयानन्यथा नास्ति क्षेमोपायः ॥२॥ विदेशवासोपहतस्य पुरुषकारः विदेशको नाम येनाविज्ञातस्वरूपः पुमान् स तस्य महानपि लघुरेव ॥३॥ अलब्धप्रतिष्ठस्य निजान्वयेनाहङ्कारः कस्य न लाघवं करोति ॥४॥ आर्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ॥५॥ स नीरोगो यः स्वयं धर्माय समीहते ॥६॥ व्याधिग्रस्तस्य श्रुते धैर्यान्न परमौषधमस्ति ॥७॥ स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म ॥८॥

अर्थ—बृहस्पतिके समान बुद्धिमान पुरुष भी अधिक लोभ, आलस्य व विश्वास करने से मारा जाता है अथवा ठगा जाता है ॥१॥ बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर मनुष्यको या तो अन्यत्र चले जाना चाहिये अथवा उससे सन्धि कर लेनी चाहिये, अन्यथा उसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं ॥२॥

शुक्र^१ विद्वान् ने भी बलिष्ठ शत्रु-कृत आक्रमण से बचने के विषय में इसीप्रकार कहा है ॥१॥

परदेश-गमनसे दूषित व्यक्तिका अपनी विद्वत्ता-आदिके परिचय करानेका पुरुषार्थ (वक्तृत्वकला आदि) व्यर्थ है, क्योंकि जिसके द्वारा उसका स्वरूप (विद्वत्ता-आदि) नहीं जाना गया है, वह पुरुष उसके महान् होने पर भी उसे छोटा समझ लेता है ॥३॥

अग्नि^२ विद्वान् के वदरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो पाप-वश समाज व राष्ट्र द्वारा प्रतिष्ठा नहीं पा सका और केवल अपने वंशका अभिमान करता है, ऐसे अभिमानियों को लोकमें कौन लघु नहीं मानता ? सभी लघु मानते हैं ॥४॥ सभी पुरुष व्याधिसे पीड़ित होनेपर मृत्यु के भयसे अपनी बुद्धि धर्ममें लगाते हैं, निरोगी अवस्थामें नहीं ॥५॥

शौनक^३ ने भी व्याधि-पीड़ित मजबूर व्यक्ति को मृत्युके भय से धर्मानुरक्त बताया है ॥१॥

जो मनुष्य स्वयं—विना किसीकी प्रेरणाके—धर्म करनेकी चेष्टा करता है, वह निरोगी समझा जाता है व पापी निरोगी होने पर भी बीमार माना गया है ॥६॥

हारीत^४ विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

१ तथा च शुक्रः—बलवान् स्वापदा शंसस्वदा देशं परित्यजेत् । तेनैव सह सन्धिं वा कुर्यात् स्वीकृते ऽन्यथा ॥१॥

२ तथा च अग्निः—महानपि विदेशस्थः स परैः परिभूयते । अज्ञातमानैस्तद्देशमाहात्म्यं तस्य पूर्वकं ॥१॥

३ तथा च शौनकः—व्याधिग्रस्तस्य बुद्धिः स्वाद्धर्मस्योपरि सर्वतः । मयेन धर्मराजस्य व स्वभावात् कर्मजन ॥१॥

४ तथा च हारीतः—नीरोगः सपरिज्ञो यः स्वयं धर्मवान्भूकः । व्याधिग्रस्तोऽपि पापात्मा नीरोगोऽपि न रोगवान् ॥१॥

धैर्यको छाड़कर रोग-पीडित मनुष्यकी दूसरी कोई वस्तु ओषधि नहीं है, क्योंकि सैकड़ों मूख-
वान् ओषधियोंका सेवन भी उस समय तक बीमारके निरोग नहीं बना सकता, जब तक कि वह धैर्य
धारण न करे ॥७॥

धन्वन्तरि^१ विद्वान्ने भी व्याधि-पीडित पुरुषके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जिस मनुष्यका जीवन कुत्सित (निन्ध) दोषों (हिंसा, झूठ चोरी, कुशोल व परिह-आदि) से
भ्रष्ट नहीं हुआ उसे महा भाग्यशाली^२ कहा जाता है ।

गर्ग^३ विद्वान्ने भी यावज्जीवन निन्दित न होनेवाले व्यक्ति को महानाग्यशाली कहा है ॥१॥

मुखता, भयकालीन कर्तव्य, धनधारी व तपस्वीका कर्तव्य, कृतघ्नतासे हानि, हितकारक वचन,
दुर्जन व मज्जनोंके वचन, लक्ष्मीसे विमुख व वंश-वृद्धिमें असमर्थ पुरुष—

पराधीनेष्वर्थेषु स्वोत्कर्षसंभावनं मन्दमतीनाम् ॥६॥ न भयेषु विषादः प्रतीकारः किंतु धैर्य-
विलम्बनं ॥१०॥ स किं धन्वी तपस्वी वा यो रणो मरत्यो शरसन्धाने घ्नः—समाधाने च
मुह्यति ॥११॥ कृते प्रतिकृतमकुर्वतो गैहिकफलमस्ति नाभुविकं च ॥१२॥ शत्रुणापि सूक्तमुक्तं
न दूषयितव्यम् ॥१३॥ कलहजननमप्रीत्युत्पादनं च दुर्जनानां धर्मः न सज्जनानाम् ॥१४॥
श्रीर्न तस्याभिमुखी यां लब्धाथेमाश्रेण सन्तुष्टः ॥१५॥ तस्य कुतो वंशवृद्धिर्न प्रशस्यति
वैरानुबन्धम् ॥१६॥

अर्थ—मुख्य लोग पराधीन (दूसरोंके द्वाराकी गई) इष्ट प्रयोजन-सिद्धिको स्वतः की हुई समझकर
आनन्द प्रगट किया करते हैं ॥६॥

कौशिक^४ विद्वान्ने भी मुखोंके विषय में यही लिखा है ॥१॥

मनुष्यको भयके स्थानोंमें चढ़ाना उपकारक नहीं, किन्तु धैर्य-धारण करना ही उपकारक है ॥१०॥

भृगु^५ विद्वान्ने भी भयस्थानोंमें धैर्य रखना लाभ-दायक बताया है ॥१॥

वह धनुर्धारी निन्ध है, जो युद्धभूमिमें कमान पर तीर चढ़ाकर एकामर्षितसे लक्ष्यभेद करनेमें
प्रज्ञान करता है इसीप्रकार वह तपस्वी भी निन्ध है, जिसकी चित्तवृत्ति मनुष्यके समग्र आत्मदर्शन,
भक्त्य, मनन व निदिष्यासन (ध्यान में प्रवृत्त न होकर जीवन, आरोग्य व इन्द्रियोंके भोगोपभोगों में
अप्रेसर होती है ॥११॥

१ तथा च धन्वन्तरिः—व्याधिप्रस्तस्य यदर्थं तदंश परमोषधं । नरस्य धैर्यहीनस्य किमौषधशक्तिः ॥१॥

२ तथा च गर्गः—आजगममरकान्तं च वाच्यं यस्य न जायते । सुसूक्ष्मं स महामागो विज्ञेयः चित्तमन्वयः ॥१॥

३ तथा च कौशिकः—कार्येषु सिद्ध्यमानेषु परस्य वशमेतु च । आत्मोर्ध्वेभ्यः तेभ्येव मुक्तिं याति स मन्धीः ॥१॥

४ तथा च भृगुः—भयस्थाने विषादं चः कुरुते स विचरति । [तस्य तज्जबद् धैर्यं] यत्तु धैर्यविवरणं ॥१॥

नारद^१ विद्वान्के उद्धरणका भी यही आशय है ॥१॥

उपकार करनेवालेसे साथ भयुक्तकार न करनेसे एवं किसीके द्वारा अपकृत होने पर अपकार द्वारा उसका प्रतिकार (शोधन) न करने से ऐहिक व पारलौकिक इष्टफल नहीं मिलता ॥२॥

हारीत^२ विद्वान्ने भी कृतघ्नके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥३॥

नैतिक पुरुष शत्रु द्वारा भी कहे हुए न्याय-युक्त व हितकारक वचनों का दोष-युक्त न बतावे और उनपर सदा असल करता रहे ॥४॥

नारद^३ के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥५॥

दुष्टोंके वचन कलह (वैर-विरोध) व द्वेष उत्पन्न करने वाले होने हैं जब कि सबजन महापुरुषोंके वचन ऐसे नहीं होते किंतु कल्याणकारक होते हैं ॥६॥

भारवि^४ विद्वान्के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥७॥

जो मनुष्य प्राप्त किये हुए साधारण धन में ही संतुष्ट रहता है, उसके पास लक्ष्मी नहीं जाती, अतः न्यायोचित साधनों द्वारा धन-संचय करनेमें प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥८॥

भारुचि^५ विद्वान्ने भी लक्ष्मी के विमुख रहने का यही कारण बताया है ॥९॥

जो पुरुष शत्रुओं द्वारा की जाने वाली वैर-विरोध की परम्परा को साम, दान, दंड व भेद-आदि नैतिक उपायोंसे नष्ट नहीं करता उसकी वंश-वृद्धि किस प्रकार हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥१०॥

शुक^६ विद्वान्ने भी शक्तिशाली वंश के ह्रासके विषयमें यही कहा है ॥११॥

उत्तमदान, उत्साह से लाभ, सेवक के पाप कर्मका फल, दुःखका कारण, कुसंग का त्याग, अशिक्षित बालेका प्रेम, उतावले का पराक्रम व शत्रु-निग्रह का उपाय—

भीतेष्वभयदानात्परं न दानमस्ति ॥१७॥ स्वस्यासंपत्तौ न चिन्ता किञ्चित्काञ्चित्मर्थं
[प्रसूते] दुग्धे किन्तुत्साहः ॥१८॥ स खलु स्वस्यैवापुण्योदयोऽपराधो वा सर्वेषु कल्प-
फलप्रदोऽपि स्वामी भवत्यात्मनि बन्धुः ॥१९॥ स सदैव दुःखितो यो मूलधनमसंबर्धयन्-
नुभवति ॥२०॥ मूर्खदुर्जनचाण्डालपतितैः सह संगतिं न कुर्यात् ॥२१॥ किं तेन तुष्टेन

१ तथा च नारदः—स्वर्गो यान्ति शत्रो यस्य युद्धे स स्वान्न आपभृक् । योगिनोऽध्वन्तकालेन स्मृतं (१) च च योगवान् ॥१॥

२ तथा च हारीतः—कृते प्रतिकृतं नैव शुभं वा यदि वाशुभं । यः करोति च मुपात्ता तस्य कोकद्वयं न हि । १४-

३ तथा च नारदः—शत्रु वापि हि यत् प्रोक्तं साकृद्द्वारं सुमाधितं । न तदोपेक्ष संशोकां प्राज्ञं बुद्धिमता सदा ॥१॥

४ तथा च भारविः—अको भवति तथैव कलहः संमज्जयते । सज्जनो धर्ममाचष्टे तथ्योक्तव्यं कियं तथा ॥१॥

५ तथा च भारुचिः—अप्येवापि प्रकटजेन यो हृष्येत् प्रतुष्यति । परादुमुखो भवेत्तस्य अन्धमार्गैर्वात्र संशयः ॥१॥

६ तथा च शुकः—सासादिभिश्चापैर्वा वैरं नैव प्रशमयेत् । अक्षयानपि तद्वशो नश्यं वाति शनैः शनैः ॥१॥

यस्य हरिद्वाराग इव चित्तानुरागः ॥२२॥ स्वात्मानमविज्ञाय पराक्रमः कस्य न परिमर्ष
करोति ॥२३॥ नाक्रान्तिः पराभियोगस्यान्तरं किन्तु धुक्तेरुपन्यासः ॥२४॥ राज्ञोऽस्थाने
कुपितस्य कुतः परिजनः ॥२५॥

अर्थ—भूख, प्यास और शत्रुकृत उपद्रव-आदि से व्याकुल हुए प्राणियोंको अभयदान
(उनकी रक्षा) देनेके मियाय संसारमें कोई उत्तम दान नहीं है ॥२१॥

जैमिनि^१ विद्वान्ने भी सभी वानोंसे अभयदान को ही उत्तम बताया है ॥२१॥

धन न होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्यों द्वारा कीहुई चिन्ता अभिलषित और अपूर्व धन
अस्पन्न् नहीं करती, किन्तु उत्साह (उद्योग) ही मनुष्योंके लिये इच्छित और पुष्कल धन पैदा
करता है ॥२२॥

शुक्र^२ विद्वान्ने भी उद्योग करनेके लिये प्रेरित किया है ॥२१॥

जो स्वामी किसी एक सेवकको छोड़कर अन्य सभी सेवकों के कल्पवृक्ष समान मनोरथ पूर्ण
करता है किन्तु उसो अकेलेको धन नहीं देता, इससे सम्भक्ता चाहिये कि उसके पापकर्मका उद्भव है या
उसके अपराधी होनेके कारण स्वामी उससे रुष्ट है ॥२३॥

भागुरि^३ विद्वान्ने भी सेवकका मनोरथ पूर्ण न होनेके विषय में यही कहा है ॥२१॥

जो मनुष्य अपने मूलधन (पैतृक या पूर्व-संचित धन) की व्यापार-आदि द्वारा वृद्धि नहीं
करता और उसे खर्च करता रहता है, वह सदा दरिद्रता-वशा दुःखी रहता है, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य
को अपना मूलधन बढ़ाते हुए आयातुकूल खर्च करना चाहिये, ताकि भविष्यमें दरिद्रता-वशा उसे कष्ट न
होने पावे ॥२०॥

गौतम^४ विद्वान्ने भी अपना मूलधन भक्षण करनेवाले को दुःखी बताया है ॥२१॥

बुद्धिमान् मनुष्यको मूर्ख, दुष्ट, चायदाल व पतित (अज्ञाति और धर्म से दूर) मनुष्योंके
साथ मित्रता नहीं करनी चाहिये ॥२४॥

किसी^५ विद्वान् के उद्धरण का भी यही आशय है ॥२॥

जिसके चित्तका मेघ हृदयके रंगकी तरह क्षणिक होता है; उसके प्रमत्त होनेसे क्या लाभ है ?
कोई लाभ नहीं ॥२२॥

१ तथा च जैमिनिः—अपभीतेषु नष्टान् तद्दानं परमं मतं । स्वात्मकं किमन्यैश्च दानैर्नान्यथादिभिः ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—उत्साहिनं पुरुषसिंहमुपैति कश्चमीदृशेन देयमिति कापुरुषो वदति ।

वैद्य भिरुत्थं कुपं पीडयमानिराकृत्या वत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—अध्वन्यवृत्ति न स्वामी जेवितोऽप्यन्यकं कर्तुं । कल्पवृक्षोपमोऽप्येवोऽन्यथा कल्पार्थं पूर्वकर्मकः ॥१॥

४ तथा च गौतमः—न बुद्धिं नो नवेद्विप्तं पितृपैतामहं कुवीः । केवलं भक्षयत्येव स तथा दुःखितो जयेत् ॥१॥

५ तथा च शोक्रः—मूर्खोऽप्यन्यादालोः संगतिं कुक्तेऽत्र यः । स्वप्नेऽपि न सुखं तस्य किञ्चिदपि जायते ॥१॥

जैमिनि^१ विद्वान्ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

अपनी शक्ति को बिना सोचे समझे पराक्रम करनेसे किसकी हार नहीं होखी ? सभीका होती है ॥२॥

मल्लभदेव^२ विद्वान्ने भी सैन्य व कोषहीन राजाके पराक्रमका पराजयका कारण बताया है ॥३॥

शत्रु पर आक्रमण करने से ही उसका निग्रह नहीं होता, किन्तु युक्तियों—साम-दान-भ्राति-के प्रयोग द्वारा ही वह वशमें किया जा सकता है ॥४॥

गर्ग^३ विद्वान् के सगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥५॥

निष्कारण आगबबुजा (कुपित) होनेवाले राजाके पास सेवक लोग नहीं ठहरते, अतः अपने सेवकोंके साथ स्वामीको प्रेमका बतोंव करना चाहिये ॥६॥

रुदन व शोक से हानि, निन्द्य पुरुष, स्वर्ग-च्युतका प्रतीक, जीवित पुरुष, वृद्धीतलका भार-रूप, सुख-प्राप्तिका उपाय, (परोपकार) शरणागत के प्रति कर्तव्य व स्वार्थ-युक्त परोपकारका दुष्परिणाम—

न मृत्यु रोदितव्यमश्रुपातसमा हि किल पतन्ति तेषां हृदयेष्वङ्गाराः ॥२६॥ अतीते च वस्तुनि शोकः श्रेयानेव यद्यस्ति तत्समागमः ॥२७॥ शोकमात्मनि चिरमनुवासयंश्चिरवर्गमिच्छोषयति ॥२८॥ स किं पुरुषो योऽकिंचनः सन् करोति विषयाभिलाषं ॥२९॥ अपूर्वेषु प्रियपूर्व सम्भाषणं स्वर्गच्युतानां लिङ्गम् ॥३०॥ न ते मृता येषामिहास्ति शारवती कीर्तिः ॥३१॥ स केवलं भूभाराय जातो येन न यशोभिर्धवलितानि भुवनानि ॥३२॥ परोपकारो योगिना महान् भवति श्रेयोबन्ध इति ॥३३॥ का नाम शरणागतानां परीक्षा ॥३४॥ अभिभवनमंत्रेण परोपकारो महापातकिर्ना न महासत्त्वानाम् ॥३५॥

अर्थ—बन्धुओंके स्वर्गवास होने पर विवेकी मनुष्यको रुदन छोड़कर सबसे पहले उनका वैहिक संस्कार करना चाहिये, इसके विपरीत जो रोते हैं, वे उनके अग्नि-संस्कार में विलम्ब करने से बल्टा उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं। अतः रोनेवालोंके नेत्रसे निकलने वाला अभ्र-प्रवाह मर्नों मृत-पुरुषोंके हृदयपर गिरने वाले अङ्गारे ही हैं ॥२६॥

गर्ग^४ विद्वान्ने भी मृतबन्धुओंके अग्नि-संस्कार करने का विधान व रोनेका निषेध किया है ॥१॥

यदि शोक करने से मरा हुआ व्यक्ति या नष्ट हुई इष्टवस्तु पुनः प्राप्त हो सकती हो, तब उसके विषयमें शोक करना उचित है अन्यथा व्यर्थ है ॥२॥

१. तथा च जैमिनिः—आत्ममरणान्ते यः स्नेहः स स्नेह उच्यते। साधूनां च सखानां च हरिद्वारागलन्निभः ॥१॥

२. तथा च मल्लभदेवः—यः परं केवलं सति प्रोत्थत मदमाहितः। निमग्नः स निमग्नो शीर्षदन्तो गजो यथा ॥३॥

३. तथा च गर्गः—नाकान्धा गृह्यते कञ्च यद्यपि स्वात् सुदुर्लभः। युक्तिद्वारेण संप्राप्तो यद्यपि स्वात्तुलोत्कटः ॥५॥

४. तथा च गर्गः—इत्येवमास्तु वाच्यमैतुं कतं प्रमो भुङ्क्ते यतो यथाः। तस्मान्न रोदितव्यं स्वात् क्रिया कथा

शुक^१ ने भी स्वार्थ-वशं परोपकार करनेवालोंकी कड़ी आलोचना की है ॥१॥

[सु० सू० पुस्तकमें 'अभिषारेण परोपपातो' इत्यादि पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो लोग धोखा देकर दूसरोंका धन चुराते हैं, वे महापापी हैं, शूर-वीर नहीं]

गुणगान-शून्य नरेश, कुटुम्ब-संरक्षण, परस्त्रीव पर-द्रव्यके संरक्षणका दुष्परिणाम, अनुरक्त मनुष्यके प्रति स्वामी-कर्त्तव्य, त्याग्यसेवक, न्यायोचित दंड विधान व राज-वर्त्तव्य—

तस्य भूपतेः कुतोऽभ्युदयो जयो वा यस्य द्विषत्सभासु नास्ति गुणग्रहणप्रागन्भ्यं ॥३६॥

तस्य गृहे बुदुम्बं धरणीयं यत्र न भवांत परेषामिषम् । ३७॥ परस्त्रीद्रव्यरक्षणो न नात्मनः

किमपि फलं विप्लवेन महाननर्थसम्बन्धः ॥३८॥ आत्मानुरक्तं कथमपि न त्यजेत् यद्यस्ति

तदन्ते तस्य सन्तोषः ॥३९॥ आत्मसंभावितः परेषां भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहु-

परिजनमपि करोत्येकाकिनं स्वामिनं ॥४०॥ अणघानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्यः

॥४१॥ देशानुरूपः करो ग्राह्यः ॥४२॥

अर्थ—जिस राजा का गुण-गान शत्रुओंकी समामें विशेषतासे नहीं किया जाता, उसकी उन्नति व विजय किसप्रकार होसकती है ? नहीं हो सकती । अतः विजिगीषु को शूरवीरता व नीतिमत्ता-आदि मद्गुणोंसे अलंकृत होना चाहिये ॥३६॥

शुक^२ ने भी कीर्तिगान-शून्य राजा के विषय में इसीप्रकार कहा है ॥२॥

मनुष्यको अपना कुटुम्ब ऐसे व्यक्तिके मकान पर रखना चाहिये, जहापर वह शत्रु-कृत उपद्रवों द्वारा नष्ट न होसके ॥३७॥

जैमिनि^३ ने भी कुटुम्ब-संरक्षण का यही उपाय बताया है ॥१॥

मनुष्य को दूसरे की स्त्री व धन के संरक्षण से कोई लाभ नहीं, क्योंकि कभी २ उसका परिणाम भयङ्कर होता है अर्थात् यदि दुर्भाग्य-वश उसके शत्रु आदि द्वारा अपहरण या नष्ट किये जाने पर उन्हीं वनका स्वामी संरक्षण करने वाले से बैर-विरोध करने लगता है ॥३८॥

अत्रि^४ विद्वान् ने भी पर-स्त्री व परधन की रक्षा करनेका यही दुष्परिणाम बताया है ॥१॥

स्वामीको अपनी दरिद्रावस्था में भी ऐसे सेवकको नहीं छोड़ना चाहिये जो उसपर अनुरक्त व मनुष्ट रहता है ॥३९॥

१ तथा च शुकः—महापातकयुक्ताः स्युरते निर्यान्ति वरं वशान् । अभिभवमसंग्रहे च सद्भावं कथयन् ॥१॥

२ तथा च शुकः—कथं स्याद्विजयस्तस्य तयैवाभ्युदयः पुनः । भूपतेरस्य नो कीर्तिः कीर्त्यतेऽरिसभासु च ॥२॥

३ तथा च जैमिनिः—नामिषं मन्त्रिरे वरस्य विप्लवं वा प्रपद्यते । कुटुम्बं धारयेत्तत्र च इच्छेन्मममात्मनः ॥१॥

४ तथा च अत्रिः—परार्थं परनाते वा स्वार्थं योऽङ्गमुक्ताति । विप्लवं यति वैद्विषं तत्कर्म वैरसम्बन्धं ॥१॥

भारद्वाज^१ ने भी शोकको शरीर-शोषण करनेवाला बताया है ॥१॥

बिरकाल पर्यन्त शोक करनेवाला व्यक्ति अपने धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है। अतः इष्ट वस्तु के वियोगमें कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥२॥

कौटिल्य^२ ने भी शोकको धर्म-आदि श्रवण का नाशक बताया है ॥३॥

जो पुरुष दरिद्र होकरके भी इन्द्रिय-जन्य सुखों की कामना करता है, वह निम्न व पशु-सुख्य है ॥ ६॥

नारद^३ ने भी विषय-लक्ष्मी दरिद्र पुरुष का जन्म निरर्थक बताया है ॥१॥

अपरिचित व्यक्तियोंसे प्रेमपूर्वक मधुर भाषण करना स्वर्गसे आये हुए सज्जन पुरुषोंका प्रतीक है ॥३०॥

गुरु^४ विद्वान् ने भी मधुरभाषी पुरुषको देवता बताया है ॥१॥

जिन पुरुषोंकी लोकमें परोपकार-आदि द्वारा स्थायी कीर्ति व्याप्त है उनके स्वर्गारोहण होजानेपर भी उन्हें जीवित समझना चाहिये ॥३१॥

नारद^५ विद्वान् ने भी कीर्तिशाली दिवंगत पुरुषोंको जीवित बताया है ॥१॥

जिस पुरुषने, शूरता, विद्वत्ता व परोपकार-आदि द्वारा उत्पन्न होनेवाली कीर्तिसे समस्त पृथिवी तलको शुभ नहीं किया, उसका जन्म पृथिवी में भाररूप ही है ॥३२॥

गौतम^६ ने भी यश-शून्य व्यक्ति को पृथिवीतलका भार बताया है ॥१॥

लोकमें शिष्ट पुरुषों द्वारा किया हुआ उपकार उनके महाकल्याण का कारण है ॥३३॥

जैमिनि^७ विद्वान्के उद्धारणका भी यही अनिप्राय है ॥१॥

अपनी रक्षा करानेकेलिये शरणा में आये हुए (शरणार्थी) पुरुषोंकी परीक्षा (सज्जनता व धूर्तता की जाँच) करना कथ्य है । अर्थात् उनकी परीक्षाके प्रपञ्च में न पड़कर सहृदयता से उनकी सेवा करनी चाहिये ॥३४॥

जो लोग स्वार्थ-सिद्धि-धरा दूसरोंकी भजाई करते हैं, वे महापापी हैं, महापुरुष नहीं ॥३५॥

१ तथा च भारद्वाजः—मृतं वा यदि वा नष्टं यदि शोकेन क्षम्यते । तत्कार्येणान्धता कार्यः केवलं कायशोषकम् ॥१॥

२ तथा च कौटिलिकः—यः शोकं धारयेद्भवेद्दे श्रवणं नाशयेद्वि सः । क्रियमाणं चिरं कालं तस्मात्त दूरतस्त्वमेव ॥३॥

३ तथा च नारदः—दरिद्रो यो भवेन्मर्त्यो होमो विषयसेवने । तस्य जन्म भवेद्मर्त्यं प्रायेण नारदः स्वयं ॥१॥

४ तथा च गुरुः—अपूर्वमपि यो दृष्ट्वा संभावयति वस्तु च । स होयः पुरुषस्तज्जर्घ्यतोऽन्तावागतो दिवः ॥१॥

५ तथा च नारदः—मृता अपि परितोया जीवन्तस्तेऽपि मृतये । येषां सन्धिरयते कीर्तिस्तदागाकरचरिणा ॥३॥

६ तथा च गौतमः—शुचिनामि यतोभिर्नो यस्य शुचकीकृतानि च । भूमिभाराय संजातः स पुमानिह केचनह ॥३॥

७ तथा च जैमिनिः—उपकारो भवेन्नोऽपि पुरुषार्था महात्मना । कस्याप्यस्य प्रभूताय स तेषां जायते भूषण ॥३॥

गुरु^१ विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

अभिमानी सेवक ईर्ष्या-वश दूसरे सेवकोंको उन्नति सहन नहीं करता, इसलिये ये लोग स्वामी से कष्ट हाकर उसे छोड़ देते हैं । इसप्रकार धर्मही सेवक अन्य सेवकों के रहनेपर भी अपने स्वामीको अकेला कर देता है, अतः अभिमानी सेवक नहीं रखना चाहिये ॥४०॥

राजपुत्र^२ ने भी दुष्टबुद्धि व अभिमानी सेवक से इसीप्रकार हानि बताई है ॥१॥

राजाको अपने पुत्रके लिये भी अपराधानुकूल दंड देना चाहिये फिर प्रजा-पीडक अन्यायियोंको दंड देना को न्याय-संगत ही है ॥४१॥

शुक्र^३ ने भी अपराधानुकूल दंडविधान को न्याय-संगत बताया है ॥१॥

राजा प्रजा से अपने देशानुकूल कर (टेक्स) वसूल करें । अन्यथा अच्छी फसल-भादि न होनेके कारण एवं अधिक कर-टेक्स-से दबी हुई प्रजा राजा से विद्रोह करने तत्पर होजाती है ॥४२॥

वक्ताके वचन, व्यव-वेष्ट-भूषा, त्याग, कार्यका आरम्भ, सुख, अधम पुरुष, मर्यादा-पालन, दुरा-चार से हानि, सदाचारसे लाभ, संदिग्ध, उत्तम भोज्य रसायन, पापियों की वृत्ति, पराधीन भोजन व निवास-योग्य देश—

प्रतिपाद्यानुरूपं वचनमुदाहर्तव्यं ॥४३॥ आयानुरूपो व्ययः कार्यः ॥४४॥ ऐश्वर्यानुरूपं विलासो विधातव्यः ॥४५॥ धनश्रद्धानुरूपस्त्यागोऽनुसर्तव्यः^A ॥४६॥ सहायानुरूपं कर्म आरब्धव्यम्^B ॥४७॥ स पुमान् सुखी यस्यास्ति सन्तोषः ॥४८॥ रजस्वलाभिगामी चाण्डालादप्यधमः ॥४९॥ सलज्जं निर्लज्जं न कुर्यात् ॥५०॥ स पुमान् पटावृतोऽपि नम्र एव यस्य नास्ति सञ्चारित्रमावरणम् ॥५१॥ स नम्रोऽप्यनम्र एव यो भूषितः सञ्चरित्रेण ॥५२॥ सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः ॥५३॥ न क्षीरघृताभ्यामन्यत्र परं रसायनमस्ति ॥५४॥ परोपघातेन वृत्तिनिर्भाग्यानाम् ॥५५॥ वरमुपवासो, न पुनः पराधीनं भोजनम् ॥५६॥ स देशोऽनुसर्तव्यो यत्र नास्ति वर्षासङ्करः ॥५७॥

अर्थ—वक्ता श्रोताके अनुकूल वचन बोले ॥४३॥ मनुष्यको अपनी आमदनीके अनुकूल खर्च करना चाहिये क्योंकि बिना सोचे-समझे अधिक खर्च करने वाला कुबेरके समान धनाह्वय होने पर भी दरिद्र हो जाता है ॥४४॥ अपने धनादि वैभवके अनुकूल विलास—वेश-भूषा करना चाहिये ॥४५॥ धन और श्रद्धानुकूल पात्रदान करना चाहिये, ऐसा करनेसे उसे अधिक कष्ट नहीं होपाते ॥४६॥

१ तथा च गुरुः—अभिवृत्तजनं यच्च न त्यक्त्यं तद्विवेकिना । शेषस्त्रीच^१ प्रचलेन यदि तस्य शुभार्थता ॥१॥

२ तथा च राजपुत्रः—प्रसादाद्भ्यो भवेद् मृत्युः स्वामिनो यस्य दुष्टधीः । स त्यक्त्यतेऽन्यभृत्पौरव [शुक्रो-वृत्तौऽवर्जैव^२ वा] ॥१॥ सं० प०

३ तथा च शुक्रः—अपराधानुरूपोऽथ दण्डः कार्यो महीभुजा । पुत्रस्थानि किमन्येषां ये स्तुः पापवराववाः ॥१॥

इद्विमान् पुरुष महायुक्तोऽन्तःकूल कार्य आरम्भ करे क्योंकि उनको अनुकूलताके बिना कार्य सिद्धि संदिग्ध रहती है ॥४७॥ वही मनुष्य सुखी है, जो संतोषी है, क्योंकि तीन लोककी सम्पत्ति मिल जाने पर भी तृष्णा नष्ट नहीं होती, अतः उसके त्याग करनेसे ही सुख प्राप्त हो सकता है; अन्यथा नहीं ॥४८॥

रजःस्वला स्त्रीको सेवन करनेवाला चाण्डालसे भी अधिक नोष है ॥४९॥ नैतिक पुरुष स्वजा-शील व्यक्तिको निर्लज्ज न बनावे। सारांश यह है कि कुमंस्कार-वश नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाला स्वजा-वश हितैषियोंके भयसे अनर्थ नहीं करता, परन्तु उसके कार्योंका स्वयं देखकर उसे निर्लज्ज बनानेसे वह उनके समस्त अनर्गल प्रवृत्ति करनेसे नहीं चूकता ॥५०॥ जो सदाचाररूप वस्त्रसे अलंकृत नहीं है, वह सुन्दर वस्त्रों से वेष्टित होने पर भी नग्न ही है ॥५१॥ सदाचारसे विभूषित शिष्ट पुरुष नग्न होने पर भी नग्न नहीं गिने जाते, अतएव लोकप्रिय होनेके लिये आचार्यण विशुद्ध रखना चाहिये ॥५२॥ सभी स्थानोंमें मन्देह करने वालोंके वर्तन निन्द्य नहीं होते ॥५३॥ दूर और धी से बढ़कर दूसरो कोई प्रसन्न रसावन (आयु व शक्तिवर्धक) नहीं है ॥५४॥

दूसरे प्राणियोंको पीड़ित करके जीविका करना पापियों का कार्य है, अतएव नैतिक पुरुष व्यायोचित साधनों द्वारा जीविका-प्राप्ति करे ॥५५॥ पराधीन भोजनकी अपेक्षा उपवास करना अधिक है, क्योंकि पराधिन भोजन अनिश्चित व अनियमित होनेसे विशेष कष्टदायक होता है ॥५६॥ उस देशमें निवास करना चाहिये जिसमें वर्णसंकर लोग नहीं हैं ॥५७॥

जन्मान्ध, माद्वय, निःस्पृह, दुःखका कारण, उच्छ्वसको प्राप्ति, सकृदा आभूषण, राजाकी मित्रता, दुष्ट व याचकके प्रति कृतेन्द्रिय, निरर्थक स्वामी, सार्थक यज्ञ व सैन्य-शक्ति का उपयोग—

स जात्यन्धो यः परलोकं न पश्यति ॥५८॥ अतं विद्या सत्यमानृशस्यमलौन्यता च ब्राह्मण्यं न पुनर्जातिमात्रं ॥५९॥ निःस्पृहानां का नाम परापेक्षा ॥६०॥ कं पुरुषमांशा न वलेशयति ॥६१॥ संयमी गृहाश्रमी वा यस्याविद्यातृष्णाभ्यामनुपहतं चेतः ॥६२॥ शीलमल-ङ्कारः पुरुषाणां न देहस्वेदावहो बहिराकल्पः ॥६३॥ कस्य नाम नृपतिर्मित्रं ॥६४॥ अप्रियकर्तुर्न प्रियकरणात्परममाचरणं ॥६५॥ अप्रयच्छन्नधिनी न परुषं ब्रूयात् ॥६६॥ स स्वामी मरुभूमिर्यत्रार्थिनी न भवन्तीष्टकामाश्च ॥६७॥ प्रजापक्षनं हि राज्ञो यज्ञो न पुन-र्भूतानामालम्बः ॥६८॥ प्रभूतमपि नानपराधसत्त्वव्यापत्तये नृपाणां बलं धनुर्वा किन्तु शरस्त्रागतं चक्षाय ॥६९॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने सत्कर्तव्यों द्वारा परलोक सुधारने में प्रयत्नशील नहीं रहता, वही जन्मान्ध है ॥५८॥ मनुष्य केवल ब्राह्मण कुलमें जन्म लेनेसे ही ब्राह्मण नहीं गिना जाता, परन्तु अतं (अहिंसा, सत्य, अचौर्य-आदि) का पालन, ज्ञानाभ्यास, सत्यवाचक, कर्तव्यका त्याग व संतोष-आदि सद्गुणोंकी वारण करनेसे वास्तविक ब्राह्मण माना गया है ॥५९॥

भगवज्जिनसेनाचार्य^१ ने भी तप, आगमज्ञान और ब्राह्मण कुलमें जन्मधारण करने वालों को सत्त्वा ब्राह्मण एवं तप और आगमज्ञानसे शुन्य को जाति ब्राह्मण कहा है ॥१॥

निःस्पृह (धनादिकी लालसा-रहित) व्यक्ति परमुखापेक्षी नहीं होते ॥६०॥ तृष्णासे कौन मनुष्य दुःखी नहीं होता ? सभी होते हैं ॥६१॥

सुन्दर^२ कविने भी तृष्णाको दुःखका और संतोषको सुखका कारण बताया है ॥१॥

लोकमें वही बुद्धिमान मनुष्य, चाहे वह यति-भ्राजम वा गृहस्थ-भ्राजम में प्रविष्ट हो, सभी उच्च पद प्राप्त कर सकता है; जब तक कि वह अहम्भक्ति और तृष्णासे दूषित न हो ॥६२॥ शीघ्र (नैतिक-प्रवृत्ति) ही पुरुषोंका आभूषण है, ऊपरी कटक-कुन्डलादि शरीरको कष्ट पहुँचाने वाले हैं; अतः ये वास्तविक आभूषण नहीं ॥६३॥

नीतिकार भर्तृहरिने^३ भी कहा है कि कानोंकी शोभा शास्त्र सुननेसे है, न कि कूटल पहननेसे, हाथोंकी शोभा पात्रदानसे है, न कि कंकण धारण करनेसे एवं दयालु पुरुषोंके शरीरकी शोभा परोपकारसे है, न कि चन्दनादिके लेप से ॥१॥ राजा किसका मित्र होता है ? किसीका नहीं, क्योंकि अपराध करने पर वह मित्रकी भी दण्ड देनेसे नहीं चूकता ॥६४॥ दुर्जनके साथ भी सङ्गनताका वर्ताव करना चाहिये, इसको छोड़कर उसके प्रति और कोई कर्त्तव्य नहीं; क्योंकि भलाई का वर्ताव करनेसे प्रायः वे अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं ॥६५॥ किसी कारणवश याचक को कुछ देने में असमर्थ होने पर भी मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह उसके साथ कठोर वचन कभी न बोले, क्योंकि इनका प्रयोग उसकी प्रतिष्ठा व मर्यादा को नष्ट करनेके साथ २ उस याचक को भी असंतुष्ट कर डालता है, जिसके फलस्वरूप वह उसका अनिष्ट चिन्तन करने लगता है ॥६६॥ उस स्वामीको याचक लोग मरुभूमिके समान निष्फल समझते हैं, जिसके पास आकर वे लोग इच्छित वस्तु प्राप्त कर अपना मनोरथ पूर्ण नहीं कर पाते ॥६७॥ प्राणियोंकी रक्षा करना ही राजाका यत्न (पूजन) है, न कि प्राणियोंकी बलि देना ॥६८॥ राजाको अपनी प्रचुर तीरन्दाज व सैनिक शक्ति का उपयोग शरणागतोंकी रक्षार्थ करना चाहिये न कि निरपराध प्राणियोंकी हत्यामें ।

इति सदाचार-समुद्देश ।

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—तपः श्रुतं च जातिरप्यत्रयं ब्राह्मणकारणम् ।

तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिर्ब्राह्मण एव सः ॥१॥ आदिपुराण ।

२ तथा च सुन्दरः कविः—जो दस जोस पचास भये शत सब करोर की चाह जगेगी, अरब लाख की द्रव्य भरो लो धरापति होने की चाह जगेगी । उदय अस्त तक राज्य भरो पर तृष्णा और ही और बढ़ेगी, सुन्दर एक संतोष बिना नर जेरी तो भूख कभी न मिटेगी ॥१॥

३ तथा च भर्तृहरिः—भोजं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पात्रिर्न तु कङ्करोन ।

विमालि कायः करुणाकुलानी, परोपकारेण न तु चन्दनेन ॥१॥

२७—व्यवहार समुद्देश ।

मनुष्योंका दृढ़ बन्धन, अनिवार्य पालन-पोषण, तीर्थ सेवाका फल, तीर्थस्थानों में रहनेवालों की प्रकृति, निरा स्वामी, सेवक, मित्र, स्त्री व देश—

कलत्रं नाम नराणाभनिगडमपि दृढं बन्धनमाहुः ॥१॥ त्रीण्यवश्यं भर्तव्यानि माता
कलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि चापत्यानि^A ॥२॥ दानं तपः प्रायोपवेशनं तीर्थोपासनफलम्
॥३॥ तीर्थोपवासिषु देवस्वापरिहरणं कव्यादेषु कारुण्यमिव, स्वाचारच्युतेषु पापभीरुत्वमिव
प्रादुरधामिकत्वमतिनिष्ठुरत्वं वञ्चकत्वं प्रायेण तीर्थवासिनां प्रकृतिः^B ॥४॥
स किं प्रश्न्यः कार्यकाले एव न सम्भावयति भृत्यान् ॥५॥ स किं भृत्यः सखा वा यः कार्य-
मुद्दिश्यार्थं याचते ॥६॥ यार्थेनप्रणयिनी करोति चाङ्गाकृष्टिं सा किं भार्या ॥७॥ स किं देशो
यत्र नास्त्यात्मनो वृत्तिः ॥८॥

अर्थ — विद्वानों ने कहा है, कि पुरुषों को स्त्री रूप बन्धन साँकड़ोंका न होकरके भी उससे कहीं अधिक दृढ़ (मजबूत) है क्योंकि स्त्रीके प्रेम-पाशमें फँसे हुए मनुष्यका उसमें छुटकारा पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है और इसीकारण वह आत्म-कल्याण के उपयोगी नैतिक व धार्मिक सत्कर्तव्यों से विमुख रहता है ॥ १॥

शुक्र^१ विद्वान ने भी स्त्रीको दृढ़ बन्धन स्वीकार किया है ॥ १॥ मनुष्यको माता, स्त्री और प्रौढ़ ने होने से जीवन-निर्वाह करने में असमर्थ पुरुषोंका पालन-पोषण अवश्य करना चाहिए ॥ २॥

शुक्र^२ विद्वान ने भी उक्त माता आदि का आवश्यकीय संरक्षण बताया है ॥ १ ॥

पात्र-दान, तप व अनशन (उपवास) अथवा जीवन पर्यन्त तीर्थ भूमिमें रहने का दृढ़ संकल्प करना, या प्रायोपगमन सन्यास धारण यह तीर्थ स्थान की सेवा का फल है। अर्थात्—दिवेकी पुरुष इन सत्कर्तव्यों के अनुष्ठान से तीर्थ सेवा का फल (स्थायी आत्मिक सुख) प्राप्त कर सकता है। और

A मु० मू० प्रति में 'इतरेषां पत्र विशेष है, जिसका अर्थ यह है कि नैतिक पुरुष दूसरोंके कर्षोंका भी जो जीविकायोग्य नहीं हैं, पालन पोषण करे ।

B उक्त सूत्र मु० मू० प्रति से संकलन किया गया है क्योंकि सं० टी० पु० का पाठ अशुद्ध था । —सम्पादक

१ तथा च शुक्रः— न कलत्रात् परं किञ्चिद्बन्धनं विद्यते नृणां । यस्मात्तस्तेहनिर्बन्धो न करोति शुभानि यत् ॥१॥

२ तथा च गुरुः—मातरं च कलत्रं च गर्भरूपाणि यानि च । अप्राप्तव्यवहाराणि सदा पुष्टिं न वेद बुधः ॥१॥

इसके विपरीत नीति-विरुद्ध असत् प्रवृत्ति करने वाला पापी है, उसकी तीर्थ-सेवा हाथी के स्नान की तरह निष्फल है ॥ ३ ॥

गर्ग^१ विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जिस प्रकार व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं में दयालुता और आचार-भ्रष्ट (पापी) पुरुषों में पाप से डरना आश्चर्यकारक होता है, उसी प्रकार तीर्थस्थानों में रहने वाले ब्राह्मणों में भी देवता पर बढ़ाई हुई श्रद्धा का त्याग करना आश्चर्यकारक होता है। विद्वानोंने कहा है कि तीर्थस्थानों में रहने वाले मनुष्यों की प्रकृति अधार्मिक, निर्दयी (क्रूर) और छल कपटपूर्ण होती है ॥ ४ ॥

जो स्वामी अपनी प्रयोजनसिद्धि हो जाने पर सेवकों को नियुक्त नहीं करता अथवा नियुक्त कर प्रयोजन सिद्ध होने पर भी उन्हें वेतन नहीं देता वह निन्द्य है ॥ ५ ॥

भृगुने^२ भी प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर सेवकों की नियुक्ति न करने वाले स्वामी को निन्द्य कहा है ॥ १ ॥

जो सेवक अपने द्वारा स्वामी की प्रयोजन-सिद्धि समझ कर उससे धन की माँग करता है, एवं जो मित्र अपने द्वारा मित्र की प्रयोजन-सिद्धि समझकर उससे धन चाहता या माँगता है वे दोनों (सेवक व मित्र) दुष्ट हैं ॥ ६ ॥

भारद्वाज^३ ने भी ऐसे स्वाधोन्ध सेवक व मित्र की कड़ी आलोचना की है ॥ १ ॥

वह स्त्री निन्द्य है जो धन के कारण पति से प्रेम करती हुई उसका गालिबल्लन करती है। सारांश यह है पतिव्रता स्त्री को पति के सुख-दुख में उसके साथ एकसा (प्रेमपूर्ण) वर्ताव करना चाहिये ॥ ७ ॥

नारद^४ ने भी संपत्ति काल में ही पतिसे अनुराग करने वाली स्त्री की कड़ी आलोचना की है ॥ ६ ॥

वह देश निन्द्य है, जहाँपर मनुष्य के लिये जीवन-निर्वाह के साधन (कृषि व व्यापार-आदि) नहीं हैं, अतः विवेकी पुरुष को जीविका-योग्य देशमें निवास करना चाहिये ॥ ८ ॥

गौतम^५ विद्वान ने भी जीविका-शून्य देशको छोड़ देने का संकेत किया है ॥ १ ॥

निध बन्धु, मित्र, गृहस्थ, दान, आहार, प्रेम, आचरण, पुत्र, ज्ञान, सौजन्य व लक्ष्मी—

स किं बन्धुर्यो व्यसनेषु नापतिष्ठते ॥१॥ तत्किं मित्रं यत्र नास्ति विश्वासः ॥१०॥

स किं गृहस्था यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः ॥११॥ तत्किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः

॥१२॥ तत्किं भुक्तं यत्र नास्त्यतिथिसंविभागः ॥१३॥ तत्किं प्रेम यत्र कार्यवशात् प्रत्या-

१ तथा च गर्गः—सुखदा दानं तपो वाय तथा प्रायोपवेशन । करोति यश्चतुर्थे यत्तोर्ये कर्मे से पापभाक् ॥१॥

२ तथा च भृगुः—कार्यकाले तु सम्प्राप्ते संभावयति न प्रभुः । यो भूत्वा सर्वकालेषु स त्याज्यो दूरतो भुवैः ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—कार्ये जाते च यो भूत्यः सखा कार्यं प्रयाचते । न भूत्यः स सखा नैव तौ द्वावपि हि दुर्जना ॥१॥

४ तथा च नारदः—मोहने रक्षतेऽङ्गानि पार्थेन विमथं व्रजेत् । न सा भार्या परिक्रेशः पश्यस्त्री सा न संशयः ॥१॥

५ तथा च गौतमः—स्वदेशेऽपि न निर्वाहो भवेत् स्वल्पोऽपि यत्र च । विज्ञेयः परदेशः स त्याज्यो दूरेण परिक्रेशः ॥१॥

वृत्तिः ॥१४॥ तत्किमाचरणं यत्र वाच्यता मायाव्यवहारो वा ॥१५॥ तत्किमपत्यं
यत्र नाध्ययनं विनयो वा ॥१६॥ तत्किं ज्ञानं यत्र मदेनान्धता चित्तस्य ॥१७॥ तत्किं
सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ॥१८॥ सा किं श्रीर्यया न सन्तोषः सत्पुरुषाणां ॥१९॥

अर्थ—वह भाई निन्द्य—शत्रुके समान है, जो आपत्तिकालमें भाईकी सहायता नहीं करता ॥१४॥

वायिक्यने^१ भी कहा है कि 'जिस प्रकार बीमारी शरीरमें पैदा होने पर भी अनिष्ट समझी जाती है, जब कि दूरदेशवर्ती जगलमें पैदा होने वाली औषधि इष्ट समझी जाती है, उसी प्रकार अनिष्ट चित्तजन करने वाला' तब भाई भी शत्रु और निन्द्य कालमें सहायता देने वाला दूसरा व्यक्ति बन्धुसे भी बढ़कर समझा जाता है ॥१५॥

वह मित्र निन्द्य है जो अपने मित्रके धन, धान्य व कुलत्र (स्त्री) की रक्षा करनेमें विश्वासघात करता है; अतः मित्र द्वारा सौंपे हुये धन-धान्यादि को सुरक्षित रखने ॥१६॥

गर्ग^२ ने भी मित्र द्वारा अर्पित धन-धान्यादिकी रक्षा करने वालेको सच्चा मित्र कहा है ॥१७॥

वह गृहस्थ किस काम का, जिसके यहाँ पतिव्रता व रूपवती कुलवधूरूप सम्पत्ति नहीं है ॥१८॥

शुक^३ ने भी कुरूप, शीत-भ्रष्ट (चरित्र हीन) बाँझ व कलहकारिणी स्त्री वाले गृहस्थको नारकी बताया है ॥१९॥

वह दाता निन्दनीय है, जो दान लेने योग्य (पात्र) का यथाविधि सत्कार (विनय) नहीं करता। क्योंकि यथाविधि सत्कारके बिना दाता दानका पारमार्थिक फल प्राप्त नहीं करता ॥२०॥

वशिष्ठ^४ ने भी योग्यकालमें योग्य पात्रको यथाविधि दिये जानेवाले दानका अक्षय फल बताया है ॥२१॥

भोजनकी वेलामें अतिथियोंको आहार-दान न देने वाले व्यक्तिका आहार निन्द्य है—पशुकी चंष्टा मात्र है। अर्थात्—जिस प्रकार पशु जीवन-रक्षार्थं तृणादि भक्षण करके मल-मूत्रादि क्षेपण करता है, उसी प्रकार वह मनुष्य भी जीवन-रक्षार्थं भोजन करके मल-मूत्रादि क्षेपण करता है व दान धर्म को नहीं जानता। अतः मनुष्यको अतिथियोंको आहार-दानके परमार्थ भोजन करना चाहिये ॥२२॥

नारद^५ ने भी अतिथिको आहार-दान दिये बिना भोजन करनेवाले गृहस्थको दो पैर वाला विना सींगों का पशु कहा है ॥२३॥

वह प्रेम निन्द्य है जो किसीसे स्वार्थ-सिद्धिके आधार पर जब कभी किया जाता है, सदा नहीं, अतः निःस्वाधभाष से स्थायी प्रेम करना विशेष महत्व-पूर्ण है ॥२४॥

१ तथा च वायिक्यः—परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः । अहितो वेदो व्याचिर्हितमारण्यमौषधम् ॥१४॥

२ तथा च गर्गः—धनं धान्यं कुलत्रं वा निर्विकल्पेन वेतस्त । अर्पितं रक्षयेद्यत्तु तन्मित्रं कथितं दुषैः ॥१७॥

३ तथा च शुकः—कुरूपा गतशीला च बंध्या युद्धपरा सदा । स गृहस्थो न भवति स नरकस्थः कथ्यते ॥१८॥

४ तथा च वशिष्ठः—काले पात्रं तथा तीर्थे शास्त्रोक्तविधिना सह । यद्वत् चाकर्म तद्विशेषं स्वायेकवन्धनम् ॥२१॥

५ तथा च नारदः—अद्वया जो नरोऽप्यत्र स्वयं भुङ्क्ते गृहाभ्यो । स पशुर्नोस्ति सन्देहो हि पदः शुद्धवर्जितः ॥२३॥

राजपुत्र^१ ने भी अधिक आदर-आदिसे प्राप्त हुए क्षणिक स्वार्थ-युक्त प्रेमको परिचय मात्र बताया है ॥१॥

वादीभसिंह^२ सूर ने इतरकी प्रेमकी मूर्खों की चेष्टा बताई है। मनुष्य का वह व्यवहार निन्दनीय है, जिसमें पाप प्रवृत्ति (परस्त्री संवदन व चोरी-आदि) द्वारा उसकी लोक-निन्दा होती हो, अथवा जो छल-कपट-पूण हो, क्योंकि ऐसे लोक-निन्दित दुष्ट आचरणसे ऐहिक व पारलौकिक कष्ट होने हैं ॥१५॥

जैमिनि^३ भी लोक-निन्दित विद्वानकी विद्वान् नहीं मानता ॥१॥

विद्या-विहीन (शिक्षा-शून्य) और माता-पिता आदि शुभचिन्तकों की विनय न करने वाला पुत्र निन्द्य है। अर्थात्—उसे पुत्र न समझकर गृहमें उत्पन्न हुआ शत्रु समझना चाहिये ॥ १६ ॥

वल्लभदेव^४ ने गर्भ रहित व दूध न देने वाली गाय के समान अशिक्षित व अरामिक पुत्र को निन्दक बताया है ॥ १ ॥

वस मनुष्य का ज्ञान निन्द्य है—वह अज्ञानी है, जिसकी चित्त-वृत्ति विद्या के गव से दूषित हो चुकी है ॥ १७ ॥

शूक^५ विद्वान ने भी ज्ञान का मद करने वाले की कड़ी आलोचना की है ॥ १ ॥

रीटरीयें दूसरेकी निन्दा व दुखी करनेवाला और समस्त में प्रिय वचन बोलनेवाले की सञ्जनता निन्द्य है। अर्थात् ऐसे व्यक्ति को दुष्ट जानना चाहिये ॥ १८ ॥

गुरु^६ ने भी पर-निन्दक व चुगलखोरकी सञ्जनता विषमज्ञान समान हानिकारक बताई है ॥१॥

अपनी विद्यमान सम्पत्तिसे संतुष्ट न रहनेवाले शिष्टपुरुषों की सम्पत्ति निन्द्य है, क्योंकि वे लोग कृपावश दुःखी रहते हैं; अतः संतोष धारण करना चाहिये ॥१६॥

निन्द्य उपकार, निशुक्तिके अयोग्य, दान दी हुई वस्तु, सत्पुरुषोंका कर्त्तव्य, सत्कार, धर्मरक्षा व दोष-शुद्धिका माधन—

तत्किं कृत्यं यत्रातिरूपकृतस्य ॥२०॥ तयोः को नाम निर्वाहो यो द्वावपि प्रभूतमानिनौ

पंडितौ लुब्धौ मूर्खौ चासहर्षौ वा ॥२१॥ स्ववान्त इव स्वदत्ते नाभिलाषं कुर्यात्

॥२२॥ उपकृत्य मूकभावाऽभिजातीनाम् ॥२३॥ परदोषभ्रंशे बधिरभावः सत्पुरुषाणां

॥२४॥ परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम् ॥२५॥ शत्रावपि गृहायाते संभ्रमः

१ तथा च राजपुत्रः—यद्गण्यं गुरुगौरवस्य सुहृदो पस्मिन्कथमन्तेऽन्तरं । यदाप्ययवशाज्जवाप्य सहसा नमोपहासाच्च यान् । वल्लभजनं न कथञ्चि यत्र स्वार्थरूपशते प्रत्ययः । तत्किं प्रेम य उच्यते परिचयस्तत्रापि कोपेन किं ॥१॥

२ तथा च वादीभसिंहः—एककोटिरातस्मेहो जवानां सखु चेष्टितम् ।

३ तथा च जैमिनिः—ज्ञानेन वार्यता यस्य श्रोत्रियस्य वृथा हि तत् । अनाचारात्मदादिष्टं श्रोत्रियत्वं वदन्ति ना ? ॥१॥

४ तथा च वल्लभदेवः—कोऽर्थः पुत्रेण ज्ञातेन यो न विद्वान् धार्मिकः । किं तथा क्रियते ज्ञेया या न सते न दुग्धदा

५ तथा च शूकः—विद्यामयो मनेकोचः पश्यन्नपि न पश्यति । पुरस्ये पूज्यलोकं च नातिनासं च बाह्यतः ॥१॥

६ तथा च गुरुः—प्रत्यक्षेऽपि प्रियं भूते पराङ्मुखो न विभाजते । लीजित्यं तस्य विज्ञेयं यथा किंवाकभचक्षुः ॥१॥

कत्तव्यः किं पुनर्न महति ॥२६॥ अन्तःसारधनमिव स्वधर्मो न प्रकाशनीयः ॥२७॥

मदप्रमादजैर्दीवैर्गुप्सु निवेदनमनुशयः प्रायश्चित्तं प्रतीकारः ॥२८॥

अर्थ—किसी मनुष्यका उपकार करके उसके समस्त प्रकट करना निम्न है, क्योंकि इससे वह प्रत्युपकारके बदले उपकारीसे वैर-विरोध करने लगता है ॥२८॥

भागुरि* ने प्रत्युपकारकी अभिलाषासे किये जाने वाले उपकारको निष्फल बताया है ॥१॥

बुद्धिमानोंको विद्वान् होकर अभिमानी व कुपण अथवा मूर्ख होकर लोभी, घमण्डी, अमहिष्णु व पारस्परिक कलह उत्पन्न कराने-वालोंको किसी भी कार्यमें नियुक्त न करना चाहिये, क्योंकि इससे कार्य सिद्धि नहीं होती और उक्त दोनोंका निर्वाह होना भी असम्भव है ॥ २१ ॥

हारीत* का भी नियुक्तिके विषयमें यही मत है ॥१॥

बुद्धिमान् को वसन की हुई वस्तुकी तरह स्वयं दिया हुआ दान ग्रहण करनेकी अभिलाषा नहीं करनी चाहिये ॥२२॥

जैमिनि* विद्वान् ने भी दान की हुई वस्तुके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

कुलीन पुरुष किसीका उपकार करके उसका दिग्दर्शन न करते हुये मौन ही रहते हैं ॥ २३ ॥

वल्गमदेव* विद्वान्के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

सर्वपुरुष दूसरेकी बुराई व दोष सुनकर ऐसे अनसुने बन जाते हैं मानो कि वे बहरें ही हों ॥२४॥

गर्ग* विद्वान् ने भी 'दूसरोंके दोष न सुनना' महापुरुषों का कर्तव्य बताया है ॥ १ ॥

वादीभासिह* सूरिने भी अपने दोषों पर दृष्टि रखने वालेको मोक्षमार्गी बताया है ॥ १॥

पर स्त्रियोंकी तरफ दृष्टिपात करनेमें भाग्यशाली पुरुष आन्धे होते हैं—उनपर कुदृष्टि नहीं रखते। अभिप्राय यह है कि इनका अपनी पत्नीके मित्राय अन्य स्त्रीजाति पर मातृ-भगिनी भाव होता है ॥ २५ ॥

हारीतने* भी परकलत्रकी ओर कुदृष्टि न रखनेवालेको भाग्यशाली कहा है ॥१॥

बुद्धिमान्को अपने गृहमें पदार्पण किये हुए राज्ञका भी सम्मान करना चाहिये। फिर क्या महापुरुषका नहीं करना चाहिये ? अवश्य करना चाहिये ॥२६॥

१ तथा च भागुरिः—योन्यस्य कुम्भे कृत्यं प्रतिकृत्यनिग्रह्यया । न तत्र कृत्यं मवेत्तस्य परचात्कलत्रावकाशम् ॥१॥

२ तथा च हारीतः—समर्थो मानसंयुक्ती पतिव्रती आत्मसंयमी । मिथोपदेशपरी मूर्खो कृत्वे मिथो न बोधयेत् ॥२॥

३ तथा च जैमिनिः—स्वयं दत्तं च वरानं न प्रोक्षं पुनरेव तत् । यथा स्वयान्तं तद्वत्पुं वरतः परिवर्जयेत् ॥३॥

४ तथा च वल्गमदेवः—इवमपरा काचिदृश्यते महतां महती वा आदचित्तया । उपकृत्य मयन्ति वरतः परतः प्रत्युपकारांक्षया ॥४॥

५ तथा च गर्गः—परदोषाज्ज्ञातवन्ति चेऽपि स्थुनैरपुङ्गवाः । शृण्वतामपि दोषः स्वाद्यतो दोषान्धसम्भवात् ॥५॥

६ तथा च वादीभासिहः—अन्धदीपमिवास्मीयमपि दोषं प्रपश्यता । कः समः कलु मुक्तोऽयं पुक्तः कायेन चेदपि ॥६॥

७ तथा च हारीतः—अन्धदेहान्तरे धर्मो यैः कृतश्च सुपुण्ड्रः । इह जन्मनि तेऽन्धस्य न वीचन्ते भित्तुभिर्नो ॥७॥

भागुरि^१ ने भी गृहागत व्यक्तिके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

विशेषकी मनुष्यको गृहके मध्यमें रखते हुए उत्तम धनके समान अपना धर्म (दानपुण्यादि) प्रकाशित नहीं करना चाहिये । अर्थात् जिसप्रकार गृहमें रखता हुआ धन नष्टहोने के भयसे चौर-आदिके सामने प्रगट नहीं किया जाता, उसी प्रकार अपना धर्म भी नष्ट होनेके भयसे किसी के समक्ष प्रगट नहीं किया जाता ॥ २७ ॥

व्यास^२ ने भी अपना धर्म प्रगट करनेवाले को मूर्ख कहा है ॥ १ ॥

शर्वत्र कामक्रोधादि कषायबरा होने वाले दोषोंकी दृष्टिके लिये निम्न प्रकार तीन उपाय हैं ।
१—अपने दोषोंको गुरुजनोंके समक्ष प्रकट करना, किये हुए दोषों पर परमात्ताप करना, २—प्रायश्चित्त करना ॥ २८ ॥

भारद्वाज^३ का भी दोष-दृष्टिके विषयमें यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

धनार्जन सम्बन्धी कष्टकी सार्थकता, नीच पुरुषोंका स्वरूप, वन्द्य चरित्रवान, पीडाजनक कार्य व पंचमहापातकी —

श्रीमतोऽर्थार्जने कायक्लेशो धन्यो यो देवद्विजान् प्रीणाति ॥२६॥ चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥३०॥ स पुमान् वन्द्यचरितो यः प्रत्युपकारमनपेक्ष्य परोपकारं करोति ॥३१॥ अज्ञानस्य वैराग्यं मित्रोर्विद्वत्त्वमधनस्य विलासो वेश्यातस्य शौचमविदितवेदितव्यस्य तस्माद्भ्रष्ट इति पंच न कस्य मस्तकशूलानि ॥३२॥ स हि पंचमहापातकी योऽशस्त्रमशास्त्रं वा पुरुषमभियुज्जीत ॥३३॥

अर्थ — जो धनाढ्य पुरुष अपने धन द्वारा देव, द्विज और यादवों को सम्बुष्ट करता है, उसका अर्थोपार्जनके लिये शारीरिक कष्ट उठाना प्रशंसनीय है ॥ २६ ॥

अभिपुत्रक^४ विद्वान्के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

नीच पुरुषोंका चाहे कितना ही उपकार किया जावे, तथापि वे चने के भक्षण, समान बिना उपकार किये विभ्राम नहीं लेते । अर्थात्—जिसप्रकार चने स्वादे जाने पर विकार (अधोवायु निस्सारण द्वारा जनसाधारणसे इसी मजाक कराना) उत्पन्न कर देते हैं, उसीप्रकार उपकृत हुए भी नीच पुरुष उपकार कर डालते हैं ॥ ३० ॥

१ तथा च भागुरिः—अमादरो न कर्त्तव्यः शत्रोर्वि विवेकिना । स्वगृहे आगतस्यात्र किं पुनर्महतोऽपि च ॥१५॥

२ तथा च व्यासः—स्वकीयं कीर्तयेद्दर्शनं यो जनाग्रं स मन्वीर्यः । जगं गतः सदावाति पापस्य कथितस्य च ॥१५॥

३ तथा च भारद्वाजः—मदप्रसादजं तर्पणं यथा ह्यस्तविशेषदेह । गुरुभ्यो दुरितमाप्नोति मनस्तापो न भारत ॥१५॥

४ तथा च अभिपुत्रकः—कायक्लेशो भवेच्चस्तु धनार्जनसमुत्तमः । स संस्रो धनिको योऽत्र संविभातो द्विजार्थिषु ॥१॥

भागुरि^१ विद्वान् के सद्वरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

प्रत्युपकार की आशा न करके दूसरोंका उपकार करनेवाले का चरित्र नमस्कार करने योग्य है ॥ ३१ ॥

भागुरि^२ व महात्मा भर्तृहरि^३ ने भी उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया है ॥ ४

मूर्ख मनुष्य का वैराग्य धारण, तपस्वी का कामसेवन, दरिद्र का भृंगार-विधान, वेश्यासक्त की पवित्रता और आत्मज्ञान-शून्य का वस्तु स्वरूपके विचारने का आग्रह, ये पाँच कार्य किसके मस्तकशुभ्र— (पीडाजनक) नहीं हैं ? अर्थात्—सभीको पीडाजनक हैं । सारांश यह है कि वैराग्य-इच्छुक को ज्ञानी, साधुको कामसेवन से विरक्त, भृंगार चाहनेवाले को धनाढ्य, पवित्रता चाहनेवाले को वेश्यासेवन का श्यामी व वस्तु स्वरूप के विचारक को आत्मज्ञानी होना चाहिये ॥ ३२ ॥

भगवत्पाद^४ विद्वान् ने भी मूर्ख को वैराग्य धारण करना आदि उक्त पाँच बातों को पीडाजनक बताया है ॥

जो मनुष्य निहस्त्रे व्यक्तिपर शस्त्र प्रहार और मूर्ख से शास्त्रार्थ करता है वह पंच महापातकों (स्त्री-वध, बाल-वध, गो-वध, मादाण-वध व स्वासी-वध) के कटुक फल भोगता है, अतः बुद्धिमान् पुरुषको निहस्त्रे पर शस्त्रप्रहार और मूर्ख से वाद-विवाद नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥

गर्ग^५ विद्वान् के सद्वरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

प्रयोजनकरा नीचपुरुषका संसर्ग, स्वार्थ-सिद्धि का इच्छुक, गृह-दासीसे अनुराग, वेश्या-सम्बन्धसे हानि व दुराचारियोंकी चित्तवृत्ति—

उपाश्रुतिं श्रोतुमिव कार्यवशान्नीचमपि स्वयमुपसर्पेत् ॥३४॥ अर्थी दोषं न परयति^A ॥३५॥

गृहदास्यमियमो गृहं गृहिणीं गृहपतिं च भ्रष्टवशादयति ॥३६॥ वेश्यासंज्ञो देव-द्विज-

गृहिणी-बन्धूनामुष्वाटनमेषः ॥३७॥ अहो लोकस्य पापं, यन्निजा स्त्री रतिरपि भवति

निम्बसमा, परगृहीता शुन्यपि भवति रम्भासमा ॥३८॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रयोजनकरा शुभ वा अशुभ शकून-शब्द सुना जाता है, यदि शुभसूचक होता है तो वह कार्य किया जाता है, अन्यथा छोड़ दिया जाता है, वही प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यको स्वार्थसिद्धि

१ तथा च भागुरिः—कचकैः सपत्ता ज्ञेया नीचास्त्वान् समाजयेत् । कस्तु ज्ञानस्य मध्ये तु प्रकुर्वन्ति विद्वद्वत् ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—उपकाररतो वस्तु वाञ्छते न स्वर्ग पुनः । उपकारः स कथः स्वाहोपायेन चो न च स्वर्ग ॥२॥

३ तथा च भर्तृहरिः—पुत्रे मत्पुत्र्याः परार्थपदकाः स्वार्थान् परित्यज्य मे ॥३॥

४ तथा च भगवत्पादः—भर्तृदयं तु सुवैराग्यं, निटककं तदपिचनः । निर्वैराग्यं विज्ञासित्वं शीघ्रं वैराग्यतत्त्वं च ॥४॥

तत्त्वत्वमो महाविदो [पुनरेते कंठकाः स्मृताः] ॥५॥

५ तथा च गर्गः—स्त्रीवाकनोद्भिजस्वामिर्पञ्चला, वधकारकः । वधस्य स्वास्वदीर्घं च हि पुं वद । ... ॥१॥

A सु० मू० प्रतिये संकलित ।

के लिये नीच पुरुष के भी पास जाकर उसके वचन सुनने चाहिए और अनुकूल होने पर मानना चाहिए अन्यथा नहीं ॥ ३४ ॥

गुरु ^१ विद्वान् ने भी नीच पुरुष के विषय में यही कहा है ॥ १ ॥

स्वार्थी मनुष्य अपने दोषों पर दृष्टि नहीं डालता ॥ ३५ ॥

गृहदासी से अनुराग करनेवाला अपने गृह, पत्नी व गृह के स्वामी को नष्ट करदेता है ॥ ३६ ॥

वेश्या-संग्रह देव, मायाया, स्त्री बन्धुजनों से पृथक् कराने वाला उच्चाटन-मंत्र है अतः उक्त हानि व धार्मिक चरितसे बचने के लिए त्रिवेकी मनुष्यको वेश्या-संग्रह का त्याग करना चाहिये ॥ ३७ ॥

गुरु ^२—विद्वान् ने भी वेश्यासंग्रह से उक्त हानि बताई है ॥ १ ॥

लोगों का पाप जानकर आश्चर्य होता है कि जिसके कारण वे लोग अपनी रति के समान सुन्दर स्त्री को भी तीस सहस्र अप्रिय और दूसरे की कुरूप स्त्रीको देवाननासम प्रिय मान बैठते हैं ॥ ३८ ॥

एक स्त्री से लाभ, पत्नी व वेश्यासेवन का त्याग, सुखके कारण, गृह-प्रवेश, लोभ व याचना से हानि, दारिद्र्य-दोष व धनाढ्य की प्रशंसा—

स सुखी यस्य एक एव दारपरिग्रहः ॥ ३९ ॥ व्यसनिनो यथासुखमभिसारिकासु न तथार्थवतीषु ॥ ४० ॥ मदः पृथग्यस्तद्विद्वान्पूर्वतः तैर्न चार्थवतीषु ॥ ४१ ॥

अस्तरणं कम्बलो जीवधनं गर्दभः परिग्रहो बोढा सर्वकर्माण्यश्च भृत्या इति कस्य नाम न सुखावहानि^A ॥ ४२ ॥ लोभवति भवन्ति विफलाः सर्वे गुणाः^B ॥ ४३ ॥ प्रार्थना कं नाम न लभयति^C ॥ ४४ ॥ न दारिद्र्यात्परं पुरुषस्य लाभजनमस्ति यत्संगेन सर्वे गुणा निष्फलाः यान्ति ॥ ४५ ॥ अलब्धार्थोऽपि लोको धनिनो भाण्डो भवति ॥ ४६ ॥

धनिनो यतयोऽपि चाडुकाराः ॥ ४७ ॥

अर्थ—वही सुखी है जिसके एक स्त्री है ॥ ३९ ॥

चारिक्य^३ ने भी दो पत्नियों को कलह का बीज बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार व्यभिचारी पुरुष को व्यभिचारिणी स्त्रियों से सुख प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार वेश्याओं से भी उसे कदापि सुख प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वेश्याओं में अनुराग करने में

१ तथा च गुरुः—अपि कोचोऽपि गन्तव्यः कार्ये महति संस्थिते । यदि स्वातन्त्र्यो भद्रं तत्कार्यं मयवा त्यजेत् ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—न वेश्या चिन्तयेत्पुंसां किमप्यस्ति च भविष्ये । स्वकार्यमेव कुर्वाणा नरः सोऽपि च तद्वसात् ॥ १ ॥

कृत्वा शोकपरित्यागं तत्त्वा बान्धवा अपूरयेत् । तत्रैव मुच्यते सर्वेभ्योर्वाभावपूर्वजैः ॥ २ ॥

३ तथा च चारिक्यः—अपि साधुजनोत्पन्ने द्वे भार्ये यत्र संस्थिते । कलहस्तत्र नो परति गृहाभ्यैव कदाचन ॥ १ ॥

A, B, C, उक्त चिन्हांकित सूत्र सु, मू, प्रति से संकलन किये गये हैं ।

व्यसनी का प्रभु धन-व्यय होता है एवं उसकी इच्छासिद्धि वृत्ति करने से निर्धनता-वशात् उसे धनाढ्यों के समस्त धन के लिये दीनता प्रगट करनी पड़ती है अतः नैतिक पुरुष को व्यभिचारिणी स्त्रियों व वेश्याओं से दूर रहना चाहिए ॥ ४०-४१ ॥

बिछाने की मदूदी व ओढ़ने को कम्बल, कृषि-आदि में उपयोगी गो-बैल आदि जोष, धन, विवाहित स्त्री रूप परिग्रह एवं समस्त कार्य करने में निपुण सेवक, ये वस्तुयें किसे सुखदायक नहीं होती ? सभी को होती हैं ॥ ४२ ॥

लोभी के समस्त विद्या आदि गुण निष्फल होते हैं, क्योंकि उनका वह सदुपयोग नहीं करता ॥ ४३ ॥ याचना करने वाला कौन मनुष्य लघु नहीं गिना जाता ? सभी लघु गिने जाते हैं ॥ ४४ ॥ लोक में दरिद्रता से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु मनुष्यको दूषित (दोषयुक्त) नहीं बनाती, दरिद्रता ही सबसे बड़ा दोष है जिसके कारण मनुष्य के समस्त गुण निष्फल हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

किसी विद्वान् ने भी गुणवान् दरिद्र व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले उपकार को शङ्कायुक्त कहा है । १

धनाढ्य से धन न मिलने पर भी याचक लोग उसकी प्रशंसा करते हैं, पुनः धन मिलने पर तो उसकी प्रशंसा के पुल बांधना कोई बड़ी बात नहीं ॥ ४६ ॥

वल्लभदेव ने भी नीच कुल के कुरूप धनाढ्य पुरुष की याचकों द्वारा स्तुति यताई है । १ ॥

जबकि साधु पुरुष भी धनाढ्य पुरुष की प्रशंसा करते हैं फिर साधारण लोगों का तो कहना ही क्या है ? वे तो उसकी प्रशंसा करते ही हैं ॥ ४७ ॥

वल्लभदेव ने भी धनाढ्य पुरुष को कुलीन, पंडित, भूतधर, गुणज्ञ, वक्ता व दर्शनीय कहा है ॥ १ ॥

पवित्रवस्तु, उत्सव, पर्व, तिथि व यात्राका माहात्म्य, पांडित्य, चातुर्थ्य व लोकव्यवहार—

न रत्नहिरण्यपूताञ्जलात्परं पावनमस्ति ॥ ४८ ॥ स्वयं मेध्या आपो वन्दिता विशेवतः ४९

स एवोत्सवो यत्र वन्दिमोक्षो दीनोद्धरणं च ॥ ५० ॥ तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः

प्रकामं सन्तर्पणं ॥ ५१ ॥ तास्तिथयो यासु नाधर्माचरणं ॥ ५२ ॥ सा तीर्थयात्रा यस्या-

मकृत्यमिवृत्तिः ॥ ५३ ॥ तत्पाण्डित्यं यत्र वयोविद्योचितमनुष्ठानम् ॥ ५४ ॥ तत्चातुर्यं

यत्परप्रीत्या स्वकार्यसाधनम् ॥ ५५ ॥ तन्लोकोचितत्वं यत्सर्वजनादेयत्वम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—मरकत आदि रत्न व सुवर्ण से पवित्र किये हुए जलको छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ पवित्र नहीं है । सारांश यह है कि ऐसा जल स्नान करने व पीने के लायक है ॥ ४८ ॥ जल स्वयं पवित्र है

१ तथा चोक्तं—उपकारपरो पातिः, निर्धन कस्यचिद्गृहे । पारदिप्यति मात्रेण धनाढ्यो मन्वते गृहो ॥ १ ॥

२ तथा च वल्लभदेवः—न स्वयां सदृशो दाता कुलीनो न च रूपवान् । कुलीनोऽपि बिल्हणियोऽपि नीचते च यमाधिभिः ॥ १ ॥

३ तथा च वल्लभदेवः—यस्मास्ति धितं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स भूतवाङ् गुणज्ञः । स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणः कान्चनसाधयन्ति ॥ १ ॥

व गर्भजल विशेष पवित्र है ॥ ४६ ॥

मनु^१ के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

उत्सव मनाने की सार्थकता तभी है जब कि इस अवसर पर वन्दियों कैदियों का छुटकारा और अनाथोंकी रक्षा की जावे, पर्ष (रक्षाबंधन-आदि) मनाने की भी साधकता तभी है, जबकि इस अवसर पर अतिथियों और कुटुम्बीजनों को दान-सम्मान द्वारा अत्यन्त संतुष्ट किया जावे ॥ ५०-५१ ॥

भारद्वाज^२ ने भी पर्ष के दिनों में अतिथिसत्कार व कुटुम्ब-पोषण का संकेत किया है ॥ १ ॥

तीस तिथियों में से वे ही तिथियां सार्थक हैं जिनमें मनुष्य पापाचरण से इटकर धर्माचरण की ओर अग्रसर होता है ॥ ५२ ॥

जैमिनि^३ ने भी पाप-युक्त तिथियों को निरर्थक व धर्म-युक्त को साधक कहा है ॥ १ ॥

जहां जाकर लोग पाप में प्रवृत्ति नहीं करते, वही उनकी वास्तविक तीर्थयात्रा है सांगंश यह कि तीर्थस्थान का पाप वज्रजप की तरह अमिट होता है, अतः वहां पर पापक्रियाओं को त्याग करना चाहिए ॥ ५३ ॥

किसी नीतिकार^४ के उद्धरण से भी यही बात प्रतीत होती है ॥ १ ॥

अपनी आय और विद्यानुकूल सत्कर्त्तव्य का पालन करनेवाले विद्वान् की विद्वत्ता सच्ची है ॥५४॥

गुरु^५ ने भी विद्या व आय के योग्य सत्कर्त्तव्य-पालन व योग्य वेपवारण करनेवालेको विद्वान माना है ॥१॥

दूसरे से प्रीति उत्पन्न करके उससे अपना प्रयोजन सिद्ध करना 'चातुर्य' नामक सद्गुण है ॥५५॥

शुक्र^६ ने भी सामनोति द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करनेवाले को चतुर और धृक्-भेद-आदि द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करने वालेको 'मूर्ख' कहा है ॥ १ ॥

विदेही मनुष्यका वही लोकोपयोगी नैतिक सत्कर्त्तव्य है जिसके अनुष्ठान से वह लोक-प्रिय (सबका प्यारा) हो जाता है ॥५६॥

सज्जनता व धीरताका माहात्म्य, सौभाग्य, सभा-दोष, हृदय-हीन के अनुरागकी निष्फलता, निन्द्य स्वामी, लेखका स्वरूप व उसका अप्रामाण्य, तरकाल अनिष्टकारी पाप, बलिष्ठके साथ विप्रदसे हानि, वज्रवान् का आभय पाकर उससे उद्वेगता करने से-हानि, प्रवासका स्वरूप व उसका सुख—

१ तथा च मनुः— आपः स्वभावतोमेध्याः किं पुनर्वैदित्तंयुताः । तस्मात् सन्तस्तद्विच्छन्ति स्नातमुष्येन वारिणा ॥१॥

२ तथा च भारद्वाजः— अतिथिः पृथक्ते यत्र पोष्येत स्वपरिमहं । तस्मिन्नहनि सर्वाणि यदीदं मनुरप्रवीत् ॥ २ ॥

३ तथा च जैमिनिः— यासु न क्रियते पापं ता एव तिथयः स्मृताः । शेषा वंध्यास्तुविज्ञेया इत्येवं मनुरप्रवीत् ॥३॥

४ तथा चोक्तः— अन्यत्र यत् कृतं पापं तीर्थस्थाने प्रयाति सत् । क्रियते तीर्थगैर्ष्येण वज्रलेपं तु जायते ॥ ४ ॥

५ तथा च गुरुः— विद्याया वयसश्चापि वा योग्या क्रिया इह । तथा वेपारं योग्यः स्यात् स ज्ञेयः पश्चित्तो जनेः

६ तथा च शुक्रः—यः शास्त्रात्साधयेत् कार्यचतुरः स प्रकीर्तितः । साधयन्ति भेदाद्यैर्धे से अतिविचित्रिताः ॥१॥

तत्सौजन्यं यत्र नास्ति पराद्वेगः ॥५७॥ तद्वीरत्वं यत्र यौवनेनानपवादः ॥५८॥ तत्सौ-
भाग्यं यत्रादानेन वशीकरणं ॥५९॥ सा सभाण्यानी यस्यां न सांत विद्वांसः ॥ ६० ॥ किं
नेनात्मनः प्रियेण यस्य न भवति स्वयं प्रियः ॥६१॥ स किं प्रभुर्यो न सहते परिजन-
सम्बाधम् ॥६२॥ न लेखाद्वचनं प्रमाणं ॥६३॥ अनभिज्ञाते लेखेऽपि नास्ति सम्प्रत्ययः ॥६४॥
ग्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति स्वामिद्रोहः स्त्रीवधा बालवधश्चेति ॥६५॥ अस्त्रवस्य
समुद्रावगाहनमिवायलस्य चलवत्ता सद्यः विग्रहाय टिरिटिल्लितं ॥६६॥ चलवन्तमाश्रित्य
विकृतिभंजनं सद्यः शरणाकरं ॥६७॥ प्रवृत्तः पक्षवतिनामपि सन्तापयति किं
पुनर्नान्यं ॥६८॥ बहुपाथेयं मनोकूलः परिजनः सुविहितश्चोपस्करः प्रवासे दुःखोत्तरण
तरणहृको वर्गः ॥६९॥

अर्थ—यही सज्जनता है, जिससे दूसरोंके हृदय-सरोवरमें भय व उद्वेग न होकर प्रसन्नता सहजसे
वाहरायण^१ ने भी जनसमुदाय को प्रसन्न रखनेवाले कार्यों को सज्जनता और इससे विपरीत
मयोत्पादक कार्योंको पुर्जनता कहा है ॥ १ ॥

जो शिष्ट पुरुष युवावस्थाको प्राप्त करके अपने जीवनको परस्त्री व वेश्यासेवन आदि दोषोंसे
दूषित नहीं होने देते अर्थात्— अपनी स्त्रीमें ही सन्तुष्ट रहते हैं उनका यह धीरता गुण है ॥५८॥

शौनक^२ ने भी युद्ध में प्रवीण पुरुषको धीर न कहकर युवावस्थामें परस्त्री व वेश्या सेवनके त्यागीको
'धीर' कहा है ॥५९॥

दान न देने पर भी जनसमुदाय को वशीभूत रखने वाला मनुष्य भाग्यशाली है ॥५९॥

गौतम^३ भी पैसेके वज्रपर दूसरोंको वश करने वाले को भाग्यशाली नहीं मानता ॥६०॥

जिस सभामें विद्वान् पुरुष नहीं हैं; उसे जंगल समझना चाहिये, क्योंकि विद्व-मण्डलोंके बिना सभ्यों
को धर्म-अधर्म कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध नहीं होता ॥६०॥

वह मनुष्य शत्रु समान है, जो अपनी हृदय-हीनता वश दूसरे मनुष्य द्वारा प्रेम करने पर भी उसका
प्रत्युत्तर प्रेमसे न देकर रुष्टतासे देता है ॥६१॥

राजपुत्र^४ के संगृहीत श्लोकका भी यही अभिप्राय है ॥६१॥

जो स्वामी अपने सेवकों द्वारा वेतन आदि मांगने पर उनको वेतन आदि देनेमें हिचकिचाता है वा
उनके स्वर्चका धक्का सहन नहीं कर पाता वह निन्दनीय है ॥६२॥

१ तथा च वावरायणः—यस्य कृत्येन कृत्येन सामर्थ्यः स्वाज्जनो ऽस्तिष्ठः । सौजन्यं तस्य तस्यैव विपरीतमतोऽप्यत्र

२ तथा च शौनकः—परदारादिदोषेण रहितं यस्य यौवनं । प्रवृत्ति वा पुमान् धीरो न धीरो पक्षवर्त्मनि ॥५८॥

३ तथा च गौतमः—दानहीनोऽपि वशतो जनो यस्य प्रजावते । समनः स परिशेषो न यो वाचादिभिर्मनः ॥६०॥

४ तथा च राजपुत्रः—वस्त्रमस्य च यो भूयो वस्त्रमः स्वाग्रिरोत्तः । सचमस्य परिशेषो जनो ऽप्यो वैरो स अप्यते ॥६१॥

गौतमजीने भी मृत्युवर्गके रक्षणमें असमर्थ पुरुष को स्वामी न मानकर सन्धासी माना है ॥१॥

लेख व वचनमें से लेख की ही विशेष प्रतिष्ठा व अत्यधिक प्रामाणिकता होती है और वचनों का हे वे इहस्पति द्वारा ही क्यों न कहे गये हों, प्रतिष्ठा नहीं होती ॥६३॥

राजपुत्र^१ने भी लेख को ही विशेष महत्त्वपूर्ण व प्रामाणिक माना है ॥१॥

अनिश्चित लेख प्रामाणिक नहीं गिने जाते । सारांश यह है कि मनुष्यको किसीकी किसी हुई बात पर सहना—बिना सोचे समझे विश्वास नहीं करना चाहिये और प्रत्यक्ष व साक्षियों द्वारा उसका निर्णय करना चाहिये ॥६४॥

गुरु^२ने भी कहा है कि 'भूतजोग भूटे लेख किलानेके बहाने से सबजन पुरुषोंको धोखा देते हैं; अब: विद्वानोंको बिना निश्चय किये किसी को सिखो हुई बात पर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥१॥

स्वामी, स्त्री और बच्चेका मध्य ये तीन महा पाप हैं, जिनका कुकल मनुष्यको इसी लोकमें तत्काल भोगना पड़ता है ॥६५॥

नारदने^३ने भी येपे नृशंस हत्यारेको उभयजोकमें दुःख भोगने वाला कहा है ॥१॥

जिस प्रकार बिना नौका केवल भुजाओंसे समुद्र पार करने वाला मनुष्य शीघ्र मृत्युको प्राप्त होता है, वही प्रकार कमजोर पुरुष बलिष्ठ पुरुषके साथ युद्ध करनेसे शीघ्र नष्ट हो जाता है, अब: निर्बलको बलिष्ठके साथ युद्ध नहीं करना चाहिये ॥६६॥

गुरु^४ ने भी कमजोरको शक्तिशालीके साथ युद्ध करनेका निषेध किया है ॥१॥

जो मनुष्य बलवान्का आश्रय—सहारा या उपकार—पाकर उससे उद्वेगता का वर्ताव करता है, उसको तत्काल मृत्यु होती है ॥६७॥

परदेशकी यात्रा चक्रवर्तीको भी कष्ट देती है, पुनः साधारण व्यक्तिको उससे कष्ट होना स्वाभाविक है ॥६८॥

चारायण^५ ने भी परदेश यात्राको विशेष कष्ट देने वाली कहा है ॥१॥

मनुष्यको परदेशको यात्रामें पर्याप्त भोजन सामग्री आभूषणकारी, सेवक व उत्तम वन व वस्त्रादि सामग्री दुःख रूप समुद्रसे पार करनेके लिये जहाजके समान है ॥६९॥

इति व्यवहार-समुद्देश ।

१ तथा च गौतमः—मृत्युवर्गार्थजे जले यो ऽभ्यधा कुस्ते प्रभुः । स स्वासी न परिक्षेधे स्वामीनः स उच्यते ॥१॥

२ तथा च राजपुत्रः—लिखितांश्चाधिकं नैव प्रतिष्ठते धाति कस्यचित् । इहस्पतेरपि प्रायः किं तेन स्वाधि कस्यचित् ।

३ तथा च गुरुः—कूटलेखप्रपञ्चेन धूर्तैरार्थसमा मराः । लेखाधौ नैव कर्तव्यः साविज्ञानं बिना दुषैः ॥१॥

४ तथा च नारदः—स्वामिन्प्रीवाकहन्तृणां सद्यः फलति पातकं । इह लोकेऽपि उद्वेग्य तत्परलोपमुज्जते ॥१॥

५ तथा च गुरुः—वाहिना सह दुर्बलः प्रकरोति सुदुर्बलः । कथं कृत्वात्मनः शक्त्या युक्तं तस्य विचारमयम् ॥१॥

६ तथा च चारायणः—मवासे सीदति प्रायश्चक्रकर्तव्ये यो मवेत । किं पुनर्दोष्य पापेर्धे श्वद्वयं मर्षति गच्छतः ॥१॥

२= विवाद-समुद्देश

राजा का स्वरूप, उसकी समदृष्टि, विधान परिषत् के अधिकारी या सभासद, अयोग्य सभासद, व उन से हानि व न्यायाधीश की पक्षपात-दृष्टि से हानि—

गुणदोषयोस्तुलादण्डसमो राजा स्वगुणदोषाभ्यां जन्तुषु गौरवलाभवे ॥ १ ॥ राजा त्वपराधालिंगितानां समवर्ती तत्फलमनुभावयति ॥ २ ॥ आदित्यवद्यथावस्थितार्थ-प्रकाशन-प्रतिभाः सम्याः ॥ ३ ॥ अदृष्टाभूतव्यवहाराः परिपन्थिनः सामिषा न सम्याः ॥ ४ ॥ लोभ-पक्षपाताभ्यामयथार्थवादिनः सम्याः सभापतेः सद्योमानाथेहानि लभेन् ॥ ५ ॥ तत्रालं विवादेन यत्र स्वयमेव सभापतिः प्रत्यर्थीसभ्यसभापत्योरसामंजस्येन कुता जयः किं बहुभि-
श्छगलैः श्वा न क्रियते ॥ ६ ॥

अर्थ—राजाका कर्तव्य है कि प्रजाजनों के गुणों व दोषों की जाँच तराजू की दण्डो तरह निष्पक्ष भाव से करने के उपरान्त ही उन्हें गुण व दोष के कारण क्रमशः गुरु (महान) और लघु समझे और उनके साथ योग्य-अयोग्य व्यवहार करे। अर्थात् शिष्टों का पालन व दुष्टों का निमज्ज करे ॥ १ ॥ समस्त प्रजाजनों को एक नजर से देखने वाला राजा अपराधियों को अपराधानुकूल दण्ड देने की सोचता है ॥ २ ॥

गुरु ने भी अपराधी के अपराध की सत्य व झूठ जाँच करने के उपरान्त दण्ड देने की कहा है ॥ १ ॥

राज सभा (विधान परिषत्) के सभासद—एकजीक्युटिव कौन्सिल या पार्लियेंट-के अधिकारी गण (गवर्नरजनरल, प्रधानमन्त्री, मन्त्री, तथा सेवा अर्थ स्वास्थ्य न्याययातायात शिक्षाके सचिव आदि) सूर्य के समान पदार्थ को जैसे का तैसा प्रकाश करने वाली प्रतिभा से युक्त होने चाहिये। अर्थात् उन्हें समस्त राज्य शासन सम्बन्धी व्यवहार को यथार्थ सिद्ध करने में प्रवीण होना चाहिये ॥ ३ ॥

गुरु ने भी राजसभा के सभासद राज्यशासन सम्बन्धी समस्त व्यवहारोंके जानने वाले कहा है ॥ १ ॥

जिन्होंने राज्यशासन सम्बन्धी व्यवहारों (शिष्ट पालन व दुष्ट निमज्ज आदि अपने २ उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्यों) का शास्त्र द्वारा अनुभव प्राप्त नहीं किया हो और न राजनीतिक शिष्ट पुरुषोंके सस्संग से उन व्यवहारोंको अवगत किया हो एवं जो राजा से ईर्ष्या वा वाद-विवाद करते हों ऐसे पुरुष राजाके शत्रु हैं, वे कदापि विधान परिषत्के मेंबर (सभासद) होने लायक नहीं हैं, अब एक विधान परिषत् में सभासद के पदपर उन्हीं को नियुक्त करना चाहिये, जो राज्य-संचालन या अपने उत्तरदायित्व-पूर्ण कर्तव्य पालन की पूर्ण योग्यता रखते हों, अनुभवी व वाद-विवाद न करने वाले हों;

१ तथा च गुरुः—विकानीयात् स्वयं वाथ भूभुजा अपराधिताम् । मृषा किं वाथश सत्यं स्वराष्ट्रपरिरुद्धये ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—यथादित्योऽपि सर्वार्थात् प्रकाशं प्रकरोति च । तथा च व्यवहारार्थान् ज्ञप्तास्तेऽमी सभासदः ॥ ३ ॥

अपनी जाय प्रणाली को उचित व्यवस्था पूर्वक कार्य रूप में परिष्कृत कर सकने की क्षमता रखते हों, तथा पक्के राजनीतिज्ञ एवं अपने उत्तरदायित्वपूर्ण राज्य-शासन-आदि कार्य भार को पूर्ण रूप से संभाल सकते हों ॥ ४ ॥

शुक^१ विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी सभासदों के विषय में यही अभिप्राय है ॥१॥

जिम राजा की सभा में लोभ व पक्षपात के कारण झूठ बोलने वाले सभासद होंगे, वे निःसन्देह हमके मान व धन की क्षति करेंगे ॥ ५ ॥

गर्ग^२ ने भी सिध्दाभाषी सभासदों द्वारा राजकीय मान व सम्पत्ति की क्षति बतवाई है ॥ १ ॥

जिस सभा में सभापति (न्यायाधीश) पक्षपाती वादी(मुद्दई) हो वहां वाद-विवाद करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वाद-विवाद करने वाले सभासद व सभापति इनमें एकमत न होने से वादी की विजय कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि अन्य लोग राजा का ही पक्ष लेंगे, अतः ऐसी जगह वादी की विजय असम्भव है। क्योंकि क्या बहुत से बकरे मिला कर कुत्ते को पराजित नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं। अर्थात् जिस प्रकार बलिष्ठ कुत्ताभी अनेक बकरों द्वारा परास्त कर दिया जाता है उसी प्रकार प्रभावशाली वादी विरोधी राजा जाति द्वारा परास्त कर दिया जाता है ॥ ६ ॥

शुक^३ ने भी कहा है कि जहां पर राजा स्वयं विरोधी हो वहां वाद-विवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्य सभी सभासद राजा का ही पक्ष अनुसरण करते हैं ॥ १ ॥

वाद विवादमें पराजितके लक्षण, अधम सभासद, वादविवादमें प्रमाण, प्रमाणोंकी निरर्थकता व बेर्या और जुझारोकी बात जिस मौके पर प्रामाण्य समझी जायके—

विवादमास्थाय यः सभायां नोपतिष्ठेत, समाहृतोऽपसरति, पूर्वोक्तेषुत्तरोक्तेन बाधते, निरुचरः पूर्वोक्तेषु युक्तेषु युक्तमुक्तं न प्रतिपद्यते, स्वदोषमनुवृत्त्य परदोषमुपालभते, यथार्थवादेऽपि द्वेष्टि समामिति पराजितलिङ्गानि ॥ ७ ॥

छलेनाप्रतिभासेन वचनाकौशलेन चार्थहानिः ॥ ८ ॥ भुक्तिः साक्षी शासनं प्रमाणी ॥ ९ ॥

भुक्तिः सापवादा, साकोशाः साक्षिणः शासनं च कूटलिखितमिति न विवादं समापयन्ति १०

बलोत्कृतमन्यायकृतं राजोपधिकृतं च न प्रमाणी ॥ ११ ॥ वेरपाकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसा-

रितया प्रमाणयितव्यं ॥ १२ ॥

अर्थ—जो वाद विवाद करके सभामें नहीं आवे; आप्रवृत्तके सुलाये जाने पर भी जो सभामें उपस्थित नहीं होता, जो अपने द्वारा कहे हुए वचनोंको झूठा बनाकर—बात बदलकर—नई बात कहता हो,

१ तथा च शुकः—न ह्येव न अतो वापि व्यवहारः सभासदैः । न ते सम्भारमस्ते च विज्ञेया पृथ्वोपतेः ॥१॥

२ तथा च गर्गः—अवधार्यप्रवक्तारः सभ्या यस्य महीपतेः । भानार्थहानिं कुर्वन्ति तस्य सद्यो न संशयः ॥१॥

३ तथा च शुकः—प्रत्यर्थी यत्र भूपः स्यात् तत्र वादं न कारयेत् । यतो भूमिपतेः पक्षं सर्वे प्रोचुस्तथायुगाः ॥१॥

पूर्वमें कहे हुए अपने वचनों पर सम्यक् मनुष्यों द्वारा प्रश्न किये जाने पर जो यथोचित उत्तर न देसकता हो, जो कही हुई बातको सत्य प्रमाणित न कर सके, अपनी गलतियों पर ध्यान न देकर जो छुट्टा प्रतिवादीको ही दोषी बताता हो, एवं सज्जनों द्वारा कहे हुए उचित शब्दों पर ध्यान न देकर सभा से ही द्वेष करता हो उपरोक्त चिन्तों—लक्षणोंसे जान लेना चाहिये कि यह वादी, प्रतिवादी, या साक्षी, (गवाही) वाद विवादमें हार गया है ॥ ७ ॥

जो सभासद छलकपट, बलात्कार व वाक्छातुर्य द्वारा वादोकी स्वाय—हानि करते हैं, वे अधम हैं ॥ ८ ॥
भारद्वाज^१ ने भी उक्त उपायोंसे वादी की प्रयोजन—सिद्धिमें बाधा पहुँचाने वाले सभासदोंकी कटु आलोचना की है ॥ ११ ॥

यथार्थ अनुभव, सच्चे गवाही और सच्चा लेख इन प्रमाणोंसे वाद विवादमें सत्यताका निर्णय होता है ॥ ९ ॥

जैमिनि^२ ने भी वाद विवादमें प्रत्यक्ष अनुभवके अभावमें साक्षी और साक्षी न होने पर लेख को प्रमाण माना है ॥ ११ ॥

जहां पर सदोष अनुभव व भूठे गवाही और भूठे लेख वर्तमान होते हैं, वहां पर यथार्थ निर्णय न होने से वाद विवाद समाप्त न होकर छुट्टा बढ़ता ही है ॥ १० ॥

रैभ्य^३ ने भी उक्त बातें वाद विवादको समाप्त न कर छुट्टी बढ़ाने वाली बताई है ॥ ११ ॥

पूर्वोक्त अनुभव व साक्षी आदि जब सभासदों द्वारा बलात्कार व अन्याय पूर्वक एवं राजकीय शक्ति की सामर्थ्यसे उपयोगमें लाये जाते हैं, तब वे प्रमाण नहीं माने जाते ॥ ११ ॥

भागुरि^४ ने भी बलात्कार, अन्याय व राजकीय शक्तिसे किये जाने वाले अनुभव आदि को असत्य कहा है ॥ ११ ॥

यद्यपि घेरया और कुआरी भूठे हुआ करते हैं, परन्तु न्यायालयमें उनके द्वारा कही हुई बात भी उक्त अनुभव व साक्षी आदि द्वारा निर्णय की जाने पर प्रमाण मानो जाती है ॥ १२ ॥

रैभ्य^५ ने भी उक्त बातका समर्थन किया है ॥ ११ ॥

विवाद की निष्फलता, घरोर सन्दन्धी विवाद—निर्णय, गवाही को सार्थकता, शपथके योग्य अपराधी व उसका निर्णय होने पर दंड विधान—

असत्यङ्कारे व्यवहारे नास्ति विवादः ॥ १३ ॥ नीवीविनाशेषु विवादः पुरुषप्रामाण्यात्

१ तथा च भारद्वाजः—कृतेनापि बलेनापि वचनेन समासदः । वादिनः स्वार्थहानिं ये प्रकुर्वन्ति च तेऽधमाः ॥ ११ ॥

२ तथा च जैमिनिः—संवादेश्च सर्वेषु शासनं भुक्तिरुच्यते । भुक्तेरनन्तरं साक्षी तदभावे च शासनम् ॥ ११ ॥

३ तथा च रैभ्यः—बलात्कारेण वा भुक्तिः साकोणाः साक्षिणोऽत्र ये । शासनं कृद्विहितप्रमाणानि कीर्यपि ॥ १ ॥

४ तथा च भागुरिः—बलात्कारेण यत् कुर्युः सम्भाषणान्यायतस्तथा । राजोपभिक्षतं तत्प्रमाणं भवेन्न हि ॥ १ ॥

५ तथा च रैभ्यः—या घेरया वन्धकं प्राप्य कुबुसः बहु भजेत् । सद्धिको घृतकारश्च इत्थं द्वाप्येते तनी ॥ १ ॥

सत्यापयितव्यो दिव्यक्रियया वा ॥ १४ ॥ यादृशे तादृशे वा साक्षिणि नास्ति दैवी क्रिया
किं पुनरुभयसम्भते मनुष्ये नीचेऽपि ॥ १५ ॥ यः परद्रव्यमभियुञ्जीताभिलुम्भते वा तस्य
शपथः क्राशः दिव्यं वा ॥ १६ ॥ अभिचारयोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थसम्भवेनायां प्राणाव-
शेषोऽर्थापहारः ॥ १७ ॥

अर्थ—अहां पर मिथ्या व्यवहार—भूटा विवाद—खड़ा होजाता है वहां यथार्थ निर्णय करने के लिये
शिष्ट पुरुष को विवाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिस मुकद्दमे में खादो व प्रतिखादो (मुद्दई और मुद्दा-
यल) दोनों भूटे होते हैं अथवा मुद्दई के स्टाम्प-बगैरह भूटे होते हैं वहां विवाद (मुकद्दमा) खड़ा हो
नहीं हो सकता, तब निराधार निर्णय की आशा करना व्यर्थ है ॥ १६ ॥

अभिपुत्रक^१ ने भी भूटे व्यवहार वाले विवादको निरर्थक कहा है ॥ १ ॥

किसी पुरुषने किसी मनुष्यको अपना सुवर्ण—आदि धन संरक्षण करनेके लिये धरोहर रूपसे लोपाहो
और उस धन के नष्ट हो जाने पर (या जिस मांगने पर यदि वह मनार्ह कर बैठे) उस समय न्यायाधीशका
कर्तव्य है कि उसका इन्साफ धरोहर रखने वाले पुरुष को प्रसादिक्रमः—(सचाई) द्वारा करे, और यदि
ऐसा न हो धरोहर रखने वाला (विश्वासपात्र व सच्चा न हो) तो उससे शपथ करावे वा उसे दंडका
भय दिखा कर इस प्रकार सत्य का निर्णय करे कि मुद्दई का धन मुद्दायल के यहां से जो नष्ट हुआ है,
वह चोरों द्वारा अपहरण किया गया है ? अथवा मुद्दायल स्वयं मुद्दई के धन को हड़प कर गया है ?

नारद^२ ने भी धरोहर के धन सम्बन्धी विवाद का इन्साफ करने के लिये उक्त दोनों उपाय
बताये हैं ॥ १ ॥

जब मुकद्दमे में जिस किसी प्रकारका व्यक्ति साक्षी (गवाही) होता है तब न्यायाधीश द्वारा मुद्दई
मुद्दायलको शपथ कराकर सत्यका निर्णय करना व्यर्थ है। फिर दोनों-मुद्दईमुद्दायल द्वारा मानेहुये भेष्ठपुरुषके
साक्षी होने पर सत्य की जांच के लिये शपथ का प्रयोग करना तो बिल्कुल निरर्थक है ही ॥ १५ ॥

भार्गव^३ ने भी गवाही द्वारा विवाद सम्बन्धी सत्यता का निर्णय हो जाने पर शपथ - क्रिया को
निरर्थक बताया है ॥ १ ॥

दूसरे का धन अपहरण या नष्ट करने वाले अपराधी का निर्णय करनेके लिये साक्षी के अभाव में
न्यायाधीश को दिव्य क्रिया (शपथ कराना आदि) उपाय काम में लाना चाहिये ॥ १६ ॥

गर्ग^४ ने भी ऐसे अपराधी की जांच के लिये शपथ कराने का संकेत किया है ॥ १ ॥

जो अपराधी शपथ-आदि कूटनीति से अपने लिये निर्दोष साबित कर चुका हो, परन्तु चोरी

१ तथा च अभिपुत्रकः—असत्यकारसंयुक्तो व्यवहारो नराधिप । विवादो वादिना तत्र नैव युक्तः कथंचन ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—मिथेवो यदि नष्टः स्यात् प्रमाणः पुरुषाभिः । तत्प्रमाणं सकार्यं चरिष्ये तं वा निबोद्धयेत् ॥१॥

३ तथा च भार्गवः—अधर्मापि भवेत् साक्षी विवादे पर्यवस्यते । तथा दैवी क्रिया न स्यात् किं पुनः पुनरोत्तमे ॥१॥

४ तथा च गर्गः—अभयुञ्जीत चेन्मर्त्यः परार्थं वा विहृम्भते । शपथस्तस्य कोशो वा योग्यो वा दिव्यमुच्यते ॥१॥

के कारण उसके अपराधी साबित हो जानेपर न्यायाधीश द्वारा उसे प्राण दान देकर उसका सर्वस्व (तमा-म धन) हरण कर लेना चाहिये ॥ १७ ॥

शुक्र^१ विद्वान ने भी ऐसे अपराधी के विषय में इसी प्रकार दंडित करने का संकेत किया है ॥ १ ॥

शपथके अयोग्य अपराधी व उनकी शुद्धि का उपाय, लेख व पत्र के संदिग्ध होनेपर फैसला, न्यायाधीश के बिना निर्णयकी निरर्थकता, ग्राम व नगर संधन्धी मुकद्दमा, राजकीय निर्णय एवं नस्को न मानने वालेको कड़ी सजा —

लिंगिनास्तिकश्चाचारव्युत्पत्तिनां दैवी क्रिया नास्ति १८ तेषां युक्तितोऽर्थसिद्धिरसिद्धिर्वा १९
संदिग्धे पत्रे साक्षे वा विचार्य परिच्छिन्धात् ॥ २० ॥ परस्परविवादे न युगैरपि विवाद-
परिसमाप्तिरानन्त्याद्विपरीतप्रत्युत्तीनां ॥ २१ ॥ ग्रामे पुरे वा धृतो व्यवहारस्तस्य विवादे
तथा राजानमुपेयात् ॥ २२ ॥ सज्ञा दृष्टे व्यवहारे नास्त्यनुबन्धः ॥ २३ ॥ राजाज्ञां मर्यादां
वाऽतिक्रामन् राज्ञः कलेन दण्डेनोपहन्तव्यः ॥ २४ ॥

अर्थ—सन्यासी के भेषमें रहनेवाले, नास्तिक, चरित्र-भ्रष्ट व जातिसे क्यूत मनुष्योंके अपराध यदि गवाही आदि उपाय द्वारा साबित न हो सकें, तथापि धर्माव्यक्त (न्यायाधीश) को शपथ खिला करी उनके अपराध साबित नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये लोग अक्सर झूठी शपथ खाकर अपने को निर्दोषी प्रमाणित करनेका प्रयत्न करते हैं, इसलिये न्यायाधीश को युक्तियों द्वारा उनकी प्रयोजन-सिद्धि करनी चाहिये अर्थात् अनेक युक्ति-पूर्ण उपायों द्वारा उन्हें अपराधी साबित कर दंडित करना चाहिये अथवा निर्दोषी साबित होने पर उन्हें छाड़ देना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

वादरायण^२ ने भी सन्वासियों की शुद्धिके विषयमें वही कहा है ॥ १ ॥

यदि बादी (मुद्दई) के स्टाम्प वगैरह लेख वा साक्षी संदिग्ध-संदेह युक्त हों, तो न्यायाधीश अच्छी तरह सोच-समझकर निर्णय (फैसला) देवे ॥ २० ॥

शुक्र^३ ने भी संदिग्ध पत्र के विषय में इसी प्रकार का इन्साफ करना बताया है ॥ १ ॥

मुद्दई मुद्दायलों के मुकद्दमेका फैसला बिना धर्माव्यक्तके स्वयं उनके द्वारा बारहवर्ष में भी नहीं किया जासकता, क्योंकि परस्पर अपने २ पक्षको समर्थन आदि करने वाली युक्तियां अतन्त होती हैं इसलिये दोनों को न्यायालय में जाकर न्यायाधीश द्वारा भवना फैसला कराना चाहिये, वहांपर सत्यासत्य का निर्णय किया जासकता है ॥ २१ ॥

१ तथा च शुक्रः—यदि बादी प्रमुखोऽपि दिव्याग्नेः कठ जैः कृतः । परचात्तस्व च विशानं सर्वस्वहरणं स्मृतं ॥ १ ॥

२ तथा च वादरायणः—युक्त्वा विविच्य सर्वेषां लिंगिनां तपसः क्रिया । देया चक्षुष्यया श्रुतिरसंगत्या विवर्जनम् १

तथा च शुक्रः—संदिग्धे लिखिते जाते साक्षे वाथ समासवैः । विचार्य निर्णयः कार्यो धर्मो नास्त्रसुनिश्चयः ॥ १ ॥

A उक्त पाठ मु० म० प्रति से संकलन किया गया है ।

किसी^१ विद्वान् ने कहा है कि राजा को न्यायाधीश के फैसले को न माननेवालेका समस्तघन जन्तु कर लेना चाहिये ॥ १ ॥

ग्राम व शहर संबंधी मुकद्दमों का फैसला कराने के लिये वहां के मुद्दई-मुद्दायकों को राजा के पास जाना चाहिये ॥ २२ ॥

गौतम^२ विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

राजा द्वारा किया हुआ फैसला निर्णय होता है, इसलिये जो मुद्दई-मुद्दायक राजकीय आह्ला या मर्यादा का उल्लंघन करे (उस निर्णय को न माने) उसे मृत्यु दंड दिया जावे ॥ २३-२४ ॥

शुक^३ ने भी राजकीय निर्णय को न मानने वाले के लिये मृत्यु-दंड देने का संकेत किया है ॥ १ ॥ दुष्ट निग्रह, सरलता से हानि, धर्माध्यक्ष का राजसभा में कर्त्तव्य, कलह के बीज व प्राणों के साथ आर्थिक-वृत्तिका कारण—

न हि दुर्हृत्तानां दण्डादप्योऽस्ति दिनयोपायोऽग्निसंयोग एव वक्रं काष्ठं सरलपति ॥ २५ ॥
अनुं सर्वेऽपि परिभवन्ति न हि तथा वक्रतरुस्त्रियते यथा सरलः ॥ २६ ॥ स्वोपलम्भ-
परिहारेण परमुपालभेत स्वाभिनमुत्कर्षयन् गोष्ठीमवतारयेत् ॥ २७ ॥ न हि भर्तुरभियागात्
परं सत्यमसत्यं वा वदन्तमवगृह्णीयात् ॥ २८ ॥ अर्थसम्बन्धः सहवासश्च नाकलङ्घः सम्भ-
वति ॥ २९ ॥ निधिराकस्मिको वार्धलाभः प्राणैः सह संचितमप्यर्थमपहारयति ॥ ३० ॥

अर्थ—अन्यायी दुष्टों को दण्ड करने के लिये दण्डनीति को छोड़ कर और दूसरा कोई उपाय नहीं, क्योंकि जिस प्रकार टेढ़े व तिरछी लकड़ी आग लगाने से ही सीधी होती है, वही प्रकार पापी लोग भी दण्ड से ही सीधे (न्याय मार्ग में चलने वाले) होते हैं ॥ २५ ॥

शुक^४ विद्वान् ने भी दुष्टों को सीधा करनेका यही उपाय बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार जंगल में वर्तमान टेढ़ा वृक्ष न काटा जाकर सीधा हो काटा जाता है, वही प्रकार सरल स्वभाव वाला मनुष्य ही सर्व मनुष्यों द्वारा परास्त किया जाता है ॥ २६ ॥

गुरु^५ विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

धर्माध्यक्ष (न्यायाधीश) को राज-सभा में राजा को प्रसन्न करते हुये मुद्दई-मुद्दायकों का विवर (मुकद्दमा) इस तरीके से विस्तार पूर्वक करना चाहिये, जिससे उसके ऊपर उल्लाहना न आवे और वक्त दोनों में से कोई एक कानूनन दोषी ठहराया जावे ॥ २७ ॥

१ तथा चोक्तं—धर्माधिकारिभिः प्रोक्तं यो वाक् चान्यथा क्रियात् । सर्वस्वहरणं तस्य तथा कार्यं महीशुजा ॥ १ ॥

२ तथा च गौतमः—यदे वा यद्विधामासे यो विवादस्य निर्णयः । कृतः स्वाशयि मूयः स्यात्तद्विधामो निवेदयेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुकः—वाक् नृपतिनिर्णीतं योऽन्यथा कुरुते दण्डात् । तत्कथादेव दध्यः स्यान्म विकर्ष्य समाचरेत् ॥ १ ॥

४ तथा च शुकः—यथाच कुटिलं काष्ठं बहिर्दोषाद्मवेष्टुः । दुर्जनोऽपि तथा दण्डादनुर्भवति तत्तत्कार ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—कुरुः सर्वे च कुरुते च वक्रोऽथ परामर्श । यथा च सरलो वृक्षः सुखं विचते केरकेः ॥ १ ॥

गौतम^१ ने भी धर्माध्यक्ष का यही कर्तव्य निर्देश किया है ॥ १ ॥

धर्माध्यक्ष अपने स्वः^२ की पक्ष लेकर सत्य असत्य बोलने वाले वादों के साथ लड़ाई-भगड़ा न करे ॥ २८ ॥

भागुरि^३ ने भी वादी के साथ लड़ाई-भगड़ा करने का निषेध किया है ॥ १ ॥

आपस में रुपये पैसे का लेन देन व एक भवन में निवास करना ये दोनों कार्य कहल सत्यम करते हैं ॥ २९ ॥

गुरु^४ ने भी उक्त दोनों कार्य कहलजनक बताये हैं ॥ १ ॥

अकस्मात् मिला हुआ स्वजाना व अन्याय से प्राप्त हुआ धन ये दोनों वस्तुएं प्राणों के साथ साथ पूर्व संचित धन की भी नष्ट कर डालती हैं ॥ ३० ॥

वादविवादमें ब्राह्मण आदिके द्योत्य शपथ—

ब्राह्मणानां हिरण्ययज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथः ॥ ३१ ॥ शस्त्ररत्नभूमिवाहनपत्न्याणानां तु क्षत्रियाणाम् ॥ ३२ ॥ श्रवणोपतस्पर्शनात् काकिणीहिरण्ययोर्वा वैश्यानाम् ॥ ३३ ॥ शूद्राणां क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा ॥ ३४ ॥ कारूणां यो येन कर्मणा जीवति तस्य तत्कर्मोपकरणानां ॥ ३५ ॥ प्रतिनामन्येषां चेष्टदेवतापादस्पर्शनात् प्रदक्षिणादिव्यकोशात्तन्दुलतुला-रोहणीविशुद्धिः ॥ ३६ ॥ व्याधानां तु धनुर्लघनं ॥ ३७ ॥ अन्त्यवर्णावसायिनामाद्र्चमाव-रोहणाम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—वाद विवाद के निणयार्थ ब्राह्मणों को सुवर्ण व जनेऊ के छूने की, क्षत्रियों को शस्त्र, रत्न, पृथ्वी, हाथी, घोड़े आदि वाहन और पत्नी, वैश्यों को कर्ण, बच्चा, कौड़ी, रुपया पैसा व सुवर्ण के स्पर्श करने की, शूद्रों को दूध, बीज व साँप की बसी छूने की तथा धोबी-धमार आदि कारू शूद्रों को उनके जीविकोपयोगी उपकरणों की शपथ (कसम) करानी चाहिए ॥ ३१-३५ ॥

गुरु^४ विद्वान ने भी ब्राह्मण आदि में होने वाले वाद-विवाद के निणयार्थ उन्हें उपरोक्त शपथ कराना अनिवार्य बताया है ॥ १-५ ॥

इसी प्रकार प्रती व अन्य पुरुषों की शुद्धि उनके इष्ट देवता के चरणस्पर्श से व प्रदक्षिणा करानेसे

१ तथा च गौतमः—धर्माधिकृतमर्त्येन निषेधः स्वामिनोऽखिलः । विवादो न यथा दोषः स्वस्य स्यान्न तु वादिनः ।

२ तथा च भागुरिः—यो न कुर्वीत त्रयं भूयो न कार्यस्तेन विमहः । विप्रहेय यतो दोषो महतामपि जायते ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—न कुर्वीदयसम्बन्धं तयैकगृहसंस्थितिं । तस्य युद्धं विना कासः कथंचिदपि न भजेत् ॥ १ ॥

४ तथा च गुरुः—हिरण्यस्पर्शनं वरुण ब्रह्मसूत्रस्य चापरं । शपथो ह्येव निर्दिष्टो द्विजातीनां न चापरः ॥ १ ॥

शस्त्ररत्नभूमापानपटवायस्पर्शनः शपथः क्षत्रियाणां च पंचानां च पृथक् पृथक् ॥ २ ॥

शपथो वैश्यजातीनां स्पर्शनात् कर्णवासयोः । काकिणीहिरण्ययोर्वापि शुद्धिर्भवति नाम्यथा ॥ ३ ॥

शूद्रवस्त्रान्तस्य संस्पर्शोद्वल्मीकस्य तथैव च । कर्तव्यः शपथः शूद्रैः विवादे निजशुद्धये ॥ ४ ॥

यो येन कर्मणा जीवेत् कारुस्तस्य तदुन्नयं । कर्मोपकरणं किंचित् तत्स्पर्शोऽनुद्व्यते हि तः ॥ ५ ॥

तथा घन, चांदल व तराजू को लोच से होती है । एवं व्याधों से धनुष लांघने की और चांडाल कंजर और चमार आदि से गीले चमड़े पर चढ़ने की शपथ खिलानी चाहिये ॥ ३६, ३८ ॥

गुरु * ने भी प्रती, व्याध व चांडालादि से इस प्रकार शपथ कराने की विधि बताई है ॥ १-३ ॥
क्षणिक वस्तुएं, वेश्यात्याग, परिग्रहसे हानि, उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, मूर्ख का आप्रह, मूर्ख के प्रति विवेकी का कर्तव्य, मूर्ख को समझाने से हानि व त्रिगुण वस्तु—

वेश्यामहिला, भृत्यो भण्डाः, क्रीणिनियोगो, नियोगिमित्रं, चत्वार्यंशरवतानि ॥ ३६ ॥
क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ॥ ४० ॥ यस्य यावानेव परिग्रहस्तस्य तावानेव सन्तापः ॥ ४१ ॥ गजे गर्दभे च राजरजकयोः सम एव चिन्ताभारः ॥ ४२ ॥ मूर्खस्या—
ग्रहो नापायमनवाप्य निवर्तते ॥ ४३ ॥ कर्पासावनेरिव मूर्खस्य शांतावुपेक्षणमौषधं ॥ ४४ ॥
मूर्खस्याभ्युपपत्तिकरणमुदीपनपिण्डः ॥ ४५ ॥ कोपाग्निप्रज्वलितेषु मूर्खेषु तरङ्गप्रशमनं घृताहुतिनिक्षेप इव ॥ ४६ ॥ अनस्तितोऽनङ्गानिव ध्रियमाणो मूर्खः परमाकर्षति ॥ ४७ ॥
स्वयमगुणं वस्तु न खलु पक्षपाताद्गुणवद्भवति न गोपालस्नेहादुच्चा चरति क्षीरम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—वेश्यारूप स्त्री, उद्ग्रह या कोयी नौकर, अधिक ऐश्वर्य जेता व वर्जितकारी मित्र इनकी मैत्री या संसर्ग चिरस्थायी नहीं है ॥ ३६ ॥

शुक्र* विद्वान ने भी उक्त चारों बातों की क्षणिक कहा है ॥ १ ॥

जिस प्रकार बाजार से खरीदा हुआ भोजन सुखकारक नहीं होता, उसी प्रकार बाजार वेश्याओं से भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, अतः विवेकी पुरुषों को सदा के लिये वेश्याओं का त्याग करना चाहिये ॥ ४० ॥
शुक्र** विद्वान ने भी वेश्याओं के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

संसारमें जिस पुरुषके पास जिसका परिग्रह (गाय भैंस, रुपया, पैसा आदि) होता है उसे उतनाही संताप दुःख) होता है; अर्थात् जिसके पास अधिक परिग्रह है उसे अधिक और जिसके पास थोड़ा परिग्रह है, उसे थोड़ा संताप होता है ॥ ४१ ॥

नारद* ने भी परिग्रह को संतापजनक बताकर उसके त्यागने की ओर संकेत किया है ॥ १ ॥
राजा को जैसी चिन्ता हाथी के पालन पोषण की रहती है, वंसी घोड़ीको गधे के पालन पोषणकी

१ तथा च गुरुः—इतिनोऽन्ये च ये लोकास्तेषां सुखिः प्रकीर्तिता । इष्टदेवस्य संस्पर्शोऽपि दिव्यैर्वा सास्त्रकीर्तितैः ॥ १ ॥
पुष्पिन्द्वानां विवादे च आपत्त्यनतो भवेत् । विशुद्धिर्जीवनं तेषां यतः स्वयं प्रकीर्तिता ॥ २ ॥

अन्त्यजानां तु सर्वेषामात्रं चर्मापरोक्षम् । शपथः सुखिदः प्रोक्तो यथान्येषां च वैदिकः ॥ ३ ॥

२ तथा च शुक्रः—वेश्या पत्नी तथा भण्डः सेवकः कुतसंग्रहः । मित्रनियोगिनं पण्यं न चिरं स्वैर्यतां व्रजेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—कथकीतेन मोक्षेन वादभुक्तेन सा भवेत् । सारकं स्तेन वेश्याः सन्तोषो आयते नृप ॥ १ ॥

४ तथा च नारदः—अग्नित्वेऽग्नैव संसारे यावन्मात्रः परिग्रहः । तावन्मात्रस्तु सन्तापस्तत्सत्तावन्वः परिग्रहः ॥ १ ॥

नारद^१ के उद्धरण से भी यहो बात प्रतीत होती है ॥ १ ॥

मूर्ख मनुष्य का हठ उसका नारा किये बिना शान्त नहीं होता । अर्थात्—बड़ हानि होनेके परवाह ही अपनी जिह छोड़ता है ॥ ४३ ॥

जैमिनि^२ ने भी मूर्ख की हठ उसका विनाश करने वाली बताते हुये विद्वानों को हठ न करने का उपदेश दिया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार कपास में तीव्र आग लग जाने पर उसे बुझाने का प्रयत्न करना निष्फल है वही प्रकार मूर्ख के हठ पकड़ लेनेपर उसकी हठ छुड़ानेका प्रयत्न भी निष्फल है क्योंकि वह अपनी हठ नहीं छोड़ता अतः ऐसे अवसर पर उसकी उपेक्षा करना ही औचित्य है (इससे भाषण न करना ही उत्तम है) ॥ ४४ ॥

भागुरि^३ ने भी मूर्खकी हठके अवसर में विवेकी को उसकी उपेक्षा करना बताया है ॥ १ ॥

मूर्ख को हितका उपदेश उसके अनर्थ बढ़ाने में सहायक होता है, अतः शिष्ट पुरुष मूर्ख के लिये उपदेश न देवे ॥ ४५ ॥

गौतम^४ ने भी कहा है कि जैसे २ विद्वान पुरुष मूर्ख को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है, वैसे २ उसकी जड़ता बढ़ती जाती है ॥ १ ॥

क्रोधरूपी अग्निसे प्रवर्धित होने वाले मूर्खोंको तत्काल समझाना जलती हुई आग में घीकी आहुति देने के समान है । अर्थात्—जिस प्रकार से प्रवर्धित अग्नि घी की आहुति देने से शान्त न होकर लौटी बढ़ती है, वही प्रकार मूर्ख का क्रोध भी समझानेसे शान्त न होकर लौटी बढ़ता चला जाता है, अतः मूर्ख को क्रोध के अवसर पर समझाना निरर्थक है ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार नधुनेरहित बैल खींचनेवाले पुरुष को अपनी ओर तेजी से खींचता जाता है, वही प्रकार मर्यादाहीन व हठी मूर्ख मनुष्य भी उपदेश देने वाले शिष्ट पुरुष को अपनी ओर खींचता है—उससे अत्यन्त शत्रुता करने लगता है, अतः विवेकी पुरुष मूर्ख को हित का उपदेश न देवे ॥ ४७ ॥

भागुरि^३ के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जिस प्रकार ग्वाले द्वारा अधिक स्नेह किया हुआ बैल दूध नहीं दे सकता, वही प्रकार स्वयं निर्गुण वस्तु पक्षपात-वश किसी के द्वारा प्रशंसा की जाने पर भी गुणयुक्त नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

नारद^१ ने भी निर्गुण वस्तु के गुण-युक्त न होने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

इति विवाद समुद्देशः ।

१ तथा च नारदः—मजस्य पोषको बहद्राक्षः चिन्ता प्रसाधते । रजकस्थ च कालेये तादृशा बाधिका भवेत् ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—एकामहोऽत्र मूर्खोऽपि न मरत्यति बिना धनं । तस्मादेकामहो विश्वेन कर्तव्यः कथंचन ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—कपांते दहमाने तु यथा धूतमुपेक्ष्य । एकमहपरे मूर्खे सद्रुदन्वं च विधत्ते ॥ १ ॥

४ तथा च गौतमः—यथा यथा जको कोको बिल्लोकोः प्रबोधयते । तथा तथा च तज्जाण्वं तस्य बुद्धिं प्रयच्छति ॥ १ ॥

५ तथा च भागुरिः—नस्तथा रहितो नद्रुदन्वियमाकोऽपि गच्छति । नृवस्तद्रुद्व मूर्खोऽपि यतः कोपात्न लिच्छति ॥ १ ॥

६ तथा च नारदः—स्वयमेव कुम्भं यत् तस्य स्वाकक्षितं शुभं । यथोक्तं स सित्रः क्षीरं गोपाहीन ददाति को ॥ १ ॥

२६ षाड्गुण्य-समुद्देश ।

शम व उद्योग का परिणाम, लक्षण, भाग्य व पुरुषार्थ के विषय में—

शमव्यायामौ योगक्षेमयोयोनिः ॥ १ ॥ कर्मफलपभागानां क्षेमसाधनः शमः कर्मणां
यागाराधनो-व्यायामः ॥ २ ॥ दैव-धर्माधर्मा ॥ ३ ॥ मानुषं नयानयो ॥ ४ ॥ दैवं
मानुषञ्च कर्म लोकं यापयति ॥ ५ ॥ तच्चिन्त्यमचिन्त्यं वा दैवं ॥ ६ ॥ अचिन्तितोपस्थितो-
ऽर्थसम्बन्धो दैवायतः ॥ ७ ॥ बुद्धिपूर्वहिताहितप्राप्तिपरिहारसम्बन्धो मानुषायतः ॥ ८ ॥
सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति ॥ ९ ॥ न खलु दैवमीदृमानस्य कृतमप्यन्यं
मुखे स्वयं प्रदिशति ॥ १० ॥ न हि दैवमवलम्ब्यमानस्य धनुः स्वयमेव शरान् संधत्ते ॥ ११ ॥
पौरुषमवलम्ब्यमानस्यार्थानर्थयोः सन्देहः ॥ १२ ॥ निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य ॥ १३ ॥
आयुरौषयोरिव दैवपुरुषकारयोः परस्परसंयोगः समीहितमर्थं साधयति ॥ १४ ॥

अर्थ—शम (कर्मों के फलोपभोग में कुशलता उत्पन्न करने वाला गुण) व व्यायाम (नैतिक
पुरुषार्थ) कार्य की प्राप्ति और उसमें सफलता प्राप्त कराते हैं । सारांश यह है कि शिष्ट पुरुष
लौकिक एवं धार्मिक कार्यों में तभी सफलता प्राप्त कर सकता है, जब वह पुण्य कर्म के फलोपभोग
(इष्ट वस्तु की प्राप्ति) में कुशल-गर्व-शून्य और पाप कर्म के फलोपभोग (अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति)
में घोरवीर हो ॥ १ ॥

पुण्य पाप कर्मों के फल इष्ट-अनिष्ट वस्तु के उपभोग के समय कुशलता का उत्पादक गुण (संपत्ति
में गव-शून्यता और विपत्तियों में धैर्य धारण करना) 'शम' एवं कार्यारंभ किये जाने वाला उद्योग
'व्यायाम' कहा जाता है ॥ २ ॥

प्राणियों द्वारा पूर्वजन्म में किये हुये पुण्य व पाप कर्मों को 'दैव' (भाग्य) कहते हैं ॥ ३ ॥

व्यास^१ ने कहा है कि जिसने पूर्व जन्ममें दान, अध्ययन व तप किया है, वह पूर्वकाशीन अभ्यास
वश इस जन्म में भी उसी प्रकार पुण्य कर्म में प्रवृत्ति करता है ॥ ४ ॥

नीतिपूर्ण (अहिंसा व सत्य-आदि) व अनैति-पूर्ण (विश्वासघात आदि) कार्यों में किये जानेवाले
उद्योग को 'पुरुषार्थ' कहते हैं, परन्तु कर्तव्य दृष्टि से विवेकी पुरुषों को श्रेय प्राप्ति के लिये नीतिपूर्ण सग-
काय करने में ही प्रयत्नशील होना चाहिये ॥ ५ ॥

१ तथा च व्यासः—येन यन्त्रकृतं पूर्वं दानमध्ययनं तपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तत्त्वैवाभ्यस्यते पुनः १ ॥

गर्ग^१ ने नीतिपूर्ण सत्कार्य करने का उल्लेख करते हुये अनीति-युक्त असत्कार्य करने का निषेध किया है ॥ १ ॥

भाग्य पुरुषार्थ दोनों से ही प्राणियों की प्रयोजन सिद्धि होती है, एक से नहीं । सारांश यह है कि लोक में मनुष्यों को अनुकूल भाग्य व नीति-पूर्ण पुरुषार्थ से इष्ट-सिद्धि और प्रतिकूल भाग्य व अनीति-युक्त पुरुषार्थसे अनिष्टसिद्धि होती है, केवल भाग्य व पुरुषार्थ से नहीं ॥ ५ ॥

समन्तभद्राचार्य^२ ने भी कहा है कि जो लोग अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य द्वारा ही इष्ट व अनिष्ट पदार्थ की सिद्धि मानते हैं, उनके यहां जब उद्योग नगम्य है, तब नीति-पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा अनुकूल भाग्य और अनीति-युक्त पुरुषार्थ द्वारा प्रतिकूल भाग्य का सम्पादन नहीं हो सकेगा । इसी प्रकार भाग्य द्वारा परंपरा अनुष्ण चालू रहने से सांसारिक व्याधियों के कारण कर्मों का नैतिक पुरुषार्थ द्वारा ध्वंस न होने से सुखि प्री की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । एवं लौकिक कृषि-व्यापारादि व धार्मिक दान शीलादि कार्यों की सिद्धि के लिये किया जाने वाला पुरुषार्थ (उद्योग) निरर्थक हो जायगा ।

इसी प्रकार जो लोग पुरुषार्थ से ही अर्थ-सिद्धि मानते हैं, उनके यहां दैव प्रामाण्य से पुरुषार्थ निष्फल नहीं होना चाहिये और समस्त प्राणियों का पुरुषार्थ सफल होना चाहिये । अतः अर्थ सिद्धि में भाग्य और पुरुषार्थ दोनों की उपयोगिता है, एक की नहीं । साथ में यह ध्यान देने योग्य है कि जिस समय मनुष्यों को इष्ट (सुखादि) व अनिष्ट (दुःखादि) पदार्थ बिना उद्योग किये अचानक प्राप्त होते हैं, वहाँ उनका अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य ही कारण समझना चाहिये, वहाँ पुरुषार्थ गौण है । इसी प्रकार पुरुषार्थ के जरिये होने वाले सुख-दुखादि में नीति-अनीतिपूर्ण पुरुषार्थ कारण है वहाँ दैव गौण है । अभिप्राय यह है कि इष्ट-अनिष्ट पदार्थ की सिद्धि में अनुकूल प्रतिकूल भाग्य व नीति-अनीति-युक्त पुरुषार्थ इन दोनों की उपयोगिता है, केवल एक की नहीं ॥ १-२ ॥

गुरु^३ ने भी भाग्य व पुरुषार्थ द्वारा अर्थ सिद्धि होने का निर्देश किया है ॥ १ ॥

विवेकी मनुष्य को भाग्य के भरोसे ही बैठकर लौकिक (कृषि व्यापारादि) तथा धार्मिक (दान शीलादि) कार्यों में नीति-पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ ६ ॥

वत्सभदेव^४ ने भी उद्योग द्वारा धार्मिक लाभ का विवेचन करतेहुये भाग्य भरोसे न बैठकर पुरुषार्थ करने का संकेत किया है ॥ १ ॥

१ तथा च गर्गः — तयो वाच्यमयो वापि पारिवेक्ष प्रजावते । तस्मान्नवः प्रकर्षको भाग्यरश्च विवक्षिता ॥ १ ॥

२ तथा च समन्तभद्राचार्यः—दैवादेवार्थसिद्धिर्येहैवं पौरुषतः कथं । दैवतरचेद्विमोक्षः पौरुष निष्कर्षं भवेत् ॥ १ ॥

पौरुषादेव सिद्धिर्येत् पौरुषं दैवतः कथं । पौरुषाच्चेदमोक्षं स्वार्थसर्वप्राप्तिषु पौरुषं । २

अनुदिपूर्वापेक्षाधामिष्यामिह स्वदैवतः । बुद्धिपूर्वमपेक्षाधामिष्यामिष्यं स्वपौरुषात् ॥ ३ ॥

(च समीक्षायात्)

३ तथा च गुरुः—यथा नैकेन हस्तेन ताळा संजायते नृणां । तथा न जायते सिद्धिरेकेनैव च कर्मणा ॥ १ ॥

४ तथा च वत्सभ देवः—उद्योगिनं पुरुषसिद्धयुपैति कस्मीदैवेन देवमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य गुरु पौरुषमात्मकत्वात्; अस्ते कस्ते यदि च सिद्धयति कोऽयं दोषः ॥ १ ॥

दूसरे कार्य की सिद्धि के विषय में सोचने वाले व्यक्ति को बिना विचारे अचानक ही अगर किसी इष्ट अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है, तो उसे भाग्याधीन समझना चाहिये ॥ ७ ॥

शुक्र* ने भी अचानक प्राप्त हुई इष्ट अनिष्ट अर्थ-सिद्धि को भाग्याधीन कहा है ॥ १ ॥

मनुष्य बुद्धिपूर्वक सुखदायक पदार्थों की प्राप्ति व कष्टदायक पदार्थों से निवृत्ति करता है, वह उसके नैतिक पुरुषार्थ पर निर्भर है ॥ ८ ॥

शुक्र* ने भी बुद्धिपूर्वक सम्पन्न किये हुये कार्यों को पुरुषार्थ के अधीन बताया है ॥ १ ॥

भाग्य अनुकूल होने पर भी यदि मनुष्य उद्योग-हीन (आलसी) है तो उसका कल्याण नहीं हो सकता, सारांश यह है कि बिबेकी पुरुष भग्य भरोसे न बैठ कर सदा लौकिक व धार्मिक कार्यों में पुरुषार्थ करता रहे, इससे उसका कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ९ ॥

वल्कभवेव* ने भी उद्योग द्वारा कार्यासिद्धि होने का समर्थन किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार भाग्य-वश प्राप्त हुआ अन्न भाग्य के भरोसे रहने वाले व्यक्ति के मुखमें स्वयं प्रविष्ट नहीं होता, किन्तु हस्त-संचालन आदि पुरुषार्थ द्वारा ही प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार केवल भाग्य के भरोसे रहने वाले मनुष्य को कार्य में सफलता नहीं मिलती, किन्तु पुरुषार्थ करने से ही मिलती है ॥ १० ॥

भागुरि* ने भी भाग्यवश प्राप्त हुये अन्न का दृष्टान्त दे कर उद्यम करने का समर्थन किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार धनुष अपने डोरी पर बाणों को स्वयं पुरुष प्रयत्न के बिना स्थापन नहीं कर सकता, उसी प्रकार भाग्याधीन पुरुष भी उद्योग के बिना किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

जैमिनि* के उद्धरण से भी उक्त दृष्टान्त द्वारा उद्योग करने का समर्थन होता है ॥ १ ॥

पुरुषार्थ का सहारा लेकर कार्यान्वयन करने वाले मनुष्य को इष्ट-सिद्धि (आर्थिक लाभ आदि) व अनर्थ (आर्थिक हानि आदि) होने में संदेह रहता है। सारांश यह है कि उसमा पुरुष कयापारादि कार्य आरम्भ करता है, परन्तु इसमें मुझे आर्थिकलाभ (मुनाफा) होगा या नहीं ? अथवा इसमें मुझे हानि (घाटा) हो नहीं हो जायगा ? इस प्रकार शङ्कित रहता है। फलस्वरूप दृष्टि से अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थी (उद्योगशील) पुरुष की अर्थ सिद्धि भाग्य का अनुकूलता पर ही निर्भर है, परन्तु भाग्य की अनुकूलता व प्रतिकूलता का निश्चय पुरुषार्थ किये बिना नहीं होता अतएव बिबेकी पुरुष को नैतिक पुरुषार्थ द्वारा सदा कष्टकषणीक होना चाहिये ॥ १२ ॥

वशिष्ठ* ने भी पुरुषार्थी को शङ्कित बताते हुये पुरुषार्थ को जोर प्रवृत्ति कराया है ॥ १ ॥

१ तथा च शुक्रः—अन्यविश्वस्तथमानस्य यद्व्यवधि जायते । शुभं वा यदि वा पापं ज्ञेयं वैवर्क्यं च तत् ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—बुद्धिपूर्वं तु यत्कर्म क्रियतेऽत्र शुभाशुभं । नरायतं च तत्क्षेयं सिद्धं वासिष्ठसेव ॥ १ ॥

३ तथा च वल्कभवेवः—उद्यमेन हि सिद्धिर्वाप्ति कार्याणि न मनोरथैः । न हि सुतस्य सिद्धस्य प्रविशन्ति मुले शूलः ।

४ तथा भागुरिः—प्राप्तं वैववशादनं पुनर्तस्यापि चेच्छुभं । तावन्न प्रविशेद् यक्षत्रे यावत्प्रेषति मोक्षकः ॥ १ ॥

५ तथा च जैमिनिः—माद्यमेन विना सिद्धिं कार्यं न शक्यति किञ्चन । यथा वापं न गच्छन्ति उद्यमेन विना शराः ॥ १ ॥

६ तथा च वशिष्ठः—पौष्ट्यमाहितलोकास्य नूनमेकतमं भवेत् । धनं वा मरणं वाप्य वशिष्ठस्य यच्च यथा ॥ १ ॥

जो मनुष्य भाग्य के भरोसे रहता है, उसका अकर्मण्यता के कारण अनर्थ होना निश्चित ही है १३
नारद^१ ने भी दैव को प्रमाण मानने वाले उद्योग-शून्य मनुष्य का अनर्थ होना बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार आयु और योग्य औषधि का मिलाप जीवन-रक्षा करता है, उसी प्रकार भाग्य व पुरुषार्थ दोनों का संयोग भी मनोवांछित वस्तु उत्पन्न करता है। अर्थात् जिस प्रकार आयु रहने पर ही योग्य औषधि बीमार को स्वास्थ्य प्रदान करती है, आयु के बिना नहीं, उसी प्रकार भाग्य की अनुकूलता होने पर किशो हुआ पुरुषार्थ मनुष्य को इष्ट-सिद्धि प्रदान करता है, भाग्य की प्रतिकूलता में नहीं ॥ १४ ॥

भारद्वाज^२ ने भी आयु के बिना सैकड़ों औषधियों का सेवन निरर्थक बताया है ॥ १ ॥

धमेका परिणाम व धार्मिक राजा की प्रशंसा—

अनुष्ठीयमानः स्वफलमनुभावयन् कश्चिद्धर्मोऽधर्ममनुवध्नाति ॥१५॥ त्रिपुरुषमूर्तित्वान्न
भूभूजः प्रत्यक्षं दैवमस्ति ॥१६॥ प्रतिपन्न-प्रथमाश्रमः परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरूपासित-
गुरुकुलः सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयाऽलंकुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा ॥१७॥ संजातराज्य-
कुलक्ष्मीदीक्षाभिषेकं स्वगुरौः प्रजास्वनरागं जनयन्तं राजानं नारायणमाहुः ॥१८॥ प्रवृद्ध-
प्रतापवृत्तायलोचनानलः परमैश्वर्यमातिष्ठमानो राष्ट्रकण्टकान् द्विषद्दानवान् छेत्त यत्तत्
विजिगीषुभूपतिर्भवति पिनाकपाणिः ॥१९॥

अर्थ—जब मनुष्यों द्वारा धर्म (अहिंसा व सत्य आदि) पालन किया जाता है तब वह (धर्म) उन्हें अपना फल देता है उनके पाप धुँस करता है और अधर्म (पाप) उत्पन्न नहीं करता। अर्थात्—
धर्मानुष्ठान करने वाले को अधर्म नहीं होता, क्योंकि धर्म रूपों सूर्य के उदय होने पर पापरूपी अंधेरा न तो रह सकता है और न उत्पन्न ही हो सकता है। अतः प्रत्येक प्राणी को सांसारिक व्याधियों के कारण पापों की निवृत्ति के लिये धर्मानुष्ठान करना चाहिये ॥१५॥

भगवज्जिनसेन चाये^३ ने भी अहिंसा, सत्य, क्षमा, शौच, तृष्णाका त्याग, सम्यग्ज्ञान व वैराग्य सम्पत्ति को धर्म और इनसे विपरीत हिंसा व भूठ आदि को अधर्म बताते हुए बुद्धिमानों को अनर्थ-परिहार (दुःखों से छुटना) की इच्छा से धर्मानुष्ठान करने का उपदेश दिया है ॥१॥

राजा ब्रह्मा, विष्णु श्री महेश की मूर्ति है, अतः हमसे दूसरा कोई प्रत्यक्ष देवता नहीं है ॥१६॥

मनु^४ ने भी शुभाशुभ कर्मों का फल देने के कारण राजा को सर्वदेवतामय माना है ॥१॥

जिसने प्रथमाश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम) को स्वीकार किया है, जिसकी बुद्धि परमेश्वर ईश्वर या ब्रह्मचर्यव्रत)

१ तथा च नारदः—प्रमादीकृत्य यो तैवं नोद्यमं कुरुते नरः । स नूनं नाशमायाति नारदस्य वचो यथा ॥ १ ॥

२ तथा च भारद्वाजः—विनायुधं न जीवेत् सेपजानां शतैरपि । न भेषजैर्धिना रोगः कथञ्चिदपि न शाम्यति ॥ १ ॥

३ तथा च भगवज्जिनसेनचार्यः—धर्मः प्राणिदया सत्यं शान्तिः शौचं दिसृस्ततः । ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः
धर्मेकपरता धत्ते बुद्धोऽनर्थजिहासया । आशि पुराण पर्व १०

४ तथा च मनुः—सर्वदेवमयो राजा सर्वैभ्योऽप्यधिकोऽथवा । शुभाशुभफलं सोऽयं देवादेवो भवान्तरे ॥ १ ॥

में आसक्त है, गुरुकुल की उपासना करने वाला एवं समस्त राज-विद्याओं (धान्वीक्षिकी, त्रयी, वाचो व दक्षनीति) का वृत्ता विद्वान तथा युवराज पद से अलंकृत ऐसा क्षात्रिय का पुत्र राजा ब्रह्मा के समान माना गया है ॥२७॥

राज्य लक्ष्मी की दोक्षा से अभिषिक्त, अपने शिष्टगालन व दुष्टनिमज्ज आदि मद्गुणों के कारण प्रजा में अपने प्रति अनुग्राह उत्पन्न करने वाला राजा विष्णु के समान नीतिकारों द्वारा कदा गया है ॥२८॥
उदासी^१ ने भी राजा को विष्णु माना है ॥२९॥

बड़ा हुई है प्रताप रूपी तृतीय नेत्र को आग्नि जिसकी, परमेश्वर्य को प्राप्त होनेवाला, राष्ट्र के फण्टक शत्रु रूप दानवों के संहार करने में प्रयत्नशाल ऐसा विजिगीषु राजा महेश के समान माना गया है ॥ १६॥

राज कसव (उदासीन आदि राजमण्डल की देव रेख) उदासीन, मध्यस्थ, विजिगीषु, अरि, पार्ष्णिग्राह, आसार व अन्तर्द्धि का लक्षण—

उदासीन-मध्यम-विजिगीषु-अमित्रमित्रपार्ष्णिग्राहक्रन्दासारान्तर्द्धयो यथासम्भवगुणगणविम-
वतारस्तम्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः ॥ २०॥ अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा सन्निकृष्टे वा मण्डले
स्थितो मध्यमादीनां विग्रहीतानां निग्रहं संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित् कारखेनान्यस्मिन्
भूपतौ विजिगीषुमाणां य उदास्ते स उदासीनः ॥ २१॥ उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूषापेक्षया
समधिकचलोऽपि कुतश्चित् कारणादन्यस्मिन् नृपतौ विजिगीषुमाणयो मध्यस्थभावमवलम्बते स
मध्यस्थः ॥ २२॥ राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयविक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः ॥ २३॥
य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रतिकूल्यमियति स एवारिः ॥ २४॥ मिश्रलक्षणमुक्तमेव
पुरस्तात् ॥ २५॥ यो विजिगीषौ प्रस्थितोऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात् कोपं जनयति स
पार्ष्णिग्राहः ॥ २६॥ पार्ष्णिग्राहः पश्चिमः स आक्रन्दः ॥ २७॥ पार्ष्णिग्राहमित्रमासार
आक्रन्द मित्रं च ॥ २८॥ अरि विजिगीषोर्मण्डलान्तर्द्धितवृत्तिरुभयवेतनः पर्वताटवी
कृताश्रयश्चान्तर्द्धिः ॥ २९॥

अर्थ—राजमण्डल के अधिष्ठाता उदासीन, मध्यम, विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, आसार, व अन्तर्द्धि हैं, जो कि यथायोग्य गुणसमूह और ऐश्वर्य के तारतम्य से युक्त होते हैं। नारायण यह है कि विजिगीषु इन को अपने अनुकूल रखने का प्रयत्न करे ॥ २० ॥ अपने देश में वर्तमान जो राजा किसी अन्य विजिगीषु राजा के आगे पीछे या पार्श्वभाग में स्थित हो और मध्यम आदि युद्ध करने या जो के नियंत्रण करने में और उन्हें युद्ध से उन्हें रोकने में सामर्थ्यवान् होनेपर भी किसी कारणसे या किसी

१ तथा च व्यासः—नाविष्णुः पृथिवीपतिः

A उक्त पाठ मु० मु० पुस्तक से संकलन किया गया है, सं० टी० पुस्तकमें पार्ष्णिग्राह मित्रमित्यादि पाठ है ।—वसुदेवक

अपेक्षा वश दूसरे विजिगीष राजाके विषयमें जो अपेक्षा करता है—उससे यु नहीं करता—उसे 'उदासीन' कहते हैं ॥ २१ ॥ जो उदासीन की तरह मर्यादानेत मंडल का रक्षक होने से अन्य राजा की अपेक्षा प्रबल सैन्यसे शक्तिशाली होनेपर भी किसी कारण वश (याद में एककी सहायता करूँगा तो दूसरा मुझसे वैर बाँध लेगा—इत्यादि) विजय की कामना करने वाले अन्य राजा के विषय में मध्यस्थ बना रहता है—उससे युद्ध नहीं करता—वह 'मध्यस्थ' कहा गया है ॥ २२ ॥ जो राज्याभिषेक से अभिषिक्त हो चुका हो, और भाग्यशाली, लज्जान्त, अमरत्व आदि पदविभूषण हो एवं राजनीति में निपुण व शूरवीर हो, उसे 'विजिगीष' कहते हैं ॥ २३ ॥ जो अपने निकट सम्बन्धियों का अपराध करता हुआ कभी भी दुष्टता करने से धाज नहीं आता उसे 'अरि' (शत्रु) कहते हैं ॥ २४ ॥ पिछले मित्रसमुद्देश में 'जो मित्र' का लक्षण निरूपण किया गया है उस लक्षणवाले को मित्र समझना चाहिये ॥ २५ ॥ विजिगीष के शत्रुभूत राजा के साथ युद्ध के लिये प्रस्थान करने पर धाद में जो क्रुद्ध होकर उसके देश को नष्ट भष्ट कर डालता है, उसे 'पार्थिवमाह' कहते हैं ॥ २६ ॥ जो पार्थिवमाह से विलकुल विपरीत चलता है—विजिगीष को विजय यात्रा में जो हर तरहसे सहायता पहुँचाता है, उसे 'आक्रन्द' कहते हैं क्योंकि प्रायः समस्त मीमाक्षिपति मित्रता रखते हैं, अतः वे सब आक्रन्द हैं ॥ २७ ॥ जो पार्थिवमाह का विरोधी और आक्रन्दसे मैत्री रखता है—वह 'आसार' है ॥ २८ ॥ शत्रु राजा का व विजिगीष राजा इन दोनों के देश में है जोविका जिसकी—दोनोंतरफ से वेतन पाने वाला पर्वत व अद्वयी में रहने वाला 'रुन्तजि' है ॥ २९ ॥

युद्ध करनेयोग्य शत्रु व उसके प्रति राजकर्तव्य, शत्रु पक्ष के भेद, शत्रुता मित्रता का कारण व मन्त्र-शक्ति, प्रभुशक्ति और वरसादशक्ति का कथन, व उक्त शक्तित्रय की अधिकता आदि से विजिगीष की श्रेष्ठता आदि—

अराजवीजी लुब्धः क्षुद्रो विरक्तप्रकृतिरन्यायपरो व्यसनी विप्रतिपक्षमित्रामात्यसामन्तसेना-
पतिः शत्रुरभियोक्तव्यः ॥ ३० ॥ अनाश्रयो दुर्वलाश्रयो वा शत्रुस्त्वैदनीयः ॥ ३१ ॥
विपर्ययो निष्पीडनीयः कर्णयेद्वा ॥ ३२ ॥ सभामिजनः सहजशत्रुः ॥ ३३ ॥ विरोधो विरोधयिता
वा कुप्रियः शत्रुः ॥ ३४ ॥ अनन्तरः शत्रुरेकान्तरं मित्रमिति नैषः एकान्तः कार्यं हि
मित्रत्वामित्रत्वयोः कारणं न पुनर्विप्रकर्षसन्निकर्षौ ॥ ३५ ॥ हानबलं मन्त्रशक्तिः A ॥ ३६ ॥
बुद्धिशक्तिरात्मशक्तेरपि गरीयसी ॥ ३७ ॥ शशकेनेव सिंहव्यापादनमत्र दृष्टान्तः ॥ ३८ ॥
कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः ॥ ३९ ॥ शूद्रकशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ ॥ ४० ॥ विक्रमो बलं चोत्सा-
दशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः ॥ ४१ ॥ शक्तित्रयोपचितो ज्यायान् शक्तित्रयापचितो हीनः
समानशक्तित्रयः समः ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो जार से उत्पन्न हो अथवा जिसके देश का पता माझम न हो, छोभी, दुष्ट हृदय-युक्त जिससे प्रजा ऊँच गई हो, अन्यायी, कुमार्गगात्रो, जुआ व प्रचारात आदि व्यसनों में फंसा हुआ, मित्र, अमात्य, सामन्त व सेनापति आदि राजकीय कर्मचारीगण जिससे विरुद्ध हों, इस प्रकार के शत्रुभूत राजा पर विजिगीष को आक्रमण कर विजयश्री प्राप्त कर लेनी चाहिये ॥ ३० ॥

A उक्त पाठ पाकद्विषिक होने के कारण सु० सू० प्रति से संस्करण किया गया है । —सम्पादक

शुक्र^१ विद्वान ने भी उक्त दोष वाले शत्रु राजा को विजिगीषु द्वारा हमला करने योग्य बताया है ॥ १ ॥
विजिगीषु को आश्रयहीन (सहायकों से रहित) व दुर्बल आश्रयवाले शत्रु से युद्ध करके उसे नष्ट कर देना चाहिये ॥ ३१ ॥

शुक्र^२ ने भी उक्त प्रकार से शत्रु को नष्ट करने के विषय में लिखा है । यदि कारणवश शत्रु से संधि (मित्रता) हो जावे, तो भी विजिगीषु भविष्यके लिये अपना मार्ग निष्कण्टक बनानेके लिये उसका समस्त धन छीनले या उसे इसतरह दलित व शक्तिहीन कर डाले, जिससे वह पुनः अपना सिर न उठा सके ॥ ३२ ॥

शुक्र^३ ने भी सन्धिप्राप्त शत्रु राजा के प्रति विजिगीषु का यही कर्तव्य निर्देश किया है ॥ १ ॥
अपने ही कुश का (कुडुम्बी) पुरुष राजा का स्वाभाविक शत्रु है क्योंकि वह ईर्ष्यावश उसका उत्थान कभी न देख कर हमेशा पतन के विषय में उसी प्रकार सोचा करता है, जिस प्रकार बिलाय चूहे की कभी भी भलाई न सोचकर उसे अपना आहार बना डालता है ॥ ३३ ॥

नारद^४ ने विजिगीषु के गोत्रज पुरुषों को उसका स्वाभाविक शत्रु बताया है ॥ १ ॥
जिसके साथ पूर्व में विजिगीषु द्वारा वैर विरोध उत्पन्न किया गया है तथा जो स्वयं आकर विजिगीषु से वैर विरोध करता है—ये दोनों उसके कृत्रिम शत्रु हैं । यदि ये बलहीन हैं, तो इनके साथ विजिगीषु को युद्ध करना चाहिये और यदि प्रबल सैन्य-शक्ति-सम्पन्न हैं तो उन्हें सामन्तीति द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिये ॥ ३४ ॥

गर्ग^५ विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥
दूरवर्ती (सीमाधिपति-आदि) शत्रु व निकटवर्ती मित्र होता है यह शत्रु मित्र का सर्वथा लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि शत्रुता व मित्रता के अन्य ही कारण हुआ करते हैं, दूरवर्तीपन व निकटवर्तीपन नहीं । क्योंकि दूरवर्ती सीमाधिपति भी कार्यवश निकटवर्तीके समान शत्रु व मित्र हो सकते हैं ॥ ३५ ॥
शुक्र विद्वान^६ ने भी शत्रुता व मित्रता के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

ज्ञानबल को मंत्र-शक्ति कहते हैं । शारीरिक बल से बुद्धिबल महान् व श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि इसके समर्थन में यह दृष्टान्त है कि बुद्धिबल में प्रवीण अल्प शारीरिक शक्तियुक्त किसी खरगोश ने प्रबल शारीरिक शक्तिशाली शेरको भी बुद्धिबल से मार डाला । सारांश यह है कि विजिगीषु मंत्रशक्ति, प्रभुत्व-शक्ति व उत्साहशक्ति से सम्पन्न होकर शत्रु से विजयश्री प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं । उसमें शारीरिक बल की अपेक्षा बुद्धिबल की प्रधानता है ॥ ३६-३८ ॥

-
- १ तथा च शुक्रः—विरक्तप्रकृतिर्वैरो व्यसनी लोभसंयुतः । छद्मोऽमात्यादिमिसुक्तः स गम्यो विजिगीषुणा ॥ १ ॥
२ तथा च शुक्रः—अमाश्रयो भवेच्छत्रुर्दो वा स्याद् दुर्बलाश्रयः । तेनैव सहितः सोऽत्र निहन्तव्यो जिगीषुणा ॥ १ ॥
३ तथा च गुरुः—शत्रुमित्रत्वमापको यदि नो चिन्तयेद्विषयम् । तत्कुर्याद्विभवहीनं युद्धं वा तं नियोजयेत् ॥ १ ॥
४ तथा च नारदः—गोत्रजःशत्रुः सदा तत्पदवाञ्छुकः । रोगस्यैव न तद्विद्धं कदाचित्कारयेत्सुधीः ॥ १ ॥
५ तथा च गर्गः—यदि हीनबलः शत्रुः कृत्रिमः संप्रजायते । तदा दण्डोऽधिको वा स्यादेवो दण्डः स्वशक्तितः ॥ १ ॥
६ तथा च शुक्रः—कार्यात्सीमाधिपो मित्रं भवेत्परजो रिपुः । विजिगीषुणा प्रकर्तव्यः शत्रुमित्रोपकार्यतः ॥ १ ॥

पंचतन्त्र १ में भी बुद्धिबल को प्रधान बल बताया है ।

जिस विजिगीषु के पास विशाल खजाना व हाथी, घोड़े, रथ व पैदल रूप चतुरंग सेना है, वह उसकी प्रभुत्वशक्ति है, जो कि उसे युद्ध भूमिमें शत्रु को परास्त कर विजयभी प्राप्त करानेमें सहायक होती है ॥३६॥

शत्रुक व शक्तिकुमार के दृष्टान्त इस कथन को समर्थन करने वाले उद्धृत प्रमाण हैं । अर्थात् शत्रुक नाम के विजिगीषु राजा ने अपनी खजाने की शक्ति से सुपुत्रित व संग ठा संन्य द्वारा शक्तिकुमार नाम के शत्रु राजा को युद्धमें परास्त किया था. यह उसकी प्रभुत्वशक्ति का ही साहाय्य था ॥ ४० ॥

विजिगीषु की पराक्रम व सैन्यशक्ति को 'वत्साह शक्ति' कहते हैं, उसके उल्लेख उदाहरण मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र हैं, जिन्होंने अपने पराक्रम व वानचंशीय हनुमान-आदि सैनिकों की सहायता से रावण को युद्ध में परास्त किया था ॥ ४१ ॥

गण^२ ने भी उक्त उदाहरण देकर विक्रम व सैन्यशक्ति को 'वत्साहशक्ति' कहा है ॥ ४१ ॥

जो विजिगीषु शत्रु की अपेक्षा उक्त तीनों प्रकार की (प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति व वत्साहशक्ति) शक्तियों से अधिक (शक्तिशाली) होता है वह श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी युद्ध में विजय होती है, और जो उक्त शक्तित्रय से शून्य है, वह अधन्य है, क्योंकि वह शत्रु से हार जाता है एवं जो उक्त तीनों शक्तियों में शत्रु के समान है, वह सम है, उसे भी शत्रु से युद्ध नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

गुरु^३ ने भी समान शक्ति-युक्त विजिगीषु को युद्ध करने का निषेध किया है ॥ १ ॥

पाङ्गुण्य (सन्धि विग्रह-आदि) का निरूपण—

सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः पाङ्गुण्यं ॥४३॥ पणवन्धः सन्धिः ॥४४॥ अपराधो

विग्रहः ॥४५॥ अभ्युदयो यानं ॥४६॥ उपेक्षणमासनं ॥४७॥ परस्यात्मार्षणं संश्रयः ॥४८॥

एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकत्र वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः ॥४९॥

प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विगृह्यमाणो विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याभयः ॥५०॥

अर्थ—सन्धि (मैत्री करना) विग्रह—युद्ध करना, यान-शत्रु पर चढ़ाई करना, आसन—शत्रुकी उपेक्षा करना व संश्रय-आत्म समर्पण करना ये राजाओंके पाङ्गुण्य हैं ॥ ४३ ॥ अब विजिगीषु अपनी दुर्बलता वश बलिष्ठ शत्रु राजा के लिये धनादि देकर उससे मित्रता करता है, उसे 'सन्धि' कहते हैं ॥४४॥

गुरु^४ ने सन्धिके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

विजिगीषु किसी क द्वारा किये हुए अपराध-वश युद्ध करता है वह विग्रह है ॥४५॥ विजिगीषु द्वारा शत्रु पर आक्रमण किया जाना उसे 'यान' कहते हैं अथवा शत्रु को हरने से ज्यादा बलिष्ठ समझ कर किसी दूसरे स्थान पर चले जाता भी 'यान' है ॥४६॥ सबज शत्रु को आक्रमण करते तत्पर देखकर

१ तथा च कोक्तं— परम बुद्धिर्बलं तस्य निष्ठुर्देहश्च कृता बलम् । वसे सिंहो मदीन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥ १ ॥

२ तथा च गणः— सहजो विक्रमो यस्य सैन्यं बहुतरं भवेत् । तस्योत्साहो तद्युद्धे यः ? दाशरथेः पुरा ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः— समेमापि न योद्धव्यं यद्युपायत्रयं भवेत् । अन्योन्याहति ? यो संगो द्वाभ्यां सजायते यतः ॥ १ ॥

४ तथा च गुरुः— दुर्बलो बलिनं यत्र पण्डितेन तोषयेत् । तावत्सन्धिर्भवेत्तस्य पापन्मात्रः प्रजल्पितः ॥ १ ॥

उसकी अपेक्षा करना (उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाना) आसन कहलाता है ॥४७॥ बलिष्ठ शत्रु द्वारा देशपर आक्रमण होने पर जो उसके प्रति आत्मनमर्पण किया जाता है, उसे 'संश्रय' कहते हैं ॥४८॥ बलवान और निर्बल दोनों शत्रुओं द्वारा आक्रमण किये जाने पर विजिगीषु को बलिष्ठ के साथ सन्धि और निर्बल के साथ युद्ध करना चाहिये अथवा बलिष्ठ के साथ सन्धिपूर्वक जो युद्ध किया जाता है उसे 'द्विधीभाव' कहते हैं ॥४९॥ जब विजिगीषु अपने से बलिष्ठ शत्रु के साथ पहिले मित्रता स्थापित कर लेता है और फिर कुछ समय बाद शत्रु की हीन शक्ति हो जाने पर उसीसे युद्ध छेड़ देता है उसे बुद्धि-आभित 'द्विधीभाव' कहते हैं, क्योंकि इसमें विजिगीषु की विजय निश्चित रहती है ॥५०॥

सन्धि, विप्रद-आदि के विषय में विजिगीषु का कर्तव्य—

हीयमानः पणश्च्येन सन्धिसुपेयात् यदि नास्ति परेषां विपश्चितेऽर्थे मर्यादोऽल्लंघनम् ॥५१॥
अभ्युच्चीयमानः परं विमृष्टीयाद्यदि नास्त्यान्मत्रलेपु क्षोभः ॥५२॥ न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं शक्त इत्यासीन यद्यायत्यामस्ति कुशलम् ॥५३॥ गुणातिशययुक्तो यायाद्यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टका मध्ये न भवन्ति परचात्क्रोधः ॥५४॥ स्वमण्डलमपरिपालयतः परदेशाभियोगो विवसनस्य शिरोवेष्टनमिव ॥५५॥ रज्जुचलनमिव शक्तिहीनः संश्रयं कुर्याद्यदि न भवति परेषामामिपम् ॥५६॥

जब विजिगीषु शत्रु की अपेक्षा हीनशक्तिवाला हो, तो उसे शत्रु राजा के लिये आर्थिक दंड (धनादि) देकर उस हालत में सन्धि कर लेनी चाहिये जबकि उसके द्वारा प्रतिष्ठा की हुई व्यवस्था में मर्यादा का उल्लंघन न हो । अर्थात् शपथ-आदि खिलाकर भविष्य में विश्वासघात न करने का निश्चय करने के उपरान्त ही सन्धि करनी चाहिये, अन्यथा नहीं ॥५१॥

शुक्र ने भी हीन शक्तिवाले विजिगीषु को शत्रु के लिये आर्थिक दंड देकर सन्धि करना बताया है ॥५१॥

यदि विजिगीषु शत्रु राजा से सैन्य व कोप आदिमें अधिक शक्तिशाली है और यदि उसकी सेनामें क्षोभ नहीं है, तब उसे शत्रु से युद्ध छेड़ देना चाहिये ॥५२॥

गुरु ने भी बलिष्ठ, विश्वासपात्र व सैन्यसहित विजिगीषु को युद्ध करने का निर्देश किया है ॥५३॥

यदि विजिगीषु शत्रु द्वारा भविष्यकालीन अपनी कुशलता का निश्चय कर ले कि शत्रु मुझे नष्ट नहीं करेगा और न मैं शत्रु को, तब उसके साथ विप्रद न कर मित्रता ही करनी चाहिये ॥५४॥

जैमिनि ने भी उदासीन शत्रु राजा के प्रति युद्ध करने का निषेध किया है ॥५५॥

विजिगीषु यदि सर्वगुणमम्पन्न (प्रचुर सैन्य व कोप शक्तियुक्त) है एवं उसका राज्य निष्कण्टक है

१ तथा च शुक्रः—हीयमानेन दातव्यो दण्डः शत्रोर्विजिगीषुणा । वज्रयुक्तेन यत्कार्यं तैः समं निधिनिनिश्चयो ? ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—यदि स्यादधिकः शत्रोर्विजिगीषु निर्ज्वलैः । क्षोभेन रहितैः कार्यः शत्रूणां सह विप्रदः ॥ १ ॥

३ तथा च जैमिनिः—न विप्रदं स्वयं कुर्यादुदासीने परे स्थिते । वलाद्येनापि यो न स्यादायत्यां वेष्टितं शुभं ॥ १ ॥

तथा प्रजा-आदि का उस पर कोप नहीं है तो उसे शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिये । अर्थात् उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि युद्ध करने से उसके राज्य को किसी तरह की हानि तो नहीं होगी ॥५१॥

भागुरि^१ ने भी गुण-युक्त व निष्कण्टक विजिगीषु को शत्रु में युद्ध करने को लिखा है ॥५२॥ जो राजा स्वदेश की रक्षा न कर शत्रु के देश पर आक्रमण करता है, उसका यह काय लगेको पगड़ी बांधने के समान निरर्थक है अर्थात् जिस प्रकार लगे को पगड़ी बांध लेना पर भी उसके लगे की निवृत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार अपने राज्य की रक्षा न कर शत्रु के देश पर हमला करने वाले राजा का भी संकटों में छुटकारा नहीं हो सकता ॥५३॥

विदुर^२ ने भी विजिगीषु को शत्रु-राष्ट्र को नष्ट करने के समान स्वराष्ट्र के पारवान्त में प्रयत्न करने को कहा है ॥५४॥

सन्ध व कोप आदि की शक्ति से तोण्डु द्वय विजिगीषु को यदि शत्रुभूत राजा व्यवसी नहीं है, तो उसके प्रति आत्मसमर्पण कर देना चाहिये ऐसा करने में निवृत्त विजिगीषु उसी प्रकार शक्तिशाली हो जाता है जिस प्रकार अनेक तन्तुओं के आश्रय से रम्पी में मजबूत आ जाती है ॥५५॥

गुरु^३ ने भी शक्तिहीन राजा को शक्तिशाली शत्रु के प्रति आत्मसमर्पण करना बताया है ॥५६॥

शक्तिहीन व अस्थिर के आश्रय से हानि, स्वाभिमानों का कर्त्तव्य, प्रयोजन-यश विजिगीषु का कर्त्तव्य राजकीयकार्य व द्वेषीभाव—

बलवद्भयाद्बलवदाश्रयणं हस्तिभयाद्दण्डाश्रयणमिव ॥ ५७ ॥ स्वयमस्थिरैर्गणस्थिराश्रयणं

नद्यां बहमानन बहमानस्याश्रयणमिव ॥ ५८ ॥ वरं मानिना मरणं न परेच्छानुवर्तनादात्म-

विक्रयः ॥ ५९ ॥ आयत्तिकल्याणं सति कस्मिन्चित्सम्यग्ध्वे परसेश्रयः श्रेयान् ॥ ६० ॥

निधानादिव न राजकार्येषु कालनियमाऽस्ति ॥ ६१ ॥ मेघवदुत्थानं राजकार्याणामन्यत्र च

शत्रोः सन्धिविग्रहाभ्याम् ॥ ६२ ॥ द्वेषीभावं गच्छेद् यदन्योवरयमात्मना सहात्महेतुः ॥ ६३ ॥

अथे—शक्तिहीन विजिगीषु शक्तिशाली का ही आश्रय लेवे, शक्तिहीन (निधेल) का नहीं, क्योंकि जो विजिगीषु बलिष्ठ शत्रु के आक्रमण के भय से बलहीन का आश्रय लेता है, उसका उसी प्रकार हानि होती है, जिस प्रकार हाथा द्वारा होने वाले उपद्रव के डर से एरण्ड पर चढ़ने वाले मनुष्य की तत्काल हानि होता है । अर्थात् जिस प्रकार हाथा के आक्रमण के भय से बचाव करने वाला निम्सार एरण्ड के वृक्ष पर चढ़ने से एरण्ड के साथ २ पृथ्वी पर गिर जाता है और पश्चात् हाथी द्वारा नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार बलवान् शत्रु के आक्रमण के डर से बचने वाला विजिगीषु शक्तिहीन का आश्रय लेने से उस के साथ २ नष्ट कर दिया जाता है—बलिष्ठ शत्रु द्वारा मार दिया जाता है । सारांश यह है कि एरण्ड के समान निष्कार (शक्तिहीन) के आश्रय से भविष्य में होने वाला अनर्थ तत्काल हो जाता है ॥ ५७ ॥

१ तथा च भागुरिः—गुणयुक्तोऽपि भृशलोऽपि यायाद्विद्विषोपरि ? यद्येतेन हि राष्ट्रस्य वदवः शत्रवोऽपरे ॥ १ ॥

२ तथा च विदुरः—य एव यत्नः कर्त्तव्यः परराष्ट्रविमर्दने । य एव यत्नः कर्त्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ २ ॥

३ तथा च गुरुः—स्वायत्त शक्तिहीनस्तु विजिगीषु हि वैरिणः । संश्रयीव तदा सान्धं यत्नाय दयसं वच्यते ॥ ३ ॥

भागुरि^१ ने भी शक्तिहीन के आश्रय से विजिगीषु की इसी प्रकार हानि बताई है ॥ १ ॥

शत्रु द्वारा सताया गया विजिगीषु जब अपने समान शत्रु द्वारा सताये हुये अन्य राजा का आश्रय लेता है, तो वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार नदी में बहने या डूबने वाला दूसरे बहने या डूबने वाले व्यक्ति का आश्रय लेने से नष्ट हो जाता है । अतः स्थिर (शत्रु-परिग्रह-क्षीणशक्ति) को स्थिर का ही आश्रय लेना चाहिये, अस्थिर का नहीं ॥ ५८ ॥

नारद^२ ने भी क्षीणशक्ति वाले का आश्रय लेने से इसी प्रकार हानि बताई है ॥ १ ॥

स्वाभिमानी को मर जाना अच्छा, परन्तु पराई इच्छापूर्वक अपने को बेचना अच्छा नहीं, अतः स्वाभिमानी को शत्रु के लिये आत्मसमर्पण करना उचित नहीं ॥ ५९ ॥

नारद^३ ने भी शत्रु को आत्मसमर्पण करने की अपेक्षा स्वाभिमानी के लिये मृत्यु प्राप्त करना ही अधिक श्रेष्ठ बताया है ॥ १ ॥

यदि विजिगीषु का भविष्य में कल्याण निश्चित हो तो उसे किसी विषय में शत्रु की अधोनता स्वीकार करना श्रेष्ठ है ॥ ६० ॥

हारीत^४ ने भी उक्त प्रयोजन-वश शत्रु संश्रयको श्रेयस्कर बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार खजाना मिलने पर उसी समय उसे ग्रहण किया जाता है, उसमें समय का उत्सर्जन नहीं किया जाता उसी प्रकार राजसेवकों को भी राजकीय कार्यों के सम्पादन करने में समय नहीं चूकाना चाहिये, किन्तु तत्काल सम्पन्न कर लेना चाहिये ॥ ६१ ॥

गौतम^५ ने भी राजसेवकों का यही कर्त्तव्य बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार नभ मण्डलमें मेघ (बादल) अचानक ही उठ जाते हैं, उसी प्रकार राजकीय कार्यों की उत्पत्ति अचानक ही हुआ करती है, अतएव सन्धि व विग्रह को छोड़ कर अन्य राजकीय कार्यों को सम्पन्न करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ ६२ ॥

गुरु^६ ने भी सन्धि विग्रह को छोड़कर अन्य राजकीय कार्य मेघ सदृश अचानक प्राप्त होने वाले व तत्काल करने योग्य बताये हैं ॥ १ ॥

जब विजिगीषुको यह मालूम हो जावे कि आक्रमणकारीका शत्रु उसके साथ युद्ध करनेको तैयार है, (दोनों शत्रु परस्परमें युद्ध कर रहे हैं) तब इसे द्वैधीभाव (वज्रिष्ठ से सन्धि व निर्बलसे युद्ध) अवश्य करना चाहिये ॥ ६३ ॥

१ तथा च भागुरिः—सर्वज्ञाद्यस्य बलाहीनं यो बलेन समाश्रयेत् । स तेन सह नश्येत् पर्येषदाश्रयो गजः ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—बलं बलाधिनेनैव सह नश्यति निश्चितं । नीयमानो यथा नष्टा नीयमानं समश्रितः ॥ १ ॥

३ तथा च नारदः—वरं वनं वरं मृत्युः साहंकारस्य भूपतेः । न शक्नोः संश्रयाद्वाज्यं.....कार्यं कथंचन ॥ १ ॥

४ तथा च हारीतः—परिणामं शुभं ज्ञात्वा शत्रुजः संश्रयोऽपि च । कस्मिंश्चिद्विषये कार्यः सद्यः न कथंचन ॥ १ ॥

५ तथा च गौतमः—निधानवर्शने यद्वत्कालचेपो न कायेते । राजकृत्येषु सर्वेषु तथा कार्यः सुसेवकैः ॥ १ ॥

६ तथा च गुरुः—राजकृत्यमचिन्त्यं यदकस्मादेव जायते । मेघवद् दृष्ट्वाकार्यं सुवर्त्यैकं सन्धिविग्रहं ॥ १ ॥

गर्ग^१ ने भी द्विधीभाव करने का यही मौका बताया है ॥ १ ॥

दोनों बलिष्ठ विजिगीषुओं के मध्यवर्ती शत्रु, सीमाधिपति प्रति विजिगीषु का कर्त्तव्य, भूमिफल (धान्यादि) देने से लाभ व भूमि देने से हानि, चक्रवर्ती होने का कारण तथा वीरता से लाभ—

बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिंहमध्यास्थितः करीव भवति सुखसाध्यः ॥ ६४ ॥ भूम्यर्थिनं भूफलप्रदानेन संदध्यात् ॥ ६५ ॥ भूफलदानमनित्यं परेषु भूमिर्गता गतैव ॥ ६६ ॥ अवज्ञयापि भूमावारोपितस्तरुर्भवति वद्धतलः ॥ ६७ ॥ उपायोपपन्नधिकमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः ॥ ६८ ॥ न हि कुलोगता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा ॥ ६९ ॥

अर्थ—दोनों विजिगीषुओं के बीच में घिरा हुआ शत्रु, दो शेरों के बीच में फंसे हुये हाथी के समान सरलता से जीता जा सकता है ॥ ६४ ॥

शुक^२ ने भी दोनों विजिगीषुओं से आक्रान्त शत्रु को सुखसाध्य बताया है ॥ १ ॥

जब कोई सीमाधिपति शक्तिशाली हो और वह विजिगीषु की भूमि ग्रहण करने का इच्छुक हो तो उसे भूमि से पैदा होने वाली धान्य ही देकर उससे सन्धि करलेनी चाहिये, न कि भूमि देकर ॥ ६५ ॥

गुरु^३ ने भी शक्तिशाली सीमाधिपति के लिये भूमि न देकर उससे उत्पन्न होने वाली धान्य देने को कहा है ॥ १ ॥

क्योंकि भूमिमें उत्पन्न होने वाली धान्य विनश्वर होने के कारण शत्रु के पुत्र-पौत्रादि द्वारा नहीं भोगी जा सकती, जब कि भूमि एकवार हाथ से निकल जाने पर पुनः प्राप्त नहीं हो सकती ॥ ६६ ॥

गुरु^४ ने भी बलिष्ठ शत्रुभूत राजा को भूमि को छोड़ कर उससे उत्पन्न हुई धान्यादिका देना कहा है

जिस प्रकार तिरस्कारपूर्वक भी आरोपण किया हुआ वृक्ष पृथ्वी पर अपनी जड़ों के कारण से ही फैलताहै, उसी प्रकार विजिगीषु द्वारा दो हुई पृथिवी को प्राप्त करने वाला सीमाधिपति भी दृढमूल (शक्तिशाली) हो कर पुनः उसे नहीं छोड़ता ॥ ६७ ॥

रैभ्य^५ विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

साम-दानादि नैतिक उपायों के प्रयोग में निपुण, पराक्रमी व जिससे अमात्य-आदि राज-कर्मचारीगण एवं प्रजा अनुरक्त हैं, ऐसा राजा अल्प देश का स्वामी होने पर भी चक्रवर्ती के समान निर्भय

१ तथा च गर्गः—यद्यसौ सन्धिमवादातुं युद्धाय कुर्वते क्षणं । निरचयेन तदा तेन सह सन्धिरस्तथा रथम् ॥ १ ॥

२ तथा च शुकः—सिंहयोर्मध्ये यो हस्ती सुखसाध्यो यथा भवेत् । तथा सीमाधिपोऽन्येन विगृहीतो वशो भवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—सीमाधिपो बलोपेतो यदा भूमिं प्रयाचते । तदा तस्मै फलं देयं भुमेनैव धरा निजाम् ॥ १ ॥

४ तथा च गुरुः—भूमिपस्य न दातव्या निजा भूमिर्विजयीतः । स्तोकापि वा भयं केत् स्यान्नास्मादेव च तत्कलम् ॥ १ ॥

५ तथा च रैभ्यः—लीलथापि कितौ वृक्षः स्थापितो वृद्धिमाप्नुयात् । तस्या गुणेन नो भूपः कस्मादिह न वर्धते ॥ १ ॥

माना गया है ॥ ६८ ॥ कुलपरम्परा से चली आनेवाली पृथिवी किसी राजा की नहीं होती, बल्कि वह नीर पुरुष द्वारा ही भोगने योग्य होती है, अतः राजा को पराक्रमशाली होना चाहिये ॥ ६९ ॥

शुक्र^१ ने भी कहा है कि वंशपरंपरा से प्राप्त हुई पृथिवी वीरों की है, आयरों की नहीं ॥ १ ॥

सामआदि चार उपाय, सामनीतिका भेदपूर्वक लक्षण, आत्मोपसन्धान रूप सामनीतिका स्वरूप, दान, भेद और दंडनीति का स्वरूप, शत्रु के दूत के प्रति कर्त्तव्य व उसका दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण एवं शत्रु के निकट सम्बन्धी के गृहप्रवेश से हानि—

सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः ॥७०॥ तत्र पंचविधं साम, गुणसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानं परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपसन्धानमिति ॥७१॥ यन्मम द्रव्यं तद्व्यवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपसन्धानं ॥७२॥ बह्वर्थसंरक्षणायान्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानं ॥७३॥ योगतीक्ष्णगूढपुरुषोभयवेतनैः परवलस्य परस्पर्शकाजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ॥७४॥ वधः परिवलेशोऽर्थहरणं च दण्डः ॥७५॥ शत्रोरागतं साधु परीक्ष्य कन्याणवुद्धिमनुगृह्णीयात् ॥७६॥ किमरणयजमौषधं न भवति चेमाय ॥७७॥ गृहप्रविष्टकपोत इव स्वल्पोऽपि शत्रुसम्बन्धो लोकस्तत्रमुद्रासयति ॥७८॥

अर्थ—शत्रुभूत राजा व प्रतिकूल व्यक्ति को वश करने के चार उपाय हैं १-साम, २-उपप्रदान, ३-भेद व ४-दंडनीति ॥७०॥ सामनीतिके पांच भेद हैं—१-गुणसंकीर्तन—प्रतिकूल व्यक्ति को अपने वशीभूत करने के लिये उसके गुणों का उसके समक्ष कथन द्वारा उसकी प्रशंसा करना, २-सम्बन्धोपाख्यान—जिस उपायसे प्रतिकूल व्यक्ति की मित्रता बढ़ होती हो, उसे उसके प्रति कहना; ३-विरुद्ध व्यक्ति की भलाई करना, ४-आयतिप्रदर्शन—‘हम लोगों की मैत्री का परिणाम भविष्य जीवन को सुखी बनाना है’ इस प्रकार प्रयोजनार्थी को प्रतिकूल व्यक्ति के लिये प्रकट करना, और ५-आत्मोपसन्धान—‘मेरा धन आप अपने कारों में उपयोग कर सकते हैं’ इस प्रकार दूसरे को वश करने के लिये कहना ॥७१॥

व्यास ने भी कहा है कि जिस प्रकार कर्कश वचनों द्वारा सज्जनोंके चित्त विकृत नहीं होते, उसी प्रकार सामनीति से प्रयोजनार्थी का कार्य विकृत न होकर सिद्ध होता है, और जिस प्रकार शक्कर द्वारा शान्त होने वाले पित्त में पटोल (ओषधि विशेष) का प्रयोग व्यर्थ है, उसी प्रकार सामनीति से सिद्ध होने वाले कार्य में दंडनीति का प्रयोग भी व्यर्थ है ॥२॥

शत्रुको वश करने के अभिप्रायसे उसे अपनी सम्पत्तिका उपभोग करनेके लिये त्रिजिगीषु द्वारा इस प्रकार का अधिकारसा दे दिया जाता है ‘कि यह सम्पत्ति मेरी है, इसे आप अपनी इच्छानुसार कार्यों में

१ तथा च शुक्रः—कातराणां न वश्या स्वाद्यद्यपि स्यात् कामगता । परकीयापि चात्मोया विक्रमो यस्य भूपतेः ॥ १ ॥

२ तथा च व्यासः—साम्ना यरिसद्विदं कृत्यं ततो नो विकृतिं यजेत् । सज्जनानां यथा चित्तां दुरुक्तैरपि कीर्तितैः ॥ १ ॥

साम्नेव यत्र सिद्धिर्न दण्डो बुधेन विनियोज्यः । पित्तं यदि शर्करया शान्भवति तर्हि पटोलेन ॥ २ ॥

लगा सकते हैं 'इसे 'आत्मोपसन्धान नाम की सामनीति कहते हैं ॥७२॥ जहां पर विजिगीषु शत्रु से अपनी प्रचुर सम्पत्ति के संरक्षणार्थ उसे थोड़ा सा धन देकर प्रसन्न कर लेता है उसे 'उपप्रदान' (दान) नीति कहते हैं ॥७३॥

शुक्र^१ ने भी शत्रु से प्रचुर धन की रक्षार्थ उसे थोड़ा सा धन देकर प्रसन्न करने को 'उपप्रदान' कहा है ॥१॥

विजिगीषु अपने सैन्यनायक, तोषण व अन्य गुप्तचर तथा दोनों तरफसे घेतन पाने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रुकी सेनामें परस्पर एक दूसरे के प्रति सन्देह वा विस्कार उत्पन्न कराकर भेद (फूट) डालने को भेद नीति कहा है ॥७४॥

शुक्र^२ ने भी उक्त उपायद्वारा शत्रु-सेना में परस्पर भेद डालने को 'भेदनीति' कहा है ।

शत्रु का बध करना, उसे दुःखित करना या उसके धन का अपहरण करना दंडनीति है ॥७५॥

जैमिनि^३ विद्वान ने भी दंडनीति की इसी प्रकार व्याख्या की है ॥१॥

शत्रु के पास से आये हुए मनुष्य की सूक्ष्म बुद्धि से परीक्षा करने के उपरान्त ही विश्वस्त सिद्ध होने पर उसका अनुग्रह करना चाहिये, अपरीक्षित का नहीं ॥७६॥

भागुरि^४ ने भी शत्रु के यहां से आये हुए व्यक्ति की परीक्षा करने के बारे में संकेत किया है ॥१॥

क्या जंगल में उत्पन्न हुई औषधि शारीरिक आरोग्यता के लिये नहीं होती ? अवश्य होती है वसी प्रकार शत्रु के यहां से आया हुआ व्यक्ति भी कल्याणकारक हो सकता है ॥७७॥

गुरु^५ ने भी कहा है कि 'जिस प्रकार शरीरवर्ती व्याधि पीड़ाजनक और जंगल में पैदा होनेवाली औषधि हितकारक होती है वसी प्रकार अहित-चिन्तक धन्धु भी शत्रु व हितचिन्तक शत्रु भी बन्धु माना जाता है ॥१॥

जिस प्रकार गृह में प्रविष्ट हुआ कवचर उसे ऊजड़ बना देता है, वसी प्रकार शत्रु, बलका छोटा सा भी व्यक्ति विजिगीषु के तन्त्र (सैन्य) को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है ॥७८॥

वादनारायण^६ ने भी शत्रुबलके साधारण व्यक्तिका गृहप्रवेश राजतन्त्रका नाशक बताया है ॥१॥

उत्तम लाभ, भूमि-लाभ की श्रेष्ठता, मैत्री भाव को प्राप्त हुए शत्रुके प्रति कर्त्तव्य, विजिगीषु की निन्दा का कारण, शत्रु चेष्टा जानने का उपाय, शत्रु निग्रह के उपरान्त विजिगीषु का कर्त्तव्य, प्रतिद्वन्द्वी के विश्वास के साधन व शत्रु पर चढ़ाई न करने का अवसर—

मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरलाभः श्रेयान् ॥७९॥ हिरण्यं भूमिलाभादुभयति मित्रं च

१ तथा च शुक्रः—बद्धार्थः स्वल्पमित्येव यदा शत्रोः प्ररुते । परप्रसादनं तत्र प्रोक्तं तस्य विश्वस्यैः ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—सैन्यं विषं तथा गुलाः पुरुषाः सेवकात्मकाः । सैन्य भेदः प्रकर्त्तव्यो मिथः सैन्यस्य भूषतेः ॥ १ ॥

३ तथा च जैमिनिः—बधस्तु क्रियते यत्र परिकलेशोऽपि रिपोः । अर्थस्य ग्रहणं मुरिर्दण्डः स परिकीर्तितः ॥ १ ॥

४ तथा च भागुरिः—शत्रोः सकाशतः प्राप्तं सेवार्थं शिष्टसम्मतं । परीक्षा तस्य कृत्वाथ प्रसादः क्रियते ततः ॥ १ ॥

५ तथा च शुक्रः—परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः । अहितो देहज्ञो व्याधिर्हितमारय्यमौषधं ॥ १ ॥

६ तथा च वादनारायणः—शत्रुपक्षमयो लोकः स्तोकोऽपि गृहमावि शेत् । यदा तदा समाधत्ते तद्गृहं च कपोतवत् ॥ १ ॥

हिरण्यलाभादिति^A ॥८०॥ शत्रोर्मित्रत्वकारणं विमृश्य तथाचरेद्यथा न वञ्च्यते ॥८१॥
गूढोपायेन सिद्धकार्यस्यासावेति-कस्यां सधौ शक्तां पुरुषादे च करोति ॥ ८२ ॥
गूहीतपुत्रदारानुभयवेतनान् कुर्यात् ॥ ८३ ॥ शत्रुमपकृत्य भूदानेन तद्दायादानान्पनः
सफलयेत् क्लेशयेद्वा ॥ ८४ ॥ परविश्वासजनने सत्यं शपथः प्रतिभूः प्रधानपुरुषपरिग्रहो
वा हेतुः ॥ ८५ ॥ सहस्रं कीयः पुरस्तात्लाभः शतैकीयः परचात्कोप इति न यायात् ॥८६॥
सूचीमुखा ह्यनर्था भवन्त्यल्पेनापि सूचीमुखेन महान् दोरकः प्रविशति ॥ ८७ ॥

अर्थ—मित्र, सुवर्ण व भूमि-लाभ इन लाभों में उत्तरोत्तर—आगे आगे की वस्तु - का लाभ कल्याण कारक है अर्थात्—मित्र की प्राप्ति श्रेष्ठ है व उसको अपेक्षा सुवर्ण को एवं सुवर्ण-प्राप्ति की अपेक्षा भूमि की प्राप्ति सर्वश्रेष्ठ है, अतः विजिगीषु को भूमि की प्राप्ति करनी चाहिये ॥१॥

सगं^१ ने भी मित्र लाभ से स्वर्णलाभ व स्वर्ण लाभ से भूमिलाभ का सर्वश्रेष्ठ बताया है ॥१॥

क्योंकि भूमि की प्राप्ति से सुवर्ण प्राप्ति व सुवर्ण प्राप्ति से मित्रप्राप्ति होती है ॥८०॥

शुक^२ ने कोशाहन (दरिद्र) राजा को भूमि व मित्र का अभाव और कोशपुत्र को उक्त दोनों की प्राप्ति बताया है ॥१॥

विवेकी पुरुष शत्रु की मित्रता का कारण सोच समझकर उससे ऐसा व्यवहार करे, जिससे कि वह उसके द्वारा ठगाया न जा सके ॥८१॥

शुक^३ ने कहा है कि बिनाविचारे शत्रु से मित्रता करनेवाला निस्सन्देह उससे ठगाया जाता है ।

संधि को प्राप्त हुए जिस शत्रु राजा द्वारा गुप्त रीति से विजिगीषु का प्रयोजन सिद्ध किया गया है उसका यदि यह उचित सन्मानादि नहीं करता तब उसके मनमें इसके प्रति अनेक प्रकार की आशंकाएँ उत्पन्न होती हैं । अर्थात् यह ऐसा आशंका करता है कि मेरे द्वारा उपकृत यह विजिगीषु पहिले तो मुझ से अनुकूल हुआ मेरा उचित सन्मान करता था, परन्तु अब मुझसे प्रतिकूल रहता है, इससे मलम होता है कि इसकी मेरे शत्रु से मैत्री हो चुकी है इत्यादि । एवं जनता में इस प्रकारकी निन्दा का पात्र होता

^A इसके पश्चात् मु० सू० पुस्तकमें स्वयमसहायश्चेत् भूमिहिरण्यलाभायाजं भवति तदा मित्रं गरीयः ॥ १ ॥ सहानु-
यायि मित्रं स्वयं वा स्यात्तु भूमिमित्राभ्यां हिरण्यं गरीयः ॥ २ ॥ यह विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि सहायक
से हीन राजा पृथिवी व स्वर्ण की प्राप्ति करने में असमर्थ होता है । अतः उक्त दोनों लाभोंमें मित्रका लाभ
श्रेष्ठ है सहा साध देने वाला मित्र वा स्वयं स्थिरशील भूमि की प्राप्ति इत्याधीन है, अतः भूमि व मित्र-लाभ से
सुवर्ण लाभ श्रेष्ठ है ॥ १-२ ॥

१ तथा च गार्ग्यः—उत्तमो मित्रलाभस्तु हेमलाभस्ततो यरः । तस्माच्छ्रेष्ठतरं चैव भूमिलाभं समाधयेत् ॥ १ ॥

२ तथा च शुकः—न भूमिर्न च मित्राणि कोशनद्वयस्य सूपतेः । द्वितीयं तद्वदेत्सद्यो यदि कोशो भवेद्गृहे ॥१॥

३ तथा च शुकः—पर्यालोचं विना कुर्याद्यो मैत्री रिपुणा सह । स वंचनामवा नोति नश्य पाश्चादमंशयः ॥ १ ॥

कि अमुक शत्रु राजा द्वाया यह विजिगीषु रक्षित व शक्तिवर्द्धित किया गया तथापि यह उसकी भक्तिसेत्रा आदि नहीं करता, इससे यह बड़ा कृतघ्न है—इत्यादि । अतः विजिगीषु को उसके प्रयोजन सिद्ध करने वाले की सेवा—आदि करनी चाहिये ॥२२॥

गुरु^१ ने भी कहा है कि 'जिसकी सहायता से राजा की वृद्धि हुई हो, उसको उसे सन्तुष्ट करना चाहिये, अन्यथा उसके मन में शंका उत्पन्न होती है व उसके साथ युद्ध करनेमें निन्दाका पात्र होता है ॥२३॥

विजिगीषु दोनों पक्ष से वेतन पानेवाले गुप्तचरों के स्त्री पुत्रों को अपने यहां सुरक्षित रखकर उन्हें शत्रु के देश में भेजे, ताकि वे वापिस आकर इसे शत्रु की घेरा निवेदन करें ॥२४॥

जैमिनि^२ ने भी दोनों पक्षों से वेतन पानेवाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु की घेरा जानने का संकेत किया है ॥३॥

विजिगीषु शत्रु का अपकार करके उसके शक्तिहीन कुटुम्बियों के लिये उसकी भूमि प्रदान कर उन्हें अपने अधीन बनावे अथवा यदि वे बलिष्ठ हों तो उन्हें क्लेशित करे ॥२४॥

नारद^३ ने भी शत्रु के कुटुम्बियों के साथ ऐसाही, बर्ताव करने का निर्देश किया है ॥२॥

विजिगीषु अपने प्रतिद्वन्दी क । विश्वास उसी हालत में करे, जब वह शपथ खाये या गवाही उपस्थित करे अथवा उसके सचिव आदि प्रधानपुरुष उसके द्वारा अपने पक्षमें मिला लिये जावें ॥२५॥

गौतम^४ का उद्धरण भी शत्रु के विश्वास करने के विषयमें उक्त साधनों का निर्देश करता है ॥१॥

शत्रु देश पर आक्रमण करनेसे वहाँ से हजार सुवर्णमुद्राओं का लाभ होने पर भी यदि अपने देशका सौ मुद्राओंका भी नुकसान होता हो तो राजाका कर्तव्य है कि वह शत्रुपर आक्रमण न करे ॥२६॥

भृगु^५ ने भी लिखा है कि शत्रु देश पर आक्रमण करने से बहुमूल्य लाभ हो पर साथ में अपना व अपने देश का थोड़ा सा भी नुकसान हो तो शत्रु पर आक्रमण नहीं करना चाहिये ॥२॥

विजिगीषु के ऊपर आनेवाली अपत्तियाँ प्रजा-आदि से होनेवाले पीठ पीछे के थोड़े से कोप से होती हैं क्योंकि जिसप्रकार सुई से वस्त्र में छिद्र होजाये के उपरान्त उसमें से बहुत सा डोरा निकल जाता है, उसीप्रकार देश में पीठ पीछे थोड़ा सा उद्वेग खड़ा हो जाने पर राजा को महान् अपत्तियों का सामना करना पड़ता है अतः ऐसे अवसर पर विजिगीषु शत्रु पर बढ़ाई करने प्रस्थान न करे ॥२७॥

वाङ्मरायण^६ के श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

१ तथा च गुरुः—बुद्धिं गच्छेद्यतः पारवर्त्तनं प्रयत्नेन तोषयेत् । अन्यथा जायते शंका रणगोपादि गर्ह्यता ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—गृहीतपुत्रप्राप्तौ च कृत्वा बोभयवेतनान् । प्रेषयेद्द्विरित्युः स्थाने मेन तत्प्रेषितं क्षमेत् ॥ ६ ॥

३ तथा च नारदः—साधयित्वा परं युद्धे तद्भूमिस्तस्य गोत्रिणः । दातव्याः भवन्ति यः स्वाक्रान्त्यस्य तु कथंचन ॥ १ ॥

४ तथा च गौतमः—शपथैः कोशपानेन महापुरुषवाक्यतः । प्रतिभूरिष्ठसंग्रहादिभिरौचित्यवशात् प्रजेत् ॥ १ ॥

५ तथा च भृगुः—पुरस्ताद्भूरिक्ताभेऽपि परचास्कोपोऽल्पको यदि । तद्यात्रा नैव नृकृतस्या तत्स्वल्पोऽप्यधिको भवेत् १

६ तथा च वाङ्मरायणः—स्वल्पेनापि न गन्तव्यं पश्चात्कोपेन भूभुजा । अतः स्वल्पोऽपि सदाह्यः स बुद्धिं परमां व्रजेत् ६

विजिगीषुका सर्वोत्तम लाभ, अपराधियों के प्रति क्षमा करने से हानि, वा उनके निग्रह से लाभ नैतिक पुरुषका कर्त्तव्य, अत्रोत्तर होने से हानि, दूषित राजसभा, गृहमें आये हुए धन के विषयमें व धनार्जन का उपाय—

न पुण्यपुरुषापचयः क्षयो हिरण्यस्य धान्यापचयो व्ययः शरीरस्यात्मनो लाभविच्छेदेन
सामिप्यक्रव्याद इव न परैरवर्धयते ॥ ८८ ॥ शतस्यापराधिषु वा क्षमा सर्वा तस्यात्मनस्तिर-
स्कारः ॥ ८९ ॥ अतिक्रम्यवर्तिषु निग्रहं कर्तुः सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायः सर्वेऽपि विभेति जनः
॥ ९० ॥ अनायकां बहुनायकां वा सभां प्रविशेत् ॥ ९१ ॥ गणपुरुषचरिणः सिद्धे कार्ये
स्वस्य न किञ्चिद्भवत्यसिद्धे पुनः ध्रुवमपवादः ॥ ९२ ॥ सा गोष्ठी न प्रस्तोतव्या यत्र
परेषामपायः ॥ ९३ ॥ गृहागतमर्थं केनापि कारणेन नावधोरयेद्यदैवार्थागमस्तदैव सर्वातिथि
नक्षत्रग्रहवर्त्त ॥ ९४ ॥ गजेन गजधन्धनमिवार्थेनार्थोपार्जनम् ॥ ९५ ॥

अर्थ—विजिगीषु को इस प्रकारके लाभकी इच्छा करनी चाहिये, जिसमें उसके अमात्य व सेनाध्यक्ष आदि प्रधान पुरुष कोश, अन्न तथा उसके जीवन का नाश न होने पावे । एवं जिस प्रकार मांस खण्ड को धारण करनेवाला पक्षी दूसरे मांसभक्षी पक्षियों द्वारा रोका जाता है, वैसे ही प्रकार यह भी शत्रुभूत राजाओं द्वारा न रोका जा सके ॥ ८८ ॥

शुक* ने भी विजिगीषु को इसी प्रकार का लाभ वितरन करने के विषय में लिखा है ॥ १ ॥

जो राजा शक्तिशाली होकर अपराधियों को अपराधातुक्कृत व दंडित न कर क्षमा धारण करता है, उसका तिरस्कार होता है, अतः राजा को अपराधियों के प्रति क्षमा धारण नहीं करनी चाहिए ॥ ८९ ॥

बादरायण* ने भी अपराधियों के प्रति क्षमा धारण करने वाले राजा का शत्रुक्रुत पराजय निर्देश किया है ॥ १ ॥

अपराधियों का निग्रह करने वाले राजा से सभी लोग अपने नाश की आशंका करते हुए सर्प के समान डरते हैं । अर्थात् कोई भी अपराध करने की हिम्मत नहीं करता ॥ ९० ॥

भागुरि* ने भी दुष्टनिग्रह करने वाले राजा से डरने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

बुद्धिमान पुरुष को ऐसी सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिये जिसमें कोई नायक (नेता) न हो वा बहुत से नायक हों ॥ ९१ ॥ जन समुदाय या राजसभा आदि में विवेकी पुरुष को अमसर—मुख्य होना व्यर्थ है क्योंकि प्रयोजन सिद्ध होनेपर मुख्यव्यक्ति को तो कोई लाभ नहीं होता परन्तु यदि प्रयोजन सिद्ध न हुआ तो सब लोग मुख्य की ही स्थिति निश्चय से निन्दा करते हैं, कि इसी मूर्ख ने विरुद्ध बोलकर हम लोगों का प्रयोजन नष्ट कर दिया ॥ ९२ ॥

१ तथा च शुकः—स्वतंत्रस्य क्षयो न न स्यात्तथा सैवात्मनोऽपरः । येन क्षामेन नाभ्यर्थ्य रुध्यते तं विचिन्तयेत् ॥ १ ॥

२ तथा च बादरायणः—शक्तिमानतिरिप्य यः कुर्यादपराधिषु च क्षमा । स पराभवमाप्नोति सर्वेषामपि वैरिणाम् ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—अपराधिषु यः कुर्यान्निग्रहं दारुणं नृपः । तस्माद्विभेति सर्वोऽपि सर्वसंस्पर्शनादिषु ॥ १ ॥

नारद^१ ने भी जन समुदाय का मुखिया होना निरर्थक बताया है ॥१॥

यह सभा प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती—निष्ठ है जिसमें प्रयोजन सिद्धि के लिये आये हुए प्रयोजनार्थी पुरुष को पक्षपात आदि के कारण हानि होती है ॥ ६३ ॥

जैमिनि^२ ने भी पक्षपात वश प्रयोजनार्थी का घात करने वाली सभा को स्थग्य कहा है ॥ १ ॥

गृह में पदार्पण की हुई लक्ष्मी-सम्पत्तिका कभी भी किसी कारण से— तिथि आदि अशुभ जानकर-तिरस्कार नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे तत्काल ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि जिस समय लक्ष्मी का आगमन होता है उस समय की तिथि व नक्षत्र शुभ और प्रदं बलिष्ठ गिने जाते हैं ॥ ६४ ॥

गर्ग^३ ने भी लक्ष्मी की प्राप्ति का दिवस शुभ बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार हाथों से हाथी बांधा जाता है, उसी प्रकार धन से धन कमाया जाता है ॥ ६५ ॥

जैमिनि^४ ने भी धनोपाजन का यही उपाय निर्दिष्ट किया है ॥ १ ॥

भगवद्गीता का निर्णय, पशुभ्यः राजसीत्ति वाले व पर प्रणेत्य राजा का स्वरूप, स्वामी की आज्ञा का पालन, राजा द्वारा प्राप्त व दूषितधन तथा धन-प्राप्ति—

न केवलाभ्यां बुद्धिपौरुषाभ्यां महतो जनस्य सम्भूयोत्थाने संघातविधातेन दण्डं प्रणयेच्छतम-
बध्यं सहस्रमदण्ड्यं न प्रणयेत्^A ॥६६॥ सा राजन्वती भूमिर्यस्यां नासुरवृत्ती राजा ॥६७॥
परप्रणेशा राजाऽपरीक्षितार्थमानप्राणद्वरोऽसुरवृत्तिः ॥ ६८ ॥ परकोपप्रसादानुवृत्तिः परप्रणेशः
॥ ६९ ॥ तत्स्वामिच्छन्दोऽनुवर्तनं श्रेयो यथा भवत्यायत्यामहिताय ॥ १०० ॥ निरनुबन्ध-
मर्थानुबन्धं चाथेमनुगृहीयात् ॥ १०१ ॥ नासावर्थो धनाय यत्रायत्या महानर्थानुबन्धः
॥ १०२ ॥ लाभस्त्रिविधो नवो भूतपूर्वः ऐश्वर्यश्च ॥ १०३ ॥

अर्थ—राजा को अपनी बुद्धि व पौरुष के गर्व में आकर एकमत रखने वाले उत्तम पुरुषों के समूह को अग्रगण्य बता कर दण्डित नहीं करना चाहिये, क्योंकि एक ही बात कहने वाले सौ आदमी बंध के अयोग्य व हजार आदमी दण्ड के अयोग्य होते हैं, अतः उन्हें दण्ड न देना चाहिये ॥ ६८ ॥

१ तथा च नारदः—बहुमामप्रगो भूत्वा यो ब्रूते न नतं परः । तस्य सिद्धौ नो लाभः स्यादसिद्धौ जनवाध्यता ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—समाया पक्षपातेन कार्यार्थी यत्र हन्यते । न स्या सभा भवेच्छस्या शिष्टैस्समाजया सुदूरतः ॥ ३ ॥

३ तथा च गर्गः—गृहमन्तरं चित्तस्य दिनशुद्धिं न चिन्तयेत् । आगच्छति यदा दितं तदैव सुशुभं दिनं ॥ १ ॥

४ तथा च जैमिनिः—अथैव अर्थे वृत्त्यन्ते गतैरिव महा राजः । राजा गार्जैरिना न ह्युत्थो अर्थैरिना तथा ॥ १ ॥

A सु० मू० मतिमें 'महतो जनस्य सम्भूयोत्थाने संघात विधातेन । दण्डं प्रणयेत् शतमदण्ड्यं सहस्रमदण्ड्यमिति' इस प्रकार का पाठान्तर वर्तमान है जिसका अर्थ यह है कि यदि कुछ लोग संगठित होकर यत्नावत करने उत्तर हुए हों, उस समय राजा को उन्हें भेद नीति द्वारा फोड़ फाड़ करके पृथक् २ करके सजा देनी चाहिये ।

शुक^१ ने भी उत्तम पुरुषों का समूह राजा द्वारा बुद्धि व पौरुष के गर्व-वश दंड देनेके अयोग्य बताया है ॥ १ ॥

त्रिभूमि का अधीश्वर राजसी वर्ताव करने वाला (अपराध से प्रतिकूल अत्यधिक दंड देनेवाला व व्यसनी-आदि दोष युक्त) नहीं है बल्कि नीतिज्ञ व सदाचारी है वह (भूमि) राजन्वसी (प्रशस्त राजा से युक्त) कही जाती है ॥ ६७ ॥

गुरु^२ ने भी नीतिज्ञ व सदाचारी तरेण से युक्त पृथिवी को श्रेष्ठ व उन्नतिशील कहा है ॥ १ ॥

बिना बिचारे दूसरे के मतानुसार कार्य करने वाला और अपराधियों के अर्थमान व प्राणमान को न जानकर बिना सोचे समझे उनका प्राणघात करनेवाला—'अमुक अपराधी अपने अपराधानुकूल कानूनन कितने जुमाने, कितनी शारीरिक सजा के योग्य है? इत्यादि बिना सोचे समझे दूसरों के कहने मात्र से उनके धन, मान व प्राण लेने वाला (सौ रुपये जुमाने के योग्य अपराधी से हजार रुपये जुमाने में) लेनेवाला, तुच्छ दोषर फांसी देनेवाला राजा 'असुरवृत्ति' (राजसी वर्ताव करनेवाला) कहा गया है ॥ ६८ ॥

भागुरि^३ ने भी दूसरों के कहने मात्र से निरपराधियों के लिये भी कड़ी सजा दे कर पीड़ित करने वाले राजा को 'असुरवृत्ति' कहा है ॥ १ ॥

जो राजा दूसरों के कहने मात्र से ही बिना सोचे समझे जिस किसी के प्रति कुपित व प्रसन्न हो जाया करता है, उस 'परप्रणेय' कहा है ॥ ६९ ॥

राजगुरु^४ ने भी कहा है कि 'परप्रणेय राजा का राज्य चिरकालीन नहीं होता ॥ १ ॥'

सेवक को स्वामी की उसी आज्ञा का पालन करना श्रेयस्कर है, जिससे उसके स्वामी का भविष्य में अहित न हो सके ॥ १०० ॥

गर्ग^५ ने भी कहा है 'कि मन्त्रियों को राजा के प्रति परिणाम में कष्ट न देने वाला, प्रिय व श्रेयस्कर वचन बोलना चाहिये ॥ १ ॥'

राजा को प्रजा से इस प्रकार धन ग्रहण करना चाहिये जिससे प्रजा को पीड़ा व उस के धन की क्षति न हो। अथवा ऐसा अथ ही सकता है कि विवेकी पुरुष इस प्रकार से धन संचय करे, जिससे जनसाधारण को कष्ट न हो एवं भविष्य में धन प्राप्ति का संशय बना रहे ॥ १०१ ॥ भविष्य में महान् धनार्थ (राजदंडादि) उत्पन्न करने वाला अन्धधन-संचित धन स्थिरशाल नहीं होता। सारांश यह है कि चोरी आदि निन्द्य कर्म से जो धन संचय किया जाता है, वह राजाद्वारा पूर्व संचित धन के साथ जस्त

- १ तथा च शुकः—बुद्धिपौरुषगर्वेण दण्डदेष महाजनं । एकानुगामिकं राजा वदतु शत्रुपूर्वकम् ॥ १ ॥
- २ तथा च गुरुः—यस्यां राजा सुहृत्तः स्यात् सौम्यवृत्तः सर्वैष हि । सा भूमिः शोभते निर्व्ये सदा बुद्धिः च गच्छति ॥ १ ॥
- ३ तथा च भागुरिः—परवाक्यैर्नृपो यत्र सद्गुणं सुप्रपीकयेत् । प्रभूतेन तु दण्डेन सोऽसुरवृत्तिरुच्यते ॥ १ ॥
- ४ तथा च राजगुरुः—परप्रणेयो भूपालो न राज्यं कुर्वते चिरं । पितृपैवामहं चेत् स्वार्थिक पुनः परमृषं ॥ १ ॥
- ५ तथा च गर्गः—मन्त्रिभिस्तद्विषयं वाच्यं प्रभोः श्रेयस्करं च यत् । आवश्यकं कष्टं यच्च कार्यं तत्र कदाचन ॥ १ ॥

कर लिया जाता है, अतः नैतिक पुरुष को न्यायोचित साधनों द्वारा धनसंचय करना चाहिये ॥ १०२ ॥

अत्रि^१ ने भी अन्याय संचित धन राजा द्वारा पूर्वसंचित धन के साथ २ जन्तु किये जाने के विषय में लिखा है ॥ १ ॥

अर्थ लाभ (धन प्राप्ति) तीन प्रकार का है । १—नवीन—कृषि व व्यापारदि साधनों द्वारा नवीन धन की प्राप्ति, २—भूतपूर्व—पूर्व में उक्त साधनों द्वारा प्राप्त किया हुआ धन, ३—रिड्य—पिता वगैरह वरम्परा से प्राप्त किया हुआ धन, ये उक्त तीनों लाभ श्रेष्ठ हैं ॥ १०३ ॥

शुक्र^२ ने भी उक्त तीनों प्रकार का अर्थलाभ अवस्थाएँ बतलाई है ॥ १ ॥

३० युद्ध समुद्देश ।

मन्त्री व मित्र का दुषण, भूमि-रक्षार्थ विजिगीषु का कर्तव्य, शस्त्रयुद्ध का अवसर, बुद्धि-युद्ध व बुद्धि का माहात्म्य—

स किं मंत्री मित्रं वा यः प्रथममेव युद्धोद्योगं भूमित्यागं चोपदिशति, स्वामिनः सम्पादयति च महन्तमनर्थसंशयं ॥ १ ॥ संग्रामे को नामात्मवानादादेव स्वामिनं प्राणसन्देहतुलायामारोपयति ॥ २ ॥ भूम्यर्थं नृपाणां नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय ॥ ३ ॥ बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्ताः शस्त्रयुद्धमुपक्रमेत् ॥ ४ ॥ न तथेवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावतां प्रज्ञाः ॥ ५ ॥ दृष्टेऽप्यर्थे सम्भवन्त्यपराद्धेष्वनो धनुष्मतोऽदृष्टमर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ॥ ६ ॥ भूयते हि किल दूरस्थोऽपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेण माधवाय मालतीं साधयामास ॥ ७ ॥ प्रज्ञा समोषं शस्त्रं कुशलबुद्धीनां ॥ ८ ॥ प्रज्ञादृताः कुलिशदृता इव न प्रादुर्भवन्ति भूमिभृतः ॥ ९ ॥

अर्थ—यह मन्त्री व मित्र दोनों निरा—रात्र के समान हैं, जो रात्र द्वारा आक्रमण किये जाने पर अपने स्वामीको अधिकारमें कठकाश-झारक अन्य सन्धि आदि उपाय न बताकर पहिले ही युद्ध करनेमें अवसरशील होनेका अथवा भूमिका परित्याग कर दूसरी जगह भाग जानेका उपदेश देकर उसे महान् अनर्थ (प्राण सन्देह के लिये) में डाल देते हैं ॥ १ ॥

१ तथा अत्रिः—अन्याद्योपाजितं वित्तं यो गृहं समुपागच्छेत् । गृह्यते मृत्युना तस्य गृह्यतेन समन्वितम् ॥ १ ॥

२ तथा व शुक्रः—अपशितो नवोऽर्थः स्वात्सूतपूर्वस्तथापरः । पितृपितामहोऽभ्यस्तु तयो ज्ञानाः शुभाश्रयाः ॥ १ ॥

मर्ग^१ ने भी शत्रु के उपस्थित होने पर राजा को युद्ध व भाग जाने की सलाह देनेवाले सचिव को शत्रु कहा है ॥ १ ॥

कौन बुद्धिमान् सचिव अपने स्वामी को सबसे पहले युद्धमें प्रेरित कर उसे प्राण-संदेह रूप तराजू पर चढ़ायगा ? कोई नहीं । सारांश यह है कि शत्रु द्वारा हमला कियेजाने पर पूर्वमें मंत्री अपने स्वामी को संधि के लिये प्रेरित करे, उसमें असफल होने पर युद्ध के लिये प्रेरित करे ॥ २ ॥

गौतम^२ ने भी अन्य उपाय असफल होने पर युद्ध करने का संकेत किया है ॥ १ ॥

राजाओं की नीति व पराक्रम की सार्थकता अपनी भूमि की रक्षा के लिये होती है, न कि भूमि-त्याग के लिये, अतः उसका त्याग कर्तव्य-दृष्टि से किस प्रकार प्राण्य हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

शुकने^३ भी कहा है कि राजाओं को भूमि-रक्षार्थ अपने नीति व पराक्रम का उपयोग करते हुए प्राण्य जाने पर भी देशत्याग नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥

जब विजिगीष बुद्धि-युद्ध—सामादि उपाय के प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजय प्री प्राप्त करनेमें असमर्थ हो जाय, तब उसे शस्त्र-युद्ध करना चाहिये ॥ ४ ॥

मर्ग^४ ने भी बुद्धि-युद्ध निरर्थक होने पर शत्रु के साथ शस्त्र-युद्ध करने का संकेत किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार बुद्धिमानों की बुद्धियां शत्रु के उन्मूलन करनेमें समर्थ होती हैं उस प्रकार वीर पुरुष द्वारा प्रेषित प्राण समर्थ नहीं होते ॥ ५ ॥

गौतम^५ का उद्धरण भी तीक्ष्ण वाणों की अपेक्षा विद्वानों की बुद्धि को शत्रु-बन्धमें विशेष उपयोगी बताता है ॥ १ ॥

धनुर्धारियों के बाण निशाना साधकर चलाये जाने पर भी प्रत्यक्ष में वर्तमान लक्ष्य-मेष्ट करनेमें असफल हो जाते हैं परन्तु बुद्धिमान पुरुष बुद्धिबलसे बिना देखे हुए पदार्थ भी मलीभांति सिद्ध कर लेता है

शुक^६ का उद्धरण भी इसी प्रकार बुद्धि की अदृष्टकायमें सफलता उत्पन्न करने वाली बताता है ॥ १ ॥

महाकवि श्री भवभूति विरचित मालतीमाधव नामक नाटक में लिखा है कि माधव के पिता देवरात ने बहुत दूर रह कर के भी कामन्दकी नाम की सन्यासिनी के प्रयोग द्वारा—उसे माछरी के पास भेज कर अपने पुत्र माधव के लिये 'मालती' प्राप्त की थी, यह देवरात की बुद्धि-शक्ति का ही साहस्य था ॥ ७ ॥ विद्वानों की बुद्धि ही शत्रु पर विजय-प्री प्राप्त करने में सफल शस्त्र मानी गयी है, क्योंकि

१ तथा च मर्गः—उपस्थिते रिपौ मंत्री युद्धं बुद्धिं वदति यः । मंत्रिरूपेण वीरी स वैशत्यागं च यो वदेत् ॥ १ ॥

२ तथा च गौतमः—उपस्थिते रिपौ स्वामी पूर्वं युद्धे नियोजयेत् । उपायं दापयेद् व्यर्थं गते परचाक्षियोजयेत् ॥ २ ॥

३ तथा च शुकः—भूम्यर्थं भूमिपैः कार्यो नयो विक्रम एव च । देशत्यागो न कार्यस्तु प्राणस्यागोऽपि संस्थिते ॥ ३ ॥

४ तथा च मर्गः—युद्धं बुद्ध्यात्मकं कुर्यात् प्रथमं शत्रुणा सह । व्यर्थेऽस्मिन् समुत्पन्ने ततः शस्त्ररथं भवेत् ॥ ४ ॥

५ तथा च गौतमः—न तथाह शरास्तीक्ष्णाः समर्थाः स्यु रिपो वधे । यथा बुद्धिमतां प्रज्ञा तस्मात्कां सन्निधोजयेत् ॥ ५ ॥

६ तथा च शुकः—धानुष्कस्य शरो व्यर्थो दृष्टे लक्ष्येऽपि याति च । अदृष्टान्यपि कार्वाण्य बुद्धिमान् सम्प्रसाधयेत् ॥ ६ ॥

जिस प्रकारवज्र प्रहार से ताड़ित किये हुये पहाड़ पुनः उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार विद्वानों की बुद्धि द्वारा जीते हुये शत्रु भी पुनः शत्रुता करने का साहस नहीं कर सकते । ८-६ ॥

गुरु^१ ने भी प्रज्ञा (बुद्धि) शस्त्र को शत्रु से विजय पाने में सफल बताते हुये उक्त बातका समर्थन किया है ॥ १ ॥

डरपोक, अतिक्रोध, युद्धकालीन राज-कर्त्तव्य, भाग्य-माहात्म्य, बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रमण किए हुए राजा का कर्त्तव्य, भाग्य की अनुकूलता, सार असार सैन्य से लाभ व हानि व युद्धार्थ राज-प्रस्थान—

परैः स्वस्याभियोगमपश्यतो भयं नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव ॥ १० ॥ अतितीक्ष्णो बलवानपि शरभ इव न चिरं नन्दति ॥ ११ ॥ प्रहरतोऽपसरतो वा समे विनाशे वरं प्रहारो यत्र नैकान्तिको विनाशः ॥ १२ ॥ कुटिला हि गतिदैवस्य मुमुर्षुमपि जीवयति त्रिजीविषं मारयति ॥ १३ ॥ दीपशिखायां पतंगवदैकान्तिके विनाशेऽविचारमपसरेत् ॥ १४ ॥ जीवितसम्भवे दैवो देयात्कालबलम् ॥ १५ ॥ वरमल्पमपि सारं बलं न भूयसी मुण्डमण्डली ॥ १६ ॥ असारबलभंगः सारबलभर्गं करोति ॥ १७ ॥ नाप्रतिग्रहो युद्धमुपेयात् ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नदी को बिना देखे ही पहले से जूते उतारने वाला व्यक्ति हंसी का पात्र होता है, उसीप्रकार शत्रु-कृत उपद्रव को जाने बिना पहले से ही भयभीत होने वाला व्यक्ति भी हंसी का पात्र होता है, अतः शत्रु का आक्रमण होने पर उसका प्रतिकार सोचना चाहिये ॥ १० ॥

शुक^२ ने भी शत्रु को बिना देखे पहले से ही भयभीत होने वाले के विषय में यही कहा है ॥ १ ॥

अत्यन्त क्रोधी पुरुष बलिष्ठ होने पर भी अष्टापद के समान चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता—नष्ट हो जाता है । अर्थात्—जिस प्रकार अष्टापद सेव की गर्जना सुनकर उसे हाथी का चिंघाड़ समझ कर सहज न करता हुआ पर्वत के शिखर से पृथिवी पर गिरकर नष्ट होजाता है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधी व्यक्ति भी क्रोध-वश बलिष्ठ शत्रु से युद्ध करने पर नष्ट होजाता है । अतः अत्यन्त क्रोधी होना अचित नहीं ॥ ११ ॥ शत्रु से युद्ध करना अथवा युद्ध-भूमि से भाग जाना इन दोनों कार्यों में जब विजयीपु को अपनाना विनाश निश्चित हो जाय तो उसे युद्ध करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें मृत्यु निश्चित नहीं होती परन्तु भागने से अवश्य मृत्यु होती है ॥ १२ ॥ कर्म की गति-भाग्य की रेखा—बड़ी बल का जटिल होती है क्योंकि वह मरने की कामना करने वाले को दीर्घायु व जीवन की आकांक्षा करने वाले को मार सालती है ॥ १३ ॥

कौशिक^३ ने भी इसी प्रकार दैव की वक्रगति का दर्शन किया है ॥ १ ॥

१ तथा च गुरुः—प्रज्ञाशस्त्रममोघं च विज्ञानाद्बुद्धिरुपित्री । तथा हता न जायन्ते पर्वता इव भूमिपाः ॥ १ ॥

२ तथा च शुकः—यथा चादर्शने नद्या उपानत्परिमोचनम् । तथा राजावदृष्टेऽपि भयं हास्याय भृशमुजं ॥ १ ॥

३ तथा च कौशिकः—मनुकामोऽपि चेन्मर्त्यः कर्मणा क्रियते हि सः । दीर्घायुर्जीवितेच्छादयो त्रियसे तद्दूरकोऽपि सः ।

जब युद्ध-भूमि में विजिगीषु को बलिष्ठ शत्रु द्वारा दीपक की ज्वाला में पतंग की तरह अपना विनाश निश्चित हो जाय, तो उसे बिना सोचे विचारे वहां से हट जाना चाहिये ॥१४॥

गौतम^१ का उद्धरण भी इसी बात का समर्थन करता है ॥ १ ॥

जब मनुष्य दीर्घायु होता है, तब भाग्य उसे ऐसी शक्ति प्रदान करता है, जिससे वह निर्बल होने पर भी बलिष्ठ शत्रु को मार डालता है ॥ १५ ॥

शुक्र^२ ने भी भाग्योदयसे दीर्घायु पुरुष के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

सारहीन (शक्तिहीन व कर्त्तव्यविमुख) अधिक फौजकी अपेक्षा साधु-युक्त (शक्तिशाली व कर्त्तव्य-परायण) थोड़ी सी सेना हो तो उत्तम है ॥ १६ ॥

नारद^३ ने भी अच्छी तैयार थोड़ी भी फौजको उत्तम व बहुत सी डरपोकको नगण्य बताया है ।

जब शत्रु-कृत उपद्रव^४ द्वारा विजिगीषु की सार-हीन (शक्तिहीन) सेना नष्ट होती है तब उसकी शक्तिशाली सेना भी नष्ट हो जाती है—अधीर हो जाती है अतः विजिगीषु जटुयेल सैन्य न रखे ॥१७॥

कौशिक^५ ने भी कायर सेना का भंग विजिगीषु की वीर सेना के भङ्ग का कारण बताया है ।

राजा को कभी अकेले युद्ध में नहीं जाना चाहिये ॥ १८ ॥

गुरु^६ ने भी अर्जुन समान वीर राजा को अकेले (सैन्य के बिना) युद्ध में जाने से स्वतरा बताया है ॥ १ ॥

प्रतिग्रह का स्वरूप व फल, युद्ध कालीन पृष्ठ भूमि, जल-माहात्म्य, शक्तिशाली के साथ युद्ध हानि, राज-कर्त्तव्य (सामनीति व दृष्टान्त) एवं मूर्ख का कार्य व उसका दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण—

राजव्यञ्जनं पुरस्कृत्य पदचात्स्वाम्यधिष्ठितस्य सारवलस्य निवेशनं प्रतिग्रहः ॥ १६ ॥

सप्रतिग्रहं बलं साधुयुद्धायोत्सहते ॥२०॥ पृष्ठतः सदुर्गजला भूमिर्वलस्य सहानाश्रयः ॥२१॥

नद्या नीयमानस्य तटस्थपुरुषदर्शनमपि जीवितहेतुः ॥२२॥ निरन्नमपि सप्राणमेव बलं यदि

जलं लभेत A ॥२३॥ आत्मशक्तिमविज्ञायोत्सहाः शिरसा पर्वतभेदनमिव । २४॥ सामसाध्यं

१ तथा च गौतमः—बलवन्तं रिपुं प्राप्य यो न नश्यति दुर्बलः । स नूनं नाशमभ्येति पतंगो दीपमाश्रितः ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—पुरुषस्य यदायुः स्वादुर्बलोऽपि सदा परः । दिनरित चेद्वलोपेतं विजकर्मप्रभायतः ॥ १ ॥

३ तथा च नारदः—वरं स्वल्पापि च छेडा नास्वल्पापि च कातरा । भूपतीनां च सर्वेषां युद्ध काले पलायिनी ॥ १ ॥

४ तथा च कौशिकः—कातराणां च यो भंगो संग्रामे स्थान्महीपतेः । स हि भंगं करोत्येव सर्वेषां नात्र संशयः ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—युद्धाकी यो व्रजेराजा संग्रामे संध्यवर्जितः । स नूनं मृत्युमाप्नोति यद्यपि स्वाद्धनंजयः ॥ १ ॥

A इसके धर्यात् सु० सू० प्रतिमें 'बलवत्ता विप्रहीतस्य तत्तद्वापादापरिग्रहः स्वमंगलत्वे सिलिमंदूक प्रवेश इव' ऐसा विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि जब राजा बलिष्ठ प्रतिद्वन्द्वी के साथ युद्ध करता है, तब उसके घेरा में शत्रु के कुटुम्बी लोग प्रविष्ट हो जाते हैं; जिससे शत्रु की शक्ति अधिक बढ़ जाती है इसलिए उनका घुमना मयूरों के समूहमें मैदकों के प्रवेश समान हानिकारक होता है ॥ १ ॥

युद्धसाध्यं न कुर्यात् ॥२५॥ गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ॥२६॥ अल्पव्यय-
भयात् सर्वनाशं करानि मूर्खः ॥२७॥ का नाम कृतधीः शुल्कभयाद्वाण्डं परित्यजति ॥२८॥

अर्थ—राज-ध्वेन्द्र —युद्धके बाजे-आदि—आगे करके पश्चात् राजा से अधिष्ठित प्रधान सैन्य सुसज्जित करके युद्ध के लिये तैयार करना वा स्थापित करना 'प्रतिग्रह' है, ऐसी प्रतिग्रह-उद्दिष्ट (विजिगीषु से अधिष्ठित) प्रधान फौज युद्ध करने में अकृषी तरह उत्साह करती है जिसका फल विजय है ॥१६-२०॥

नारद^१ व शुक्र^२ ने भी उक्तप्रकार प्रतिग्रह का लक्षण-निर्देश करते हुए उससे विजयश्री का लाभ बताया है ॥१॥

युद्धके अवसर पर सैन्य के पीछे दुर्ग व जल-सहित पृथ्वी रहने से उसे काफी जीवन-सहारा रहता है, क्योंकि पराजित होने पर भी वह दुर्ग में प्रविष्ट होकर जल-प्राप्ति द्वारा अपनी प्राण रक्षा उसी प्रकार कर सकती है, जिस प्रकार नदी में बहने वाले मनुष्य को तटवर्ती पुरुषका दर्शन उसकी प्राण-रक्षा का साधन होता है ॥२१-२२॥

गुरु^३ व जैमिनि^४ ने भी उक्त दृष्टान्त देकर फौज के पीछे वर्तमान जल-सहित दुर्ग भूमि सैन्य की प्राणरक्षा करने वाली बताई है ॥१-२॥

युद्ध के समय सेना को अन्न न मिलने पर भी यदि जल मिल जाय, तो वह अपनी प्राण-रक्षा कर सकती है ॥२३॥

भारद्वाज^५ ने भी उक्त बात की पुष्टि करते हुए प्राण-रक्षक जल को सैन्य के पीछे रखकर युद्ध करने को कहा है ॥१॥

जो निर्बल राजा अपनी सैन्य-आदि शक्ति को न जानकर बलिष्ठ शत्रु से युद्ध करता है, उसका वह कार्य मस्तक से पहाड़ तोड़ने के समान असम्भव व घातक है ॥२४॥

कौशिक^६ ने भी अपनी वाक्य को बिना जाने युद्ध करनेवाले के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

विजिगीषु को सामनीति द्वारा सिद्ध होने वाला इष्ट-प्रयोजन युद्ध द्वारा सिद्ध नहीं करता चाहिये : क्योंकि जब शुद्ध-भक्षण द्वारा ही अभिलषित प्रयोजन (आरोग्य-लाभ) होता है, तब कौन बुद्धिमान पुरुष विष-भक्षण में प्रवृत्त होगा ? कोई नहीं ॥२५-२६॥

१ तथा च नारदः—स्थामिनं पुरतः कृत्वा तत्परवाद्रुत्तमं बलं । प्रियते युद्धकाले यः स प्रतिग्रहसंज्ञितः ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—राजा पुरः रिपवो यत्र तत्परवात् संस्थितं बलं । उत्साहं कुर्वते युद्धे ततः स्याद्विजये यद् ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—जलपुर्गवती भूमिर्वस्य सैन्यस्य पृष्ठतः । पृष्ठदेशे भवेत्तस्य सन्महासकायकारणं ॥ १ ॥

४ तथा च जैमिनिः—मोक्षमानोऽत्र यो नशा तदर्थं बोधते नरः । हेतुं तं मन्यते सोऽत्र जीवितस्य द्वितात्मनः ॥ १ ॥

५ तथा च भारद्वाजः—अन्नाभावादपि प्रायो जीवितं न जलं विना । तस्माद्युद्धं प्रकृत्यर्थं जलं कृत्वा च पृष्ठतः ॥ १ ॥

६ तथा च कौशिकः—आत्मशक्तिमज्जानो युद्धं कुर्याद्वलीयमा । साद्धं स च कोत्येव शिरसा गिरिभेदनम् ॥ १ ॥

बल्लभदेव^१ व हारीत^२ ने भी सामनोति द्वारा सिद्ध होने वाले कार्यों को इंद्रनोति द्वारा सिद्ध करने का निषेध किया है ॥१-२॥

मूर्ख मनुष्य थोड़े से खर्चे के डर से अपना सर्वनाश कर डालता है। प्राकृतिक अभिप्राय यह है कि मूर्ख राजा से जित्त प्रतिद्वन्दी (शत्रु) सामनोति से कुछ भूमि आदि मांगता है, तब वह थोड़े से खर्चे के डर से उसे कुछ नहीं देता, पश्चात् उसके द्वारा आक्रमण किये जाने पर सर्वनाश कर बैठता है, अतः नैतिक व्यक्त या विजिगीषु अल्प व्यय के डर से अपना सर्वनाश न करे ॥२॥

बल्लभदेव^३ ने भी शक्तिहीन मूर्ख राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

कौन बुद्धिमान मनुष्य महसूल देने के डर से अपना व्यापार छोड़ता है ? कोई नहीं ॥२॥

कौशिक^४ ने भी बुद्धिमान पुरुष को थोड़े से टैक्स आदि के भय से व्यापार न छोड़ने के विषय में कहा है ॥१॥

प्रशस्तव्यय त्याग, बलिष्ठ शत्रु के लिये धन न देने का दुर्परिणाम, धन देने का तरकाब न देने में आर्थिक-क्षति, शत्रु द्वारा आक्रमण किये हुए राजा की स्थिति-समर्थक दृष्टान्त माला, स्थान-अष्ट राजा व समष्टि का माहात्म्य—

स किं व्ययो यो महान्तमर्थं रक्षति ॥ २६ ॥ पूर्णसरः--सलिलस्य हि न एरीवाहस्परोऽस्ति रक्षणापायः ॥२७॥ अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ॥२१॥ बलवति सीमा-धिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादिभिरेण प्रयच्छेत् ॥ ३२ ॥ आमिषमर्थमप्रयच्छताऽ-नवधिः स्यान्निवन्धः शासनम्^A ॥ ३३ ॥ कृतसंघातविधानोऽरिभिर्विशीण्युथो गज इव कस्य न भवति साध्यः ॥ ३४ ॥ विनिःस्रावितजले सरसि विषमोऽपि ग्राहो जलव्यालवत् ॥३५॥ वनविनिर्गतः सिंहोऽपि श्रृगालापाते^B ॥ ३६ ॥ नास्ति संघातस्य निःपारता किन्न स्व-

१ तथा च बल्लभदेवः सारनैव यत्र सिद्धिस्तत्र न दण्डो बुधैर्विनियोज्यः । पित्तं यदि शर्करया शाम्यति ततः कित्पटोलेन

२ तथा च हारीतः—गुहास्वादनतः शक्तिर्यदि नाग्रस्य जायते । आरोग्यलक्षणा नाम तद्गुणवति को विषं ॥ १ ॥

३ तथा च बल्लभदेवः—हीनो नृपोऽल्पं महते नृपाय यायाचितो नैव ददाति साम्ना ।

कदर्यमाणेन ददति खारिं तेषां स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥ १ ॥

४ तथा च कौशिकः—यस्य बुद्धिर्भवेत् काचित् स्वल्पापि हृदये स्थिता । न भाग्यं न्यजेत् सारं स्वल्पदानकृताद्गपात्
A इसके पश्चात् सु० मू० प्रति में 'स्वयमल्पबलः कोश-देश दुर्गभूमिरपतिवेद्यश्च यदि शत्रुदेशं न परित्यजेत्' इतना आधिक पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि अल्पहैन्य होने पर भी कोश, देश व दुर्गभूमिसे युक्त और जिसका बलिष्ठ शत्रु उक्त बातों से अपरिचित है, उस राजा को केवल शत्रु-कृत उपद्रव के भय से अपना देश छोड़कर स्थान अष्ट होना उचित नहीं ॥ १ ॥

B इसके पश्चात् 'विच्छिन्नोपान्तप्रदाने वंशे किमस्त्याकर्षस्य बलेराः' ऐसा सु० मू० प्रति में अधिक पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार जिसके समीपवर्ती-छात्र वगलके वंशोंका समूह काट दिया गया है, उस वंशको खोदने

लयति भक्तमपि वारणं कुथिततृणसंघातः ॥३७॥ संहतैर्विसतन्तुभिर्दिग्गजोऽपि नियम्यते ३८

अर्थ—जिस स्वर्च द्वारा अपने प्रचुर धन की रक्षा व महान् इष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है क्या वह स्वर्च कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता । प्राकरणिक अभिप्राय यह है, कि बलिष्ठ शत्रु से सन्धि करने में विजिगीषु द्वारा किया जाने वाला धनादि-स्वर्च, स्वर्च नहीं कहा जाता, क्योंकि वस्से उसके संचित धन की रक्षा व इष्ट प्रयोजन-सिद्धि होती है ॥ २८ ॥

शौनक^१ ने भी निर्बल राजा को बलिष्ठ शत्रु की धनादि द्वारा सेवा करके अपने प्रचुर धन की रक्षा करना बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार जल से समूचे भरे हुए तालाब की रक्षा का बहाव (जल के निकास) के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं, उसी प्रकार धनाढ्य पुरुष की धन-रक्षा का धन के सिवाय और कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ ३० ॥

विष्णुशर्मा^२ ने भी संचित धन की रक्षा का यही उपाय बताया है ॥ १ ॥

जो नियत मनुष्य बलिष्ठ शत्रु द्वारा प्राथेना किये जाने पर भी उसे अज्ञान व लोभ-वश धन नहीं देता, उसकी समस्त धन-राशि बलिष्ठ द्वारा अपहरण कर ली जाती है ॥३१॥

भागुरि^३ ने भी उक्त प्रकार कहा है ॥२॥

शक्तिहीन राजा यदि किसी शक्तिशाली सीमाधिपति के लिये प्रयोजन-वश धन देने का इच्छुक हो, तो वह उसे विवाह-आदि उत्सव के अवसर पर सम्मानपूर्वक अपने गृह बुलाकर किसी भी बहाने द्रव्य-प्रदान करे ॥३२॥

शुक्र^४ ने भी उक्त बहाने से बलिष्ठ के लिये धन देने का संकेत किया है ॥१॥

जो शक्ति-हीन राजा शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी सीमाधिपति को किसी बहाने से धन नहीं देता, उसे अविष्यकालीन अपरिमित-प्रशंस्य धन-राशि देना व उसकी कठोर आज्ञा-पालन में बंधना पड़ता है । अर्थात्-अविष्य में उसके द्वारा किये जाने वाले हमले का कटुक फल (असख्य धनराशि का अपहरण व राष्ट्र का बर्बादी-आदि) भोगना पड़ता है । अतः निर्बल राजा लोभ को शिलाञ्जलि देकर शत्रुभूत सीमाधिपति को धन-प्रदान द्वारा पहले से ही काशू में रखे ॥३३॥

गुरु^५ ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

या उन्मूलन करने में क्या लोचनेवाले को कुछ क्लेश हो सकता है ? नहीं होसकता उसीप्रकार जिसका पक्ष (सहायक लोग) नष्ट कर दिया गया है, उस शत्रुको जीतने में भी कुछ क्लेश नहीं होसकता ॥ १ ॥ (पृ० ३६१ का शेषांश)

१ तथा च शौनकः—उपचापरिभ्राणाद्वा विसं सुबुद्धयः । बलिनो रक्षयन्तिस्म यच्छेषं गृहसंस्थितम् ॥ १ ॥

२ तथा च विष्णुशर्माः—उपाजितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणं । तद्वागोदरसंस्थानं परीवाह इवात्मनसां ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—बलाद्देनार्पितः सः राजा । यो न यच्छति दुर्बलः । किञ्चित्स्तु तस्य प्राञ्चैस्तत्तस्यासौ हरेद् धनम् ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—बुद्धयुरसबगृहातिथ्यव्यार्जयेयं बलाधिके । सीमाधिपे सर्वैवात्र रक्षार्थं स्वधनस्य च ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—सीमाधिपे बलाद्देये तु यो न यच्छति किञ्चन । व्याजं कृत्वा स सर्वथाप्य संख्याहीनं समाचरेत् ॥ १ ॥

शत्रु द्वारा जिसका सैन्य नष्ट कर दिया गया है व परदेश से आया हुआ ऐसा शक्ति-हीन राजा अपने भुण्ड से भ्रष्ट हुए अकेले हाथी के समान किसके द्वारा बश नहीं किया जाता ? सभी के द्वारा बश कर लिया जाता है । अथान् लुट्र लोग भी वैसे पराजित कर देते हैं ॥३४॥

नारद^१ ने भी शत्रु द्वारा वञ्चाटित, नष्ट सेना वाले राजा को अकेले हाथी समान बश करने योग्य बताया है ॥१॥

जिसकी समस्त जल-राशि निकाली जा चुकी है ऐसे जल-शून्य तालाब में वतमान मगर यदि भयङ्कर जल-जन्तु भी जिस प्रकार जल-सप के समान निविष्ट व क्षीणशक्ति हो जाता है, उसी प्रकार सैन्य के क्षय हो जाने से राजा भी क्षीणशक्ति हो जाता है ॥३५॥

रैव्य^२ ने भी स्थान-हीन राजा को इसी प्रकार शक्ति-हीन बताया है ॥१॥

जिस प्रकार जंगल से निकला हुआ शेर गीदड़ समान शक्ति-हीन हो जाता है, उसी प्रकार नष्ट-सैन्य व स्थान-भ्रष्ट राजा भी क्षीणशक्ति हो जाता है ॥३६॥

शुक्र^३ ने भी स्थान-भ्रष्ट (पदच्युत) राजा की इसी प्रकार लघुता निविष्ट की है ॥१॥

समूह निस्सार (शक्ति-हीन) नहीं होता, क्योंकि क्या बटा हुआ मृण-समूह (घास का रस्ता) मदनोन्मत्त हाथी के गमन को नहीं रोकता ? अवश्य रोकता है । अथान् उसके द्वारा मदनोन्मत्त हाथी भी बांधा जाता है ॥३७॥

विष्णुशर्मा^४ ने भी संबशक्ति का इसी प्रकार माहात्म्य बताया है ॥१॥

जिस प्रकार बटे हुए मृणाल-तन्तुओं से दिग्गज भी बशीभूत किया जाता है (बांधा जाता है) वही प्रकार राजा भी सैन्यद्वारा शक्तिशाली शत्रु को बश कर लेता है—युद्ध में परास्त कर देता है ॥३८॥

हारीत^५ ने भी इसी प्रकार राजा की सैन्यशक्ति का माहात्म्य बताया है ॥१॥

बृहत्साध्य शत्रु व दृष्टान्त, शक्ति व प्रताप-हीन शत्रु के विषय में दृष्टान्तमाला, शत्रु को बिकनो चुपकी बातें, व दृष्टान्त, नीतिशास्त्र अकेले विजिगीषु को युद्ध करने का निबंध व अपरीक्षित शत्रु-भूमि—

दण्डसाध्ये रिषावुपायान्तरमग्नावाहुतिप्रदानमिव ॥ ३६ ॥ यन्त्रशस्त्राग्निधारप्रतीकारे
व्याधौ किं नामान्योषधं कुर्यात्^A ॥ ४० ॥ उत्पादितदंष्ट्रो भुजंगो रज्जुरिव ॥ ४१ ॥

१ तथा च नारदः—वञ्चाटितोऽस्मिन् राजा परदेशसमागतः । वनहस्तीव साध्यः स्वात् परिग्रहविर्जितः ॥ १ ॥

२ तथा च रैव्यः—सर्वसः सखिषो मध्ये यथा माहस्तुकां प्रजेत् । जलसर्पस्य तद्वच्च स्थानहीनो मृगो मवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—अग्राखलां समभ्येति यथा सिंहो वनच्युतः । स्थानभ्रष्टो मृगोऽप्येवं क्षयुतमेति सर्वतः ॥ १ ॥

४ तथा च विष्णुशर्माः—बहुनामः साराणां समवायो वखाधिकः । तुरीयावेष्टितो रज्जुबंधा नालोऽपि वध्यते ॥ १ ॥

५ तथा च हारीतः—अपि सूक्ष्मतर्कैर्भृत्यैर्बहुभिर्भयमानयेत् । अपि बीर्बोत्कटं शत्रुं पद्मसूत्रैर्यथा गजम् ॥ १ ॥

A इसके पर्याय सु० भू० पुरस्कर्म 'अज्ञातरणसूतः सर्वोऽपि मवेति शूरः ॥ १ ॥ अदृष्टान्तसंगमर्थः को नाम न भवति

प्रतिहतप्रभापोऽङ्गारः संपतितोऽपि किं कुर्यात् ॥४२॥ त्रिद्विषां चादुकारं न बहु मन्येत ॥४३॥
जिह्वया लिहन् खड्गो मारत्येव ॥ ४४ ॥ तन्त्रावापौ नीतिशास्त्रम् ॥ ४५ ॥
स्वमण्डलपालनाभियोगस्तत्रम् ॥ ४६ ॥ परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः ॥४७॥ बहूनां न
गृह्णीयात् सदर्पोऽपि तर्पणे न्यायादयत्न एव निपीलिकाभिः ॥ ४८ ॥ अशोधितायां परभूमौ न
प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो शत्रु दण्ड द्वारा बश करने योग्य है, उसके प्रति अन्य सामदान-आदि उपायों का प्रयोग, प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति देने के समान उसकी क्रोध-वृद्धि का कारण होता है । अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि घृत की आहुति द्वारा अत्यधिक बढ़ती है, उसी प्रकार दंड द्वारा काबू में किया जाने वाला शत्रु भी अन्य सामादि उपायों द्वारा अत्यधिक कुपित हो जाता है ॥ ३६ ॥

माधकवि^१ ने भी अग्निसे तपे हुए घृत में श्लेषण किये हुए जल बिन्दुओंके दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार यन्त्र, रास्त्र, अग्नि व चारचक्रित्ता द्वारा नष्ट होने योग्य व्याधि अन्य औषधि द्वारा नष्ट नहीं की जा सकती, उसी प्रकार दण्ड द्वारा बश में किया जाने वाला शत्रु भी अन्य सामादि उपाय द्वारा काबू में नहीं किया जा सकता जिस प्रकार सर्प की दाँढ़ें निकाल देने पर वह रस्सों के समान शक्तिहीन (निर्विष) हो जाता है, उसीप्रकार जिसका धन व सैन्य नष्ट कर दिया गया है, ऐसा शत्रु भी शक्तिहीन हो जाता है ॥ ४१ ॥

नारद^२ ने भी उक्त व उल्लाङ्घे हुए सौगवाले बैल का दृष्टान्त देकर उक्त बातका समर्थन किया है ॥१॥

जिस प्रकार नष्ट हो गया है प्रताप जिसका ऐसा अङ्गार (अस्त्र) शरीर पर पड़ा हुआ कुछ नहीं कर सकता, उसी प्रकार जिसका धन व सैन्य रूप प्रताप नष्ट किया गया है, वह शत्रु भी कुछ नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥ नैतिक पुरुष शत्रु के कपट-पूर्ण व्यवहार (बिकनी चुपड़ी बातें-आदि) पर अधिक ध्यान न देवे —उसके अधीन न होवे, क्योंकि जिसप्रकार तलवार जोभ हुआ चाटी जाने पर भी उसे काट डालती है, उसी प्रकार शत्रु भी मधुर वचन बोलता हुआ मार डालता है ॥ ४३-४४ ॥ तत्र (अपने देश

सर्वर्षः ? ॥ २ ॥ अतिप्रवृद्धा ओः कं नाम न दर्पयति ॥ ३ ॥ कृतार्थापहारो विवर्धिततन्त्ररश्च परो दण्डमपि किं कुर्यात् ? ॥ ४ ॥ इतना विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि जब तक युद्ध संबंधी वृत्तान्त को नहीं जानते, तब तक सभी लोग शूरवीर होते हैं । दूसरेकी शक्तिको न जानकर कौन पुरुष अहंकार नहीं करता ? प्रायः सभी अहंकार करने लगते हैं । अत्यन्त बड़ी हुई सचमी किसे गर्व-युक्त नहीं बनाती ? सभीको बनाती है जिसका धन अपहरण कर लिया गया है एवं जिसका सैन्य भी नष्ट कर दिया गया है, ऐसा शत्रु क्रुद्ध होकरके भी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं कर सकता ॥ १-४ ॥

(पूर्व पृष्ठ का शेषार्थ)

१ तथा च माधकविः—सामवादाः सकोपस्थस्य प्रत्युत्तदीपकाः । प्रतप्तस्येव सहसा सपिषस्तोयविन्दवः ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—दंष्ट्राविरहितः सर्पो भग्नभृगोऽयवा वृषः । तथा वैरी परिजेयो यस्य नाथो न सेवकाः ॥ १ ॥

की रक्षार्थ सैनिक-संगठन की योजना) व अवाप (दूसरे देश की प्राप्ति के लिये कीजाने वाली सन्धि विमहादि की योजना) को प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को 'नीतिशास्त्र' कहते हैं । अपने देश की रक्षा के लिये सैन्य-संगठन आदि उपायों की योजना 'तंत्र' है और दूसरे देश की प्राप्ति के लिये दिये जाने वाले (सन्धि-विमहादि) की योजना को 'अवाप' कहते हैं ॥ ४५-४७ ॥

शुक्र^१ ने भी स्वदेश की रक्षा का उपाय 'तंत्र' और दूसरे देश की प्राप्ति के उपाय को 'अवाप' कहा है ॥ १ ॥

अकेला व्यक्ति कभी भी बहुसंख्यक के साथ युद्ध न करे, क्योंकि मदीन्मत्त जहरोला सांप बहुत सी चींटियोंद्वारा भक्षण कर लिया जाता है ॥ ४८ ॥

नारद^२ ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा अकेले व्यक्ति को युद्ध करने का निषेध किया है ॥ १ ॥

विजिगीषु बिना परीक्षा की हुई शत्रु की भूमि में न तो प्रविष्ट हो और न वहाँ से वापिस आवे ॥ ४९ ॥

युद्ध व उसके पूर्व कालीन राज-कर्त्तव्य, विजय प्राप्त कराने वाला मंत्र, शत्रु के कुटुम्बियों को अपने पक्ष में मिलाना, शत्रु द्वारा शत्रु नाश का परिणाम व दृष्टान्त, अपराधी शत्रु के प्रति राजनीति व दृष्टान्त—

विग्रहकाले परस्मादागतं कमपि न संगृह्णीयात् गृहीत्वा न संवासयेदन्यत्र तदायादेभ्यः, श्रूयते हि निजस्वामिना कूटकलहं विधायावाप्तविश्वासः कृकलासो नामानीकपतिरात्मविषक्षं विरूपाक्षं जघानेति ॥ ५० ॥ बलमपीदृयन् परानभिप्रेषयेत् ॥ ५१ ॥ दीर्घप्रयाणोपहतं बलं न कुर्यात् स तथाविधमनायास्तेन भवति परेषां साध्यं ॥ ५२ ॥ न दायादादपरः परबलस्या-कर्षणमंत्रोऽस्ति ॥ ५३ ॥ यस्याभिमुखं गच्छेत्तस्यावश्यं दायादानुत्थापयेत् ॥ ५४ ॥ कण्टकेन कण्टकमिव परेण परमुद्धरेत् ॥ ५५ ॥ विन्नेन हि विन्ध्यं हन्यमानमुभयथाप्यात्मनो लाभाय ॥ ५६ ॥ यावत्परेणापकृतं तावतोऽधिकमपकृत्य सन्धिं कुर्यात् ॥ ५७ ॥ नातप्तं लोहं लोहेन सन्धते ॥ ५८ ॥

अर्थ—जहाँ के समय परचक्रसे आये हुए किसी भी अपरोक्षित व्यक्ति को अपने पक्ष में न मिलावे, यदि मिलाना हो तो अच्छी तरह जांच-पड़ताल करके मिलावे, परन्तु उसे वहाँ ठहरने न देवे और शत्रु के कुटुम्बी, जो कि उससे नाराज होकर वहाँ से चले आये हैं उन्हें परीक्षा-पूर्वक अपने पक्ष में मिलाकर ठहरा लेवे, अन्य किसी को नहीं । इतिहास बताता है कि कृकलास नाम के सेनापति ने अपने मालिक से झूठ मूठ कलह करके शत्रु के हृदय में अपना विश्वास उत्पन्न कराकर अपने स्वामी के प्रति-पक्षी (शत्रु) विरूपाक्ष नाम के राजा को मार डाला ॥ ५० ॥

१ तथा च शुक्रः—स्वमण्डलस्य रक्षार्थं यत्तन्त्रं परिकीर्तितं । परदेशस्य संग्राह्या अवापो नयलक्ष्यम् ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—शुक्राकिला न योद्धव्यं बहुभिः सह दुर्बलैः । योर्वाद्यैर्नापि हन्येत यथा सर्पः पिपीलिकैः ॥ १ ॥

विजिगीषु अपनी सेना की प्रसन्नता का खयाल रखते हुए (उसे दान-भानादि द्वारा सुखी बनाते हुए) शत्रुओं से युद्ध करने अपनी सेना के साथ प्रस्थान करे ॥ ५१ ॥ विजिगीषु शत्रु-राष्ट्र में प्रविष्ट हुआ अपनी फौज से विशेष मुसाफिरी न करावे, क्योंकि कम्बी मुसाफिरी से ताड़ित-स्वेदस्त्रिन्न (थकीहुई) फौज शत्रुओं द्वारा सरलतासे जीती जा सकती है ॥ ५२ ॥ विजिगीषु शत्रु के कुटुम्बियोंको अपने पक्ष में मिलावे, क्योंकि उनके मिलाने के सिवाय दूसरा कोई शत्रु-सेना को नष्ट करने वाला मंत्र नहीं ॥ ५३ ॥

शुक^१ ने भी शत्रु के कुटुम्बियोंको अपने पक्ष में मिलाना बताया है ॥ ५४ ॥

विजिगीषु जिस शत्रु पर चढ़ाई करे, उसके कुटुम्बियोंको साम-दानादि उपाय द्वारा अपने पक्ष में मिलाकर उन्हें शत्रु से युद्ध करने के लिये प्रेरित करे । उसे अपनी सैन्य क्षति द्वारा शत्रु को नष्ट नहीं करना चाहिये, किन्तु कांटे से कांटा निकालने की तरह शत्रु द्वारा शत्रु को नष्ट करने में प्रयत्नशील होना चाहिये । जिस प्रकार बेल से बेल फाड़ें जाने पर दोनों में से एक अथवा दोनों फूट जाते हैं, उसी प्रकार जब विजिगीषु द्वारा शत्रु से शत्रु लड़ाया जाता है, तब-तबमें से एक का अथवा दोनोंका नाश निश्चित होता है जिससे विजिगीषु का दोनों प्रकार से लाभ होता है ॥ ५४-५६ ॥ विजिगीषु का कर्तव्य है कि शत्रु ने इसका जितना नुकसान किया है उससे ज्यादा शत्रु की हानि करके उससे सन्धि कर ले । ५७ ॥

गौतम^२ ने भी इसी प्रकार उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार ठंडा लोहा गरम लोहे से नहीं जुड़ता, किन्तु गरम लोहे ही जुड़ते हैं, उसी प्रकार दोनों कुपित होने पर परस्पर सन्धि के सूत्र में बंधते हैं ॥ ५८ ॥

शुक^३ विद्वान के उद्धरण से भी यहो प्रतीत होता है ॥ १ ॥

विजय प्राप्ति का उपाय, शक्तिशाली विजिगीषु का कर्तव्य व उसकी वृत्ति, सन्धि के योग्य शत्रु पराक्रम कराने वाला तेज, लघु व शक्तिशाली विजिगीषु का बलपु से युद्ध करने का परिणाम व दृष्टान्त, पराजित शत्रु के प्रति राजनाति, व शूरावर शत्रु के सम्मान का दुष्परिणाम—

तेजो हि सन्धाकारणं नापराधस्य क्षान्तिरूपेणा वा ॥ ५९ ॥ उपचीयमानघटेनेवारमा हीनेन विग्रहं कुर्यात् ॥ ६० ॥ दैवानुलोम्यं पुण्यपुरुषोपचर्याऽप्रतिपक्षता च विजिगीषोरुदयः ॥ ६१ ॥ पराक्रमकर्कशः प्रवीरानीकश्चेद्धीनः सन्धाय साधूपचरितव्यः ॥ ६२ ॥ दुःस्वामर्षजं तेजो विक्रमयति ॥ ६३ ॥ स्वजीविते हि निराशस्याचार्यो भवति वीर्यदेवः ॥ ६४ ॥ लघुरपि सिंह-शावो हन्त्येव दन्तिनम् ॥ ६५ ॥ न चातिभग्नं पीडयेत् ॥ ६६ ॥ शौर्यैकधनस्योपचारो मनसि तच्छ्रागस्येव पूजा ॥ ६७ ॥

१ तथा च शुकः—न दायादाश्च परे वैरी विद्यतेऽत्र कथंचन । अभिचारकमंत्रश्च शत्रुसैन्यानिपूदनं ॥ १ ॥

२ तथा च गौतमः—यावन्मात्रोऽपराधश्च शत्रूणां हि कृतो भवेत् । तावत्तस्याधिकं कृत्वा सन्धिः कार्यो बलान्वितैः ।

३ तथा च शुकः—द्राव्यामपि लहाम्यां लोहाम्यां च यथा भवेत् । मृमिपानां च विज्ञेयस्तथा सन्धिः परस्परं ॥ १ ॥

अथ—अपराधी शत्रु पर विजय प्राप्त करने में क्षमा या उपेक्षा का कारण नहीं, किन्तु विजिगीषु का क्रोध व सैन्यशक्ति का तेज ही कारण है। अर्थात्—तेज से ही शत्रु जीता जा सकता है, न कि क्षमा या उपेक्षा से ॥ ५६ ॥ जिस प्रकार छोटा सा पत्थर शक्तिशाली (बजनदार) होने के कारण बड़े घड़े को फोड़ने की क्षमता रखता है, उसी प्रकार विजिगीषु भी सैन्य शक्तियुक्त होने के कारण महान् शत्रु को नष्ट करने की क्षमता रखता है, अतः शक्तिशाली को हीन शक्ति वाले शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिये ॥ ५७ ॥

जैमिनि* ने भी शक्तिशाली विजिगीषु द्वारा महान् शत्रु नष्ट किये जाने के विषय में लिखा है ॥ १ ॥

भाग्य की अनुकूलता, उत्तम व कर्त्तव्यशील पुरुषों की प्राप्ति और विरोधियों का अभाव इन गुणों से विजिगीषु की उन्नति होती है ॥ ५१ ॥

गुरु* ने भी विजिगीषु के उक्त गुणों का निर्देश किया है ॥ १ ॥

अब विजिगीषु स्वयं शक्तिहीन हो और शत्रु विशेष पराक्रमी व प्रबल सैन्य-युक्त हो, तो उसके सन्धि कर लेनी चाहिये ॥ ५७ ॥

शुक* ने भी शक्तिहीन विजिगीषु को शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध करने का निषेध किया है १

दुःख से क्रोध और क्रोध से तेज उत्पन्न होता है, परन्तु उस तेज द्वारा शत्रु पराक्रम करने के लिये प्रेरित किया जाता है। अर्थात् विजिगीषु द्वारा शत्रु को क्रोशित किया जाता है, तब उसके हृदय में क्रोधरुग्णी भीषण ज्वाला धधकती है, जिसके फलस्वरूप उसमें तेज उत्पन्न होता है जो कि उसे पराक्रमी बनाने में सहायक होता है अतः वीर सैन्यशक्तिवाला व प्रतापी शत्रु अपने भाग्य की प्रतिकूलता व शक्ति की कमी का यदि एक बार विजिगीषु द्वारा हरा दिया जाता है परन्तु उसका परिणाम विजिगीषु के लिये महाभयकर होता है, क्योंकि वह पुनः बार बार हमला करने तत्पर रहता है, इसलिए प्रबल सैनिकों वाले शत्रु के साथ युद्ध न कर सन्धि ही करनी चाहिये ॥ ५३ ॥

किसी विद्वान्* ने तो दुःख व क्रोध से उत्पन्न हुये विजिगीषु के तेज को विजय का कारण बताया है ॥ १ ॥

जो विजिगीषु अपने जीवन की भी अभिलाषा नहीं करता—मृत्यु से भी नहीं डरता—उसकी वीरता का वेग उसे शत्रु से युद्ध करने के लिये प्रेरित करता है ॥ ५४ ॥

नारद* ने भी मृत्यु से डरने वालों से कायरता और न डरने वालों में वीरता व विजय प्राप्ति का निरूपण किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार शेर का बच्चा छोटा होने पर भी शक्तिशाली होने के कारण बड़े भारी हाथी को मार डालता है, उसी प्रकार विजिगीषु भी प्रबल सैन्य की शक्ति से महान् शत्रु को युद्ध में परास्त कर देता है ॥ ५५ ॥

१ तथा च जैमिनिः—यदि स्वाध्वक्तिसंयुक्तो ह्यनुः शत्रोरथ मूपतिः । तदा हन्ति परं शत्रुं यदि स्वाध्वतिपुष्कलम् १

२ तथा च गुरुः—यदि स्थानं प्राप्तं कर्म प्राप्तिर्योग्यं तदा तदा । तथा चाप्रतिपक्षत्वं विजिगीषोरिमे गुणाः ॥ १ ॥

३ तथा च शुकः—यदा स्वाधीर्यवान् शत्रुः श्रेष्ठसैन्यसमन्वितः । आत्मानं ब्रजहीनं च तदा तस्योपचरते ॥ १ ॥

४ तथा च श्लोकः—दुःखामर्षोद्भवं तेजो बन् पुंसां सम्प्रजायते । तच्छत्रुं समरे हृत्वा तदस्त्रैश्च निवर्तते ॥ १ ॥

५ तथा च नारदः—न तेषां जायते शीर्यं जीविन्यस्य वाञ्छकाः । न मृत्योर्मे भयं चक्रते [वीरान्युर्जयान्विताः] ॥ १ ॥

जैमिनि^१ ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा इसी बात की पुष्टि की है ॥ १ ॥

विजिगीषु अत्यन्त पराजित किये हुये शत्रु को पीड़ित न करें—फिरसे उस पर चढ़ाई न करें। अन्यथा मताया हुआ शत्रु अपने नाश की आशा का से पुनः पराक्रमशक्ति का प्रयोग करता है ॥ ६६ ॥

विदुर^२ ने भी पराजित शत्रु के बारे में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

शूरता ही है अद्वितीय धन जिसका ऐसे शूरवीर शत्रु का जब विजिगीषु दुरभिप्राय-वश सम्मान करता है तब वह शत्रु अपने मनमें उसके प्रति बकरे को पूजा के समान अत्यधिक कुपित हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार दुरभिप्राय वश बलिदान करने के पूर्व की जाने वाली बकरे को पूजा वसे कुपित करती है, उसी प्रकार दुरभिप्रायवश विजिगीषु द्वारा किये हुये सम्मान में भी शक्तिशाली शत्रु की कायाग्नि पूर्व में अत्यधिक उद्दीपित हो जाती है, अतः विजिगीषु को शक्तिशाली शत्रु का कपट-पूर्ण सम्मान करके अपने को स्वतरे में नहीं डालना चाहिये ॥ ६७ ॥

भागुरि^३ ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

समानशक्ति व अधिक शक्ति वाले के साथ युद्ध में हानि, धन, लोभ व असुर विजयी राजा का स्वरूप, असुर-विजयी के आश्रय से हानि, श्रेष्ठ पुरुष के सम्निधान से लाभ, निहत्थे शत्रु पर प्रहार करने वाले की पड़ी आलोचना, युद्ध भूमि में भागने वाले शत्रुओं के प्रति राजनीति व शत्रुभूत राजाओं के अन्य वन्दी राजाओं से भेद के विषय में—

समस्य समेन सह विग्रहे निश्चितं मरणं जये च सुन्देहः, अयं हि पात्रमामेनाभिहतमुभयतः क्षयं कराति ॥ ६८ ॥ ज्यायसा सह विग्रहो हस्तिना पदातिषुद्धमिव ॥ ६९ ॥ स धर्मविजयी राजा यो विधेयमात्रेणैव मन्तुष्टः प्राणार्थमानेषु न व्यभिचरति ॥ ७० ॥ स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रातिः प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति ॥ ७१ ॥ सोऽसुरविजयी यः प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलपति ॥ ७२ ॥ असुरविजयिनः संश्रयः सूनागारे मृगप्रवेश इव ॥ ७३ ॥ यादृशस्तादृशो वा यायिनः स्थायी बलवान् यदि साधुचरः संचारः ॥ ७४ ॥

१ तथा च जैमिनिः—यद्यपि स्यादलघुः सिंहस्तथापि द्विपमाहवे । एवं राजापि श्रीर्वाङ्मयी महारिं हन्ति चेत्क्षयः ॥ १ ॥

२ तथा च विदुरः—अगमः शत्रुर्न गन्तव्यः पृष्ठतो विजिगीषुणः । कदाचिन्मृगतां पाति भरलो कृतनिश्चयः ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—उपवाचितदानेन वृद्धाग्रेणापि प्रहृष्यति । शंङ्कितो वलवान् भूपः स्वस्वयाऽपि तपोऽवया ॥ १ ॥

A सु० सू० प्रतिमें इसके स्थानमें आपकरोति ऐसा पाठान्तर है, जिसके कारण उक्त सूत्रका इस प्रकार का भी अर्थ होता है कि जो विजिगीषु पराजित शत्रु के शरणागत होनेपर सन्तुष्ट होता हुआ उसके प्राण, धन और मानमर्वाश को नष्ट करनेके दुरभिप्राय से उसपर पुनः प्रहार नहीं करता वही 'धर्मविजयी' कहा गया है। जिसमें—उक्त दोनो अर्थ सुसंगत हैं, केवल पार्थक्य भेद इतना हो है कि पहले अर्थ में अपनी प्रज्ञापर और दूसरे अर्थमें पराजित शत्रुपर अन्धारा न करने वाले को 'धर्मविजयी' कहा गया है। — सम्पादक

चरणेषु पतितं भीतमशस्त्रं च हिंसन् ब्रह्महा भवति ॥ ७५ ॥ संग्रामधृतेषु यायिषु सत्कृत्य
विसर्गः ॥ ७६ ॥ स्थायिषु संसर्गः सेनापत्यायत्तः ॥ ७७ ॥

अर्थ—समान शक्ति वालों का परस्पर युद्ध होने से दोनों का मरण निश्चित और विजयप्राप्त संदिग्ध रहती है, क्योंकि यदि कच्चे पड़े परस्पर एक दूसरे से ताकित किये जावें तो दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ६८ ॥

भागुरि^१ ने भी उक्त दृष्टान्त देते हुए तुल्य बलवानों को युद्ध करनेका निषेध किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार पदाति (पैदल) सैनिक हार्थी के साथ युद्ध करने से नष्ट हो जाते हैं, वसी प्रकार हीन-शक्ति वाला विजिगीषु भी अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध करने से नष्ट हो जाता है ॥ ६९ ॥

भारद्वाज^२ ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा उक्त बात की पुष्टि की है ॥ १ ॥

जो राजा प्रजा पर लियत किये हुए टेकस से ही सन्तुष्ट होकर उसके प्राण धन व मान की रक्षा करता हुआ अन्याय प्रवृत्ति नहीं करता—उसके प्राण व धनादि नष्ट नहीं करता, उसे 'धर्म विजयी' और जो सिर्फ धन से ही प्रमत्त रहकर प्रजा के प्राण और मान मर्यादा की रक्षा के साथ अन्यायपूर्ण वर्तव्य नहीं करता उसे 'लोभ विजयी' एवं जो प्रजाके प्राण, धन और सम्मानका नाश पूर्वक शत्रु का वध करके उसकी भूमि चाहता है उसे 'असुर विजयी' कहत है ॥ ७०-७२ ॥

शुक^३ ने भी उक्त धर्मविजयी-आदि राजाओं के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १-३ ॥

जिस प्रकार चाण्डाल-गृह में प्रविष्ट हुए हिरण का वध होता है, वसी प्रकार असुरविजयी राजा के आश्रय से भी प्रजा का नाश होता है ॥ ७३ ॥

शुक^४ ने भी असुरविजयी के आश्रय से प्रजा की मृत्यु बताई है ॥ १ ॥

विजिगीषु जैसा—वैसा—दुर्बल व कोश-हीन क्यों न हो परन्तु यदि वह उत्तम कर्त्तव्य-परायण व वीर पुरुषों के समिधान से युक्त है तो उसे शत्रु की अपेक्षा बलिष्ठ समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

नारद^५ ने भी वीर पुरुषों से युक्त विजिगीषु को शक्तिशाली बताया है ॥ १ ॥

जो व्यक्ति संग्राम भूमि में अपने पैरों पर पड़े हुए, भयभीत व शस्त्र-हीन (निहत्थे) शत्रु की हत्या करता है, वह ब्रह्मघाती है ॥ ७५ ॥

१ तथा च भागुरिः—समेतापि न योद्धव्यमित्युक्ता ब्रह्मपतिः । अन्योन्याहतित्वा भंगो घटाभ्यां जायते यतः ॥ १ ॥

२ तथा च भारद्वाजः—हस्तिना सह संग्रामः पक्षीनां कषावहः । तथा बलवता नूनं दुर्बलस्य क्षावहः ॥ १ ॥

३ तथा च शुकः—प्राणवित्ताभिमानेषु यो राजा न द्रुहेत प्रजाः । स धर्मविजयी लोके यथा लोभेन कोशभाक् ॥ १ ॥

प्राणेषु ताभिमानीषु यो जनेषु प्रवर्तते । स लोभविजयी प्रोक्तो यः स्वार्थेनैव तुष्यति ॥ २ ॥

अर्थमानोपधातेन यो मर्ही धाण्डते नृपः । देवविजयी प्रोक्तो भूलोकेऽत्र विचक्रसौ ॥ ३ ॥

४ तथा च शुकः—असुरविजयिनं मूपं संशयेनन्मतिवर्जितः । स मूर्खं मृत्युमाप्नोति सूनं प्राण्य मृगो यथा ॥ १ ॥

५ तथा च नारदः—राज्यं च दुर्बलो वापि स्थायी स्यात्तत्त्वतरः । सकाशात्तापिनश्चेत् स्यात् सुमदः सुचारकः ॥ १ ॥

जैमिनि^१ ने भी उक्त प्रकार का अधर्म-पुरुष ब्रह्महत्या का पात्र बताया है ॥ १ ॥

संग्राम-भूमि में भागने वाले शत्रु, जो विजिगीषु द्वारा पकड़ लिये गये हैं, उन्हें वस्त्रादि द्वारा सम्मानित करके छोड़ देना चाहिये ॥ ७६ ॥

भारद्वाज^२ ने तो गिरफ्तार किये गये, भागने वाले व स्थायी (युद्ध करने वाले) दोनों प्रकार के शत्रुओं को क्षात्र धर्म से सम्मानित करके छोड़ देनेके विषय में कहा है ॥ १ ॥

स्थायी शत्रुभूत राजाओं की अन्य गिरफ्तार किये हुए बन्धु राजाओं के पास जाकर भेंट होने देना यह सेनापति के अधीन है । अर्थात् यदि वह कोई खतरा न समझे तो भेंट करने दे अन्यथा नहीं ।

किसी विद्वान्^३ ने भी उक्त बात सेनापति की रुचि के अधीन बताई है ॥ १ ॥

मनुष्य मात्र को बृद्धिरूप नदी का बहाव, उत्तम पुरुषों की वचन-प्रतिष्ठा, सत्-असत्पुरुष के व्यवहार व लोक पृथक्ता का साधन, नीति-युक्त वाणी की महत्ता, मिथ्या वचनों का दुष्परिणाम, विश्वासघात व विश्वासघाती की कड़े आलोचना व झूठी शपथ का दुष्परिणाम—

मतिनदीयं नाम सर्वेषां प्राणिनामुभयतो बद्धात् पापाय धर्माय च, तत्राद्यं स्रोतोऽतीव सुलभं
दुर्लभं तद् द्वितीयमिति ॥ ७८ ॥ सत्येनापि शप्तव्यं महतामभयप्रदानवचनमेव शपथः
॥ ७९ ॥ सनामसतां च वचनायत्ताः खलु सर्वे व्यवहाराः स एव सर्वलोकमहनीयो यस्य वचन-
मन्यमनस्कतयाप्यायातं भवति शासना ॥ ८० ॥ नयोदिता वाग्वदति सत्या द्यौः सरस्वती ॥ ८१ ॥
व्यमिषाग्वचनेषु नैहिकी परलौकिकी वा क्रियास्ति ॥ ८२ ॥ न विश्वासघातात् परं
पातकमस्ति ॥ ८३ ॥ विश्वासघातकः सर्वेषामविश्वासं करोति ॥ ८४ ॥ असत्यसन्धिषु
काशपानं जातान् हन्ति A ॥ ८५ ॥

१ तथा च जैमिनिः—अग्नयश्च तथा अस्तं तथास्मात्ति च वादिनं । यो हन्याद्देविकं सख्ये ब्रह्महत्यां समरजुने ॥ १ ॥

२ तथा च भारद्वाजः—संग्रामे वेरिणो ये च यायिनः स्वायिनो वृताः । गृहोत्ता मोक्षनीयास्ते क्षात्रधर्मैव पूजिताः ॥ १ ॥

३ तथा च श्रीकृष्णः—यायिना समर्गस्तु स्वायिनः संग्रहयति । यदि सेनापतेरिच्छते रोचते नान्यथैव तु ॥ १ ॥

A इसके पश्चात्—५० सू० प्रति में 'असत्यवादिनो मृतस्यापि हि न दुर्दृशो विनश्यति ॥ १ ॥ सकृदुचिता
वमितिर्वैरपि निवारयितुं न शक्यते ॥ २ ॥ तथाहि धर्मपुत्रः किलासत्यमभाषतापीतमद्यमित्यन्यथाप्यस्ति
दुष्प्रसिद्धिः ॥ ३ ॥ यतोवधः प्राणवधादुपरीयात् ॥ ४ ॥ इसप्रकार विशेष पाठ सर्वमान्य है, जिसका अर्थ यह है
कि मिथ्यावादीका अपयश मरने पर भी नष्ट नहीं होता, फिर जीवित अवस्था में किस प्रकार नष्ट होसकता है ?
एक बार असत्यभाषण यात्रि दुर्गुणों से फैलाहुआ अपयश देवताओं द्वारा भी निवारण नहीं किया जासकता ।
जैसे 'महामत्त के समय पुष्टिद्वि ने अत्यधिकमद्यपान करके मिथ्या भाषण किया' यद्यपि यह बात झूठ है,
तथापि उनकी अरकीर्ति जनसाधारण में सुनी जाती है ।

उक्त ऐतिहासिक दृष्टान्त का स्पष्टीकरण—

(संक्षेप शक्तिम पूरके नीचे)

अर्थ—आश्चर्य है कि संसार में मनुष्य मात्र की बुद्धि रुद्र नदी पाप व पुण्य दोनों तरफ बहा करती है। उनमें से उसका पहला पाप की ओर बहाव अत्यन्त सुलभ-सरलता से होने वाला और दूसरा धर्म की ओर बहाव महाकठिन है। सारांश यह है कि मनुष्यों की बुद्धि नीति विरुद्ध व स्वाभाविक संस्कारों—जुआ व मद्यपानादि पाप कार्यों में स्वतः प्रवृत्त होती है, परन्तु अहिंसा व सत्य आदि नैतिक शुभ कार्यों में साधारण प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती; इसलिये कल्याण की कामना करने वाले नैतिक पुरुष को अपनी बुद्धि नीति व अनाचार से हटा कर नीति व सदाचार की ओर प्रेरित करने में प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ ७८ ॥

गुरु ने भी मनुष्यों की बुद्धि रुद्र नदी के पाप और पुण्य इन दोनों ओरों का उल्लेख किया है ॥

बादीनसिंह सूरि * ने भी प्राणियों की बुद्धि स्वाभाव में स्वतः प्रवृत्त होने वाली और शुभ में अनेक प्रयत्नों द्वारा भी प्रवृत्त न होने वाली कहा है।

नैतिक मनुष्य को दूसरों के हृदय में अपना विश्वास उत्पन्न करने के लिये सच्ची शपथ—नीगंध (कसम) खानी चाहिये, झूठी नहीं, अभयदान देने वाले प्रामाणिक वचन बोलना ही महापुरुषों की सौगंध है, अन्य नहीं ॥ ७९ ॥

शुक † ने भी उत्तम पुरुषों की शपथ के बारे में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

कौरवों व पाण्डवोंके गुरु द्रोणाचार्यके एकमात्र पुत्रका नाम 'अश्वत्थामा' एवं कौरवों की सेनामें वर्तमान हाथी का नाम भी अश्वत्थामा था। महाभारत के युद्धमें गुरु द्रोणाचार्यकी यह प्रतिज्ञा थी कि यदि मेरा एकमात्र पुत्र 'अश्वत्थामा' मारा जायगा तो मैं युद्ध नहीं करूंगा। कौरवों की तरफसे युद्ध करने वाले और गुरु द्रोणाचार्य को जीतना पाण्डवोंके लिये टेढ़ी खीर थी, इसलिये उन्होंने गुरु द्रोणाचार्य को युद्ध से अलग करनेको राजनैतिक धाक मारी। एक समय जब पाण्डवों द्वारा कौरव-सैन्यका अश्वत्थामा नामका हाथी धराशायी किया गया और विश्वामुखसिंह मारा गई एवं 'अश्वत्थामा मृतः अश्वत्थामा मृतः' इस प्रकार अश्वत्थामा नाम के गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र के मरनेका शोर किया गया, उसे द्रोणाचार्य ने सुना। परन्तु उन्हें शत्रुत्व की कड़ी हुई बात पर सहसा विश्वास नहीं हुआ, इसलिये उन्होंने इसका निरन्धव करने के लिये सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा। कृष्ण, अर्जुन व भीमद्वारा धर्मराज युधिष्ठिर पेले काजसर पर मिथ्याभाषण के लिये बाध्य किये गये अतः इनकेद्वारा प्रेरित युधिष्ठिरने 'अश्वत्थामा नाम का हाथी ही मारा गया है न कि गुरु द्रोणाचार्यका पुत्र' यह जानते हुए भी 'अश्वत्थामा मृतः मरा वा कुम्भरोषा' अर्थात् 'अश्वत्थामा मर चुका है, परन्तु वह मनुष्य है? अथवा हाथी इसे मैं नहीं जानता' इस प्रकार मिथ्याभाषण कर जाता। पाण्डवोंकी तरफ से ऐसे जाने वाले राजनैतिक धाक-पैचों से गुरु द्रोण 'अश्वत्थामा मृतः मरा' इतना ही सुन लके इसलिये उन्हें धर्मराज युधिष्ठिर की बात पर विश्वास हो गया और पुत्रशोक-से व्याकुल होकर स्वर्गवास को प्राप्त हुए। सारांश यह है कि एकबार मिथ्याभाषण करने से युधिष्ठिर की अभी भी कटु आलोचना की जाती है कि उन्होंने ने मद्यदान करके मिथ्याभाषण किया ॥ १-३ ॥ दूसरेकी कीर्तिका जोर करना उसके प्राणों के घात से भी अधिक हानिकर है ॥ ४ ॥

१ तथा च गुरुः—मतिनर्णम नदी यथात्ता वापधर्मोत्तमा नृणां। द्विजोतः प्रथमं तस्याः दापोधर्मस्तथापरं ॥ १ ॥

२ तथा च बादीनसिंहसूरिः— हेमे स्वयं त्वकी बुद्धिर्धर्मेनाप्यसती शुभे ॥ १ ॥

३ तथा च शुकः— उत्तमानां नृणामत्र यत्राश्रयमययद्। स एव सत्यः शपथः किमन्यैः शपथैः कृतैः ॥ १ ॥

लोक में सत्पुरुष व असत्पुरुषों के सभी व्यवहार उनके द्वारा कहे हुए वचनों पर निर्भर होते हैं, इसलिये नैतिक व्यक्ति को अपने कहे हुए वचनों का पालन करना चाहिये। जिसके वचन मानसिक उपयोग के बिना भी कहे हुए लिखित स्वरूप के समान प्रामाणिक-लक्ष्य होते हैं, वही पुरुष लोक में समस्त मनुष्यों द्वारा पूज्य होता है ॥८०॥

शुक्र * ने भी सत्यवादी को समस्त मनुष्यों द्वारा पूज्य माना है ॥ १ ॥

शिष्ट पुरुषों द्वारा कही जाने वाली नैतिक बाणी साक्षात् सरस्वती के समान प्यारी प्रतीत होती है ॥ ८१ ॥

गौतम * भी सज्जनों की मति-युक्त बाणी को साक्षात् सरस्वती के समान मानता है ॥ ८२ ॥

जो प्रामाणिक (सत्य) वचन नहीं बोलते, उनकी ऐहिक वा पारलौकिक क्रियाएँ (कृतव्य) निष्फल होती हैं ॥ ८२ ॥

गौतम * ने भी मिथ्यावादी को ऐहिक वा पारलौकिक कल्याण से वंचित कहा है ॥ १ ॥

लोक में विश्वासघात से बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं अतः शिष्ट पुरुष कदापि किसी के साथ विश्वासघात न करे ॥ ८३ ॥

अङ्गिर * ने भी विश्वासघात को महान् पाप बताकर उसका त्याग कराया है ॥ १ ॥

विश्वासघाती अपने ऊपर सभी लोगों का अविश्वास उत्पन्न करता है अर्थात् उस पर कोई भी विश्वास नहीं करता ॥ ८४ ॥

रैभ्य * ने भी विश्वासघाती के ऊपर उसके माता-पिताका भी विश्वास न होना बसाया है ॥ १ ॥

भूमी प्रतिष्ठा करने वालों द्वारा खाईजाने वाली भूमी खोगन्ध उनकी सम्पत्ति-हानि कर डालती है ॥ ८५ ॥

किसी विद्वान् * के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

सैन्य की व्यूह-रचना के कारण व उसकी स्थिरता का समय, दुर्द-शस्त्र, शत्रु के नगर में प्रविष्ट होने का अधसर, कूट युद्ध व तूष्णी युद्ध का स्वरूप व अकेले सेनाध्यक्ष से हानि—

बलं बुद्धिर्भूमिर्ग्रहानुलोम्य* परोद्योगश्च प्रत्येकं बहुविकल्पं दण्डमण्डलाभोगा संहतव्यूह-

१ तथा च शुक्रः—स एव पूज्यो लोकानां यद्वाक्यमपि शासनं । बिस्तीर्णप्रतिष्ठं च लिखितं शासनं यथा ॥ १ ॥

२ तथा च गौतमः—नोत्पात्तिकात्र वा वाणी प्रोष्यते साधुभिर्जनैः प्रत्यक्षा मारुतो ह्येषा विकल्पो नास्ति कश्चन ॥ १ ॥

३ तथा च गौतमः—न तेषामिह लोकोऽस्ति न परोऽस्ति दुरात्मनां । यैरेव वचनं प्रोक्तमन्यथा जायते पुनः ॥ १ ॥

४ तथा च अङ्गिरः—विश्वासघातकावन्व्यः परः पातकसंयुतः । न विद्यते धरापृष्ठे तस्मात् दूरतस्तत्रैव ॥ १ ॥

५ तथा च रैभ्यः—विश्वासघातको यः स्थातस्य माता वितापि च । विश्वासं न करोत्येव शत्रोर्वान्येषु का ५.४६ ॥ १ ॥

६ तथा चोक्तम्—यदसत्यं जने कोशपानं तद्विह निश्चितं । करोति पुत्रप्राप्तां घातं भोजनमुज्ज्वलं ॥ १ ॥

रचनाया हेतवः ॥ ८६ ॥ साधुरचिताऽपि व्यूहस्तावत्तिष्ठति यावन्न परबलदर्शनं ॥ ८७ ॥
न हि शास्त्रशिक्षाक्रमेण यादृच्यं किन्तु परग्रहाराभिप्रायेण ॥ ८८ ॥ व्यसनेषु प्रमादेषु वा
परपुत्रे सैन्यप्रेषणमवस्कन्दः ॥ ८९ ॥ अन्याभिमुखं प्रयाणकमुपक्रम्यान्वोपधातकरणं कूट-
युद्धं ॥ ९० ॥ विषविषमपुरुषोपनिषदवाग्योगोपजापैः परोपधातानुष्ठानं तूष्णीदण्डः ॥ ९१ ॥
एकं बलस्याधिकृतं न कुर्यात्, भेदापराधैरेकः समर्थो जनयति महान्तमनर्थं ॥ ९२ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार का सैन्य (हाथी व घोड़े आदि), बुद्धि, विजिगीषु के ग्रहों की अनुकूलता, शत्रु द्वारा की जाने वाली लड़ाई का उद्योग और सैन्य मंडल का विस्तार ये संगठित सैन्य व्यूह (विन्यास) की रचना के कारण हैं अर्थात् इतक कारण सामग्री के सन्निधान से विजिगीषु द्वारा सैन्य-व्यूह की रचना की जाती है ॥ ८६ ॥ अच्छी तरह से रचा हुआ सैन्य-व्यूह तब तक ठीक व स्थिर-रहता रहता है, जब तक कि उसके द्वारा शत्रु-सैन्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अभिप्राय यह है कि शत्रु-सेना दिखाई पड़ने पर विजिगीषु के वीर सैनिक अपना व्यूह छोड़ कर शत्रु की सैन्य में प्रविष्ट होकर उत्तम भयङ्कर युद्ध करने भिड़ जाते हैं ॥ ८७ ॥

शुक्र^१ ने भी सैन्य की व्यूह रचना के विषय में इसी प्रकार का उल्लेख किया है ॥ १ ॥

विजिगीषु के वीर सैनिकों को युद्ध शास्त्र की शिक्षानुसार युद्ध न कर शत्रु द्वारा किए जाने वाले प्रहारों के अभिप्राय से—उन्हें ध्यान में रखते हुए—युद्ध करना चाहिए ॥ ८८ ॥

शुक्र^२ ने भी लड़ाई करने का यही तरीका बताया है ॥ १ ॥

जब शत्रु मरणान आदि व्यसनों व आलस्य में फसा हुआ हो, तब विजिगीषुको अपना सैन्य उसके नगर में भेजकर व प्रविष्ट करके उसके द्वारा शत्रु नगर का घेरा डालना चाहिए ॥ ८९ ॥

शुक्र^३ ने भी विजिगीषु को फौज के प्रवेशका यही अवसर बताया है ॥ १ ॥

दूसरे शत्रु पर चढ़ाई प्रकट करके वहां से अपना सैन्य लौटा कर युद्ध द्वारा जो अन्य शत्रु का वध किया जाता है उसे कूट युद्ध कहते हैं ॥ ९० ॥

शुक्र^४ ने भी कूट युद्ध का इसी प्रकार लक्षण किया है ॥ १ ॥

विष-प्रदान, घातक पुरुषों को भेजना, एकान्त में चुपचाप स्वयं शत्रु के पास जाना व भेद-नोचि इन उपायों द्वारा जो शत्रु का घात किया जाता है, उसे 'तूष्णी युद्ध' कहते हैं ॥ ९१ ॥

शुक्र^५ ने भी उक्त उपायों द्वारा किए जाने वाले शत्रु वध को तूष्णी युद्ध कहा है ॥ १ ॥

१ तथा च शुक्रः—व्यूहस्य रचना तावत्तिष्ठति शास्त्रनिर्मिता । यावद्वन्द्वद्वलं नैव दृष्टिगोचरमागतं ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—शिक्षाक्रमेण नो युद्धं कर्तव्यं रणसंकुले । प्रहारान् प्रेष्य शत्रूणां तदर्थं युद्धमाचरेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—व्यसने वा प्रमादे वा संसक्तः स्यात् परो यदि । तदावस्कन्ददानं च कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—अन्याभिमुखमार्गेण गत्वा किञ्चित् प्रयाणकं । व्यावृट् घातः क्रियते सर्वैव कुटिलाशयः ॥ १ ॥

५ तथा च शुक्रः—विषदानेन चोऽन्यन्य दहनेन क्रियते वधः । अभिचारकृत्येन विषो भीनाहवो हि सः ॥ १ ॥

राजा किसी अकेले व्यक्ति को सैन्याधिकारी न बनावे, क्योंकि अकेला सैन्याधिकारी स्वेच्छा-चारी और सेना के कारण राजा से भी अधिक शक्तिशाली होता है, इसलिये वह शत्रु द्वारा कोड़े खाने के अपराध-वश अपने स्वामी से प्रतिकूल होकर सेना की सहायता से किसी समय राजा का व राष्ट्र का महान् अनर्थ उत्पन्न कर सकता है ॥ ६२ ॥

भागुरि* ने भी अकेले व्यक्ति को सैन्याध्यक्ष बनाने से उक्त प्रकार की हानि बताई है ॥ १ ॥

शत्रुही राजा, वीरता से जाग्र, युद्ध से विमुख होने वाले की हानि, युद्ध के लिये प्रस्थान करने वाले राजा का व पर्वतनिवासी गुप्तचरों का कर्त्तव्य, सेना के पड़ाव-योग्य स्थान, अयोग्य पड़ाव से हानि व शत्रु-भूमि में प्रविष्ट होने के विषय में राज्ञ-कर्त्तव्य—

राजा राजकार्येषु मृतानां सन्ततिमपोषयन्नृणभागी स्यात् साधु नोपचर्यते तत्रेश ॥ ६३ ॥
स्वामिनः पुरः सरणं युद्धेऽश्वमेधसमं ॥ ६४ ॥ युधि स्वामिर्न परित्यजतो नास्तीहामुत्र च
कुशलं ॥ ६५ ॥ विग्रहायोच्चलितस्याद्धिं बलं सर्वदा सन्नद्धमासीत्, सेनापतिः प्रयाणमात्रासं
च कुर्वीत चतुर्दिशमनीकान्यदूरेण संचरेयुस्तिष्ठेयुरच ॥ ६६ ॥ धूमान्निरजोविष्णुध्वनि-
व्यार्जनाटविकाः प्रणधयः परबलान्यामच्छन्ति निवेदयेयुः ॥ ६७ ॥ पुरुषप्रमाणोत्सेधमवहुजन-
विनिवेशनाचरणापसरणयुक्तमग्रतो महामण्डपात्रकाशं च तदंगमध्यास्य सर्वदा स्थानं दधान्
॥ ६८ ॥ सर्वसाधारणभूमिकं तिष्ठतो नास्ति शरीररक्षा ॥ ६९ ॥ भूचरो दोलाचरस्तुरंग-
चरो वा न कदाचित् परभूमौ प्रविशेत् ॥ १०० ॥ करिणं जपाशं वाप्यध्यासीनं न प्रभवन्ति
क्षुद्रोपद्रवाः ॥ १०१ ॥

अर्थ—यदि राजा राजकीय कार्यों—युद्ध-आदि में मरे हुए सैनिक-आदि सेवकों की सन्तति-पुत्र-पौत्रा-दि का पालन-पोषण नहीं करता, तो वह उनका शत्रुही रहता है और ऐसा अनर्थ करने से प्रतिकूल हुए मंत्री-आदि प्रकृतिवर्ग भी उसकी भली-भांति सेवा नहीं करते । अतएव राजा को राजकीय कार्यों में निधनता को प्राप्त हुए सेवकों की सन्तति का पालन-पोषण करना चाहिये ॥ ६३ ॥

वशिष्ठ* ने भी युद्ध में मारे गये सैनिकों की सन्ततिका पालन-पोषण न करने वाले राजा को निरसन्देह उनकी हत्या का पाप होना बताया है ॥ १ ॥

लड़ाई में अपने स्वामी से आगे जाकर शत्रु से युद्ध करने वाले वीर सैनिक को अश्वमेध यज्ञ सम्मान फल मिलता है । विमर्श यह है कि लौकिक दृष्टि से उक्त वडाहरण समझना चाहिये, क्योंकि धार्मिक दृष्टि से अश्वमेध यज्ञ में संकल्पी स्थूल जीवहिंसा होती है, अतः उसका करने वाला—अनिष्ट फल—दुर्गति के भयानक दुःख भोगता है, जिसका स्पष्टीकरण यशस्तिलक में इन्हीं आचार्यों भी ने भी किया है ॥ ६४ ॥

१ तथा च भागुरिः— एकं कुर्यान्न सैन्येशं सुसमर्थं विदोषतः । अनाकुष्टः परैर्मर्दे कदाचित् स परैः क्रियात् ॥ १ ॥

२ तथा च वशिष्ठः— मृतानां पुरतः संख्ये योऽप्यवति न पोषयेत् । तेषां लक्ष्मणाः ? तूर्णं गृह्यते मात्र संशयः ॥ १ ॥

वशिष्ठ^१ ने भी इसी प्रकार वीर सैनिकों की प्रशंसा की है ॥१॥

जबार्ह में अपने स्वामी को छोड़कर युद्ध भूमि से भाग जाने वाले सैनिक का ऐहजौकिक व पार-लौकिक कल्याण नहीं होता। अर्थात्—रणेऽपलायनं—युद्ध से न भागना—इस क्षात्र धर्म का त्याग करने से उसकी इस लोक में अपकीर्ति व परलोक में दुर्गति होती है ॥६॥

भागुरि^२ ने भी युद्ध से पराङ्मुख होने वाले सैनिक के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जब विजिगीषु शत्रु से युद्ध करने के लिये प्रस्थान करे, उस समय उसका सेनाध्यक्ष आधी फौज सदा तैयार—शस्त्राविस सुसज्जित रखे, इसके पश्चात् ही विजिगीषु शत्रु पर चढ़ाई करे और जब वह शत्रु-सैन्य के आवास (निवास-स्थान) की ओर प्रस्थान करने में प्रयत्नशील होवे, तब उसके समीप चारों तरफ फौज का पहरा रहे एवं उसके पीछे डेरे में भी फौज मौजूद रहनी चाहिये। इसका कारण यह है कि विजिगीषु कितना ही शक्तिशाली हो, परन्तु वह चढ़ाई के समय व्याकुल हो जाता है और शूरीर लोग उस पर प्रहार कर देते हैं ॥८॥

शुक^३ ने भी शत्रुभूमि के प्रति प्रस्थान करनेवाले राजाओंको सदा सावधान रहना बताया है।

जब विजिगीषु दूरवर्ती हो और शत्रुकी फौज उसको ओर आ रही हो, ऐसे अवसर पर जंगल में रहने वाले उसके गुप्तचरों को चाहिए कि वे धुंधा करने, आग जलाने, धूल उड़ाने, अथवा भैंसे के सींग फूंकने का शब्द करने के बहाने उसे शत्रु की फौज आने का बोध करावें ताकि उनका स्वामी सावधान हो जावे ॥ ६७ ॥

शुक^४ ने भी पर्वतों पर रहने वाले गुप्तचरों का यही कर्तव्य बताया है ॥ १ ॥

विजिगीषु शत्रु के देश में पहुँच कर अपनी फौज का पड़ाव ऐसे स्थान में डाले जो कि मनुष्य की ऊँचाई माफक ऊँचा हो, जिसमें थोड़े आदमियों का प्रवेश, घूमना तथा निकास हो जिसके आगे विशाल सभामंडप के लिये पर्याप्त स्थान हो, उसके मध्य में स्वयं ठहर कर उसमें अपनी सेना को ठहरावे। सर्वसाधारण के आने जाने योग्य स्थान में सैन्य का पड़ाव डालने व स्वयं ठहरने से विजिगीषु अपनी प्राण-रक्षा नहीं कर सकता ॥ ६८ ॥

शुक^५ ने भी सैन्य के पड़ाव के बारे में यही कहा है ॥ १ ॥

विजिगीषु पैदल, पालकी अथवा घोड़े पर चढ़ा हुआ शत्रु की भूमि में प्रविष्ट न होवे, क्योंकि ऐसा करने से जब उसे अचानक शत्रु-कुल उपद्रवों का भय प्राप्त होगा, तब वह उन से अपनी रक्षा नहीं कर सकता ॥ १०० ॥

१ तथा वशिष्ठः—स्वामिनं पुरतः संकये हन्स्वास्मान् च सेवकः । यत्प्रमाद्यामि यागानि ताम्बहन्तेति कलामि च ॥ १ ॥

२ तथा च भागुरिः—यः स्वामिनं परित्यज्य युद्धे पाति पराङ्मुखः । इहाकीर्तिं परां प्राप्य मृतोऽपि नरकं गतेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुकः—परभूमिप्रतिष्ठानं नृपतोनां शुभं भवेत् । आवासे च प्रयागे च यतः शत्रुः परीक्षते ॥ १ ॥

४ तथा च शुकः—प्रभौ वृश्चिक्ते बैरी वदागच्छति सन्निधौ । भूसादिभिनिवेशः स चरैश्चारयसंभवैः ॥ १ ॥

५ तथा च शुकः—परदेशं गतो यः स्वाय सर्वसाधारणं नृपः । आस्थानं कुरुते भूदो जातकैः स निहन्वते ॥ १ ॥

गुरु^१ ने भी उक्त प्रकार विजिगीषु को शत्रुद्वारा दातेजाने का संकेत किया है ॥ १ ॥

जब विजिगीषु हाथी अथवा जंपान (बाहन विशेष) पर आरोढ़ हुआ शत्रु-भूमिमें प्रविष्ट होता है, तो उसे लुट्ट उपद्रवों-शत्रु द्वारा मारा जाना आदि—का भय नहीं होता ॥ १०१ ॥

भागुरि^२ ने भी उक्त प्रकार से शत्रु-भूमि में प्रस्थान करने वाले विजिगीषु को सुरक्षित कहा है ॥ १ ॥

इति युद्ध-समुद्देश ।

३१-विवाह-समुद्देश ।

काम सेवनकी योग्यता, विवाह का परिणाम, लक्षण, ब्राह्म, दैव आदि चार विवाहों का स्वरूप व श्रेष्ठता—

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षाः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ॥ १ ॥ विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातु-
वर्षयः कुलीनयति ॥ २ ॥ युक्तितो वरणाविधानमाग्निदेव-द्विजसत्त्विकं च पाणिग्रहणं विवाहः
॥ ३ ॥ स ब्राह्म्यो विवाहो यत्र वरायालोकृत्य कन्या प्रदीयते ॥ ४ ॥ स दैवो यत्र यज्ञाथंमृ-
त्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा ॥ ५ ॥ गोमिथुनपुंगवः सरः कन्यादानादार्णः ॥ ६ ॥ 'त्वं भवास्य
महाभागस्य सहधर्मचारणीति' विनियोजेन कन्याप्रदानात् प्राजापत्यः एते चत्वारो
धर्म्या विवाहाः ॥ ७ ॥

अर्थ—१२ वर्ष की स्त्री और १६ वर्ष का पुरुष ये दोनों काम सेवन की योग्यतावाले होते हैं ॥ १ ॥ विवाहपूर्वक किये जानेवाले कामसेवन से चारों वर्णों की सन्तान में कुलीनता उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

राजपुत्र^३ जैमिनि^४ ने भी कामसेवन की योग्यता व कुलों एवं शुद्ध सन्तानोत्पत्ति उक्त प्रकार समयेन किया है ॥ १—२ ॥

युक्ति से कन्या का वरण निश्चय करके अग्नि देव व ब्राह्मण की साक्षी पूर्वक वर द्वारा कन्या का जो पाणिग्रहण किया जाता है उसे विवाह कहते हैं ॥ ३ ॥ विवाहके आठ भेद हैं—ब्राह्म्य, दैव, आर्ण, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, पैशाच और राजस विवाह । उनमें से जिसमें कन्या के पिता आदि

१ तथा च गुरुः - परभूमिं प्रविष्टो यः पारदारी परिभ्रमेत् । इये स्थितो वा दोलायां घातकैर्दण्ड्यते हि सः ॥ १ ॥

२ तथा च भागुरिः - परभूमौ महीपालः कुर्यात् यः समाश्रितः । वज्रम् जंपणमभ्यास्य तस्य कुर्वन्ति किं परे ॥ १ ॥

३ तथा च राजपुत्रः—यदा द्वादशवर्षा स्यान्नारी षोडशवर्षिकः । पुरुषः स्यात्तदा रंगस्ताभ्यां मैथुनजः परः ॥ १ ॥

४ तथा च जैमिनिः—सुवर्णकन्यका यस्तु विवाहयति धर्मेतः । सन्तानं तस्य शुद्धं स्वान्नाकृत्यैव प्रवर्तते ॥ १ ॥

संचक अपनी शक्ति-अनुसार कन्या को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके चर के लिये कन्या प्रदान करते हैं, वह 'ग्राह्म्य विवाह' है ॥ ४० ॥

भारद्वाज^१ और किसी विद्वान्^२ ने भी उक्तप्रकार विवाह का लक्षण एवं भेद निरूपण किये हैं ॥ १-२ ॥

जिसमें यज्ञ (हवन आदि) कर्त्ता के लिये यज्ञ के निमित्त संरक्षकों द्वारा दक्षिणारूप में कन्या दी जाती है, वह 'दैव विवाह' है ॥ ५ ॥ जिसमें गौमिथुन (गाय बैल का जोड़ा) आदि दहेज देकर कन्या दी जाती है, वह 'आर्ष विवाह' कहते हैं ॥ ६ ॥

गुरु^३ व किसी विद्वान् ने भी 'दैव और आर्ष विवाह'के उक्त प्रकार लक्षण किये हैं ॥ १-२ ॥

तु इस अष्टाध्यायशाली की सार्वभौमिकता (सर्वगतता) धर्म में सहायता पहुँचाने वाली धर्म परम्परा)को, इसप्रकार नियोग करके जहाँ पर कन्या प्रदान की जाती है, वह 'प्राजापत्य विवाह' है ॥ ७ ॥

गुरु^४ ने धनिक पुरुष द्वारा धनिक के लिये अपनी कन्या दी जाने को 'प्राजापत्य विवाह' माना है ॥ १ ॥

ये पूर्वोक्त चारों विवाह धर्मरूप—न्याय-संगत (श्रेष्ठ) हैं ॥ ८ ॥

गान्धर्व आदि विवाहों के लक्षण व उनकी समालोचना एवं विवाह की अयोग्यता प्रगट करने वाले कन्या-दूषण—

मातुः पितुर्बन्धूनां चाग्रामाण्यात् परस्परानुरागेण मिथः समवायाद्गान्धर्वः ॥८॥ पणवन्धेन कन्याप्रदानादासुरः ॥ १० ॥ सुप्तप्रभक्तकन्यादानार्त्तशाचः ॥ ११ ॥ कन्यायाः प्रसह्या-दानाद्राक्षसः १२ एते चत्वारोऽधमा अपि नाभ्यां यद्यस्ति वधूवरयोरनपवादं परस्परस्य भाव्यत्वं ॥ १३ ॥ उग्रतत्वं कर्त्तृनिकयाः, लोभशत्वं जंघयोरमांसलत्वमूर्वोरचारुत्वं कटिनाभिजठर-कुचयुगलेषु, शिरालुत्वमशुभ संस्थानत्वं च बाह्वोः, कृष्णत्वं तालुजिह्वाधरहरीतकीषु, विरल-विषमभावो दशनेषु, कूपत्वं कपोलयोः, दिगलत्वमक्षलोर्लग्नत्वंपि (चि) झिकयोः, स्थपुटत्वं ललाटे, दुःसन्निवेशत्वं श्रवणयोः, स्थूलकपिलपुरुषभावः केशेषु, अतिदीर्घातिलघुन्यूनाधिकता समकटकुञ्जवामनकिराताङ्गत्वं जन्मदेहाभ्यां समानताधिकत्वं चेति कन्यादोषाः सदसा तद्-गृहे स्वयं दूतस्य चागतस्याग्रे अभ्यक्ता व्याधिमती रुदती पतिधनी सुप्ता स्तोकायुष्का बहिर्गता

१ तथा च भारद्वाजः—वरेण युक्तितो यच्च बह्विधाशक्त्यसक्तिकं । विवाहः प्रोच्यते शुद्धो योऽन्यस्य स्यात्तच्च विप्लवः ।
२ तदुक्तं—ग्राह्म्यो दैवस्तथैवार्थः प्राजापत्यस्तथापरः । गान्धर्वश्चासुरश्चैव पैशाचो राक्षसस्तथा
३ तथा च गुरुः—कृत्वा यज्ञविधाने तु यो ददाति च ऋत्विजः । समाप्तौ दक्षिणां कन्यां वैवं वैवाहिकं हि तत् ॥ १ ॥
४ तदुक्तं—कन्यां दत्त्वा पुनर्दद्याच्च गौमिथुनपरं । वराप दीयते सोऽत्र विवाहश्चार्थसंज्ञितः ॥ १ ॥
५ तथा च गुरुः—विनिता धनिनं यत्र विदधे कन्यकामिदं । सन्तानाय स विज्ञेयः प्राजापत्यो मनीषिभिः ॥ १ ॥

कुलटाऽप्रसन्ना दुःखिता कलहोद्यता परिजनोडासिन्यप्रियदर्शना दुर्मतेति नैता वृणीति
कन्याम् ॥ १४ ॥

अर्थ—जिसमें वर कन्या अपने माता पिता व बन्धुजनों को प्रमाणा न मान कर (उनकी उपेक्षा करके) पारस्परिक प्रेम-वश आपस में मिल जाते हैं—दान्परत्य प्रेम कर लेते हैं वह 'गान्धर्व विवाह' है ॥ १४ ॥ जिस में कन्या के संरक्षक (पिता आदि) लोभवश वर पक्ष से धनादि ले कर अयोग्य वर के किये कन्या प्रदान करते हैं उसे 'आसुर विवाह' कहते हैं ॥ १५ ॥ जिसमें मोती हुई व बेहोश कन्या का अपहरण किया जाता है, वह 'पैशाच विवाह' है ॥ १६ ॥ जिसमें कन्या बलात्कार पूर्वक (जबरदस्ती) लेजाई जाती है या अपहरण की जाती है, वह 'राक्षस विवाह' है ॥ १७ ॥

गुरु १ ने भी उक्त गान्धर्व अदि विवाहों के लक्षण निर्देश किये हैं ॥ १ ॥

यदि वर-कन्याका दान्परत्यप्रेम निर्दोष है तो उक्त चारों विवाह अघन्यश्रेणी के होनेपर भी उन्हें अन्याय-युक्त नहीं कहा जासकता ॥ १३ ॥

यदि कन्या में निम्न लिखित दूषण वर्तमान हों, तो उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिये जिसकी आँखों की तारकायें उठी हुई व जंघाओं में रोम वर्तमान हों एवं उक्त भाग अधिक पतल तथा कमर, नाभि, घट्टर और कुच कलश भरे हों । जिसकी भुजाओं में अधिक नसें हाँष्टगोचर हों और उस का आकार भी अशुभ प्रतीत हो । जिसके तालु, जिह्वा, व ओष्ठ हरङ्ग समान काले हों व दाँत बिरले और विषम (छोटे बड़े) हों । जिसके गालों में गड्ढे, आँखें पाली घट्टर समान रंग वाली हों । जिसकी दोनों भ्रुकटियां जुड़ी हुई, मस्तक जिसका ऊँचा-नीचा और ओष्ठों की आकृति मट्टी एवं केश, मोटे, भुरे व रुच हों । जो बहुत बड़ी व छोटी हो । जिसके कमर के पार्श्वभाग सम हों जो कुबड़ी बीनी व भीलों के समान अङ्गों वाली हो । जो वर के बराबर आयु वाला या उससे बड़ी हो, जो वर के यहां से आये हुये दूत के समस्त एकान्त में प्रकट होती हो । इसी प्रकार बीमार, रोती हुई, पतिका घात करने वाली, सोती हुई, क्षीण आयु वाली, अप्रसन्न, दुःखी, बाहर निकली हुई (भयोश में न रहने वाली) व्यभिचारिणी, कलह-प्रिय, कुटुम्बियों का उजाड़ने वाली, कुरूप व जिसका भाग्य फूटा हो ॥ १४ ॥

पश्चिमदश की शिथिलता का कुप्रभाव, नया बधू की प्रचण्डता का कारण, उसके द्वारा तिरस्कार और द्वेष का पात्र पुरुष एवं उसके द्वारा प्राप्त होने योग्य प्रणय (प्रेम) का साधन तथा विवाह के योग्य गुण व उनके न होने से हानि—

शिथिले पाणिग्रहणे वरः कन्यया परिभूयते ॥ १५ ॥ सुखमपश्यतो वरस्यानमीलितलोचना
कन्या भवति प्रचण्डा ॥ १६ ॥ सह शयने दूष्णीं भवन् पशुवन्मन्येत ॥ १७ ॥ बलादा—

१. तथा च गुरुः—पितरौ समतिक्रम्य वरकन्या भवते पति । सागुराणां स्वर्गं च स गान्धर्व इति स्मृतः ॥ १ ॥

मूल्यं सारं गृहोत्था च पिता कन्यां च लोभतः । सुकृपामयं दूषणं विवाहस्यासुरो मतः ॥ २ ॥

सुप्तं बाध प्रमत्ता च । वो मत्वाप्य विवाहयेत् । कन्यकां सोऽत्र पैशाचो विवाहः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥

कदापि च बन्धुवर्गाणां हठाद्गुरुजनस्य च । गृह्णाति यो वरो कन्यां स विवाहस्तु राक्षसः ॥ ४ ॥

क्रान्ता जन्मविद्वेष्यो भवति ॥ १८ ॥ धैर्यं चातुर्याय स हि कन्याविस्मयः ॥ १९ ॥ सप्त—
विभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाहसम्बन्धः ॥ २० ॥ महतः पितुरेव योऽन्यमवगच्छति ।
अन्यस्य कन्या, पितुर्द्विगुणान् महतावज्ञायते ॥ २२ ॥ अन्यस्य महता सह संव्यवहारे महान्
व्ययोऽन्यथायः ॥ २३ ॥ वरं वेश्यायाः परिग्रहो नाविशुद्धकन्याया परिग्रहः ॥ २४ ॥
वरं जन्मनाशः कन्यायाः नाकुलीनेष्ववशेषः ॥ २५ ॥

अर्थ—वर-कन्या का पाणिग्रहण शिथिल हो जानेसे कन्याद्वारा वर तिरस्कृत किया जाता है ॥ १८ ॥ जब वर लज्जा के कारण अपनी नवा बधू के मुख की ओर दृष्टिपात नहीं करे और बधू अपने नेत्र उठाती हुई टकटकी लगाकर उसके मुखकमल की ओर सतृष्ण दृष्टि से देखती रहे, तब वह प्रचण्ड (वेश्या) हो जाती है ॥ १९ ॥

नारद १ च जैमिनि २ ने भी पाणिग्रहण की शिथिलता एवं नवा बधू की प्रचण्डता के विषय में यही बताया है ॥ १ ॥ जो वर अपनी नवा (नई) बधू के साथ एक स्थान में शयन करता हुआ लज्जा वश चुपचाप रहता है। अपना कर्तव्य पालन—(चतुरता पूर्वक संताप, हास्यादि) पतिव्रत का पालन—नहीं करता) उसे वह पशु समान मूल्य समझती है ॥ १७ ॥ यदि वर अपनी नई बधू के साथ अथर्वेस्ती काम-क्रीड़ा करने तत्पर होता है, तो उसकी बधू जन्मपर्यन्त उससे द्वेष करती रहती है ॥ १८ ॥ क्योंकि भवा बधू द्वारा प्राप्त होने वाला प्रणय (प्रेम) वर की धीरता व चतुराई के अधीन होता है। सारांश यह है कि यदि वर धीरता व चतुरता से अपनी नवा बधू के साथ प्रेम-पूर्ण दान-मानादि का वर्ताव करता है, तो उसे उसका प्रणय मिलता है, अन्यथा नहीं ॥ १९ ॥ समान ऐश्वर्य व कुटुम्ब-युक्त तथा विधम (भिन्न गोत्रवाले वर-कन्याओं में विवाह संबंध माना गया है ॥ २० ॥ क्योंकि ऐसा न होने पर जब धनाढ्य की कन्या दरिद्र वर प्राप्त करती है, तब वह अपने पिता के ऐश्वर्यसे वन्मत्त होकर अपने दरिद्र पति को नीचा गिनने लगती है। यदि निर्धन की कन्या धनाढ्य वर के साथ उवाही जाती है, तो वह अपने पिता की दुर्बलता के कारण अपने धनाढ्य पति द्वारा तिरस्कृत की जाती है ॥ २२ ॥ जब छोटा (साधारण) वैसे वाला बड़े (धनाढ्य) के साथ विवाह संबंध आदि व्यवहार करता है, तो वसमें उसका ज्यादा खर्च व आमदनी थोड़ी होती है ॥ २३ ॥ किसी प्रकार वेश्या का अङ्गीकार करना अच्छा है, परन्तु अशुद्ध (व्यभिचारिणी या असज्जातीय) कन्या के साथ विवाह करना उचित नहीं, क्योंकि इससे भविष्य में असज्जाति सन्तान उत्पन्न होने के कारण उसका मोक्षमार्ग बंद हो जाता है ॥ २४ ॥ २५ ॥

१ इसके पश्चात् सु० सू० प्रतिमें अष्टाधरि समुद्देश्य किं कुपुं कपजीविनः । किं दृके किं दृकाः कुपुं : कश्चित् इति कुमुदिताः । इस प्रकारका पद्यरूप पाठ विशेष पाया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार किंशुक (देधु) वृक्ष के फलशाली होनेपर भी उससे दृक (तोते) खाते नहीं उठा सकते क्योंकि वे भूले रहते हैं उसी प्रकार धनिक व कृषक (खेती) मनुष्य के धन से भी सेवकों का कोई लाभ नहीं हो सकता। प्राकरशिक अभिप्राय यह है कि कृषक व धनाढ्य पिता के प्रचुर धन से कन्या लाभ नहीं उठा सकती ॥ १ ॥ —सम्पादक

१ तथा च नारदः—शिथिलं पाणिग्रहणं स्यात् कन्याचरयोर्वदा । परिभूयते तदा भर्ता क्रान्तया तप्तभावतः ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—मुखं न धीरते भर्ता वेदिसध्ये व्यवस्थितः । कन्याया चीरमाणायाः प्रचण्डा सा भवेत्तदा ॥ १ ॥

का पैदा होते ही मर जाना अच्छा है, परन्तु उसका नीच कुलवाले वर के साथ विवाह करना अच्छा वसका नीच कुल में पैदा होना अच्छा नहीं ॥ २५ ॥

कन्या के विषय में, पुनर्विवाह में स्मृतिकारों का अभिमत, विवाह संबंध, स्त्री से लाभ, गृह का लक्षण, कुलबधू की रक्षा के उपाय, वेश्या का त्याग व उसके कुलागत कार्य—

सम्यग्दृष्ट्या कन्या तावत्सन्देहास्पदं यावन्न पाणिग्रहः A ॥ २६ ॥ विकृतप्रत्यूहाऽपि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ॥ २७ ॥ आनुलोम्येन चतुस्त्रिदिवर्षाः कन्याभाजनाः ब्राह्मणक्षत्रियविशः ॥ २८ ॥ देशापेक्षो मातुलसंबन्धः ॥ २९ ॥ धर्मसन्ततिरनुपहृता रतिगृहवार्तासुविहितत्वमाभिजात्याचारविशुद्धिर्देवद्विजातिधिवान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दार-कर्मणः फलं ॥ ३० ॥ गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुल्यकटसंघातः ॥ ३१ ॥ गृहकर्मवि-नियोगः परिभित्तार्थमस्त्यक्तं सदाधारः मातृव्यंजनस्त्रीजनावरोध इति कुलबधूनां रक्षणोपायः ॥ ३२ ॥ रजकशिलाकुर्कुरस्वर्परसमा हि वेश्याः कस्तास्वभिजातोऽभिरज्येत ॥ ३३ ॥ दानैर्दोषमिदं सत्कुतौ परोपभोग्यत्वं आसक्तौ परिभवां मरणं वा महोपकारेभ्यनात्मी-यत्वं बहुकालसंबन्धेऽपि त्यक्तानां तदेव पुरुषान्तरगामित्वमिति वेश्यानां कुलागतो धर्मः ३४

अर्थ—जब तक कन्या का विवाह-संस्कार नहीं होता, तब तक वह सन्देह का स्थान होती है, चाहे वह सवाचारिणी हो ॥ २६ ॥ जिसकी पहले सगाई की जा चुकी हो ऐसी कन्या का वर यदि विकृत—लूना लंगड़ा या काल-कवजित—हो गया हो, तो उसका पुनर्विवाह—अन्य वर के साथ विवाह करना योग्य है ऐसा स्मृतिकार मानते हैं ॥ २७ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अनुलोम (क्रम) से चारों तीनों व दोनों वर्ण की कन्याओं से विवाह करने के पात्र हैं। अर्थात् ब्राह्मण चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य व शूद्र) की और क्षत्रिय तीनों वर्ण (क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) की एवं वैश्य दोनों वर्ण (वैश्य व शूद्र) की कन्याओं के साथ विवाह कर सकता है ॥ २८ ॥ मामाका विवाह आदि संबंध देश व कुल की अपेक्षासे बोध्य समझा जाता है। अर्थात्—जिस देश व कुल में मामा पुत्रीका संबंध प्रचलित है, वहां उसे योग्य माना जाता है, सर्वत्र नहीं ॥ २९ ॥ धर्मपरम्पराका अनुगमन चलते रहना अथवा धार्मिक सञ्जाति सन्तान का लाभ होना, कामोपभोग में बाधा न आना, गृह व्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन, कुत्री व व आचार-शुद्धि, देव, ब्राह्मण अतिथि और धंधुजनों का निर्दोष सम्मान उक्त प्रकार के लाभ धर्मवर्ती द्वारा सम्पन्न होते हैं ॥ ३० ॥ जहां पर स्त्री वर्तमान है, उसे 'गृह' कहा जाता है न कि केवल लकड़ी पाषाण व मिट्टी के संघात से बने हुए गृह को ॥ ३१ ॥ कुलबधूओं की रक्षा क निम्न उपाय हैं - १-गृह के काम धंधों में निरन्तर लगाये रखना, २ उसे लार्च के लिये सीमित (घोड़ा) धन देना, ३ स्वच्छन्द न होने

A मु० मृ० प्रतिमें 'सम्यग्दृष्ट्या इत्यादि' पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जब तक कन्या का विवाह संस्कार नहीं होता तब तक वह बरी जले पर भी (सगाई होने पर भी) संदेह का स्थान रहती है। —सम्पादक

देना—सन्तान—संरक्षण—अदि उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यों में स्वतंत्रता देते हुए भी अपने अधीन रखना, ४ नीति एवं सदाचार की शिक्षा देना और माताके समान चिन्ह वाले स्त्रीजनोंद्वारा रोकरखना—अन्यत्र न जाने देना (बसन्ती शौकसी रखना) ॥ ३३ ॥ बेरयाएँ धोबीको शिक्षा, कुत्तेके स्वप्नपर समान सबे-साधारण व घृणास्पद होती हैं, उनमें कौन कौनों पुरुष अनुराग करेगा ? कोई नहीं ॥ ३३ ॥ बेरयाओं के निम्नप्रकार कुत्तपरम्परा से चले आने वाले कार्य हैं—१—दान करने में 'उनका भाग्य फूटा रहता है—जो कभी भी दान करना नहीं जानती, २—अनुरक्त पुरुषों द्वारा सम्मानित होने पर भी दूसरे पुरुषों से काम सेवन कराना, ३—आसक्त पुरुषोंका तिरस्कार वा घात करना, ४—अनुरक्त पुरुषोंद्वारा महाम् उपकार किये जानेपर भी उनके प्रति अपनापन प्रगट न करना एवं ५—अनुरक्त पुरुषोंके साथ बहुत समयतक प्रेम संबंध रहने पर भी उनके द्वारा छोड़ दी जाने पर अन्य पुरुषों से रीति कराना ॥ ३४ ॥

इति विवाह समुद्देश ।

—०—

३२—प्रकीर्णक समुद्देश ।

प्रकीर्णक व राजा का लक्षण, विरक्त एवं अनुरक्त के चिन्ह, काव्य के गुण-दोष, कवियों के भेद तथा लाभ, गीत, वाद्य तथा नृत्य-गुण—

समुद्र इव प्रकीर्णकसूक्ततरत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकः ॥ १ ॥ वर्णपदवाक्यप्रमाणप्रयोगनि-
ष्णातमतिः सुमुखः सुव्यक्तो मधुरगम्भीरध्वनिः प्रगल्भः प्रतिभावान् सम्पगूढापोद्भावधारण-
गमकशक्तिसम्पन्नः संप्रज्ञातसमस्तलिपि भाषावर्णाश्रमसमयस्वपरव्यवहारस्थितिराशुलेखनवाचन
समर्थश्चेति सान्धिविग्रहिकगुणाः ॥ २ ॥ कथाव्यवच्छेदो व्याकुलत्वं मुखे वैरस्यमनवेक्षणं स्थान-
त्यागः साध्याचरितेपि दोषोद्भावर्न विज्ञप्तेच मौनमलमाकालयापनमदर्शनं वृथाभ्युपगमश्चेति
विरक्तलिङ्गानि ॥ ३ ॥ दूरादेवेक्षणं, सुखप्रसादः संप्रशनेष्वादरः प्रियेषु वस्तुषु स्मरणं, परांचो
गुणग्रहणं तत्परिवारस्य सदानुवृत्तिरित्यनुरक्तलिङ्गानि ॥ ४ ॥ श्रुतिसुखत्वमपूर्वाविरुद्धार्थाति-
शययुक्तत्वमुभयालंकारसम्पन्नत्वमन्यूनाधिकवचनत्रयमतिव्यक्तान्वयत्वमिति काव्यस्य गुणाः
॥ ५ ॥ अतिपरुषवचनविन्यासत्वमनन्वितमतार्थत्वं दुर्वोधानुपपन्नपदापन्यासमयथार्थयतिविन्या-
सत्यमभिधानाभिधेयशून्यत्वमिति काव्यस्य दोषाः ॥ ६ ॥ वचनकविरर्थकविरुभयकविश्चित्रक-
विर्वर्णकविदुष्करकविरौचकीसतुषाभ्यवहारी चेत्यष्टौ कवयः ॥ ७ ॥ मनःप्रसादः कलामु-
कौशलं सुखेन चतुर्वर्गविषयाव्युत्पत्तिः (संसारं च यश इति कविसंग्रहस्य फलं ॥ ८ ॥ आ-
लप्तिशुद्धिर्माधुर्यातिशयः प्रयोगसौन्दर्यमतीवमसृणतास्थानकम्पितकुहरितादिभावो रागान्त-
रसंक्रान्तिः परिगृहीतरागनिर्वाहो हृदयग्राहिता चेति गीतस्य गुणाः ॥ ९ ॥ समस्वं ताला-

नुययित्वं गेयाभिनेयानुगतत्वं एलक्ष्यत्वं प्रव्यक्तयतिप्रयोगत्वं श्रुतिसुखावहत्वं चेति वाद्य-
गुणाः ॥ १० ॥ दृष्टिद्वस्तपादक्रियासु समसमायोगः संगीतकानुगतत्वं सुरिलष्टललिताभिन-
यांगहारप्रयोगभावो सर भाववृत्तिलावण्यभाव इति नृत्यगुणाः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो समुद्र के समान फैले हुए सुभाषित-रूप रत्नों की रचना का स्थान है, उसे 'प्रकीर्णक' कहते हैं। अर्थात्—जिस प्रकार समुद्र में फैली हुई प्रचुर रत्नराशि वर्तमान होती है, वही प्रकार प्रकीर्णक काव्य समुद्र में भी फैली हुई सुभाषित रत्न राशि पाई जाती है ॥ १ ॥ वयो पद, वाक्य और वर्कशास्त्र इन विषयों में परिपक्व है बुद्धि जिसकी, स्पष्ट व सार्थक बोलने वाला, मधुर व गम्भीर है वाणी जिसकी, चतुर, प्रतिभाशाली (तेजस्वी), अपने हृदय में योग्य-अयोग्य के तान के कारण बोलने की शक्ति से सम्पन्न, समस्त देशों की लिपि, भाषा तथा चार वण (भ्राह्मणादिक) व चार आश्रमों (ब्रह्मचारी आदि) के शास्त्र का वेत्ता, सम्पूर्ण स्व और पर का व्यवहार का जानकार तथा शीघ्र लिखने व वाँचने की कला में प्रवीण ये राजा के गुण हैं। अर्थात् उक्त गुणों से अलंकृत पुरुष राजा होने लायक है ॥ २ ॥ जो कथा को ध्यान पूर्वक न सुने व उसे सुनता हुआ भी व्याकुल हो जाय, जिसकी मुखाकृति उद्यम समय स्थान हो जाय, बात कही जाने पर जो वक्ता के सामने दृष्टिपात न करे, जिस स्थान पर बैठा हो वहाँ से उठकर दूसरी जगह चला जाय वक्ता द्वारा अच्छे कायं किये जाने पर भी उसे दोषी बतावे, समझाने पर भी जो मौन धारण कर ले कुछ भी उत्तर न देवे, जो स्वयं क्षमा (वक्ता की बात को सहन करने की शक्ति) न होने के कारण अपना काल खेप करता हो—निरर्थक समय बिताता हो, जो वक्ता को अपना मुख न दिखावे और अपने बायदा को झूठा करता हो ये कथा से या अपने से विरक्त रहने वाले मनुष्य के चिन्ह हैं। अर्थात्—उक्त चिन्हों से विरक्त की परीक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥ अपने को दूर से आता हुआ देखकर जिसका मुख कमल विकसित होजाय कुछ प्रश्न किये जाने पर जो अपना सम्मान करे अपने द्वारा पूछे में की हुई असीष्ट वस्तुओं (उपकारआदि) का स्मरण करने वाला (कृतज्ञ) परोक्ष में गुण-कीर्तन करने वाला व अपने (मित्र के) परिवार से सदा स्नेह-वृत्ति धारण करने वाला ये अपने से अनुरक्त (अनुराग करने वाले) पुरुष के चिन्ह हैं। अर्थात् नैतिक पुरुष उक्त लक्षणों से युक्त पुरुष को अपने में अनुरक्त समझे ॥ ४ ॥

श्रवण करने से भोजेन्द्रिय को प्रिय लगने वाला अपूर्व (नवीन) व विरोधादि दोष शून्य (निर्दोष) अर्थ का निरूपण करने के कारण अतिशय युक्त (श्रेष्ठ) शब्दात्मक-अनुप्रास आदि और अर्थालंकार (उपमा उत्प्रेक्षा-प्रभृति) से व्याप्त, हीन अधिक वचनोंसे रहित और जिसका अन्वय अति स्पष्ट हो—जो दूरान्वयो न हो ये काव्य के गुण हैं। अर्थात् उक्त गुण-युक्त काव्य उत्तम माना गया है ॥ ५ ॥ जिसमें भुक्ति-कटु वचन (भोज को अप्रिय लगने वाले कठोर) पदोंकी रचना व अप्रसंगत अर्थ पाया जावे, दुर्बोध (कठिन) एवं अयोग्य शब्दों की रचना से युक्त, ह्रस्व-भ्रष्ट होने के कारण जिसमें यथार्थ यतिविन्यास (विश्रान्त की रचना) न हो, जिसकी पद-रचना कोराविकट हो, जिसमें स्वर्गचि-कल्पित (मन गढ़ित) भाव्य (असंभव) पद रचना वर्तमान हो, ये काव्य के दोष हैं। कवि आठ

प्रकार के होते हैं—१ बचन कवि जो आचार्य भी धीरनेन्दी कालीदास आदिके समान जलित पदों द्वारा काव्य रचना करता हो, २ अर्धकवि जो महाकवि हरिश्चन्द्र व भारवि कवि समान गूढ़ार्थ वाले काव्य का रचयिता हो, ३—वभय कवि जो भगवज्जिनसेवाय या माव कवि समान ललित शब्द युक्त और गूढ़ार्थ युक्त काव्य माला का गुम्फन करता हो, ४—चित्र कवि (चित्रालंकारयुक्त काव्य रचयिता), ५—वर्ण कवि (शब्दाङ्गुली युक्त) काव्य बनाने वाला, ६—दुष्करि कवि - वाणिक्य आदि कवियों के समान अत्यन्त कठिन शब्द कुसुमों द्वारा काव्य माला गुम्फित करने वाला, ७—अरोपकी जिसकी काव्य रचना इच्छिकर न हो, और ८—सन्मुखाभ्यवहारी—भोताओं के समक्ष तत्काल काव्यरचना करने वाला ॥ ७ ॥

मानसिक प्रसन्नता, लज्जितकलाओं (पद्यरचनाकी कला आदि) में चातुर्य, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों का सरलता से सम्यग्ग्यान होना, एवं हमेश्वरामो आचार्य व व्यास आदि के समान संसार पर्यन्त स्थायी कीर्ति रहना इतनी चीजों का लाभ कवि होने से होता है ॥ ८ ॥ षड्ज, ऋषभ गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद, (सा, रे, गा, मा, पा, धा, नी,) इन सातों स्वरों का आलाप शुद्ध (एक स्वर में दूसरे स्वर का सांकर्य—संमिश्रण न होना) हो भोत्रेन्द्रिय को अत्यन्त प्रिय मान्य हो, (जिसमें अत्यन्त मिठास हो) सुकोमल पद रचना—युक्त अथवा अभिनय (नाट्य) क्रियामें निपुणता का प्रदर्शक हो, जिसके पदोच्चारण में घनाई हो, जिसमें त्रिमात्रा वाले षड्ज व ऋषभ आदि स्वरों का विस्तार (आरोहीपन) व संकोच (अवरोहीपन) वर्तमान हो, जिसमें एक राग से दूसरे राग का संक्रमण वर्तमान हो अथवा राग-बोध पाया जावे, जिस राग में गीत प्रारम्भ किया गया हो उसी राग में उसका निर्वाह (समाप्ति) हो एवं जिसे सुन कर हृदय फड़क (अत्यन्त आनन्दित) पड़े ये गायन के गुण हैं ॥ ९ ॥ ककेशता—शून्य, पाँच प्रकार का ताल तथा व गीत व नृत्य के अनुकूल बजने वाला, वाद्य (वाजे) संबन्धी दोषों से रहित (निर्दोष) जिसमें यति (विश्रान्ति) यथोचित व प्रगट रीतिसे पढ़ जावे एवं जिनके सुनने से भोत्रेन्द्रिय को सुख प्रतीत हो, ये वाजे के गुण हैं ॥ १० ॥ जिसमें नेत्र, हाथ व पैरों की संचालन क्रिया का एक काल में मिताप गाने व बजाने के अनुकूल एवं यथोचित पाया जावे संगीत (गाने बजाने) का अनुसरण करने वाला, जिसमें गायनाचार्य द्वारा सूचित किये हुये लयन और ललित अभिनय (नृत्य) द्वारा अङ्ग-संचालन अभिव्यक्त किया गया हो तथा शृङ्गार आदि नवरस और आलम्बन भाव व उद्दीपन भावों के प्रदर्शन से जिसमें दर्शकों को लाभप्रद प्रतीत हो, ये नृत्य के गुण हैं अर्थात् उक्त गुणों वाला नृत्य श्रेष्ठ माना गया है ॥ ११ ॥

महापुरुष, निश्च गुह्य, तत्कालीन सुख चाहने वालों के कार्य, दान-विचार, कर्जा देने के कटु-फल, कर्जा लेनेवाले के स्नेहादि की अवधि, सत्यासत्य निर्णय व पापियों के दुष्कर्म—

स महान् यः स्वन्वार्तोऽपि न दुर्दचनं ब्रूते ॥ १२ ॥ स किं गृहाभमी यत्रागत्याधिना न भवन्ति कृतार्थाः ॥ १३ ॥ ऋषभहस्तेन धर्मः सुखं सेवा वसिंज्या च तादास्विकानां नापतिहितवृत्तीनां ॥ १४ ॥ स्वयं विद्यमानमभिभ्यो देयं नाविद्यमानं ॥ १५ ॥ ऋष-दातुरासन्नं फलं परोपास्तिः कस्यः परिभवः प्रस्तावेऽर्थाभावरथा ॥ १६ ॥ अदातुस्तावत्स्नेहः

सौजन्यं प्रियभाषणं वा साधुता च यावन्नार्थावाप्तिः ॥ १७ ॥ तदसत्यमपि नासत्यं यत्र न सम्भाष्यार्थहानिः ॥ १८ ॥ प्राणवधे नास्ति कश्चिदसत्यवादः ॥ १९ ॥ अर्थाय मातरमपि लोको हिनस्ति किं पुनरसत्यं न भाषते ॥ २० ॥

अर्थ—जो शिष्ट पुरुष दुःखी होने पर भी किसी के सामने दुवचन (कटु शब्द) नहीं कहता, वही महापुरुष है ॥ १७ ॥ जिसके पास आकर याचक लोग कृतार्थ (संतुष्ट) नहीं होते, वह गृहस्थ निन्द्य है ॥ १८ ॥

शुक्र^१ व गुह^२ ने उक्त प्रकार महापुरुष का एवं निर्धन गृहस्थ को भी आये हुये याचकों के लिये आसन, जमीन, पानी और मीठी वाणी देने का उल्लेख किया है ॥ १-२ ॥

तत्कालीन क्षणिक सुख चाहने वाले पुरुष धनाढ्यों से ऋण लेकर उस धन से दान-पुण्यादि धर्म, सांसारिक सुखों (विवाह आदि) का उपभोग और राजा का सम्मान एवं व्यापार करते हैं, परन्तु भविष्यमें स्थायी सुख चाहने वाले नहीं ॥ १४ ॥ दाता याचकों के लिये अपने मौजूद धनादि वस्तु देवे, गैरमौजूद नहीं । अर्थात् उसे कर्जा लेकर दान नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

गर्ग^३ ने भी उक्त दानों विषयों का इसी प्रकार समर्थन किया है ॥ १-२ ॥ कर्जा देने वाले धनाढ्य पुरुष को निम्न प्रकार कटुकल भोगने पड़ते हैं । १—सबसे पहला निकट फल परोपारित (ऋण लेने वाले की सेवा-सुश्रूषा करना), २—कलह (धन-प्राप्ति न होने से कर्जा लेने वाले के साथ लड़ाई कागडा होना), ३—तिरस्कार (ऋण लेने वाले के द्वारा अपमानित होना), ४—अवसर पड़ने पर धन न मिलना । निष्कर्ष—किसी को ऋण रूप में धन देना उचित नहीं ॥ १६ ॥ धनाढ्य के साथ तथा तक स्नेह, प्रिय भाषण व सज्जनता प्रकट करता है, जब तक कि उसे उससे धन-प्राप्ति नहीं हुई । अर्थात् धन प्राप्त हो जाने पर वह उसके साथ उक्त शिष्ट व्यवहार (स्नेहादिक) नहीं करता ॥ १७ ॥

अत्रि^४ एवं शुक्र^५ ने भी ऋण देनेसे हानि व ऋण लेने वालेके बारे में यही कहा है ॥ १-२ ॥ वह वचन असत्य होनेपर भी असत्य नहीं माना जा सकता, जिससे सम्भावना किये हुये इष्ट प्रयोजन (प्राण-रक्षा) आदि की क्षति नहीं होती—उसकी सिद्धि होती है, क्योंकि वक्ता के वचनोंमें सत्यता वा असत्यता का निर्णय लौकिक प्रमाण—किसी के कहने मात्र—से नहीं किया जा सकता, किन्तु नैतिक विचार द्वारा ही किया जा सकता है, अतः गुरुतर इष्ट प्रयोजन की सिद्धि के अभिप्राय से कहे हुये मिथ्या वचन

१ तथा च शुक्रः—दुर्वाक्यं नैव यो व्यावर्त्यते^१ कुपितोऽपि सन् । स महत्त्वमवाप्नोति समस्ते धरणीतले ॥ १ ॥

२ तथा च गुहः—गृह्यानि भूमिरुक्तं वाचा चैव तु सन्तता । दृष्टिद्वैरपि दातव्यं समाम्बरस्य आर्थिनः ॥ १ ॥

३ तथा च गर्गः—धर्मकृत्यं कथमप्यस्या सुखं सेवापरं परं । तादात्म्यकविनिर्दिष्टं तज्जनस्य न चापरं ॥ १ ॥

अत्रिचमात्रं यो व्यावर्त्यते कृष्यापि वक्त्रतः । कुटुम्बं पीडयते येन तस्य शपस्य भागभवेत् ॥ २ ॥

४ तथा च अत्रिः—उदारकथनानां त्रयो वीथाः प्रकीर्तिताः । स्वार्थदानेन सेवा च सुखं परिभवस्तथा ॥ १ ॥

५ तथा च शुक्रः—तावत्स्नेहस्य वन्द्योऽपि ततः परश्चाप्य साधुता । श्रमकस्य भवेद्यावत्तस्य गृह्यानि नो धनम् ॥ १ ॥

मिथ्या नहीं कहे जा सकते ॥ १८ ॥ प्राण-घात के समय उनकी रक्षार्थ कहा हुआ असत्य वचन असत्य नहीं भी है ॥ १६ ॥

बादरायण^१ ने गुरुतर प्रयोजन साधक वचनों की सत्य और व्यास^२ ने भी प्राण वध आदि पांच अवसरों पर प्रयुक्त किये हुये पांच प्रकार के मिथ्या भाषण को निष्पाप सत्य बताया है ॥ १८ ॥

जब कि पापी पुरुष धन के लिये माता का भी घात कर डालता है, तब क्या वह उसके लिये मिथ्याभाषण नहीं करता? अवश्य करता है। अतः धन के विषय में किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिये चाहे वह अनेक प्रकार की शपथ भी खावे ॥ २० ॥

शुक^३ ने भी उक्त दृष्टान्त देते हुये उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

भार्याधीन वस्तुएं, रतिकालीन पुरुष-वचनों की भीर्मांसा, दाम्पत्य-प्रेम की अवधि, युद्ध में पराजय का कारण, स्त्री की सुखी बनाने से लाभ, लोगों की विनयनदरना को सामा, अनिष्ट का प्रती-कार, स्त्रियों के बारे में व साधारण मनुष्य से लाभ, एवं नैष्ठिक व युद्ध संबन्धी नैतिक विचारधारा—

सत्कलासत्योपासनं हि विवाहकर्म, देवायत्तस्तु वधूवरयोर्निर्वाहः A ॥ २१ ॥ रतिकाले यन्नास्ति कामार्तो यन्न व्रूते पृमान् न चैतत्प्रमाणं ॥ २२ ॥ तावत्स्त्रीपुरुषयोः परस्परं प्रीतिर्यावन्न प्रातिलोभ्यं कलहो रतिकैतवं च ॥ २३ ॥ तादात्विकबलस्य कुतो रणे जयः प्राणार्थः स्त्रीषु कन्याणां वा ॥ २४ ॥ तावत्सर्वः सर्वस्यानुवृत्तिपरो यावन्न भवति कृतार्थः B ॥ २५ ॥ अशुभस्य कालहरणमेव प्रतीकारः ॥ २६ ॥ पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्वाहोपशान्तिरेव प्रयोजनं किं तत्र रागविरागाभ्यां ॥ २७ ॥ तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुनर्न पाणिपादवता मनुष्येण ॥ २८ ॥ न कस्यापि लेखमवमन्येत, लेखप्रधाना हि राजानस्तन्मूलत्वात् सन्धि-विग्रहयोः सकलस्य जगद्व्यापारस्य च ॥ २९ ॥ पुष्पयुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धं ॥ ३० ॥

१ तथा च बादरायणः—तदसत्यमपि नासत्यं यदत्र परिगीयते । गुरुकार्यस्य हानिं च ज्ञात्वा नीतिरिति स्फुटम् ॥ १ ॥

२ तथा च व्यासः—नासत्ययुक्तं वचनं हि नस्ति, न स्त्रीषु राजा न विवाहकाले ।

प्राणात्यये सर्वधनापहारी, पंचानुसत्याहूरपतकानि ॥ ३ ॥

३ तथा च शुकः—अपि स्याद्यदि मातापि तां हि नस्ति जनोऽधनः । किं पुनः कोशपानाद्यं तस्मादर्थे न विरहसेत् १

A 'सकलासत्योपासनं किं? विवाहकर्म' इत्यादि पाठान्तर मु० सू० प्रति में वर्तमान है जिसका अर्थ यह है कि समस्त कूटी भेंट क्या है? विवाहकर्म; उसमें दम्पतियोंका निर्वाह (जीवन-रक्षा) भार्याधीन है अर्थात् भाग्य अनुकूल होने पर ही उनका निर्वाह होसकता है, अन्यथा नहीं । —संपादक ।

B इसके पश्चात् मु० सू० प्रति में 'सहसम्भवो देहोऽपि नामुत्र सहानुयायी किं पुनरन्यः' ऐसा विशेष पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जीवके साथ उत्पन्न हुआ शरीर भी जब इसके साथ दूसरे भव में नहीं जाता तब क्या अन्य पदार्थ जा सकते हैं? नहीं जासकते ॥ १ ॥ —संपादक

अर्थ—पूर्व कर्मानुसार मनुष्यों को प्रशस्त कलाएँ, सत्य की उपासना व विवाह संबन्ध प्राप्त होता है, परन्तु विवाह सम्बन्ध हो जाने पर भी दम्पति का निर्वाह उनके भाग्य की अनुकूलता के अधीन है ॥ २१ ॥ काम-पीड़ित पुरुष रति (काम-सेवन) के अन्तर्गत पर देखा कोई वचन (सत्य व झूठ) बाकी नहीं रखता, जिसे वह अपनी प्रियतमा (स्त्री) से नहीं बोलता—वह सभी प्रकार के सत्य असत्य वचन बोलता है, परन्तु उसके वे वचन प्रामाणिक नहीं होते। अभिप्राय यह है कि विषयाभिलाषी व सञ्जाति सन्तान के इच्छुक पुरुष को रातकाल के समय तात्कालिक प्रिय (मधुर) वचनों द्वारा अपनी प्रिया को अनुरक्त करना चाहिये ॥ २२ ॥

गुरु 'व राजपुत्र' ने भी विद्या व विवाह आदि को भाग्याधीन व काम-पीड़ित पुरुष का रतिकालोत्त उक्त कर्तव्य बताया है ॥ १-२ ॥

दम्पतियों में तभी तक पारस्परिक प्रेम रहता है, जब तक कि उनमें प्रतिकूलता, कजह और विषयोपभोग संबन्धी कुटिलता नहीं पाई जाती ॥ २३ ॥ जिस विजिगीषु के पास थोड़े समय तक टिकने वाली अस्त्र सैन्य वर्तमान है वह युद्ध में शत्रु से विजयश्री किस प्रकार प्राप्त कर कर सकता है ? नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्त्रियों का कल्याण (उपकार) करने से भी मनुष्य अपनी प्राण-रक्षा नहीं कर सकता अतः युद्ध में विजयश्री के लाभार्थ प्रचुर सैन्य शक्ति होनी चाहिये तथा विवेकी पुरुष स्त्रियों के प्रति किये हुये उपकार को प्राण-रक्षा का साधन न समझे ॥ २४ ॥

राजपुत्र 'व शुक' ने भी दाम्पत्यप्रेम व अल्प सैन्य वाले विजिगीषु के विषय में उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १-२ ॥

जब तक लोग दूसरों के हानि कृतार्थ (अपनी प्रयोजन-सिद्धि करने वाले) नहीं होते, तभी तक सभी लोग सभी के साथ विनय शीलता दिखाते हैं, परन्तु प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर कौन किसे पूछता है ? कोई नहीं पूछता ॥ २५ ॥ अशुभ करने वाले (विरोधी) व्यक्ति से समय पर न मिलना ही उसके शान्त करने का उपाय है। अर्थात् जब शत्रुता करने वाला मनुष्य समय का उल्लंघन और मिष्ट वचनों द्वारा धोखा किया जाता है, तभी वह शान्त होता है, अन्यथा नहीं ॥ २६ ॥

व्यास 'व नारद' ने भी कृतार्थ व अशुभ करने वाले पदार्थके विषय में उक्तवातकी पुष्टि की है

॥ १-२ ॥ जिस प्रकार बुभुक्षित (भूखे) को क्षुधा की निवृत्ति करनेके लिये पके हुये अन्न से प्रयोजन रहता है, उसी प्रकार काम रुगो अग्नि से संतप्त हुये पुरुष को ही शारीरिक आताप (मैथुनेच्छा) को

१ तथा च गुरुः—विद्यापथं विवाहश्च दंपत्योऽभिलाष रतिः । पूर्वकर्मानुसारेण सर्वं सम्पद्यते सुखं ॥ १ ॥

२ तथा च राजपुत्रः—नाम्पचिन्तां भजेन्नारीं पुरुषः कामपीडितः । यतो न दशयेद्वाचं नैवं गर्भं ददाति च ॥ २ ॥

३ तथा च राजपुत्रः—ईषत्कलहकौटिल्यं दम्पत्योर्जायते यदा । तथा कोशविदेहं गताभ्यामेव परस्परं ॥ ३ ॥

४ तथा च शुकः—तावन्मात्रं बलं यस्य भान्यन् सैन्यं करोति च । शत्रुभिर्हीनसैन्यः स लक्षयिष्या निपात्यते ॥ ४ ॥

५ तथा च व्यासः—सर्वस्य हि कृतार्थस्य सतिरन्या प्रवर्तते । तस्मान् स्त्री देवकार्यस्य किमन्यैः पोषितैः चितैः ॥ ५ ॥

६ तथा च नारदः—अशुभस्य यशस्य भविष्यद्प्रशान्तये । कालान्तिरुपशान्तिं मुक्त्वा प्रतीकारो न विद्यते ॥ ६ ॥

शांत करने के लिये स्त्री से प्रयोजन रहता है, अन्य कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये उनमें अनुराग (प्रेम) व विराग (विरोध) करने से कोई लाभ नहीं। अर्थात् उनके साथ माध्यस्थ्य भाव रखे। क्योंकि उनमें विशेष अनुरक्त व आसक्त पुरुष धार्मिक (दान-पुण्यादि) व आर्थिक (व्यापार आदि) कार्यों से विमुख होने के कारण अपनी धार्मिक व आर्थिक चित्त कर डालता है, एवं उनसे विरोध रखने वाला काम पुरुषार्थ से वंचित रह जाता है, अतः स्त्रियों के प्रति माध्यस्थ्य भाव ही श्रेयस्कर है ॥ २० ॥ जबकि तिनकेसे भी मनुष्यका प्रयोजन (दन्त-शुद्धि आदि) सिद्ध होता है तब क्या हाथ पांव वाले मनुष्य से उसका प्रयोजन सिद्ध न होगा अवश्य सिद्ध होगा? अतः उसे उत्तम, मध्यम व अधम सभी के साथ मैत्री रखनी चाहिये एवं अधम पुरुष की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये ॥ २८ ॥

गौतम ^१ व विष्णुशर्मा ^२ ने भी उक्त दोनों बातों का समर्थन किया है ॥ १-२ ॥

त्रिजिगीषु अधवा बिनेकी पुरुष किसी भी साधारण व्यक्ति के लेख (पत्र) की अवज्ञा (तिरस्कार) न करे क्योंकि राजा लोग लेख द्वारा ही शत्रु की चेष्टाका ज्ञान करते हैं, इसलिये वे लेखप्रधान कहे जाते हैं एवं सन्धि, विग्रह व समस्त संसार के व्यापार की स्थिति का ज्ञान भी लेख द्वारा ही होता है ॥ २६ ॥ नीति के चेत्ता पुरुष पुष्टों द्वारा भी युद्ध करना नहीं चाहते, तब शस्त्र-युद्ध किस प्रकार चाहेंगे? नहीं चाहेंगे ॥ ३० ॥

गुरु ^३ व विदुर ^४ ने भी लेख व युद्ध के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥ १-२ ॥

स्वामी और दाता का स्वरूप, राजा, परदेश, बन्धु-होन दरिद्र तथा वनाह्वय के विषय में, निकट विनाश वाले की बुद्धि, पुण्यशान्त, भाग्य की अनुकूलता, कर्मचाण्डाल एवं पुत्रों के भेद—

स प्रभुयो बहून् बिभर्ति किमर्जुनतरोः फलसम्पदा या न भवति परेषामुपभोग्या ॥ ३१ ॥
मार्गपादप इव स त्यागी यः सहते सर्वेषां संवाधा ॥ ३२ ॥ पर्वता इव राजानो दूरतः सुन्द-
रालोकाः ॥ ३३ ॥ वार्तारमणीयः सर्वोऽपि देशः ॥ ३४ ॥ अधनस्यावान्धवस्य च जनस्य
मनुष्यवस्यपि भूमिर्भवति महादृवी ॥ ३५ ॥ श्रीमतो हरणयान्यपि राजधानी ॥ ३६ ॥ सर्व-
स्याप्यासन्नविनाशस्य भवति प्रायेण मतिर्विपर्यस्ता ॥ ३७ ॥ पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचि-
दप्यस्ति दौःस्थ्यं ॥ ३८ ॥ दैवानुकूलः कां सम्पदं न कराति विघटयति वा विपदं ॥ ३९ ॥
असूयकः पिशुनः कुतश्चो दीर्घरोष इति कर्मचाण्डालाः ॥ ४० ॥ औगसः क्षेत्रजोदत्तः कुत्रिमां

१ तथा च गौतमः—न राजानो न विराजो वा स्त्रीणां कार्या विचक्षणैः । पकान्नमिव तापस्य शान्तचे स्याच्च सर्वदा ॥ १ ॥

२ तथा च विष्णुशर्माः—दन्तस्य निष्कोषणकेन निरयं, कर्षस्य कण्डूयनकेन चापि ।

तृत्वेन कार्यं भवतीश्वराणां किं पादयुक्तेन नरेण न स्यात् ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—खेलमुखो महीपालो खेलमुखं च चेष्टितं । दूरस्थस्यापि खेलो हि खेलोऽनो मादमन्वते ॥ १ ॥

४ तथा च विदुरः—पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निहितैः शरैः । उपायपतया ? पूर्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥ १ ॥

गृहोत्पन्नोऽपि विद्ध एते षट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च A ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो साधारण धनवाला होकरके भी अपनी उदारता के कारण बहुत से मनुष्यों का पालन-पोषण करता है, वही स्वामी है और जो स्वामी धनाढ्य होकर कृपणता-वश ऐसा नहीं करता वह दूसरों के द्वारा उपमोगमें न आने वाली अर्जुन वृक्षों फलसम्पत्तियों के समान निरर्थक व निम्न गिना जाता है ॥ ३१ ॥ जो रास्ते में रहने वाले वृक्ष के समान समस्त अभ्यागत या यात्रियों के उपद्रव सहन करता हुआ क्लेशित नहीं होता, वही दाता है। अर्थात्—जिस प्रकार रास्ते में वर्तमान वृक्ष पान्थों द्वारा किए जाने वाले उपद्रव (पुष्प व फल तोड़ना) सहन करता है, वसी प्रकार भोजन व शयनादि के दान द्वारा अभ्यागतों को सम्मानित करने वाला दाता भी उनके द्वारा दय जान आल कष्ट सहन करता है ॥ ३२ ॥

व्यास^१ और गुरु^२ ने भी स्वामी और दाता के विषय में इसी प्रकारका उल्लेख किया है ॥ १-२॥

राजा लोग पर्वतों के समान दूर से ही सुन्दर दिखाई देते हैं, समीप में जाने से नहीं। अर्थात्—जिस प्रकार पर्वत पार्श्व-भाग-आदि के कारण दूर से मनाहर और समीप में जाने पर अनेक थूहर-आदि कटोले वृक्षों व बड़ों व विशाल चट्टानों के कारण चढ़ने में कष्टदायक होते हैं, उसी प्रकार राजा लोग भी क्षत्र-चामरादि विभूति-युक्त होने से दूर से रमणीक दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु पास जाने से कष्टदायक—आर्थिक दण्ड आदि द्वारा पीड़ित करने वाले होते हैं, अतः उनसे दूर रहना ही श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥ सभी देश उनके चारों ओर कही जाने वाली लोगों की सुन्दर बातें सुनने से रमणीक मालूम पड़ते हैं, अतः बिना परीक्षा किए ही किसी के कहने मात्र से परदेश को गुण-युक्त जानकर स्वदेश का त्याग करना उचित नहीं ॥ ३४ ॥

गौतम^३ और रैभ्य^४ ने भी राजाओं व परदेश के विषय में इसी प्रकारका उल्लेख किया है ॥ १-२॥

निधन (दरिद्र) और कन्धुहीन पुरुष को अनेक मनुष्यों से व्याप्त वृथिवो भी महान् अटवी के समान दुःखदायक है, क्योंकि वसे दारिद्र्य व कुटम्बहीनता के कारण वहां सांसारिक सुख नहीं मिल सकता। धनाढ्य पुरुष को धनस्थली भी राजधानी समान सुख देने वाली हो जाती है ॥ ३५-३६ ॥

रैभ्य^५ ने भी दरिद्र व कन्धुहीन व्यक्ति के बारे में इसी प्रकारका कथन किया है ॥ १॥

A इसके परचात सु० मू० प्रतिमें 'कानोनः सहोदः कोतः पौनर्भयः स्वयंदत्तः शीदृश्चेति षट्पुत्रा न दायादा नापि पिण्ड-
दाश्च' ॥ ४१ ॥ इतना विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि कानोन (कन्यासे उत्पन्न हुआ) सहोद, (दामाद) कोत-
(पैसे से किया हुआ) पौनर्भय (निधनसे उत्पन्न हुआ) स्वयंदत्त और शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुआ ये पुत्र अधम होने
से न पौत्रिक सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं और न पिताको स्मृत्यर्थ आहारादि दान देनेवाले। —संपादक

१ तथा च व्यासः—स्वल्पविद्योऽपि यः स्वामी यो विभर्ति बहून् सदा । प्रभूतकल्युक्तोऽपि सम्पदात्पञ्चनस्य च ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—यथा मार्गतकस्तद्वत्सहते य उपद्रवं । अभ्यागतस्य लोकस्य स स्वागी नेतवः स्मृतः ॥ १ ॥

३ तथा च गौतमः—दुरारोहा हि राजानः पर्वता इव चोन्नताः । इत्यन्ते दूरतो रम्याः समीपस्थाश्च कष्टदाः ॥ १ ॥

४ तथा च रैभ्यः—दुर्मित्रादप्योऽपि दुःस्थोऽपि दूरात्सहिताऽपि च । स्वदेशं च परित्यज्य नान्धमिहिककुमे वजेत् ॥

५ तथा च रैभ्यः—निधनस्य मनुष्यस्य पान्थवैः रहितस्य च । प्रभूतैरपि संकीर्णं जनैर्भूमिर्महादवी ॥ १ ॥

विनाशकाल के निकट आने पर प्रायः सभी की बुद्धि विपरीत (उल्टी) हो जाती है, क्योंकि निकट विनाशवाला व्यक्ति अपने द्वैतियों की निन्दा व शत्रु की प्रशंसा आदि विपरीत कार्य करता है, जिससे प्रतीत होता है कि इसका विनाश निकट है ॥ ३७ ॥ भाग्यशाली पुण्यवान् पुरुष को कभी भी आपत्तियां नहीं होती ॥ ३८ ॥ दैव—पूर्वजन्ममें किए हुए कर्म (भाग्य) की अनुकूलता होने पर भाग्यशाली पुरुष को कौन २ भी सम्पत्तियां प्राप्त नहीं होती ? सभी सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं और उसकी कौन २ सी विपत्तियां नष्ट नहीं होती ? सभी नष्ट हो जाती हैं ॥ ३९ ॥

गर्ग ' व हारीत ' ने भी निकट विनाश वाले और भाग्यशाली के विषयमें उक्त बातका समर्थन किया है ॥ १-२ ॥

दूसरों की निन्दा करने वाला, चुगलखोर, कुतर्क—बपकार को न मानने वाला (गुणमेटा) और दुर्धनकाल तक क्रोध करने वाला ये चारों मनुष्य अनोखे के कारण कर्मचाण्डाल हैं ॥ ४० ॥

गर्ग ' ने भी उक्त चार प्रकार के मनुष्यों को कर्मचाण्डाल माना है ॥ १ ॥

औरस (धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ पुत्र), चैत्रज (दूसरे स्थान में धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ), दत्त (गोद लिया हुआ) कृत्रिम—बन्धन से मुक्त किया हुआ, गूढोत्पन्न (गूढ़ गर्भ से उत्पन्न हुआ), और अपविद्ध (पति के अन्यत्र चले जाने पर या मरने के बाद उत्पन्न हुआ) यह छह प्रकार के पुत्र दाय्याद वितृकसम्पत्ति के अधिकारी और पिता के स्वर्गारोहण के पश्चात् उसकी स्मृति में अन्नादि (पिबड़)का दान करने वाले हैं ॥ ४१ ॥

अन्य नीतिकारों ' नेभी उक्त छह प्रकार के पुत्र कहे हैं ॥ १-३ ॥

दायभाग के नियम, अति परिचय, सेवक के अपराधका दुष्परिणाम, महत्ताका दूषण, रति-आदि की बेला, पशुओं के प्रति वर्ताव, मतवाले हाथी व घोड़े की क्रीड़ा, श्रृंखला, व्याधि-ग्रस्त शरीर, लाघुजोषन-युक्त महापुरुष, लक्ष्मी, राजाओं का प्रेमपात्र व नीच पुरुष—

देशकालकुलापत्यस्त्रीसमापेक्षो दाय्यादविभागोऽन्यत्र यतिराजकुलाभ्यां ॥ ४२ ॥ अति

परिचयः कस्यावज्ञां न जनयति ॥ ४३ ॥ भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो यदि भृत्यं न

मुञ्चति ॥ ४४ ॥ अलं महत्तया समुद्रस्य यः लघुं शिरसा बहत्पथस्ताच्च नयति गुरुम् ४५

रतिमंत्राहारकालेषु न कमप्युपसेवेत ॥ ४६ ॥ सुप्तुपरिचितेष्वपि तिर्यक्षु विश्वासं न गच्छेत् ४७

१ तथा च गर्गः—सर्वेष्वपि हि कृष्येषु वैपरीत्येन वर्तते । यदा पुमांस्तदा जेभो मृत्युना सोऽवलोकिताः ॥ १ ॥

२ तथा च हारीतः—यस्य स्वात् प्राक्तनं कर्म शुभं मनुष्यधर्मणः । अनुकूलं तदा तस्य सिद्धिं यान्ति समृद्धयः ॥ १ ॥

३ तथा गर्गः—पितृभ्यो मित्रकृष्वैव कृतवन्तो दीर्घरोचकृत । एते तु कर्मचाण्डाला जाता चैव तु पंचमः ॥ १ ॥

४ तथा चोक्तमन्यत्रः—औरसो धर्मपत्नीतः संजातः पुत्रिकासुतः । चैत्रजः चैत्रजातः स्वगोत्रेणैतरेक वा ॥ १ ॥

दद्यान्माता पिता बन्धुः स पुत्रो दत्तसंज्ञितः । कृत्रिमो मोचितो बन्धनात् चतुर्बुद्धेन वा जितः ॥ २ ॥

गूढप्रसूतकोत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः । गते मृतेऽवबोत्पन्नः भोऽपविद्धस्तुतः पठ्यते ॥ ३ ॥

मत्तवारणारोहिणो जीवितव्ये सन्देहो निश्चितश्चापायः ॥ ४८ ॥ अत्यर्थं हयविनोदोऽङ्गभङ्ग-
मनापाद्य न तिष्ठति ॥ ४९ ॥ अणुमददानो दासकर्मणा निर्हरेत् ॥ ५० ॥ अन्यत्र यति-
ब्राह्मणक्षत्रियेभ्यः ॥ ५१ ॥ तस्यात्मदेह एव वैरी यस्य यथा लाभमशनं शयनं च न सहते ॥ ५२ ॥
तस्य किमसाध्यं नाम यो महासुनिर्व्वि सन्निर्गन्तः सर्व्वक्लेशसहः सर्व्वत्र सुखशायी च ॥ ५३ ॥
स्त्रीप्रीतिर्वि कस्य नामेयं स्थिरा लज्जमीः ॥ ५४ ॥ पर्यैशून्योपायेन राज्ञां वल्लभो लोकः ५५
नीचो महस्वमात्मनो मन्यते परस्य कृतेनापवादेन ॥ ५६ ॥

अर्थ—आचार्य-कुल व राजकुल को छोड़कर दायभाग (पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करना) के अधि-
कारियों में देश, काल, कुल, पुत्र, स्त्री व शास्त्र की अपेक्षा भेद होता है। अर्थात् समस्त देश और
सभी कुलों में दाय्याधिकारी एक समान नहीं होते, जैसे केरल देश में पुत्र की मौजूदगी में भी
भागिनेय (मानेज) पैतृक सम्पत्ति पाने का अधिकारी होता है, दूसरा नहीं एवं किन्हीं २ कुलों में
दुहिता-लड़कीका लड़का-दायाधिकारी होता है, इत्यादि, परन्तु आचार्य-कुलमें उसका प्रधान शिष्य
(जैन धर्मानुसार दीक्षित मुनि) ही आचार्य पदवी के योग्य होगा, अन्य नहीं इसीप्रकार राज-
कुल में पट्टरानी का ही ज्येष्ठ पुत्र राज्यपद का अधिकारी होगा, दूसरा नहीं ॥ ४८ ॥

गुरु १ ने भी देश-कालादि की अपेक्षा दायभाग का विश्लेषण किया है ॥ १ ॥

ज्यादा परिचय (संसर्गों) से किसका अपमान नहीं होता ? सभी का होता है ॥ ४३ ॥ यदि
नौकर अपराध करे, तो उसका स्वामी दंडका पात्र है, परन्तु यदि वह (माजिक) अपने अपराधी नौकर को
नहीं निकाले। अर्थात् अपराधी नौकर के छुड़ा देने पर उसका स्वामी सजा का पात्र नहीं ॥ ४४ ॥

वल्लभदेव २ व गुरु ३ ने भी अति परिचय और नौकर के अपराधी होने से स्वामी के
विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥ १-२ ॥

समुद्रका बड़प्पन किस कामका ? किसी कामका नहीं, जोकि छोटी वस्तु तृणादिको अपने शिरपर
धारण करता है और भारी-बकी को डुबो देता है। वही प्रकार साधारण लोगों को सम्मानित तथा
बड़े पुरुषों को तिरस्कृत करने वाला स्वामी भी निम्न है ॥ ४५ ॥

विष्णुशर्मा ४ ने भी चूड़ामणि के दृष्टान्त द्वारा सेवकों व पुत्रों को यथा-योग्य स्थान में
नियुक्त करने का संकेत किया है ॥ १ ॥

१ तथा च गुरुः—देशाचारान्महाचारौ स्त्रियापेक्षासमन्वितौ ? । देशो दायभागस्तु तेषां वैवाचिकरूपतः ॥ १ ॥

एकस्मै दीयते सर्व्वविभवं रूपसम्भवं । यः स्वादुभुक्तस्तु सर्व्वेषां तथा च स्वात् समुत्तमः ॥ २ ॥

२ तथा च वल्लभदेवः—अतिपरिचयाद्वज्रा भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः । लोकः प्रमाणवासी कृपे स्वार्थं समाचरति

३ तथा च गुरुः—यः स्वामी न त्यजेद्भृत्यमपराधे कृते सति । तत्तस्य पक्षितो दण्डो दुष्टभृत्यसमुद्भवः ॥ १ ॥

४ तथा च विष्णुशर्माः—स्वामेष्ट्वेव नियोज्यन्ते भृत्याश्च निजपुत्रकाः । न हि चूडामणि पादे करिचदेशात्र संन्यसेत् ॥ १ ॥

रति (मैथुन), मंत्र व आहार में प्रवृत्त हुए किसी भी पुरुष के पास उस समय न जावे । क्योंकि रति क्रिया में प्रवृत्त पुरुष लवजा के कारण अपने पास आये हुए मनुष्य से घैर विरोध करने लगता है । इसीप्रकार मंत्रकाल में आये हुए व्यक्ति से मंत्र-भेद की आशंका रहती है; इससे वह भी द्वेष का पात्र होता है । एवं भोजन की वेला में अज्ञान व लाभवश अधिक खाने वाला यदि वमन कर देता है या उसे उदर रोग होजाता है; तो आने वाले का दृष्टिदोष समझाजाता है, जिसके कारण आहार करने वाला उससे घृणा व द्वेष करने लगता है । अतः उक्त रति आदि की वेला में किसी के पास नही जाना चाहिये ॥ ४६ ॥ गाय बगैरह पशुओं पर विश्वासन करे चाहे वे अच्छी तरह से परिचित (विश्वसनीय) भी क्यों न हों ॥ ४७ ॥

शुक ^१ ने भी रति व मंत्र आदि के समय समीप में जाने का निषेध किया है और बल्लभदेव ने पाणिनीय-आदि के घातक सिंह-आदि के दृष्टान्त द्वारा उक्त बात की पुष्टि की है ॥ १-२ ॥

मतवाले हाथी पर आरोहण (चढ़ना) करने वाले मनुष्य के जीवन में सन्देह रहता है और यदि वह भाग्यवश जीवित बच जाता है, तो निश्चय से उसके शारीरिक अङ्गोपाङ्ग भङ्ग होजाते हैं—टूट जाते हैं ॥ ४८ ॥ घोड़े पर सवार होकर जो उससे अत्यधिक विनोद-क्रीड़ा की जाती है, वह सवार के शारीरिक अङ्गोपाङ्ग तोड़े बिना विश्राम नहीं लेती ॥ ४९ ॥

गौतम ^३ व रैश्य ^४ ने भी मतवाले हाथी पर सवारी करने से और घोड़े द्वारा अति क्रीड़ा करने से उक्त प्रकार हानि निदिष्ट की है ॥ १ ॥

जो श्रेणी पुरुष, श्रेण देने वाले धनाढ्य पुरुष का कर्जा बिना चुकाये मर जाता है, उसे दूसरे जन्म में दास होकर उसका श्रेण चुकाना पड़ता है, परन्तु साधु, ब्राह्मण व क्षत्रियों पर उक्त नियम लागू नहीं होता क्योंकि साधु व विद्वान् ब्राह्मणोंसे धनाढ्योंका हित साधन होता है, अतः वे श्रेणी नहीं रहते, इसीप्रकार क्षत्रिय राजा लोग जो प्रजा से टेक्स लेते हैं वह कर्जा ही नहीं कहा जाता ॥ ५१ ॥

नारद ^५ ने भी कर्जा न चुकाने वाले के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥ १ ॥

जिसका भोजन व शयन रोगादि के कारण सुखदायक नहीं है, उसे अपने शरीर को बेरी समझना चाहिये । क्योंकि जिस प्रकार शत्रु के भय से स्वेच्छा-पूर्वक भोजन व शयन नहीं

१ तथा च शुकः—रतिर्मन्त्रासन विधं कुर्वाणो नोपगम्यते । अभीष्टतमश्च लोकोऽपि यतो द्वेषमवाप्नुमात् ॥ १ ॥

२ तथा च बल्लभदेवः—सिंहो व्याकरयस्य कर्तुरहरत् प्राद्यान् पिबान् पाणिनेः ।

मीमांसाकृतमुन्मसाथ तस्मा हस्ती मुनिं जैमिनिं ॥ १ ॥

कुम्भोज्ञाननिधिं जयान मकरो वेङ्गावटे पिंगलं ।

चाक्षानाधुवचेतसामतिकर्षा कोऽर्थस्तिरश्चां गुर्याः ॥ १ ॥

३ तथा च गौतमः—यो मोहान्मत्तनालेन्द्रं समारोहति हुमंतिः । तस्य जीवितनाशः स्वादृशात्रभंगस्तु निश्चितः ॥ १ ॥

४ तथा च रैश्यः—आयधं कुरुते वस्तु वाजिकीदो सकौमुका । गात्रभंगो भवेत्तस्य रैश्यस्य वचनं यथा ॥ १ ॥

५ तथा च नारदः—श्वर्धं वज्जति नो वस्तु धनिकाव कर्षणम् । देहान्तरमनुयातस्तस्य दासत्वमाप्नुयात् ॥ १ ॥

किया जाता, वसी प्रकार शरीर के व्याधि-वीकृत रहने से भी यथेष्ट भोजन व शयन नहीं किया जा सकता ॥५२॥ जो महापुरुष महामुनि समान उत्तम-मध्यम-आदि सभी जाति के अन्न-भक्षण करने की हवि रखने वाला तथा समस्त प्रकार के शीत उष्ण आदि के कष्ट सहन करने में समर्थ एवं सभी जगह (पाषाणदि) पर सुख पूर्वक निद्रा लेने की प्रकृति-युक्त है, उसे संसार में कोई काय असमर्थ (न करने योग्य) नहीं ॥ ५३ ॥ यह लक्ष्मी स्त्रीको प्रीति-समान अस्थिर—नाश होनेवाली है ५४ ।

जैमिनि ^१ व गुरु ^२ ने भी उक्त शरीर व साधु जीवन के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १-२॥

वही लोग राजाओं के प्रेमपात्र होते हैं, जो कि उनके समस्त दूसरों की चुगली किया करते हैं ॥ ५५ ॥ नोच पुरुष दूसरों की निन्दा करके अपनेको बड़ा मानता है ॥ ५६ ॥

हारीत ^३ व जैमिनी ^४ ने भी राजाओं के प्रेमपात्र और नोचपुरुष के बारे में इसी प्रकार कहा है ॥ १-२॥

गुण-कृत महत्त्व, महापुरुष, सत्-अस्वसंगका असर, प्रयोजनार्थी व निर्धनका घनाढ्य के प्रति कर्तव्य, सत्पुरुष-सेवा का परिणाम, प्रयोजनार्थी द्वारा दोष-दृष्टि का अभाव, चित्त प्रसन्न करनेवाली वस्तुएं व राजा के प्रति पुरुष का कर्तव्य—

न खलु परमाणोरल्पत्वेन महान् मेरुः किन्तु स्वगुणेन ॥ ५७ ॥ न खलु निनिमित्तं महान्तो भवन्ति कलुषितमनीषाः ॥ ५८ ॥ स वन्देः प्रभावो यत्प्रकृत्या शीतलमपि जलं भवत्युष्णं ॥ ५९ ॥ सुचिरस्थायिनं कार्यार्थी वा साधुपचरेत् ॥ ६० ॥ स्थितैः सहार्थोपचारेण व्यवहारं न कुर्यात् ॥ ६१ ॥ सत्पुरुषपुरश्चारित्या शुभमशुभं वा कुर्वतो नास्त्यपवादः प्राणव्यापादो वा ॥ ६२ ॥ सपदि सम्पदमनुबध्नाति विषञ्च विपदं ॥ ६३ ॥ गोरिव दुग्धार्थी को नाम कार्यार्थी परस्परं विचारयति ॥ ६४ ॥ शास्त्रविदः स्त्रियश्चानुभूतगुणाः परमात्मानं रञ्जयन्ति ॥ ६५ ॥ चित्र—
गतमपि राजानं नावमन्येत चात्र हि तेजो महती सत्पुरुषदेवतास्वरूपेण तिष्ठति ॥ ६६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सुमेरुपर्वत अपने गुण-वृक्षता आदि के कारण महान् है न कि परमाणु की लघुता से, वसी प्रकार मनुष्य भी विद्वत्ता व सदाचार-आदि सद्गुणों के कारण महान् होता है, न कि किसी के दुष्ट होने से ॥ ५७ ॥ महा पुरुष बिना निमित्त के मलिन बुद्धि-युक्त नहीं होते । अर्थात्—जिस प्रकार दुष्ट लोग बिना प्रयोजन अचानक कुपित हो जाते हैं, वैसे महापुरुष नहीं होते, वे किसी कारण-वश कुपित होते हैं ॥ ५८ ॥

१ तथा च जैमिनिः—भोजने यस्य को याति परिणामं न भवति । निद्रा सुकामे नैति तस्य कायो निजो रिपुः ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—गुरुभिः कश्चिद्वाक्ये लब्धेऽपि कर्मजन । निद्रां कुर्यां हि तस्यापि स समर्थः सदा भवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च हारीतः—पैशून्वे निरतो लोको राजा भवति बल्लभः । काष्ठरोऽप्यकुलीनोऽपि बहुदोषान्वितोऽपि च ॥ १ ॥

४ तथा च जैमिनिः—प्रसमानं मन्दमे भद्रं न भवति परावशात्तः । न जानाति परे लोके पाने नरकसम्भवम् ॥ १ ॥

गुरु^१ व भारद्वाज^२ ने भी सुमेरुको महत्ता व महापुरुषोंके विषयमें उक्त बातकी पुष्टि की है । १-२

जिस प्रकार स्वभाव से शीतल जल के उष्ण होने में अग्नि का असर कारण है, वसीप्रकार स्वाभाविक शान्त पुरुष के कुपित होने में दुष्टों की संगति ही कारण समझना चाहिये ॥ २६ ॥

बल्लभदेव^३ ने भी कहा है कि 'घोड़ा, शस्त्र, शस्त्र, बीणा; वाणो, मनुष्य व स्त्री ये पुरुषविशेष (उत्तम व अधम) को प्राप्त कर योग्य-अयोग्य हो जाते हैं ॥ १ ॥

प्रयोजनसिद्धि चाहने वाले मनुष्य को इसप्रकार के मनुष्य की अकड़ी तरह सेवा करनी चाहिये, जो कि चिरकाल तक स्थिरशील होकर उसकी प्रयोजन-सिद्धि में सहायक हो ॥ ६० ॥ दुर्बल-निधन पुरुष को स्थिरशील (धनाढ्य) पुरुषोंके साथ धन देने का वर्तन नहीं करना चाहिये, इससे उसकी अत्यधिक आर्थिक—र्क्षति—धन व्यय—नहीं होने पाता ॥ ६१ ॥

शुक^४ व गुरु^५ ने भी प्रयोजनार्थी एवं निधन पुरुषके विषयमें उक्त बातका समर्थन किया है ॥ १-२ ॥

महापुरुषों का ऐसा अपूर्व माहात्म्य है कि उनकी सेवा करने से मनुष्य में ऐसा व्यक्तित्व आ जाता है कि यदि वह असावधानी-वश कोई अनज्जा बुरा कार्य कर बैठता है—कोई अपराध कर लेता है—तो लोक में उसको निन्दा नहीं हो पाती और न उसे अपने प्राणों के नष्ट होने का खतरा रहता है । इसी प्रकार सत्पुरुषों की सेवा तत्काल सम्पत्ति उत्पन्न करता है एवं विपत्ति का नाश करती है ॥ ६२-६३ ॥

हारीत^६ ने भी महापुरुषों की सेवा का इसी प्रकार माहात्म्य निर्देश किया है ॥ १-२ ॥

कौनसा प्रयोजनार्थी मनुष्य स्वार्थ सिद्धि के निमित्त गाय से दूध चाहने वाले मनुष्य के समान उसकी प्रयोजन सिद्धि करने वाले दूसरे मनुष्य के आचार का विचार करता है ? कोई नहीं करता । अथाग्न—जिस प्रकार गाय से दूध चाहने वाला उसके आचार (अपवित्र वस्तु का भक्षण करना) पर दृष्टि पात नहीं करता, वसी प्रकार प्रयोजनार्थी भी 'अर्थी दोष न पर्यति'—स्वार्थसिद्धि का इच्छुक दूसरेके दोष नहीं देखता' इस नीति के अनुसार अपनी प्रयोजनसिद्धि के लिये दूसरे के दोषों पर दृष्टिपात न करे ॥ ६४ ॥

शुक^७ ने भी प्रयोजन सिद्धि के इच्छुक पुरुष का यही कर्त्तव्य बताया है ॥ १ ॥

१ तथा च गुरुः—नीचेन कर्मणा मेहनं महत्समुपागतः । स्वभावनियतिस्तस्य यथा वासि महत्त्वता ॥ १ ॥

२ तथा च भारद्वाजः—न भवति महात्मानो निनिमित्तं कृपान्विताः । निमित्तेऽपि संजाते यथाभ्ये दुर्जनाः जनाः ॥ १ ॥

३ तथा च बल्लभदेवः—अरवः शस्त्रं सास्त्रं बीणा वाणो परश्च नारी च ।

पुरुषविशेषं लब्ध्वा भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ १ ॥

४ तथा च शुकः—कार्याधी क यशोधी वा साधु संसेवयेत्स्थिरः । सर्वोत्तमा ततः सिद्धिः सर्वदा क्व प्रजायते ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—महद्भिः सह नो कुर्याद्व्यवहारं सुदुर्लभः । तस्य गोचरं तस्य न स्थातुं शक्यं महात्मानो जयः ॥ १ ॥

६ तथा च हारीतः—महापुरुषसेवायामपराधेऽपि संस्थिते । नापवादो भवेत् पुंसि न च प्राणवधस्तथा ॥ १ ॥

शीघ्रं समान ! नः धी लब्धमोर्नाशयेद्व्यसनं महत् । सत्पुरुषे कृता सेवा कालेनापि च नान्यथा ॥ २ ॥

७ तथा च शुकः—कार्याधी न विचारं च कुरुते च प्रियान्वितः । दुग्धार्थी च यशो धेनोर्मेध्यास्य प्रभक्षणात् ॥ १ ॥

जिनके पुष्कल ज्ञान व सदाचार प्रभृति सद्गुणोंमें परिचय हो चुका है, ऐसे विद्वान और कमनीय कान्ताप (स्त्रियाँ) मनुष्यको आत्माको अत्यन्त रञ्जयमान (सुखों) करती हैं ॥ ६५ ॥ चित्र (फोटो) में वर्तमान राजाका भी निररकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसमें ऐसा अरुचं क्षात्र-तेज (क्षत्रियसंबन्धी तेज) विद्यमान रहता है, जो कि राज-पुरुषके शरीर में महान् देवता रूप से निवास करता है ॥ ६६ ॥

शुक* व गर्ग* ने भी विद्वानों और कमनीय कामिनियों तथा राजा के विषय में इसी प्रकार का उल्लेख किया है ॥ १-२ ॥

विचारपूर्वक कार्य न करने व ऋण बाकी रखने से हानि, नया सेवक, प्रतिज्ञा, निर्धन अवस्था में उदारता, प्रयोजनार्थी, व प्रथक किये हुये सेवक का कर्तव्य—

कार्यमारभ्य पर्यालोचः शिरः मुण्डयित्वा नक्षत्रप्रश्न इव ॥ ६७ ॥ ऋणशेषाद्रिपुणेषादिवा
वश्यं भवत्यायत्यां भयं ॥ ६८ ॥ नवसेवकः को नाम न भवति विनीतः ॥ ६९ ॥ यथा-
प्रतिज्ञा को नामात्र निर्वहिः ॥ ७० ॥ अप्राप्तेऽर्थे भवति सर्वोऽपि त्यागी ॥ ७१ ॥ अर्थार्थी
नीचैराचराणान्नाद्विजेत्, किन्नाथो व्रजति कूपे जलार्थी ॥ ७२ ॥ स्वामिनोऽहतस्य तदाराध-
नमेव निवृत्तिहेतु अनन्या कृतविप्रियस्य हि बालस्य जनन्येव भवति जीवितव्याकरणं ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य कार्य-आरम्भ करने के पश्चात् उसके होने वाले लाभ का विचार करते हैं, वे शिर मुड़ाकर नक्षत्र प्रश्न (शुभ-अशुभ मुहूर्त का पूछना) करने वाले के समान मूर्ख हैं । अर्थात् जिस प्रकार शिर मुड़ाकर शुभ-अशुभ मुहूर्त पूछना निरर्थक है, उसी प्रकार कार्यारम्भ करके पश्चात् उसमें होने वाले हानि-लाभ का विचार करना भी निरर्थक है, अतः कार्य आरम्भके पहिले उस पर विचार कर लेना उचित है, क्योंकि उतावली से किये हुये कार्य हृदय में काँटे चुभने के समान अत्यधिक पीड़ा पहुँचाते हैं ॥ ६७ ॥ जो मनुष्य शत्रु को बाँधी रखने की तरह ऋण (कर्जा) बाँधी रखता है, उसे भविष्य में भय रहता है, अतः मुखामिलायी पुरुष अग्नि, रोग, शत्रु और ऋण इन चार कष्टदायक चीजों को बाँधी न छोड़े, अन्यथा ये बढ़कर अत्यन्त पीड़ा पहुँचाती हैं ॥ ६८ ॥

नारद* ने भी विचारपूर्वक कार्य करने का एवं शुक* ने भी अग्नि व रोगादि उक्त चारों चीजों के उन्मूलन करने का उल्लेख किया है ॥ १-२ ॥

कौनसा नया सेवक शुरु में नम्रता प्रदर्शन नहीं करता ? प्रायः सभी करते हैं । अभिप्राय यह है कि नया नौकर शुरु में विश्वसनीय कार्यों द्वारा स्वामी को प्रसन्न करने में प्रयत्नशील रहता है, पश्चात्

१ तथा च शुकः—स्त्रियं वा यदि वा किञ्चिदुभय विचक्षयाः । आरम्भान् आपरं वापि रञ्जयन्ति न चान्यथा ॥ १ ॥

२ तथा च गर्गः—नादमन्येत भूपालं होनकोशं सुदुर्लभं । क्षात्रं तेजो वतस्तस्य देवरूपं तनो वसेत् ॥ १ ॥

३ तथा च नारदः—अनारम्भेण कृत्यानामाकोचः कियते पुरा । आरम्भे तु कृते पश्चात् पर्यालोचो वृथा हि सः ॥ १ ॥

शिरसि मुण्डने यद्वत् कृते मूर्खतमैर्नरैः । नक्षत्र एव प्रश्नात् ? पर्यालोचस्तर्धेव सः ॥ २ ॥

४ तथा च शुकः—अग्निशोकं रिपोः शेषं नृणामाभ्यां च शेषकं । पुनः पुनः प्रवर्धेत तस्मान्निःशेषतां नयेत् ॥ १ ॥

विकृत—कार्य में असावधानी करने वाला (आलसी) हो जाता है, अतः नये सेवक पर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ६६ ॥

वल्लभदेव * ने भी लोक में प्रायः सभी मनुष्यों को नये सेवकों की विनय द्वारा एवं अतिविशेष दायों व धूर्त लोगों के मिष्ट वचनों द्वारा ठगे जाने का उल्लेख किया है ॥ १ ॥

कौन पुरुष इस कलिकाल में की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह (पूर्णरूपसे पालन) करता है ? कोई नहीं करता, अतः खूब सोच समझ कर प्रतिज्ञा लेकर उसका पालन करना चाहिये, अन्यथा प्रतिज्ञा-भङ्ग होने से पुण्य क्षीण हो जाता है ॥ ७० ॥ जब तक धन नहीं मिलता—निर्धन अवस्था में—सभी लोग उदात्त होते हैं । सारांश यह है कि दग्ध्रावस्था में प्रायः सभी लोग प्रचुर दान करने के मनोरथ किया करते हैं कि यदि मैं धनाढ्य होता तो प्रचुर दान करता ॥ ७१ ॥

नारद * व रैभ्य * ने भी प्रतिज्ञा भङ्ग से पुण्यक्षीण होनेका एवं दरिद्र के त्यागी होनेका उल्लेख किया है ॥ १-२ ॥

स्वार्थी अचन्य पुरुष अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिये नीच आचरण से भयभीत नहीं होते, क्या कलाभिलाषी मनुष्य कुम्भा खोदने के लिये नोचे नहीं जाता ? अवश्य जाता है । अभिप्राय यह है कि दृष्ट प्रयोजन सिद्धि के लिये चरम आचरण ही श्रेयस्कर है ॥ ७२ ॥

शुक * ने भी स्वार्थी पुरुष के विषय में उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार अपराध के कारण माता द्वारा तिरस्कृत किये हुये बच्चे की माता ही जीवन रक्षा करती है, वसी प्रकार अपराध-वश पृथक् किये हुये सेवक को जीवन-रक्षा उसके द्वारा की जाने वाली स्वामी की सेवा शुश्रूषा द्वारा ही होती है ।

शुक * ने भी सेवक के कर्तव्य के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥ १ ॥

इति प्रकीर्णक-समुद्देश ।

इति सोमदेवसूरि-विरचित नीतिवाक्यामृत संस्कृत ग्रन्थ की सागर-

(सी० पी०) निवासो परवार जैनजातीय पं० सुन्दरकाज

शास्त्री जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ व

काठ्यतीर्थ-कृत भाषा टीका

समाप्त हुई ।

१ तथा च वल्लभदेवः—अभिनवसेवकावेनयैः [प्राचुर्यकोत्तर्विज्ञासिनोदयितैः] । धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिद्वचन्यतो नास्ति ॥ १ ॥ सं०

२ तथा च नारदः—प्रतिज्ञां यः पुरा कृत्वा पश्चाद्भंगं करोति च । ततः स्याद्गामनिरस्य हसत्येव जानन्ति के ? ॥ १ ॥

३ तथा च रैभ्यः—दरिद्रः कुस्ते धान्द्यां सर्वदानसमुद्भवम् । याचनान्जोतिर्विर्तं स विज्ञाप्य निपुणो भवेत् ॥ १ ॥

४ तथा च शुकः—स्वकार्यसिद्धये पुंभिर्नीचमार्गोऽपि सेव्यते । कूपस्थं खनने यद्वात् पुरुषेण ज्ञातमिहा ॥ १ ॥

५ तथा च शुकः—निःसारितस्य मृतस्य स्वामिनिर्मुक्तिकारणं । यथा कुपितया माता बाह्वस्यापि च सा सतिः ॥ १ ॥

ग्रन्थकार की प्रशस्ति

इसि सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिषिजयोपार्जितकीर्तिमन्दा-
किनीपवित्रितप्रियुजस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियाशिष्येण वादीन्द्रकाला-
नलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंह-तार्किकचक्रवर्तिवादीभपंचानन-वाक्कल्लोलपयोनिधि-
कविकुलराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवतिप्रकरणयुक्तिचिन्तामणि सूत्रमहेन्द्रमातलिसंज्ञ-
धशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृतं) समाप्तमिति ।

अर्थ—समस्त तार्किक-संमूह में चूडामणि—शिरोरत्न (श्रेष्ठ), विद्वानों द्वारा पूजे गये हैं चरण-
कमल जिनके, पंचपन महावादियों पर विजयश्री पानेसे प्राप्ति की हुई कीर्ति-रूपो स्वर्गगासे पवित्र किये
हैं तीन भुवनों को जिन्होंने एवं परम तपश्चरणरूप रत्नोंके रत्नाकर (समुद्र) ऐसे ओमत्पूज्य नेमिदेव,
उनके प्रिय शिष्य, 'वादीन्द्रकालानल' (बड़े २ वादियोंके लिये प्रलयकालीन अग्निके समान) उपाधि-
विभूषित श्रीमान् महेन्द्रदेव भट्टारकके अनुज, 'स्याद्वादाचलसिंह' (स्याद्वादरूप विशाल पर्वतके सिंह)
'तार्किकचक्रवर्ती' 'वादीभपंचानन' (वादीरूप हाथियोंके गर्वोन्मूलन करनेके लिये सिंह सट्टा) 'वाक्क-
ल्लोलपयोनिधि' (सूक्ति-तरङ्गोंके समुद्र) 'कविकुलराज' इत्यादि प्रशस्तिवाँ (उपाधियाँ) ही हैं प्रशस्त
अलङ्कार (आभूषण) जिनके तथा षण्णवतिप्रकरण (६६ अध्याय वाला शास्त्र), युक्तिचिन्तामणि (दार्श-
निक ग्रन्थ), त्रिबर्गमहेन्द्रमातलिसंज्ञक (धर्मादिपुरुषार्थत्रय-निरूपक नीतिशास्त्र) और यशोधरमहाराज-
चरित (यशस्तिलकचम्पू) इन महाशास्त्रोंके बृहस्पतिसमान रचयिता श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा रचा गया
यह 'नीतिवाक्यामृत' समाप्त हुआ ।

अस्येऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः, सिद्धान्तोऽपमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि ।

यः स्वर्धेव तथापि दुर्पण्त्वामौक्षिप्रगाढाप्रहस्तस्याखचितगर्वपर्वतपविमंदाक् कृतान्तायते ॥ १ ॥

सकलसमयतर्क नाकलङ्घोऽसि वादी, न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।

न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं, वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥ २ ॥

[दुर्जनान्निपकठोरकुटार] स्तर्ककर्कशविचारखसारः । सोमदेव इव राज्ञि सूरिर्वादिमनोरथभूरिः ॥ ३ ॥ संशोधित च परिचित
दण्डोन्मोघबुधसिन्धुरसिंहनादे, वादिद्विपोरुखमदुर्धरवाग्बिम्बादे ।

श्रीसोमदेवमुनिपे वचनास्साले, आगीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाळे ॥ ४ ॥

'छोटोंके साथ अनुग्रह, बराबरी वालोंके साथ सज्जनता और पूज्य महापुरुषोंके साथ महान्
आदरका वर्ताव करना' यह उक्त व चित्र (आश्चर्यजनक) चित्र वाले मुक्त सोमदेवका सिद्धान्त है
तथापि जो व्यक्ति अत्यधिक गर्व वृद्धिसे दुराग्रही होकर मुक्तसे स्पष्ट करता है—देठ दिखाता है—उसके
गर्वरूप पर्वतको भेदन करनेके लिये मेरे वचन वज्र-समान व काल-तुल्य आचरण करते हैं ॥ १ ॥
हे वाद-विवाद करने वाले वादी न तो तू समस्त दर्शनशास्त्रों पर तर्क करनेके लिये अकलंक देवके
समान है, न जैन सिद्धान्त निरूपण करनेके लिये हंससिद्धान्त देव है और न व्याकरणमें पूज्यपादके
समान तनका पारदर्शी है, फिर इस समय पर सोमदेव सूरिके साथ किस विरते पर बात करने तत्पर
हुआ है ? ॥ २ ॥ श्री सोमदेवसूरि राजाके समान गुण-विभूषित हैं, क्योंकि वे दुर्जनरूप वृक्षोंके

निग्रह करनेके लिये तीक्ष्ण कुठार (कुल्हाड़ी), तर्कशास्त्र (सोमदेवसूरिके पक्षमें न्यायशास्त्र और राज-पक्षमें मुद्दै-मुद्दायलोंके मुकद्दमेंका न्यायोचित निर्णय) के तीक्ष्ण (गम्भीर) विचार करनेमें बलिष्ठ हैं तथा अपनी ललित (दार्शनिक) मनोऽनुकूल प्रवृत्ति द्वारा वादियोंको परास्त करने वाले (राजकीय पक्षमें मुद्दैके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला-तराजूकी तरह परीक्षा द्वारा मुकद्दमेंकी सत्यताका निर्णायक) हैं ॥ ३ ॥ अत्यधिक अभिमानी पंडितरूप वादियोंको विश्व ज्ञान लुप्त करने वाले, वादी रूप गजोंको दलित करने वाला दुधेर विवाद करनेवाले और तार्किकचूड़ामणि सोमदेवसूरिके सामने वादके समय बृहस्पति भी नहीं ठहर सकना, फिर ग्रन्थ साधारण पंडित किस प्रकार ठहर सकते हैं ? ॥ ४ ॥

इति ग्रन्थकारकी प्रशस्ति समाप्त

— ❀ —

अन्त्य मङ्गल तथा आत्म-परिचय

जो है सत्यमार्गका नेता, अरु रागादि-विजेता है ।

जिसकी पूर्णज्ञान-रश्मि से, जग प्रविभासित होता है ॥

जिसकी चरणकमल-सेवा से, यह अनुवाद रचाया है ।

ऐसे ऋषभदेवको हमने, शत-शत शीश नवाया है ॥१॥

दोहा—सागर नगर मनोहृतम, धर्म-धान्य आगार । वर्णाश्रम आचारका, शत्रु रूप साकार ॥ २ ॥

जैनी जन तहँ बहु बसें, दया धर्म तिज धार । पूष चरण वर्णी लसें, जिनसे हों भव-पार ॥ ३ ॥

जैन जाति परवारमें, जनक कनैयालाल । जननी हीमादेवियों, कान्त रूप गुणमाल ॥ ४ ॥

पुत्र पाँच उनसे भये, पहले पग्नलाल । दूजे कुंजोलाल अरु, तीजे छोटेलाल ॥ ५ ॥

चौथे सुन्दरलाल वा, पंचम भगवतलाल । प्रायः सबही बन्धुजन, रहँ सुदित सुशाल ॥ ६ ॥

बर्तमान में बन्धु दो, विलसत हैं अमलान । बड़े छोटेलाल वा, सुन्दरलाल सुजन ॥ ७ ॥

भाई छोटेलाल तो करें बणिज व्यापार । जिनसे रहती है सदा कमला मुदित अपार ॥ ८ ॥

बाइयकालतें मम रुचि, प्रकटी विद्या हेत । तातें हम काशी गये, ललितकला-संकेत ॥ ९ ॥

चौपाई—द्वादश वर्ष साधना करी । गुरु पद-पङ्कज में चित दई ॥

मातृसंस्था में शिक्षा लही । गैल सदा उन्नति की गही ॥ १० ॥

व्याकरण, काव्य, कोष, अति माना । तर्क, धर्म अरु नीति बखाना ॥

वाग्मिस्व आदि कला परधाना । नानाविध सिख भयो सुजाना ॥ ११ ॥

दोहा—कलकत्ता कालेज की, तीर्थ उपाधि महान । जो हमने उत्तीर्ण की, तिनका कहूँ बखान ॥ १२ ॥

चौपाई—पहली 'न्यायतीर्थ' कूँ जानों । दूजी 'प्राचीनन्याय' प्रमानों ॥

तीजी 'काव्यतीर्थ' को मानों । जिसमें साहित्य सकल सुमानों ॥ १३ ॥

गुरुजन मेरे विद्यासागर । ललित कला के सरस सुधाकर ॥

पहले शास्त्री अम्बादत्त । जो थे दर्शनशास्त्र महत्त ॥ १४ ॥

दूजे भीमदुर्गागणेश हैं, न्यायाचार्य अरु तीर्थ समान ।

वर्णी 'बापू' हैं अति दार्शनिक सौम्य प्रकृति वा सन्त महान ॥ १५ ॥

दोहा—'सरस्वती' मेरी प्रिया, धनसे हुई सन्तान । एक पुत्र पुत्री-उभय जो हैं बहुगुण खान ॥ १६ ॥

पत्नी मम दुर्दैवने, सद्यः लीनी छीन । वंश बढ़ावन हेतु है, सुत 'मनहर' परवीन ॥ १७ ॥

मेरी शिष्य परम्परा भी है अति विद्वान । जिसका अति संक्षेपसे अब हम करें बखान ॥ १८ ॥

पहले 'महेन्द्रकुमार' हैं, दूजे 'पद्मनकुमार' । 'मनरञ्जन' तीजे ललैं चौथे 'कनककुमार' ॥ १९ ॥

चौपाई—वि० संवत् बीस सौ अरु सात, भाद्र शुक्ल चतुर्विंश अवदात ।

पूर्व प्रकाशित जब यह हुआ, शुभ उद्यमका मम फल हुआ ॥ २० ॥

दोहा—अल्पबुद्धि परमावर्त्त, भूल ब्रूक जो होय । सुधीं सुचार पदो सदा, जावैं सज्जन होय ॥ २१ ॥

सुन्दरलाल शास्त्री

प्राचीन न्याय-काव्यतीर्थ

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
होता	होता है	४४	१०	परिणत	परिणत	१६६	८
बोहे	बोके	५४	१	पुनः	पुनः	१७५	४ टि०
धर्मके बिना	धनके बिना	५७	६	अदृष्टस्य	अदृष्टस्य	१६०	११
मुमुक्षुते	मुमुक्षुते	५८	८ टि०	स्वयं	स्वयं शुभं	११३	६ टि०
आर	आर	६१	१६	हीनशक्ति	हीनशक्ति	१६५	५
कर्त्तव्य	कर्त्तव्य	१२०	१६	क्षोभकर	क्षोभकर	१२६१	१०
भग्न २	भिन्न २	१२६	१७	ऽप्यथ	ऽप्यथ	२६१	२ टि०
गणी	शुणी	१२६	६	ऽप्यवज्ञायकपक्ष	ऽप्यवज्ञायक पक्ष	२६४	११
वैश्यानां	वैश्यानां	१३८	२ टि०	मशुवि	मशुवि	६६७	२०
मूलबुद्धि	मूलबुद्धि	१४५	५	आमदनीके	केसमान	२६८	१ टि०
तेषु	तेषु	१६०	२४	समान			
पूर्वदुष्कृत	पूर्वदुष्कृत	१६०	१ टि०	धनोद्भवम्	धनोद्भवम्	२६६	४ टि०
पुरुष	पुरुष	१६१	२४	चुकी	चुका	२७१	१७
नपुंसक	नपुंसकके	१६२	८	बनाता	बनाती	२७६	१३
सिद्धि	सिद्धि	१६३	२ टि०	कुर्वन्नयमानौ	कुर्वन्नयमानौ	२७८	५
राजा	राज्ञे	१६७	१ टि०	कर्मा	कर्मा	२७६	६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सपन्	संपन्	२८०	३ टि०	शुभ	शुभ्र	३४१	१४
हुयी	हुई	२८१	६	परोपपातो	परोपघातो	३४२	२
रुचि	ऽरुचि	२८१	४ टि०	आधिक	आर्थिक	३४३	५
वितैर्निजैः	वितैर्निजैः	२८३	३ टि०	निःस्वाथ	निःस्वार्थ	३४८	२५
न्यसनेभ्यः	न्यसनेभ्यः	२८३	३ टि०	सयायाति	समायाति	३४९	२ टि०
भक्ताप्रामाः	भक्तप्रामाः	२८७	२०	विरूपिपोऽपि	विरूपोऽपि	३४४	२ टि०
ह	है	२८६	१० टि०	सभगः	सुभगः	३४६	३ टि०
रुपाय	उपाय	२८७	६ टि०	समुद्र	समुद्र	३४७	१३
धेनुयो	धेनयो	२८८	२ टि०	भवति	भवति	३४७	६
युद्धापयोगी	युद्धोपयोगी	२८६	६	थो	यो	३४७	६
सवृणोति	संवृणोति	२८६	७	बिबाह-समुद्देश	बिबाद-समुद्देश	३४६ से ३६३ तक	
वन	न	२८६	१०	मानाथहानि	मानार्थहानि	३४८	६
विदान	विद्वान्	२८६	१५	कुता	कुतो	३४८	७
(शस्त्रधारी)	(शस्त्रधारी)	२८६	१८	पूर्वोक्ते	पूर्वोक्त	३४९	१८
तश्चैव	यत्तश्चैव	२८६	२५	स्वाथ	स्वार्थ	३६०	६
काय	कार्य	२८८	२ टि०	वत्तमान	वर्तमान	३६०	१२
दूरेऽपि	दूरेऽपि	२८८	३ टि०	प्रमथानि	मप्रमथानि	३६०	३ टि०
विजयगीप्	विजिगीष	२८८	२३	यद्विद्ये	यद्विद्ये	३६१	२ टि०
धनु	धनु	२८६	३	अभयुल्लोत	अभियुल्लोत	३६१	४ टि०
भूपस्य	भूपस्य	२८६	३ टि०	वृत्तो	वृत्तो	३६२	६
समादिष्टैर	समादिष्टै	३००	१ टि०	खिलाकरी	खिलाकर	३६२	१३
विषेषता	विशेषता	३१०	१६	कटजैः	कूटजैः	३६२	१ टि०
पशोरपि	पशोरपि	३१४	२	क्रिया	क्रियां	३६२	२ टि०
कुल्यानां	कुल्यानां	३१६	३ टि०	कार्य	कार्य	३६३	१ टि०
सुवर्णधातु	सुवर्णधातु	३१८	५ टि०	रोहणाम्	रोहणं	३६४	१६
मानुषितरो	मानुषितरो	३२०	६	थपथ	शपथ	३६४	२०
राजभारः	राज्यभारः	३२२	४	वेश्याः	वेश्यायाः	३६५	५
कपलः	कूपलः	३२२	६	मूष	मूर्ख	३६६	१०
भासेन	भ्यामेन	३२४	२०	छाडता	छोडता	३६६	७
वायुमे	वायुमें	३३०	१२	मर्षायाहीन	मर्षादाहीन	३६६	१६
अद्वाल	अद्वालु	३३०	२३	नगरय	नगरय	३६८	७
वप	वृष	३३४	२६	पारुपेण	पौरुपेण	३६८	१ टि०
विदेशको	को	३३६	५	पुरुषासह	पुरुषमिह	३६८	६
विलम्बनं	विलम्बनं	३३७	११	पुरुषाथ	पुरुषार्थ	३६६	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
हाता है	होता है	३६६	१२	विगीपु	विजिगीपु	३८६	११
ज्ञयं	ज्ञेयं	३६६	१ टि०	जद्वल	दुर्वल	३८६	१७
दवकुल	दैवकुल	३६६	१ टि०	विज्ञायोत्समाहः	विज्ञायोत्समाहः	३८६	२१
ध्वस	ध्वंस	३७०	१६	सेव्य रजितः	सैन्य रजितः	३८६	५ टि०
कौमारवया	कौमारययो	३७०	११	जनानो	जानानो	३८०	६ टि०
अधम	अधर्मे	३७०	१६	बहान	बहाने	३८२	१६
यत्ता	वेत्ता	३७१	२	यर्मविजयी	धर्मविजयी	३८८	८ टि०
स	से	३७२	२	तत्र	शत्रु	३८६	२१
न्यवहार-	पाद्गुण्य-समुद्देश	३६६ से ३८५		नाभ्या	नाभ्या	४०६	२२
समुद्देश				तथवार्धः	तथैवार्धः	४०७	२ टि०
यु	युद्ध	३७२	४	भट्टी	भट्टी	४०८	१७
पतनक	पतनके	३७३	६	आयुवाला	आयुवाली	४०८	१६
मानिना	मानिनो	३७६	१७	मामा	मामाकी	४१०	२१
सुवर्ण	सुवर्ण	३८१	८	कुलीता	कुलीनता	४१०	२३
वेरिणुः	वेरिताः	३८२	२ टि०	सरभाववृत्ति	रसभाववृत्ति	४१०	३
प्रविशेन	न प्रविशेन	३८३	७	यत्रागत्याधिनी	यत्रागत्याधिनी	४१३	२८
पुयोजन	प्रयोजन	३८३	२७	प्रतिकूलका	प्रतिकूलना	४१६	१०
मर्ष	मर्ष	३८३	३ टि०	पुरुष	पुरुष	४१६	१४
परप्रणोया	परप्रणोया	३८४	४४	पुष्टि	पुष्टि	४१७	१४
दावेध	दावेध	३८६	१०	मंत्रासनविधं	मंत्राशनविधं	४२१	२४
असमय	असमर्थ	३८७	११	माधुपचरत	माधुपचरत	४२२	१४
उन्मूलन	उन्मूलन	३८७	१४	यशोऽर्थ	यशोऽर्थी	४२३	२६
बुद्धिशक्ति	बुद्धिशक्ति	३८७	२३	रमेध्यास्य	रमेध्यास्य	४२३	६ टि०
विषोदधे	विषोदधे	३८७	५ टि०	तनो	मनो	४२४	७ टि०
रात्रावहृष्टे	रात्रावहृष्टे	३८८	२ टि०				

